अठारहवीं शताब्दी के
ब्रजभाषा काव्य मे
प्रेमाभक्ति

प्रथम संस्करण अगस्त ६८
प्रकाशक अक्षर प्रकाशन प्रा० लिमिटेड
२/३६ अन्सारी रोड दरियागंज दिल्ली ६
मुद्रक प्रिन्टमैन रोहतक रोड नई दिल्ली ६
आवरण सुखदेव दुग्गल
मूल्य पच्चीस रुपये



अक्षर प्रकाशन प्रा० लि०

डॉ० देवीशकर अवस्थी

अठारहवीं शताब्दी के
ब्रजभाषा काव्य में प्रेमाभक्ति

आगरा विश्वविद्यालय की पी एच० डी०
उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध प्रबन्ध

प्रकाशकीय

हिन्दी के तेजस्वी आलोचक डा० देवीशंकर अवस्थी का यह शोध प्रबन्ध कुछ अनिवार्य कारणोंवश विलम्ब से प्रकाशित हो रहा है। स्कूटर-दुर्घटना ने उन्हें आज हमारे बीच से उठा लिया है और वे इसे पुस्तकाकार देखने को नहीं हैं। 'अक्षर' पर उनका स्नेह और सद्भाव सदा रहे हैं। उनकी अनुपस्थिति कभी न भर सकनेवाला घाव है।

लेकिन शोध और विवेचन की जिस परम्परा को उन्होंने समृद्ध-सम्पन्न किया है उसकी उत्कृष्ट उपलब्धि के रूप में प्रस्तुत शोध-ग्रंथ को प्रकाशित करते हुए 'अक्षर' विनम्र गर्व का अनुभव करता है।

अनुक्रमणिका

ऊपर उल्लिखित सभी ग्रन्थों में देखा जा सकता है। प्रस्तुत प्रबन्ध में प्रेमाभक्ति के अभिव्यंजना रूप इन सम्प्रदायों एवं इन सम्प्रदायों के सन्दर्भ प्रेमाभक्ति का वर्णन में रखकर अधिक से अधिक तटस्थ एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण में इस साहित्य पर विचार किया गया है। जहाँ पर पारस्परिक प्रभावों की विवेचना की गयी है वहाँ भी उस प्रभाव ग्रहण की प्रक्रिया के स्वरूप या परिणाम पर ही विचार हुआ है। हमने किसी को श्रेष्ठ या अपेक्षाकृत अमहत्त्वपूर्ण सिद्ध करना नहीं चाहा। पर इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि केवल तथ्यों का विश्लेषण हुआ है, आकलन नहीं। यथास्थान प्रेमाभक्ति के इन विविध सम्प्रदायों के प्रदेय एवं महत्त्व का मूल्यांकन भी होता गया है। तथ्यों की पुनर्व्याख्या के साथ ही पुनर्मूल्यांकन भी प्रस्तुत प्रबन्ध में प्राप्त होगा। इस प्रकार जहाँ एक ओर प्रसंगत प्रेमाभक्ति पर ही आलोक पुंज को केन्द्रित कर हिन्दी के भक्ति साहित्य को समझने के लिए समुचित परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत किया गया है, वहीं मुख्य रूप से १८वीं शती के साहित्य का एक नितान्त उपेक्षित पक्ष भी उदभासित हुआ है। हिन्दी साहित्य के इतिहास का प्रत्येक विद्यार्थी जानता है कि सं० १७०० से १९०० तक का काल रीतियुग है। इस प्रकार प्रस्तुत प्रबन्ध के उद्दिष्ट अध्ययन की काल सीमा रीतियुग का पूर्वार्द्ध है। प्रबन्ध के माध्यम से इस तथ्य को उदघाटित किया गया है कि तथाकथित रीतियुग में सर्जन का एक बड़ा क्षेत्र ऐसा भी था जो रीति काव्य से बाहर था। इसी प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि प्रेमाभक्ति का कृतित्व किसी भी अर्थ में रीतिकाव्य की अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। बल्कि कहना यह चाहिए कि इस युग के साहित्य के माध्यम से भक्तिकालीन प्रवृत्तियों का रीतिकाव्य में संक्रमण होता है। इस प्रकार प्रस्तुत प्रबन्ध गौणत भक्तिकाल एवं रीतिकाल के साहित्यों के पारस्परिक प्रतिक्रियाओं एवं प्रतिक्रियाओं के अध्ययन की दिशा को भी संकेतित करता है।

प्रबन्ध नियोजन एवं अध्ययन विधि

प्रबन्ध का नियोजन इस दृष्टि से करने का प्रयास किया गया है कि पीछे उल्लिखित नवीनताओं एवं दृष्टिकोण की उत्तम रक्षा हो सके तथा उनका रूप उभर सके।

प्रबन्ध का प्रथम अध्याय शोध ग्रन्थों की सामान्य परिपाटी से संभवत कुछ भिन्न सा प्रतीत होगा। बल्कि काल से लेकर १६वीं शताब्दी तक भक्ति का विकास सूचित करने के स्थान पर इस स्थापना को प्रारम्भ में ही स्वीकार कर लिया गया है कि भक्ति की पुरानी भावधारा १५वीं १६वीं शताब्दियों में उत्तर भारत में एक नये आन्दोलन के रूप में प्रकट होती है। इस भक्ति की प्रेम सम्बन्धी धनी

अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका

शोध-प्रबन्ध की प्रस्तावना

हिन्दी का भक्ति साहित्य अपने वैविध्य एवं सम्पन्नता के कारण पाठक का ध्यान सहज ही आकर्षित कर लेता है। मूल में भक्ति का भाव सुरक्षित रखते हुए भी यह साहित्य नाना वर्णच्छटाओं से युक्त रहा है। भक्ति के मूल में प्रेम की जो भावना सतत विद्यमान रही है, वह भी इस साहित्य में अनेक रूपाकार ग्रहण करती है। विद्वानों ने प्रेम के इन प्रकारों की ओर ध्यान तो दिया है पर एक मात्र उन्हें ही केन्द्र बनाकर अध्ययन नहीं किया गया। प्रेमाभक्ति के बहुत से सम्प्रदाय एवं महत्त्वपूर्ण कवि एक लम्बे समय तक उपेक्षित हो रहे। डा० दीन दयालु गुप्त ने 'अष्टछाप और बल्लभ सम्प्रदाय' में सर्वप्रथम जिस विशेष अध्ययन दिशा का उद्घाटन किया था उस दिशा में चलने के लिए लगभग एक दशक तक अनुसंधित्सु पथिक ही नहीं मिले। पर ठीक दस वर्ष बाद डा० विजयेन्द्र स्नातक का महत्त्वपूर्ण शोध प्रबन्ध 'राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य' प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ का ही समसामयिक दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रकाशन डॉ० भगवती प्रसाद सिंह का 'राम भक्ति में रसिक सम्प्रदाय' है। डा० सिंह ने एकदम उपेक्षित पड़ी हुई एक साहित्य धारा की ओर अध्येताओं का ध्यान खींचा। डा० स्नातक एवं डा० सिंह के इन अध्ययनों से सम्प्रदाय सम्बन्धी अध्ययनों को घनी प्रेरणा मिली। डा० बदरीनारायण श्रीवास्तव ने रामानन्द सम्प्रदाय डा० गोपाल दत्त शर्मा ने हरिदासी सम्प्रदाय तथा डा० नारायण दत्त शर्मा ने निम्बार्क सम्प्रदाय सम्बन्धी शोध-कार्य भी इसी बीच पूरे किये। कुछ अन्य सम्प्रदायों पर भी कार्य अभी हो रहा है। अध्ययन के इस परिमाण ने तुलनात्मक अध्ययन की दिशा को भी बल दिया। डा० शरण बिहारी गोस्वामी ने इन सम्प्रदायों के एक पक्ष विशेष सखी भाव को लेकर अपना अध्ययन प्रस्तुत किया। अध्ययन की दिशाओं की इस संक्षिप्त रूपरेखा से यह स्पष्ट है कि प्रेमाभक्ति के सम्प्रदायों पर अलग अलग कुछ काम हुआ और किसी एक पक्ष विशेष पर तुलनात्मक ढंग से विचार करने का प्रयास भी हुआ, परन्तु महत्त्वपूर्ण होते हुए भी इन शोध कार्यों में एक बात खटकने वाली प्रतीत होती है। अपने अपने सम्प्रदाय विशेष या पक्ष विशेष (यथा सखी भाव) को ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध करने का आग्रह

उपर उल्लिखित सभी ग्र थो म देखा जा सकता है। प्रस्तुत प्रबन्ध म प्रेमाभक्ति व अभिव्यजना रूप इन सम्प्रदायो एव इन सम्प्रदायो वे सन्देश प्रमाभक्ति को केन्द्र मे रखकर अधिक से अधिक तटस्थ एव वज्ञानिक दृष्टिकोण म इस साहित्य पर विचार किया गया है। जहा पर पारस्परिक प्रभावा की विवेचना की गयी है वहाँ भी उस प्रभाव ग्रहण की प्रक्रिया के स्वरूप या परिणाम पर ही विचार हुआ है। हमने किसी को श्रेष्ठ या अपेक्षाकृत अमहत्त्वपूर्ण सिद्ध करना नही चाहा। पर इसका तात्पय यह भी नही है कि केवल तथ्या का निरूपण हुआ है मूल्याकन नही। यथास्थान प्रेमाभक्ति के इन विविध सम्प्रदाया के प्रदेय एव महत्त्व का मूल्याकन भी होता गया है। तथ्या की पुनर्व्याख्या क साथ ही पुनर्मूल्याकन भी प्रस्तुत प्रबन्ध म प्राप्त होगा। इस प्रकार जहा एक ओर प्रसगत प्रमाभक्ति पर ही आलोक पुज को केन्द्रित कर हिन्दी के भक्ति साहित्य को समझने क लिए समुचित परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत किया गया है वही मुख्य रूप से १८वी शती क साहित्य का एक नितान्त उपेक्षित अग भी उदभासित हुआ है। हिन्दी साहित्य क इतिहास का प्रत्येक विद्यार्थी जानता है कि स १७०० से १६०० तक का काल रीतियुग है। इस प्रकार प्रस्तुत प्रबन्ध के अनुशीलन का काल सीमा रीतियुग का पूर्वार्द्ध है। प्रबन्ध के माध्यम मे इस तथ्य का उदघाटित किया गया है कि तथाकथित रीतियुग मे सजन का एक वडा क्षत्र ऐसा भी था जो रीति का य म बाहर था। इसी प्रसग म यह भी उल्लखनीय है कि प्रमाभक्ति का कृतित्व किसी भी अश म रीतिका य की अपक्षा कम महत्त्वपूर्ण नही है। बल्कि कहना या चाहिए कि इस युग के साहित्य के माध्यम से भक्तिकालीन प्रवृत्तिया का रीतिकाव्य म सक्रमण होता है। इस प्रकार प्रस्तुत प्रबन्ध गौणत भक्तिकाल एव रीतिकाल के साहित्यो के पारस्परिक प्रतिदाना एव प्रतिक्रियाओ के अध्ययन की दिशा को भी सकेतित करता है।

प्रबन्ध नियोजन एव अध्ययन विधि

प्रबन्ध का नियोजन इस दृष्टि स करने का प्रयास किया गया है कि पीछे उल्लिखित नवीनताओ एव दृष्टिकोण की उसम रक्षा हो सके तथा उनका रूप उभर सके।

प्रबन्ध का प्रथम अध्याय शोध ग्रन्था की सामान्य परिपाटी से सभवत कुछ भिन्न सा प्रतीत होगा। बल्कि काल स लकर १६वी शताब्दी तक भक्ति का विकास सूचित करने क स्थान पर इस स्थापना को प्रारम्भ म ही स्वीकार कर लिया गया है कि भक्ति की पुरानी भावधारा १५वी १६वी शताब्दियो म उत्तर भारत म एक नये आन्दोलन क रूप म प्रकट होती है। इस भक्ति की प्रम सम्बधिनी

विशेषता का उल्लेख करते हुए उन पांच परम्पराओं की ओर (पूर्वी भारत की महायान तान्त्रिक भक्ति, दक्षिण भारत की आलवार नायनार भक्ति, पश्चिमोत्तर भारत से आई हुई सूफी प्रेम भक्ति, प्रेमकाव्य की साहित्यिक परम्परा, मध्ययुग की समान उदारतावादी विचारधारा) संकेत मात्र किया है जिनके मिलन एवं प्रभाव की छाया के तले यह भक्ति विकसित हुई है। इसी स्थल से भक्ति के विकास की प्रक्रिया को भी एक भिन्न स्तर पर समझने की चेष्टा की गयी है। मध्यकाल वीरपूजा का युग था, व्यक्तियों को केन्द्र बनाकर ही जन मानस गतिशील होता था। सामन्ती प्रान्तों वाले वीरपूजा के युग में कुछ व्यक्ति महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं एवं अन्य जन उनका ही अनुसरण करते हैं। वैष्णव आचार्य ने जब महत्तम व्यक्तियों का परात्पर तत्त्व का आवेश रूप माना था तब वे वस्तुतः वीरपूजा-युग के आदर्शों का ही शास्त्र सिद्धान्त दे रहे थे। अस्तु प्रथम अध्याय में ही भक्ति क्षेत्र के इन महत्तम व्यक्तियों की जीवनी, रचनाएं, सिद्धान्त तथा सम्प्रदाय प्रतिष्ठापना के विवरण उपस्थित किये गये हैं। इस विवरण को देते समय भी शुष्क तथ्यों के वर्णन या उद्घाटन की अपेक्षा उन अंशों को अधिक उभारने का प्रयत्न रहा है जिनसे कि उनके महत्त्व एवं कार्य की गुरुता का रूप स्पष्ट हो सके। बहुधा ज्ञात तथ्यों को भी नयी व्याख्या देने की चेष्टा की गयी है। सूफीमत किसी एक व्यक्ति को केन्द्र बनाकर आगे नहीं बढ़ता, उसके विकास, भारत प्रवेश एवं भारत में प्रसार का संक्षिप्त विवरण भी दिया गया है। अध्याय के अन्तिम भाग में विविध भक्ति सम्प्रदायों के पारस्परिक आदान प्रदान की दिशा का संकेत प्राप्त होगा। इस प्रकार सम्पूर्ण अध्याय भक्ति विवेचन के लिए सामान्य पृष्ठभूमि उपस्थित करता है तथा उस प्रेम दिशा की ओर इंगित भी करता है जिस ओर कि भक्ति का बहाव हो रहा था।

विकास प्रक्रिया के इस स्पष्टीकरण के पश्चात् द्वितीय अध्याय में भक्ति के स्वरूप निर्धारण का प्रयास किया गया है। दीर्घकाल व्यापी भक्ति का सघन भाव अनेकानेक परिभाषाओं द्वारा व्याख्यात है। अतः इस अध्याय के प्रथम भाग में भक्ति के मूल में स्थित विभिन्न तत्त्वों का विश्लेषण किया गया है। द्वितीय भाग के प्रारम्भ में भक्ति विवेचकों द्वारा विवेचित किये गये विभिन्न भक्ति प्रकारों को उपस्थित करते हुए विभाजक रेखाओं को स्पष्ट करने का प्रयत्न है तथा मध्य भाग में साधनाक्रम-सम्बन्धी विचारों का विश्लेषण है। प्रकारों की रूपरेखा स्पष्ट करने के लिए वैज्ञानिक ढंग पर चार्टों के उपभोग द्वारा स्पष्टीकरण हुआ है। इस अध्याय के अन्त में गौडीय वैष्णव आलंकारिकों द्वारा विवेचित पंचभक्ति रसों का स्वरूप बताते हुए विभिन्न सम्प्रदायों में उनकी स्थिति की मीमांसा भी है।

पहले अध्याय के प्रारम्भ में ही हम यह कह आये थे कि भक्ति का नया आन्दोलन प्रेम की भूमि पर खड़ा होता है। यह प्रेम मुख्य रूप से मधुर भाव

में परिणत हो जाता है। द्वितीय अध्याय के अन्त में मधुर रस को पंच भक्ति भावों में सर्वोत्तम बताया गया है। अतः पिछले अध्याय के प्रकृत विकास की दृष्टि से मधुर रस का विवेचन तृतीय अध्याय में हुआ है। इस विवेचन में सबसे पहले मधुर भाव के विकास की पृष्ठभूमि में स्थित विविध तत्वों की संक्षिप्त मीमांसा की गयी है। इस ऐतिहासिक रूपरेखा के पश्चात् मधुर रस का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। मधुर रस लौकिक शृंगार रस के साथ एक करके न देखा जाय इसलिये स्वरूप विश्लेषण के पश्चात् काम और भगवत्प्रेम का अन्तर भी निरूपित हुआ है। इस रस विवेचन की समाप्ति पर आवश्यक था कि इसे काव्य शास्त्रीय कसौटी पर परख लिया जाय अतः भक्ति रस सम्बन्धी धारणा का काव्य शास्त्र के ऐतिहासिक और सैद्धान्तिक आधार पर विवेचन इसी अध्याय में हुआ है। परन्तु रस सम्बन्धी गौडीय वैष्णवों की मान्यता प्रत्येक भक्ति सम्प्रदाय को मान्य नहीं है। अतः तृतीय अध्याय का अन्तिम भाग गौडीय वैष्णवों नित्यविहारोपासकों रामोपासकों निर्गुणवादियों एवं सूफियों के प्रेम रस सम्बन्धी दृष्टिकोणों का अन्तर एवं इस अन्तर के आधारभूत कारण स्पष्ट करने में प्रयुक्त हुआ है।

समस्त सगुणोपासक सम्प्रदाय प्रभु लीला के तत्व दर्शन पर विकसित हुए हैं। इस लीला-तत्व का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में उपस्थित कर भक्ति काल में उसके स्वरूप एवं महत्व का निर्धारण चतुर्थ अध्याय के प्रारम्भ में ही हमने करना चाहा है। परात्पर-तत्त्व की लीला का दर्शन ज्ञान एवं आस्वादन प्रत्येक वैष्णव का काम्य है। परन्तु इसके बाद अनेक प्रश्न उठते हैं—उपास्य का स्वरूप क्या है? यदि उपास्य युगल है तो प्रत्येक का स्वरूप गुण तथा पारस्परिक सम्बन्ध क्या हैं? इन दोनों में प्रधान कौन है? भक्त पर अनुग्रह किसका होता है? फिर इनकी लीलाएं कौन सी हैं—पुराण शास्त्र वर्णित या और कोई? ये लीलाएं कहाँ पर होती हैं उस धाम का स्वरूप गुण एवं प्रभाव क्या है? लीला में भाग लेने वाले परिकर में कौन कौन होते हैं एवं उनके नाम गुण रूप क्रिया तथा सम्बन्ध क्या होते हैं? साधक के लिये इस सारे विस्तार में क्या करणीय है? इन प्रश्नों का लेकर विविध सम्प्रदायों में मत वैभिन्न्य प्राप्त होता है। यह भी स्मरणीय है कि समस्त प्रेमाभक्ति का काव्य सृजन लीला सम्बन्धी इन धारणाओं पर ही आधृत है बिना इन धारणाओं के सम्यक्-परिशीलन के इस साहित्य के मर्म को ठीक से ग्रहण नहीं किया जा सकता। इसी कारण चतुर्थ अध्याय में विभिन्न नानागामी भक्ति सम्प्रदायों के उपास्य धाम परिकर लीला एवं उपासना सम्बन्धी धारणाओं का सम्यक् विश्लेषण हुआ है। विश्लेषण करते समय विभिन्न सम्प्रदायों के पृथक्तामूलक तत्त्वों अथवा सदृशताओं की ओर यथा स्थान इंगित करने का प्रयास भी हुआ है। इस प्रकार इस बड़े एवं अत्यधिक

महत्त्वपूर्ण प्रध्याय के मध्य एकसूत्रता की रक्षा की गयी है। इस अध्याय में कुछ बातें और भी उल्लेखनीय हैं। हरिदासी एवं राधावल्लभीय सम्प्रदायों में इन प्रश्नों पर मतभेद इतना कम है कि उन्हें अलग अलग विवेचित करने से प्रबन्ध का कलेवर अतिरिक्त रूप से अवश्य बढ़ जाता पर उससे लीला सम्बन्धी किसी नवीनता का संकेत न होता। इसी कारण उन्हीं बातों के लिए नये उद्धरण जुटाने के स्थान पर दोनों सम्प्रदायों में जो यत्किंचित अन्तर है, उसे ही विवेचित करने का प्रयास प्रासंगिक होगा। शुक सम्प्रदाय की विवेचना भी विशेष दृष्टिकोण से की गयी है। १८वीं शती में निर्गुण एवं सगुण सम्प्रदायों में समन्वय की एक तीव्र प्रक्रिया दृष्टिगोचर होती है। शुक सम्प्रदाय, प्रणामी-सम्प्रदाय आदि इसी समन्वयवादी दृष्टिकोण की उपज हैं।

शुक-सम्प्रदाय की विवेचना समन्वय की इस प्रक्रिया को स्पष्ट करने में सहायक होगी। भारतीय भक्ति साधना को सूफियों ने भी बहुत प्रभावित किया है। हमने इस बात के संकेत किये हैं कि सगुणोपासकों की विरह को महत्त्व देने वाली धारणा सूफियों से प्रभावित है तथा निर्गुणमार्गियों का प्रेम दर्शन वस्तुतः सूफियों का ही है—अतः इस अध्याय के अन्त में सूफी प्रेम दर्शन की संक्षिप्त रूपरेखा भी उपस्थित की गयी है।

लीला सम्बन्धी इन धारणाओं के आधार पर विभिन्न सम्प्रदायों में प्रभूत साहित्य की रचना हुई है। इस साहित्य को लिखने वाले सदैव ऊँची श्रेणियों के या उच्च पदस्थ लोग ही नहीं थे। वह सारा साहित्य सुरक्षित भी नहीं है। सम्भवतः सदैव सुरक्षित रखने के अभिप्राय से यह लिखा भी नहीं गया। जो साहित्य सम्प्रदायों के उत्तराधिकारियों के पास है भी, वह परवर्तियों के लिए लगभग अनुपलब्ध ही रहता है। अन्धविश्वासों एवं रूढ़िवादिता के कारण इन ग्रन्थों के दर्शन भी कठिन हो जाते हैं। कभी कभी ग्रन्थ या रचनाएं प्राप्त हो जाती हैं, परन्तु स्पष्ट संकेतों के अभाव में उनका काल निर्णय अत्यन्त दुरूह हो जाता है। इन कठिनाइयों के होते हुए भी पंचम अध्याय में निम्बार्क, वल्लभ, चैतन्य, हरिदास, राधावल्लभ, ललित, रामोपासक, निर्गुण मतानुयायी एवं सूफी सम्प्रदायों के अस्सी से ऊपर कवियों का परिचय एवं रचनाओं का विवरण हमने उपस्थित किया है। इन कवियों में जो अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान के अधिकारी हैं, उनके व्यक्तित्व एवं साहित्य के विश्लेषण तथा मूल्यांकन को अधिक स्थान दिया गया है। इसी प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि प्रस्तुत अध्याय के एक उप विभाग में रीतिकाल के सोलह कवियों की चर्चा भी की गयी है। हमने इन कवियों को मुख्यरूप से रीति, परन्तु गौण रूप से प्रेमाभक्ति का कवि माना है। इस उप विभाग की भूमिका एवं मुख्य कवियों के विवेचन में इनके द्वैध व्यक्तित्व का आकलन करते हुए एक नये दृष्टिकोण से इनकी मानसिक स्थिति एवं सृजन

प्रक्रिया को समझने का प्रयास भी है। इस प्रकार सब मिलाकर लगभग सौ कवियों को इस अध्याय में उपस्थित किया गया है।

षष्ठ अध्याय में इस उपलब्ध प्रेमाभक्ति-साहित्य के विश्लेषण और मूल्यांकन की चेष्टा है। इस विश्लेषण में भी कृति का आन्तरिक अध्ययन (इंट्रिंजिक स्टडी) करने वाली समीक्षा विधि को अपनाने का प्रयास रहा है। केवल रस अलंकार छन्द शब्द शक्ति आदि के बंध बँधाये चौखटों में ढालकर इस साहित्य को परखने की शैली स्वीकार नहीं की गयी है। हमें लगता है कि इन स्थूल चौखटों में किसी भी साहित्य को ढालकर उसे महत्वपूर्ण बताया जा सकता है। वास्तव में किसी भी रचना में अभिव्यंजना के उपादान एवं मूल वक्तव्य वस्तु एक साथ घुल मिले रहते हैं वे एक साथ मिलकर ही रचना को प्रभविष्णु बना पाते हैं। इसी कारण हमने आलोच्य साहित्य की भाव सम्पदा का विश्लेषण करते हुए उसके साथ ही काव्य सौन्दर्य का भी विश्लेषण किया है। शास्त्रीय विधि के भेदों प्रभेदों में न जाकर भी मूलतः रस दृष्टि का आग्रह इस विश्लेषण में बराबर बना रहा है। प्रेमाभक्ति की तीन स्पष्ट परम्पराओं—व्रजलीला गान निकुंज लीला गान एवं प्रेम प्रतीक भावधारा का अलग अलग विवेचन करते हुए भी उनकी पारस्परिक स्थितियों का तुलनात्मक विश्लेषण यहाँ पर हुआ है। इसी अध्याय में मूल्यांकन करते समय पूर्ववर्ती भक्तिकाल एवं समसामयिक रीतिकाल के साहित्य को परिपार्श्व में रखकर तुलनात्मक प्रविधि को अपनाया गया है। कोई भी रचना अपने समसामयिक कृतित्व के मध्य स्थित होने के साथ ही पूर्ववर्ती परम्परा की अपने समय तक की अंतिम कड़ी भी होती है। इसी कारण मूल्यांकन के प्रसंग में इन दोनों सन्दर्भों को ध्यान में रखना आवश्यक हो जाता है। १८ वीं शती के इस प्रेमाभक्ति साहित्य के विश्लेषण एवं मूल्यांकन में अधिकांश सम्प्रदायों के प्रमुख प्रमुख कवियों के कृतित्व को दृष्टिपथ में रखा गया है। इस अंश में लगभग ३५ कवियों की रचनाओं के उद्धरण देकर इस सब प्रकार से प्रातिनिधिक बनाने का प्रयास उपजन्य होगा।

इस प्रकार उत्तर भारत में भक्ति के नये आन्दोलन से उद्भूत इस साहित्य की अठारहवीं शती तक की परिणतियों प्रभावों सैद्धान्तिक आग्रहों तथा अठारहवीं शती की कृतियों के आकलन के साथ यह अध्ययन समाप्त होता है। उपसंहार में प्रस्तुत अध्ययन का विहंगावलोकन करते हुए मुख्य निष्कर्ष अत्यन्त संक्षेप में उपस्थित किये गये हैं।

—दवीन्कर अवस्थी

प्रथम अध्याय

मध्यकालीन भक्ति नया आंदोलन और अग्रणी व्यक्तित्व

उत्तर भारत में भक्ति का नया आंदोलन

विद्वानों ने भागवत धर्म एवं भक्ति मार्ग की प्राचीनता के पर्याप्त प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत किये हैं।[1] इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन में न जाकर हम इतना ही कहना चाहते हैं कि भक्ति-मार्ग को केवल भागवत (वैष्णव) धर्म के साथ एकात्म करके न देखा जाना चाहिए। शैव, शाक्त, जैन, बौद्ध, तन्त्र, योग आदि सम्प्रदायों की साधना प्रणालियों में भी भक्ति किसी-न-किसी रूप में प्रवाहित होती रही है। हमें लगता है कि भक्ति भाव अन्तःसलिला के रूप में इस देश के लोक-जीवन में बराबर प्रवाहित रहा है और अवसर पाते ही उसके सोते फूटते रहे हैं। पर इतना अवश्य है कि भागवत धर्म के साथ भक्ति का सम्बन्ध प्रारम्भ से ही अधिक घनिष्ठ रहा है। सम्भवतः भागवत धर्म की लोकोन्मुखता

---

१ देखिए—

(क) आर० जी० भण्डारकर वैष्णविज्म शैविज्म एण्ड माइनर रिलिजस सिस्टिम्स आफ इण्डिया।

(ख) डी० के० गोस्वामी भक्ति कल्ट इन एन्शेण्ट इण्डिया।

(ग) हेमचन्द्र राय चौधरी मटीरियल्स फार दि स्टडी आफ दि अर्ली हिस्ट्री आफ दि वैष्णव सेक्ट।

(घ) आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी सूर-साहित्य।

(ङ) डा० मुन्शीराम शर्मा भक्ति का विकास।

(च) बलदेव उपाध्याय भागवत सम्प्रदाय।

(छ) परशुराम चतुर्वेदी वैष्णव धर्म।

(ज) डा० दीनदयालु गुप्त डा० विजयेन्द्र स्नातक आदि विद्वानों के भक्तिकाल से संबंधित विभिन्न शोध प्रबन्धों के एतत्संबंधी अध्याय।

ने उसे सदैव अधिक प्रश्रय एवं महत्त्व दिया है।[१]

संवत् १००० के आसपास से मध्यदेश की स्मार्त आचार परायण भूमि में आलवारों की भावभक्ति एवं प्रेम प्रतीकवान् आचार्यों के शास्त्र सिद्ध व्यक्तित्व के सहारे पहुँचते हैं। पूर्वी भारत की महायान भक्ति और तन्त्र-साधनाओं गुह्य उपासनाओं के सम्मिलन से विकसित सहजिया से वैष्णव-तत्त्व का प्रेम मार्ग एवं परकीयोपासना (जो आगे चलकर गोपीभाव का रूप धारण करती है) भी इसी में आ जुटते हैं। इसी काल में पश्चिमोत्तर भारत से प्रेम की पीर के गायक सूफी भी इस देश में अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते हैं। तुर्क सुल्तानों के समय इन सूफियों के कार्यों को काफी व्यापकता और सफलता प्राप्त हुई थी। इसी समय मुसलमानों के आक्रमण भी होते हैं और कुछेक समय के लिये लगा कि यह दुर्दान्त शक्ति भारतवर्ष के अस्तित्व को कुचल कर रख देगी। ऐसी दशा में इस अनुभव वृद्ध देश के जन की श्रद्धा एवं भक्ति ने इस झंझावात के समक्ष खड़ा रह सकने की शक्ति प्रदान की। एक पाँचवाँ तत्व भी इसी काल में इस परम्परा में आ जुड़ता है। राधा एवं कृष्ण की प्रेम-लीलाओं की साहित्यिक परम्परा धर्म भावना के अन्दर स्थान पा जाती है और यह लीलावाद उपर्युक्त समन्वय से उद्भूत प्रेम प्रधान भक्ति को अपूर्व रस निर्भर बना देता है।

यहीं पर एक और तथ्य की ओर ध्यान दिला देना उचित होगा कि इस युग की संस्कृति मन्दिरों को केन्द्र बना कर बढ़ रही थी। प्रत्येक गाँव एवं मुहल्ले में छोटे बड़े अनेक मंदिर विविध देवी देवताओं के हुआ करते थे। ये मंदिर एक

---

१ भक्ति के तत्त्वान्वेषण की प्रारंभिक स्थिति में विद्वानों ने भारतीय भक्ति भावना के मूल स्रोत खोजने की ओर अपनी रुचि दिखायी थी। विभिन्न विद्वानों ने इस सम्बन्ध में अलग अलग मत निश्चित करने चाहे। ईसाई सामी पैगम्बरी द्रविड़ आदि विचारों को बहुधा भक्ति के मूल में देखा गया। भारतीय विद्वानों का एक वर्ग उसे आर्य चिन्ता की उपज मानकर वेदों में उसके मूलतत्त्व खोजता रहा। इस समस्त विवेचन से एक ही सिद्धान्त पर पहुँचने की अपेक्षा यह अनुभव किया जाने लगा कि भक्ति एवं श्रद्धा जैसे भाव प्रत्येक धर्म मत एवं सुसंस्कृत समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान के अधिकारी होते हैं तथा जीवन्त धर्म-साधनाओं में पारस्परिक प्रभाव ग्रहण की प्रक्रिया बराबर चलती रहती है। इसी कारण साम्प्रतिक तत्त्वान्वेषण में इन पारस्परिक प्रभावों के अध्ययन की ओर रुचि बढ़ी है। आवश्यकता इस बात की है कि विशिष्ट सामाजिक सन्दर्भों को परिपार्श्व में रख कर इन प्रभावों का अध्ययन किया जाय।

प्रकार के विकेन्द्रीकरण के द्योतक थे।[1] बौद्ध विहारों में सामूहिक रूप से निवास प्रार्थना एवं पूजन होता था, पर इन स्मार्त मन्दिरों में वैयक्तिकता एवं सामूहिकता का अपूर्व समन्वय था। उनमें रहता कोई नहीं था, पूजन भी वैयक्तिक था, परन्तु उत्सव व्रत एवं श्रद्धा सामूहिक थी। परिणामस्वरूप जब बख्तियार खिलजी जैसे मुसलमानों ने बौद्ध विहारों पर आक्रमण किया तो उन विहारों की विनष्टि के साथ ही बौद्ध धर्म को भी साधानिक आघात लगा, पर मन्दिरों को तोड़ने के बाद भी मुसलमान न तो मन्दिरों के निर्माण का क्रम तोड़ सके और न मन्दिरों पर श्रद्धा रखने वाले जन की श्रद्धा को नष्ट कर सके। यह द्रष्टव्य है कि भारत के अधिकांश श्रेष्ठतम मन्दिर इसी युग में बनते हैं। खजुराहो, कोणार्क, भुवनेश्वर, हलबीड, बेलूर आदि के मन्दिर ग्यारहवीं शताब्दी के बाद ही बने हैं।

विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी तक आते आते तुर्कों के शासन का अन्त दिखायी पड़ने लगता है। मुसलमानों की अजेयता को इससे भारी धक्का लगता है तथा इस देश के हिन्दू के मन से मुसलमानों का आतंक उठने लगता है। यह तथ्य इस ग्रंथ में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है कि हिन्दुओं में इससे एक नये आशावाद एवं उत्साह का जन्म हुआ। इस उत्साह के मध्य ही पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दियों में भक्ति का नवोत्थान हमें प्राप्त होता है। उपर्युक्त तथ्य इस ग्रंथ में भी महत्त्वपूर्ण है कि हिन्दू मुसलमानों के मध्य पारस्परिक बोध भी इस कारण बनता है एवं सूफीमत को फलने-फूलने या प्रभावित करने अथवा प्रभावित होने का अवसर मिलता है। नये बने मुसलमानों के कारण यह प्रक्रिया और अधिक गति प्राप्त करती है।[2]

यहीं पर एक और तथ्य याद कर लेना आवश्यक है। बौद्ध धर्म ने अपनी अन्तिम परिणतियों में नारायण का रास्ता ग्रहण किया था।[3] विशेष रूप से समाज की निम्न श्रेणियों में इसने आध्यात्मिक आकांक्षाएं उत्पन्न कर

---

१ उस समय राजनैतिक शक्ति भी विकेन्द्रित थी। हमारा अनुमान है कि इस विकेन्द्रित रूप के कारण ही हिन्दुत्व मुसलमानों के भीषण आक्रमण को बरदाश्त करके भी जीवित रह सका। तथा आगे चलकर वर्णधर्म के प्रसार में भी इस स्थिति ने सहायता पहुँचायी होगी।

२ विस्तार से देखिये हिन्दी साहित्य (भारतीय हिन्दी परिषद प्रयाग) में डा० बनारसी प्रसाद सक्सेना लिखित सांस्कृतिक पृष्ठभूमि अध्याय पृ० ५४-५६।

३ हिन्दी साहित्य की भूमिका, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी एवं सिद्ध-साहित्य, डा० धर्मवीर भारती में विस्तार से इसकी चर्चा की गयी है।

विद्वानो को मान्य है)[1]। बल्लभ चतन्य हित हरिवंश हरिदास आदि के सम्प्रदाय और साधनाएं यहीं पुष्पित पल्लवित हुई। उत्तर भारत म भक्ति प्रसार म चतु सम्प्रदायो के योग के प्रति कुछ असतुलित एव अयुक्तियुक्त दृष्टिकोण रहा है। यह योगदान अपने आप म एक स्वतन्त्र अध्ययन का विषय है इसलिए विस्तार म न जाकर हम मात्र इतना कहना चाहते हैं कि निम्बार्क सम्प्रदाय को छोड कर और किसी सम्प्रदाय की ब्रज म अवस्थिति बल्लभ चतन्य आदि के पूव की प्राप्त नहीं होती। रामानुज की परम्परा काशी म मिलती अवश्य है परन्तु रामानन्द के पहले वह एकदम क्षीण थी तथा रामानन्द शुद्ध रामानुजी कितने रहे यह काफी विवाद की बात है। कुछ लोग तो उन्ह एकदम पृथक मानते हैं जो रामानुज के साथ उन्ह सम्बन्धित करते भी हैं वे भी दर्शन तत्त्व के क्षेत्र म काफी उपासना पद्धति आचार-व्यवहार तिलक माला और मत्र म उनकी भिन्नता स्वीकार है।

निम्बार्क के बारे म भण्डारकर[2] परशुराम चतुर्वेदी[3] बलदेव उपाध्याय आदि सभी विद्वानो ने इस बात की ओर ध्यान दिलाया है कि उनके सम्प्रदाय का प्रसार व्रज प्रदेश (राजस्थान भी) तथा बगाल म ही अधिक हुआ दक्षिण म वह नितान्त नगण्य रहा। बलदेव उपाध्याय ने तो स्पष्ट सकेत किया है —

---

१ ब्रज प्रान्त मे कुषाण वशी राजाओं के राजत्व काल (ईसा की प्रथम शताब्दी) म जो बहुधा बौद्ध मतावलम्बी थे भागवत धम बहुत शिथिल था। कुषाण-वशी राजा कनिष्क न बौद्ध धम को ही प्रोत्साहन दिया इसके अनन्तर गुप्त वश के राजत्व काल म वष्णव धम फिर प्रबल हुआ। हषवद्धन न बौद्ध धम को अपना कर उसी का प्रचार किया। उस समय एक प्रकार से ब्रज मे भागवत धम का लोप हो गया। दक्षिण भारत से आनवाले आचार्यों द्वारा वष्णव धम के प्रचार म ब्रज प्रान्त मे फिर से बौद्ध और जन धर्मों को हटा कर भागवत धम का उत्थान कर दिया। चार आचार्यों मे से आचाय मध्वाचाय विष्णुस्वामी तथा निम्बार्काचाय विष्णु के कृष्ण रूप के उपासक थे। इसलिये चारों आचार्यों के मतो मे से ब्रजभूमि म कृष्ण की जन्मभूमि होन के कारण मध्वाचाय विष्णुस्वामी और निम्बार्क सम्प्रदायो की भक्ति पद्धति का ही १५ वीं शती तक विशेष प्रचलन रहा।—डॉ० दीन दयालु गुप्त अष्टछाप और बल्लभ सम्प्रदाय प्र० स० पृ ३६ ४०

२ वष्णविज्म शविज्म एण्ड माइनर रिलिजस सिस्टिम्स पृ० ६३।
वष्णव धम पृ० ८५

४ भागवत सम्प्रदाय पृ १४

'उत्तर भारत म विशेषकर मथुरा मडल म ही इन वष्णवो की स्थिति निम्बाक का सम्ब घ ब्रा मण्डल म ही जोडती है। [1] हम समझते है कि यह बात काफी महत्त्वपूर्ण है। यह सम्प्रदाय उत्तर भारत की ही देन है। रामानुज के सिद्धा त के आधार[2] पर उत्तर भारत के अनुकूल विकसित इस सम्प्रदाय को दक्षिण के साथ जोडना उचित नही है। भले ही निम्बाक दाक्षिणात्य रहे हो पर उनका सम्प्र ाय उसी प्रकार उत्तर भारत का है जस दाक्षिणात्य वल्लभ का सम्प्रदाय भी उत्तर का ही था। हम कहना चाहते है कि निम्बाक और रामान द ये दो प्रारम्भिक सतु है जि होने भक्ति के क्षत्र म दक्षिण और उत्तर को मिलाया है। द"न ज्ञान क्ष त्र म शकराचाय पहले ही सेतु बन चुके थे। आगे वल्लभाचाय एव चत य महाप्रभु ने अपने को विष्णुस्वामी एव माध्व से सबधित किया है। पर यह केवल प्रामाणिकता के लिए है अ यथा जसा कि डा० विजये द्र स्नातक ने भी कहा है कि नये सम्प्रदाय चतु सम्प्रदायो से अपनी प्रतिभा म नितात पृथक हैं।[3] प्रदेश विशेष की स्थिति के साथ भक्ति साधना म कुछ विभेद हो जाना असम्भव या अनुचित भी नही है। आगे हम उत्तर भारत के प्रमुख वष्णवाचार्यों का सक्षिप्त जीवन विवरण उपस्थित कर रहे हैं। इस विवरण से उस समय की साधना दिशा के परिचय के साथ ही यह भी ज्ञात हो सकेगा कि इन लोगो ने कितना महान् काय सपादित किया था।

निम्बार्काचाय—यथेष्ट ऊहापोह होने के बाद भी अब तक निम्बाक का समय निश्चित नही हो पाया है। एक ओर बलदेव उपाध्याय तथा निम्बाक मतानुयायी अनेक आधुनिक विद्वान उ ह वष्णव सम्प्रदायो म प्राचीनतम मानते हैं।[4] दूसरी ओर भण्डारकर ने (और उनके ही अनुरूप परशुराम चतुर्वेदी दीनदयालु गुप्त हरवश लाल शर्मा आदि हि दी के विद्वानो ने भी) उनका समय ११६२ ई० के आसपास रामानुज के बाद माना है। इनकी भक्ति पद्धति पर रामानुज का स्पष्ट प्रभाव भण्डारकर को मा य है।[5] यदि राधा नाम को उ होने सबसे पहले प्रमुखता दी है तो उससे यह सूचित होता है कि निम्बाक बहुत पहले

---

१ वही प ३१४।
२ आर० जी भण्डारकर व० श प०९३।
३ डॉ० विजये द्र स्नातक राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धात और साहित्य प० ५२।
४ भागवत सम्प्रदाय प० ३१६।
५ भण्डारकर व० श० प० ९२ ९३।

विन्ता की मान्य है)[१]। बल्लभ चतन्य हित हरिवंश हरिदास आदि के सम्प्रदाय और साधनाएं यहीं पुष्पित पल्लवित हुईं। उत्तर भारत म भक्ति प्रसार म चतु सम्प्रदायों व योग के प्रति कुछ असतुलित एवं अत्युक्तिपूर्ण दृष्टिकोण रहा है। यह योगदान अपने आप म एक स्वतन्त्र अध्ययन का विषय है इसलिये विस्तार म न जाकर हम मात्र इतना कहना चाहते हैं कि निम्बार्क सम्प्रदाय को छोड़ कर और किसी सम्प्रदाय की व्रज म अवस्थिति बल्लभ चतन्य आदि के पूर्व की प्राप्त नहीं होती। रामानुज की परम्परा काशी म मिलती अवश्य है परन्तु रामानन्द क पहले वह एकदम क्षीण थी तथा रामानन्द शुद्ध रामानुजी कितने रहे यह काफी विवाद की बात है। कुछ लोग तो उन्हें एकदम पृथक मानते हैं जो रामानुज क साथ उन्हें सम्बंधित करते भी हैं वे भी केवल दर्शन के क्षेत्र म बाकी उपासना पद्धति आचार-व्यवहार तिलक माला और मंत्र म उनकी भिन्नता स्वीकार है।

निम्बार्क के बारे म भण्डारकर[२] परशुराम चतुर्वेदी[३] बलदेव उपाध्याय आदि सभी विद्वानों ने इस बात की ओर ध्यान दिलाया है कि उनके सम्प्रदाय का प्रसार व्रज प्रदेश (राजस्थान भी) तथा बंगाल म ही अधिक हुआ दक्षिण म वह नितान्त नगण्य रहा। बलदेव उपाध्याय न तो स्पष्ट संकेत किया है —

---

१ व्रज प्रान्त म कुषाण वंशी राजाओं क राजत्व काल (ईसा की प्रथम शताब्दी) म जो बहुधा बौद्ध मतावलम्बी थे भागवत धर्म बहुत शिथिल था। कुषाण-वंशी राजा कनिष्क न बौद्ध धर्म को ही प्रोत्साहन दिया इसके अनन्तर गुप्त वंश के राजत्व काल मे वष्णव धर्म फिर प्रबल हुआ। हर्षवर्द्धन न बौद्ध धर्म को अपना कर उसी का प्रचार किया। उस समय एक प्रकार से व्रज में भागवत धर्म का लोप हो गया। दक्षिण भारत से आनेवाले आचार्यों द्वारा वष्णव धर्म के प्रचार ने व्रज प्रान्त मे फिर से बौद्ध और जैन धर्मों को हटा कर भागवत धर्म का उत्थान कर दिया। चार आचार्यों में से माधवाचार्य मध्वाचार्य विष्णुस्वामी तथा निम्बार्काचार्य विष्णु के कृष्ण रूप के उपासक थे। इसलिये चारों आचार्यों के मतों मे से व्रजभूमि म कृष्ण की जन्मभूमि होने के कारण मध्वाचार्य विष्णुस्वामी और निम्बार्क सम्प्रदायों की भक्ति पद्धति का ही १५ वीं शती तक विशेष प्रचलन रहा।—डॉ० दीन दयालु गुप्त अष्टछाप और बल्लभ सम्प्रदाय प्र० स० पृ० ३६ ४०

२ वष्णविज्म शविज्म एण्ड माइनर रिलिजस सिस्टिम्स पृ० ६३।
वष्णव धर्म पृ ८५

४ भागवत सम्प्रदाय पृ० १४

"उत्तर भारत म विशेषकर मथुरा मडल म ही इन वैष्णवो की स्थिति निम्बार्क का सम्प्रदाय का मण्डन म ही जोडती है।"[1] हम समझते हैं कि यह बात काफी महत्त्वपूर्ण है। यह सम्प्रदाय उत्तर भारत की ही देन है। रामानुज के सिद्धान्त के आधार[2] पर उत्तर भारत के अनुकूल विकसित इस सम्प्रदाय का दक्षिण के साथ जोड़ना उचित नही है। भले ही निम्बार्क दाक्षिणात्य रहे हो पर उनका सम्प्रदाय उसी प्रकार उत्तर भारत का है जैसे दाक्षिणात्य वल्लभ का सम्प्रदाय भी उत्तर का ही था। हम कहना चाहते हैं कि निम्बार्क और रामानन्द ये दो प्रारम्भिक सेतु हैं जिन्होंने भक्ति के क्षेत्र म दक्षिण और उत्तर को मिलाया है। दर्शन ज्ञान के क्षेत्र म शंकराचार्य पहले ही सेतु बन चुके थे। आगे वल्लभाचार्य एव चैतन्य महाप्रभु ने अपने को विष्णुस्वामी एव माध्व से सबधित किया है। पर यह केवल प्रामाणिकता के लिए है अन्यथा जैसा कि डा० विजयेन्द्र स्नातक ने भी कहा है कि नये सम्प्रदाय चतु सम्प्रदायो म अपनी प्रतिभा म नितान्त पृथक है।[3] प्रदेश विशेष की स्थिति के साथ भक्ति भावना म कुछ विभेद हो जाना असम्भव या अनुचित भी नहीं है। आगे हम उत्तर भारत के प्रमुख वैष्णवाचार्यों का सक्षिप्त जीवन विवरण उपस्थित कर रहे हैं। इस विवरण म उस समय की साधना दिशा के परिचय के साथ ही यह भी ज्ञात हो सकेगा कि इन लोगो ने कितना महान् कार्य सपादित किया था।

निम्बार्काचार्य—यथेष्ट ऊहापोह होने के बाद भी अब तक निम्बार्क का समय निश्चित नहीं हो पाया है। एक ओर बलदेव उपाध्याय तथा निम्बार्क मतानुयायी अनेक आधुनिक विद्वान उन्हें वैष्णव सम्प्रदायो म प्राचीनतम मानते हैं। दूसरी ओर भण्डारकर ने (और उनके ही अनुरूप परशुराम चतुर्वेदी दीनदयालु गुप्त हरवश लाल शर्मा आदि हिन्दी के विद्वानो ने भी) उनका समय ११६२ ई० के आसपास रामानुज के बाद माना है। इनकी भक्ति पद्धति पर रामानुज का स्पष्ट प्रभाव भण्डारकर को मान्य है।[5] यदि राधा नाम को उन्होंने सबसे पहले प्रमुखता दी है तो उससे यह सूचित होता है कि निम्बार्क बहुत पहले

---

१ वही पृ० ३१४।

२ आर० जी भण्डारकर व० श० पृ० ८३।

३ डॉ० विजयेन्द्र स्नातक राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धात और साहित्य, पृ० ५२।

४ भागवत सम्प्रदाय, पृ० २१६।

५ भण्डारकर व० श० पृ० ६२ ६३।

के नन्दी थे।[1] इस ग्रंथ में वे सर्वप्रथम आचार्य प्रतीत हो जाते हैं कि राधाकृष्ण की भक्ति उत्तर भारत में उनके द्वारा ही प्रचारित हुई।[2] उन्हीं की शिष्य परम्परा में आगे चलकर हरिव्यास देव (सं० १६०० के आसपास) ने निम्बार्क सम्प्रदाय को अत्यधिक उन्नत किया। विद्वानों ने उन्हें बलारी जिले के निम्बपुर ग्राम में उत्पन्न तैलंग ब्राह्मण माना है। उनके पिता का नाम जगन्नाथ था तथा माता का सरस्वती। जन्मतिथि वैशाख शुक्ल तृतीया बताई जाती है। मध्ययुग चमत्कारों का युग था। हर साधु महात्मा एवं महापुरुष के साथ अनेक चमत्कारी कथाएं जुड़ जाया करती थीं। निम्बार्क के साथ भी एक कथा जुड़ी हुई है कि नीम के वृक्ष पर सुदर्शन चक्र का इन्होंने आह्वान कर लिया था जिससे कि कुछ उपासक सूर्यास्त के बाद भी भोजन कर सकें। तभी से इनका नाम निम्बार्क या निम्बादित्य पड़ गया था। गोवर्धन के निकट इस स्थान का नाम आज भी निम्ब ग्राम है। निम्बार्क के दो ग्रंथ मुख्य कहे जाते हैं—वेदान्त पारिजात सौरभ तथा दशश्लोकी। इस सम्प्रदाय को हम सनक या देवर्षि सम्प्रदाय भी कहते हैं। आगे निम्बार्क की परम्परा में तीसवें आचार्य केशव काश्मीरी ने गीता और ब्रह्मसूत्रों पर पुनः भाष्य लिखे। ३१ वें श्री भट्ट ने हिन्दी में रचना की।[3] तथा ३२ वें हरिव्यास देव ने अपनी संगठन शक्ति के बल पर सम्प्रदाय का अभिनवीकरण भी किया। हरिव्यास देव के महत्त्वपूर्ण योगदान के कारण इसे हरिव्यासी सम्प्रदाय भी कहा जाने लगा। निम्बार्कीय सम्प्रदाय की देन हिन्दी को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आगे चलकर घनानन्द रूप रसिक देव रसिक गोविन्द जैसे श्रेष्ठ कवि निम्बार्क मतानुयायी हुए हैं।

---

१ ११-१२ वीं शती के पूर्व राधा का उल्लेख देवी के रूप में कहीं नहीं मिलता। यहाँ तक कि जयदेव के गीतगोविन्द में भी यह अत्यन्त मनोहर, मानवीय प्रणय प्रसंगिका है देवी नहीं। गीत गोविन्द के दशावतार में कृष्ण के प्रसंग में राधा का उल्लेख नहीं किया गया है।

२ अङ्गे तु वामे वृषभानुजां मुदा, विराजमानामनुरूप सौभगाम्। सखीसहस्रैः परिसेवितां सदा स्मरेम देवीं सकलेष्ट कामदाम्। दशश्लोकी ५

३ युगल शतक।

४ हरिव्यास देव को माधुर्य उपासना का प्रवर्तक तथा महावाणी का रचनाकार कहा जाता है। पर जैसा कि हम आगे निम्बार्क सम्प्रदाय की पद्धति एवं निम्बार्कीय कवियों के विवेचन के प्रसंग में बतलायेंगे कि हरिव्यास देव की अपेक्षा रूप रसिक जी को महावाणीकार मानना उचित होगा।

कृष्ण की अनुरूप सौभगा राधा को निम्बार्क मत मानन लाया यह इस सम्प्रदाय की बहुत बड़ी देन कही जाता है। (यद्यपि यह बात काफी विवादास्पद है।) पर माधुर्य भावना का पूर्ण विकास संभवतः बाद म इस सम्प्रदाय म हुआ और वह भी कभी उस सीमा तक नहीं पहुँचा जिस तक सखी राधावल्लभीय या गौडीय-वैष्णव सम्प्रदाय म वह पहुँच सका। माधुर्य के साथ ही अन्य भावों का भी निम्बार्क-सम्प्रदाय के आचार्यों न मान लिया है।[1] परन्तु कृष्ण के प्रति अनन्य भक्ति का उपदेश स्वयं निम्बार्क न पहले ही दिया था —

नान्यागति कृष्णपदारविन्दात
सदृश्यते ब्रह्मशिवादिवंदितात।
भक्तेच्छयोपात्त सुचिन्त्यविग्रहा
दचिन्त्य शक्तेरविचिन्त्य साशयात।

—दशश्लोकी श्लोक ८।

परन्तु यहीं पर हम उस विवाद की ओर इंगित कर देना चाहते हैं जो दशश्लोकी को लेकर है। विद्वानों का एक वर्ग दशश्लोकी को निम्बार्क-कृत नहीं मानता। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी न भी उसके १६ वीं शती की रचना होने का सन्देह किया है।[2] दूसरी ओर सम्प्रदाय के विद्वान तथा प० परशुराम चतुर्वेदी[3] बलदेव उपाध्याय आदि उसे निम्बार्ककृत स्वीकार करते हैं। दोनों ही पक्षों म पुष्ट प्रमाणों का अभाव है। परन्तु इतना निश्चित है कि इनके वेदान्त-पारिजात सौरभ और दशश्लोकी की भावना के मध्य कोई संबंध ज्ञात नहीं होता। दशश्लोकी म राधा और कृष्ण की भक्ति का विह्वल आह्वान है पर वेदान्त पारिजात सौरभ म रमाकान्त पुरुषोत्तम वासुदेव आदि नाम तो आते हैं पर कृष्ण का नाम नहीं आता।[4] राधा और कृष्ण की रसपरक लीलाओं की गंध भी इस भाष्य म नहीं है। परन्तु केवल इसी आधार पर दशश्लोकी को नितान्त परवर्ती रचना भी नहीं कहा जा सकता। इस संबंध म और अधिक अनुसंधान की आवश्यकता है। निम्बार्क के श्रीकृष्ण स्तव राज प्रपन्न कल्पवल्ली मंत्र रहस्य षोडसी आदि जिन ग्रन्थों को निम्बार्ककृत बताया गया है अब वे

---

१ भागवत सम्प्रदाय पृ० ३४७ ४८।
२ आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य पृ० १९८ १९९।
३ वैष्णव धर्म पृ० ८४।
४ भागवत सम्प्रदाय, पृ० ३१८।
५ डॉ० शरण बिहारी गोस्वामी ने अपने शोध प्रबन्ध 'हिन्दी कृष्ण भक्ति काव्य म सखी भावना' म निम्बार्क के ग्रन्थों पर विस्तार से विचार किया है। देखिये पृ० ८० ८४ [अप्रकाशित प्रबन्ध]।

अधिकाश परवर्ती या अय ग्रंथों में अंश सिद्ध किय जा चुक हैं।[1]

रामानन्द

भक्ती द्राविड़ ऊपजी लाये रामानन्द।
परगट किया कबीर ने सप्तदीप नवखण्ड ।।

इस कथन स इतना तो पता चलता ही है कि बहुत पहल स ही भक्ति का सबध दक्षिण भारत से मान लिया गया था।[1] इधर विविध वष्णवाचाय एव भक्तो के सबध म जो अनुसधान हुए हैं उनस यह पता चलता है कि उत्तर भारत म वष्णव साधना का पहला केन्द्र काशी म ही वष्णवों का बना। दक्षिण स भक्ति रामानन्द के गुरु राघवानन्द लाय थे। परन्तु सम्भवत दक्षिण की परिस्थितियां म पल-पुस राघवानन्द उत्तर भारत की मनोवृत्ति क अनुकूल नहीं बन पाय थ परन्तु अपन विद्रोही शिष्य रामानन्द को अलग सम्प्रदाय चलाने की आज्ञा दकर उन्होंने एक समुचित काय किया था। स्वामी राघवानन्द क बारे म कुछ विशेष ज्ञान नही है परन्तु किवदन्तियां आदि स यह पता चलता है कि व वष्णव आचाय होने के साथ ही योग विद्या म भी निष्णात थ। रामानन्द ने भी सभवत अपने गुरु स योग साधना सीखी होगी। काशी उन दिनों शवमत का अखाडा भी था अत यह समझने म कुछ कठिनाई न होनी चाहिए कि वष्णवो को भी उस चमत्कारिक युग म अपना स्थान सुरक्षित रखने क लिए योग क्रियाओं स परिचित अवश्य होना पड़ा होगा। इस पृष्ठभूमि म रामानन्द एव उनक शिष्यों की निगुण उपासना सहज समझ म आने वाली है। रामानन्द स ही यह योग परम्परा समाप्त नहीं हो जाती। ऐसा लगता है कि राघवानन्द रामानन्द सम्प्रदाय को प्रारम्भ से ही नाथपंथ पथियों स लोहा लेना पड़ा और फिर धीरे धीरे इन्होंने उनको अपने भीतर आत्मसात भी किया। डा० जी एस० घुर्ये ने श्री कृष्णदास पयहारी की दास तारानाथ आदि कथाओं का विवरण करते हुए कहा है कि इस प्रमुख साधु की जीवन विधि इस बात का उदाहरण है कि कसे वष्णव विशेषकर रामानन्दी वष्णवों द्वारा शव सम्प्रदायों विशेष रूप स नाथ पथियों के बीच एक धीमी किन्तु दृढ रोपण प्रक्रिया (प्रॉसेस आफ ट्रान्सप्लान्टेशन) चलायी जा रही थी।[3] यानी कि योगमाग के वृक्ष पर भक्ति

---

१ वही पृ० ८० ८४।
२ श्रीमद्भागवत माहात्म्य प्रथम अध्याय श्लोक ४८।
उत्पन्ना द्राविडे साहं वृद्धि कर्णाटके गता
क्वचित्क्वचिन्महाराष्ट्रे गुजरे जीर्णतां गता।
३ जी० एस० घुर्ये इण्डियन साधूज पृ० १८४ १८०।

की कलम लग रही थी। राघवानन्द की साधना योग और भक्ति का समन्वित रूप है।[1] बहुत सम्भव है कि वैष्णव पंथों ने मध्यकालीन योग उपासकों को भी अपने में सम्मिलित कर अपने सम्प्रदाय को अधिक लोकप्रिय तथा व्यापक बनाया होगा।[2]

जन्म —स्वामी रामानन्द के जन्म को लेकर विद्वानों में काफी मतभेद है। भण्डारकर उनका समय १३०० ई० के आसपास मानते हैं।[3] परशुराम चतुर्वेदी ने भी उन्हें १२९९ ई० में उत्पन्न माना है।[4] रामानन्द सम्प्रदाय पर विशेष खोज करने वाले डा० बदरी नारायण श्रीवास्तव ने भी उन्हें संवत् १३५६ से १४६७ (१२९९ ई० से १४१० ई०) तक माना है।[5] गुरु परम्परा के आधार पर पं० रामचन्द्र शुक्ल ने उन्हें स्थूल रूप से विक्रम की १५वीं शती के चतुर्थ तथा १६वीं शती के तृतीय चरण के भीतर स्वीकार किया है।[6] श्री बलदेव उपाध्याय ने भी सं० १५६७ के आसपास तिरोधान समय मानकर शुक्ल जी का ही समर्थन किया है।[7] विल्सन ने भी भण्डारकर इत्यादि के मत को असंगत बताते हुए उन्हें १४वीं शताब्दी के अन्त या १५वीं के प्रारम्भ के पूर्व नहीं माना।[8] हमारा विचार है कि शुक्ल जी एवं उपाध्याय जी के निर्णय अधिक तर्क संगत है। नाभादास के जिस छप्पय के आधार पर भण्डारकर इत्यादि ने अपने निर्णय किये हैं उसकी गुरु परम्परा अधूरी है। इसके अतिरिक्त यदि रामानन्द का इतना पहले रखें तो फिर कबीर आदि उनके शिष्य नहीं सिद्ध होते और इस प्रकार उनका वह महत्त्व भी नष्ट हो जाता है जो लोक-परम्परा एवं शास्त्रज्ञ विद्वान दोनों के माध्यम से सुरक्षित चला आ रहा है। इसके अतिरिक्त रामार्चन पद्धति को रामानन्द जी की प्रामाणिक कृति मान लेने के बाद कोई कारण शेष नहीं रहता कि स्वयं उनके द्वारा दी गयी गुरु परम्परा को अस्वीकार किया जाय। इस परम्परा के अनुसार रामानुज की १४वीं पीढ़ी में रामानन्द जी का आविर्भाव हुआ। रामानुज का तिरोधान काल वि० ११९४ या ११९६ माना जाता है अतः इस प्रकार उन्हें

---

१ बलदेव उपाध्याय भागवत सम्प्रदाय, पृ० २४५।

२ वही पृ० २४७।

३ भण्डारकर व० एण्ड श० पृ० ९५।

४ वैष्णव धर्म, पृ० १०८।

५ हिन्दी साहित्य कोष मे रामानन्द सम्प्रदाय पर टिप्पणी पृ० ६४८।

६ हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० १०८।

७ भागवत सम्प्रदाय पृ० २५३।

८ एच० एम० विल्सन एसेज ऑन दि रिलिजस सेक्टस ऑफ हिन्दूज, पृ० २४।

विक्रम की पन्द्रहवीं शती के उत्तरार्ध में मानना असंगत सिद्ध नहीं होता।

रामानन्द जी के जीवन का कोई प्रामाणिक विवरण उपलब्ध नहीं होता परन्तु अगस्त्य संहिता एवं भक्तमाल के आधार पर इन्हें पुण्य सदन शर्मा एवं सुशीला देवी का पुत्र माना गया है। वे कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे तथा प्रयाग के निकट इनका जन्म हुआ था। जीवन में इन्होंने लम्बी यात्राएँ की थीं इन यात्राओं ने भी सम्भवतः इनके मन पर समानता सिद्धान्त का तर्क बिठाया होगा। डा० बदरी नारायण श्रीवास्तव का अनुमान है रामानन्द ने तीर्थों का भ्रमण करके ही अपने दृष्टिकोण को युगधर्म के अनुकूल बना लिया था।[1] अनुमान है कि तीर्थाटन से लौटने पर गुरु मठ में उनके गुरुभाइयों ने उनके साथ भोजन करने में आपत्ति की होगी। उनका अनुमान है कि अपनी तीर्थयात्रा में रामानन्द ने अवश्य ही खान पान सम्बन्धी छुआछूत का कोई विचार न किया होगा। अपने शिष्यों का यह आग्रह देखकर गुरु राघवानन्द की इन्हें नूतन सम्प्रदाय चलाने की आज्ञा दी। यह आज्ञा शिष्य के महत्त्व को तो सूचित करती ही है उस गुरु के महत्त्व को भी सूचित करती है जो शिष्य की स्वाधीन चिन्ता का मूल्य समझता है। यह अनुमान असंगत न होना चाहिये कि रामानन्द में जो आचार्यत्ववर्मी गुरुत्व आया जिसके नीचे सगुण निर्गुण सभी मतवाद पनप सके उसकी एक बड़ी प्रेरणा स्वयं उनके अपने गुरु का आचार्यधर्मित्व है। कहते हैं कि मध्ययुग की समग्र स्वाधीन चिन्ता के गुरु रामानन्द ही थे।[2]

दक्षिण भारत की विधि निषेधपरक जटिल समाज व्यवस्था के बीच रामानुजाचार्य ने कम उदारता नहीं दिखायी थी।[3] पर उत्तरी भारत के लिए एवं सारी समाज-व्यवस्था तथा वर्णिक मान्यताओं को लात मारने वाले अप्रतिम योद्धा का आत्मसात करने के लिये अधिक उदार भक्ति की आवश्यकता थी। रामानन्द ने उसको और अधिक सर्वजन सुलभ बनाया। रामानुज ने ब्राह्मण श्रेष्ठता को सुरक्षित रखते हुए भी भक्ति का द्वार हजारों लोगों के लिये उन्मुक्त किया था। रामानन्द ने उस श्रेष्ठता को भी समाप्त कर दिया। हिन्दी साहित्य की भूमिका में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भारतीय मध्ययुगरसाधना से रामानुज हरिवर दास की हरि भक्ति प्रकाशिका (भक्तमाल की टीका) का लगभग

---

१ बदरी नारायण श्रीवास्तव रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव पृ० ८५।

२ डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य की भूमिका पृ० ४७।

३ श्री एस० डी० शर्मा हिन्दुइज्म थ्रू दि एजेज (भारतीय विद्याभवन बम्बई) व० सी० वरदाचारी आसपेक्ट्स आफ भक्ति (मसूर यूनिवर्सिटी) १९५६।

१०० वर्ष पूर्व लिखा यह मत उद्धृत किया है —"रामानन्द ने देखा कि भगवान के शरणागत होकर जो भक्ति के पथ में आ गया उसके लिए वर्णाश्रम का बन्धन व्यर्थ है इसीलिए भगवद्भजन का खानपान के झंझट में नहीं पड़ना चाहिए। यदि ऋषियों के नाम पर गोत्र और परिवार बन सकते हैं तो ऋषियों के भी पूजित परमेश्वर के नाम पर सबका परिचय क्यों नहीं दिया जा सकता? इस प्रकार सभी भाई भाई हैं सभी एक जाति के हैं। श्रेष्ठता भक्ति से होती है जन्म से नहीं।"[1] रामानन्द ने इस आदर्श को लेकर जीवन में सभी वर्गों को दीक्षा दी।[2] उसका परिणाम भी सामने है उत्तर भारत में रामानन्दी वैरागियों की संख्या सबसे अधिक है और उनके इष्ट देवता राम उत्तर भारत के सबसे अधिक प्रिय देवता साक्षात भगवान हैं। उनके महान और गरिमामय व्यक्तित्व से अनुप्रेरित उत्तर भारत के दो श्रेष्ठतम साधक भक्त कवि एवं कल्याणकामी कबीर और तुलसी की विभूति से कौन परिचित नहीं है? एक उस निर्गुण भक्ति भावधारा का प्रतीक और प्रतिनिधि है जिसे रामानन्द ने अपनी योग-साधना और भक्ति साधना के समन्वय द्वारा नाथ पंथियों को आत्मसात करने में प्रयुक्त किया था और दूसरा राम-सीता के उस सगुण आदर्श स्वरूप का पूजक है जिसे रामानुज के लक्ष्मीनारायण से हटकर राम सीता के रूप में प्रतिष्ठापित किया गया था। एक राम को दशरथ सुत मानता है दूसरा उनको 'आनमम' बताता है। रामानन्द के जीवन का कोई प्रामाणिक विवरण उपलब्ध न होने पर भी ऐसा लगता है कि वे सदैव जिज्ञासु एवं प्रभाव ग्रहण के प्रति अत्यधिक उदार रहे हैं। साथ ही हरि का भजनवाली बात मूल में सदैव विद्यमान रही। भक्ति को उन्होंने रामानुजाचार्य की भाँति मात्र उपासना तक ही नहीं प्रेम और भजन के वास्तविक अर्थों में प्रतिष्ठित करने में सहायता दी। योगमार्ग और ज्ञान का उन्होंने तिरस्कार नहीं किया पर भक्ति का अंग मानकर ही उसे स्वीकारा और तभी वे नाथ-योद्धा को भक्तिमार्ग के भीतर जीत कर ला सके थे। उनके सम्प्रदाय में प्रभाव ग्रहणशीलता का जीवन्त तत्त्व सदैव विद्यमान रहा। आगे चलकर कृष्ण भक्ति की मधुर उपासना भी राम-सम्प्रदाय में प्रविष्ट हुई तथा आवश्यकता पड़ने पर एक प्रकार का सैनिक रूप ग्रहण करने में भी उनके सम्प्रदाय को देर नहीं लगी। दुष्टदलन धनुर्धारी राम के भक्तों में इस स्वर का उभर आना बहुत आश्चर्यजनक नहीं है।

ऊपर हमने रामानन्द की दो प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख किया है—

---

१ हिन्दी साहित्य की भूमिका पृ० ४७।

२ रामानन्द के १२ प्रमुख शिष्य कहे जाते हैं। उनमें विभिन्न ऊँची नीची जातियों के व्यक्ति सम्मिलित हैं।

निम्नवर्गों का भी दीक्षा देना तथा अपने सम्प्रदाय के अधिष्ठित देवता लक्ष्मी नारायण के स्थान पर राम सीता (जो स्थानीय रंगत के कारण अवध काशी म अधिक शक्तिशाली रहे होंगे) की प्रतिष्ठा। डा० भण्डारकर ने उनकी एक तीसरी विशेषता की ओर ध्यान आकर्षित किया है और वह है लोक भाषाओं को बहुमान देना। यह उनकी ओर भक्तिमार्ग की जनवादिनी शक्ति और विशिष्टता की द्योतक है। रामानन्द न वैकुण्ठ के स्थान पर साकेत को ही परमधाम माना है। यहाँ स यथार्थ का आदर्शीकरण एव उदात्तीकरण प्राप्त होता है। यह प्रवृत्ति शायद मुस्लिम अत्याचारियों के प्रभाव के फलस्वरूप बलवती हो गयी थी। यह प्रतिक्रिया अत्यन्त स्वस्थ एव आशावादिनी थी। यदि समाज केवल वैकुण्ठ की ओर प्रभावित होता तब उस हम सुविधा के साथ पलायन कह सकते थे परन्तु अपने ही नगरों एव तीर्थों को वैकुण्ठ ही नहीं परमधाम मानना गहरे आशावादी एव मानसिक रूप स सघर्षरत मन की उपज है। रामानन्द की रचनाएं अनेक कही जाती है पर उपलब्ध केवल दो वैष्णव मताब्ज भास्कर तथा श्री रामार्चन पद्धति है। इसके अतिरिक्त हिन्दी म कतिपय स्तुतिपरक पद भी मिले हैं।

वल्लभाचार्य

आचार्य वल्लभ के बारे म हम अधिक प्रामाणिक विवरण प्राप्त होते है। एक स्वर स सभी विद्वानो न इनका जन्म स० १५ ५ वि० और मृत्यु स० १५८७ वि० म माना है। इनके पिता का नाम लक्ष्मण भट्ट तथा माता का नाम एल्लमागारु था। व लोग तलग ब्राह्मण थे जो उत्तर म बस गये थे। काशी म यथोचित शिक्षा दीक्षा के पश्चात तरुण वय म ही उन्होन विजयनगर के राजा कृष्ण देव राय की सभा म मायावादियों तथा नास्तिकों को शास्त्रार्थ म पराजित किया तथा वैष्णवों का समर्थन किया। इसके पश्चात् ही मत साम्य तथा प्रामाणिकता प्राप्ति हेतु उन्होंने विष्णुस्वामी के सम्प्रदाय म दीक्षा ले ली। पर जस रामानन्द अपनी भक्ति पद्धति आदि म अपने आचार्य रामानुज से ही नहीं बध वस ही वल्लभ जस लोकनेता को किसी विशेष मतवाद के साथ बध कर रहना पसन्द नही आया।[2] वल्लभ न भी अपने जीवन म तीन यात्राओं म सार

१ हिन्दी साहित्य पृ १०७ १०८।

२ डा विजयेन्द्र स्नातक का यह मत भी इस सम्बन्ध मे उल्लेखनीय है वल्लभाचार्य की भक्तिपद्धति का नूतन रूप और उसमें कृष्ण के माधुर्य भाव की उपासना की स्वीकृति अपनी विशिष्ट देन है जो विष्णु स्वामी के युग में किसी भी रूप म प्रचलित नहीं थी।
—राधावल्लभ सम्प्रदाय साहित्य और सिद्धान्त प० ५०।

भारत का भ्रमण किया। तीर्थ यात्राओं का वास्तव में इन आचार्यों पर (उस युग की साधना और समाज पर भी) बड़ा प्रभाव पड़ा है। इनमें उन्हें अपने युग और देश का वास्तविक परिचय मिला होगा। ये यात्राएँ जहाँ एक ओर व्यक्तित्व के विकास में सहायक सिद्ध होती हैं वहीं दूसरी ओर मत प्रचार एवं पारस्परिक सबोधि भी देती हैं। ऐसी ही एक तीर्थयात्रा में वल्लभ ने विजयनगर के शास्त्रार्थ में वैष्णव मतवाद का झण्डा ऊँचा किया था। इन्हीं यात्राओं में ८४ स्थानों पर उन्होंने श्रीमद्भागवत का पारायण किया था जहाँ पर कि महाप्रभु जी की बैठक बनवा दी गयी है, इनमें २२ केवल ब्रज में हैं। इससे पता चलता है कि श्रीमद्भागवत पुराण के अधिकारी ग्रन्थ मानकर ये वैष्णवाचार्य भक्ति का प्रसार कर रहे थे तथा ब्रज भूमि के लिये भी प्रयत्नशील थे।

संवत १५५६ में उन्होंने श्रीनाथ जी के मन्दिर का निर्माण प्रारम्भ कराया, जो १५७६ वि० में ही समाप्त हुआ। यह मन्दिर आगे चलकर न केवल वल्लभ सम्प्रदाय का ही केन्द्र पीठ बना बल्कि अष्टछाप के गायक कवियों की सृजन भूमि भी बनने का गौरव भी इसने प्राप्त किया। हिन्दी के भक्ति साहित्य के निर्माण में इस मन्दिर का स्थान अक्षुण्ण रहेगा। ब्रजभूमि की पुनर्प्रतिष्ठा में भी इस मन्दिर का प्रमुख हाथ है। वल्लभ ने कृष्ण भक्ति एवं ब्रज भूमि को आदर दिया उनका प्रभाव भी इस क्षेत्र में बहुत था। उनके इष्ट देवता श्रीनाथ जी का मन्दिर भी इसी क्षेत्र में था परन्तु यह आश्चर्यजनक बात है कि वे स्वयं प्रयाग के पास अड़ैल ग्राम में जीवन भर रहे तथा मृत्यु के निकट काशी में संन्यास धारण कर रहने लगे।

वल्लभाचार्य जी ने विवाह किया था और दो पुत्र भी थे। यह बात रामानन्दी सम्प्रदाय से नितान्त भिन्न है। रामानन्द का सम्प्रदाय वैरागियों का था तथा पुष्टिमार्ग गृहस्थों का। संभवतः इसके पीछे भी (रामानन्दी वैरागी प्रधानता) शैवसाधना को आत्मसात करने का प्रयास था।

वल्लभ के चौरासी प्रसिद्ध शिष्य हुए जिनके ऊपर 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' लिखी गयी है। इन्हीं में सूरदास, कुंभनदास, परमानन्ददास तथा कृष्णदास अष्टछाप के चार प्रमुख कवि भी हैं। पुष्टि सम्प्रदाय शिष्य मंडली में श्री वल्लभाचार्य आचार्य जी महाप्रभु तथा उनके पुत्र विट्ठलनाथ जी 'गोसाईं जी' के नाम से प्रसिद्ध हैं। यहाँ एक आश्चर्यजनक नाम साम्य गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय से प्राप्त होता है। गौडीय वैष्णवों में भी चैतन्य को महाप्रभु कहा गया है और उनके षट् गोस्वामी शिष्यों के रूप में प्रसिद्ध ही हैं। यहाँ पर संभवतः वल्लभ के अनुयायी चैतन्य से प्रभावित हुए थे। यह भी हो सकता है कि गुरु पूजा पर जोर देनेवाली उस साधना के भीतर ही गुरु को इतना प्रमुख स्थान मिल गया था। उनके पुत्र गो० विट्ठलनाथ ने सम्प्रदाय के व्यवस्थित प्रचार एवं संगठन में अत्यन्त महत्वपूर्ण

नाय किया है। इसके अतिरिक्त मधुर उपासना को भी आधिकारिक स्वीकृति उन्होने दी थी। पुष्टि-सम्प्रदाय की नीव वल्लभ न रखी पर भवन निर्माण विट्ठलनाथ ने किया था।

उपासना के क्षेत्र म वल्लभाचाय की मुख्य दन बालकृष्ण पूजा का प्रचार है। रामानुज की परम्परा को आगे बढ़ाते हुये वल्लभाचाय न भी अपनी भक्ति म प्रपत्ति को विशेष स्थान दिया। कृष्ण के साथ राधा की उपासना का भी उन्होंने स्वीकार किया। लीला को वल्लभाचाय ने बहुत ऊचा स्थान दिया।

दशन क क्षेत्र म वे शुद्धाद्वैत के प्रतिष्ठाता थ पर दशन विवेचन तो ऊपरले स्तर पर ही लोगा को प्रभावित करता था वल्लभाचाय न जिस पुष्टिमाग या सेवा माग का विचार आचार के क्षेत्र म किया वह उनके दशन की अपेक्षा कही अधिक महत्त्वपूर्ण है। भक्ति और उपासना क जिस विधि विधान को उन्होंने तथा गो० विट्ठलनाथ न उपस्थित किया वह बडे बडे नरपतियो के लिये भी आकाक्षा की वस्तु था। मानो सारे मुस्लिम शासन क वभव को इस परब्रह्म की पूजा पद्धति द्वारा चुनौती दी गयी थी। इस सूक्ष्म एव जटिल विधि विधान म पीछे एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया भी लगी थी कि इसके माध्यम से भक्त के अहकार को दूर रखा जाय क्योकि विशद पूजन विधान निभाना लगभग असम्भव है और साधक को अपनी सारी शक्ति इसी म लगानी पडती होगी। यो तो प्रभु क अनुग्रह को भक्ति क सभी सम्प्रदायो न स्वीकार किया है पर पुष्टिमाग म इसे सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त हुआ। पुष्टिमाग शब्द ही जिस पोषण शब्द पर आधारित है उसका तात्पय अनुग्रह है।[1] वल्लभ न स्पष्ट कहा है — 'पुष्टि मार्गोऽनुग्रहैक साध्य '[2]। उनके अनुसार कालादि क प्रभाव को रोकनेवाली श्रीकृष्ण की कृपा ही पुष्टि है।[3]

सम्प्रदाय म प्रसिद्ध है कि वल्लभ की लिखी हुई ८४ पुस्तक हैं। उनम स आफ्रेक्ट ने कटलागस कटलगोरम म निम्नलिखित नाम दिय गय हैं —अन्त करण प्रबोध और टीका आचाय कारिका आनन्दाधिकरण आर्या एकान्त रहस्य कृष्णाश्रय स्तोत्र चतुश्लोकी भागवत टीका जलभेद जमिनी-सूत्र भाष्य मीमासा तत्त्वदीप निबन्ध (तत्त्वार्थ दीप और टीका) त्रिविध लीला नामावली नवरत्न और टीका निरोध लक्षण और विवृत्ति पत्रावलम्बन पद्य परित्याग परिवृढाष्टक पुरुषोत्तम सहस्रनाम पुष्टि प्रवाह मर्यादा भेद और टीका पूव

१ पोषण तदनुग्रह श्रीमद्भागवत २।१०।४

२ अणुभाष्य चतुर्थ अध्याय चतुर्थ पाद सूत्र ९ की टीका।

३ तत्त्व दीप निबन्ध भागवताथ प्रकरण (डा० हरवशलाल शर्मा द्वारा सूर और उनका साहित्य पृ० २५५ पर उद्धृत)।

मीमांसा कारिका, प्रेमामृत और टीका, पुरुषोत्तमनाम, बाल चरित नाम, बाल बोध, ब्रह्मसूत्राणु भाष्य, भक्तिवर्धिनी और टीका, भक्ति सिद्धान्त, भगवद्गीता भाष्य, भागवत तत्त्वदीप और टीका, सुबोधिनी टीका, भागवत पुराण एकादश स्कन्ध, ग्रंथ निरूपण कारिका, भागवत-सार समुच्चय, मंगलवाद, मथुरा माहात्म्य, मधुराष्टक, यमुनाष्टक, राजलीलानाम, विवेक धर्याश्रय, वल्लभस्तुति कारिका, श्रद्धा प्रकरण, श्रुतिसार, संन्यास निर्णय और टीका, सर्वोत्तम स्तोत्र टिप्पण और टीका, साक्षात् पुरुषोत्तम-वाक्य, सिद्धान्त मुक्तावली, सिद्धान्त रहस्य, सेवा फल स्तोत्र और टीका, स्वामिन्याष्टक, भागवत पुराण दशम स्कन्ध अनुक्रमणिका, भागवत पुराण पंचम स्कन्ध टीका।[1]

इनमें से मधुराष्टक और स्वामिन्याष्टक तो निश्चित रूप से वल्लभाचार्य के पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ की रचनाएँ हैं। वल्लभ के ग्रंथों का इस राशि में भागवत की सुबोधिनी टीका, ब्रह्म-सूत्रों का अणुभाष्य, पूर्व मीमांसा कारिका, तत्त्वदीप निबन्ध और उसकी टीका अधिक महत्त्वपूर्ण है। उनके सिद्धान्त विवेचक १६ प्रकरण ग्रन्थों ने भी सम्प्रदाय के सिद्धान्त और व्यवहार पर पर्याप्त प्रभाव डाला है। सुबोधिनी टीका एवं अणुभाष्य की अनेक टीकाएँ और भाष्य सम्प्रदाय के परवर्ती विद्वानों ने लिखे हैं। तत्त्वदीप में तीन विभाग हैं जिनमें से प्रथम शास्त्रार्थ प्रकरण में दार्शनिक प्रकृति की १०८ कारिकाएँ हैं। द्वितीय विभाग सर्वनिर्णय प्रकरण में कर्तव्य एवं जीवन के लक्ष्यों पर विचार हुआ है। भागवतार्थ प्रकरण नामक तीसरे अध्याय में भागवत के १२ स्कन्धों का संक्षेप किया हुआ है। इस तीसरे खण्ड पर आगे चलकर पुरुषोत्तम जी महाराज और कल्याणराज ने टीकाएँ लिखी हैं। छोटे ग्रन्थों में संन्यास निर्णय में कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग के तीन प्रकार के संन्यासों का विवेचन २२ श्लोकों में किया गया है। वल्लभाचार्य की सेवाफल ८ श्लोकों की एक छोटी सी रचना है जिसमें ईश्वर की पूजा के अवरोधों एवं प्राप्तव्यों की चर्चा की गयी है। भक्ति-वर्धिनी ११ श्लोकों की रचना [redacted]। यमुनाष्टक यमुना की स्तुति में ६ श्लोकों का संग्रह है। बाल बोध के १९ श्लोकों में वल्लभ ने बताया है कि संसार में काम्य वस्तुएँ दो हैं—दुःख का अभाव और आनन्द। इन्हें वे मोक्ष और काम कहते हैं। उनके अनुसार विष्णु की कृपा से मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। सिद्धान्त मुक्तावली नामक ग्रन्थ के २१ छन्दों में भक्ति का विवेचन करते हुए उन्होंने बताया है कि व्यक्ति को अपनी सब बुद्धि भगवान को समर्पित कर देनी चाहिये। पुष्टि प्रवाह मर्यादा भेद भी छोटा-सा ग्रन्थ है

---

१ एस० एन० दासगुप्ता, ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलासफी, चतुर्थ भाग, पृ० ३७८ पर उद्धृत (कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस १९५५)।

जिसम २५ श्लोक हैं इसम पुष्टि प्रवाह और मर्यादा मार्गों का सकेत करन क अतिरिक्त उन्होने बताया है कि अहकार दुष्कम कुसगति विशेष स्थान अथवा काल म जन्म लेना यह पाच स्वाभाविक बुराइया होती हैं। जब सब कुछ भगवान का अर्पित कर दिया जाता है तब य बुराइया दूर होती हैं। नवरत्न क ६ श्लोकों म वैराग्य एव सवस्व-समपण की भावना पर बल दिया गया है। अन्त करण प्रबोध १० छन्दों की पुस्तिका है इसम स्वपरीक्षण क साथ साथ क्षमा प्राप्त करन क लिये भगवान की प्राथना पर जोर दिया है और यह भी बताया है कि व्यक्ति को अपन मन म यह धारणा पुष्ट करनी चाहिए कि प्रत्यक वस्तु भगवान का है। विवक धर्याश्रय म ईश्वर पर पूण विश्वास रखन की बात कही गयी है। इस ग्रन्थ क अनुसार वह प्रत्यक वस्तु जानता है तथा सब हमारे कल्याण की चिन्ता करता है इसलिय प्रत्यक वस्तु को भगवान क भरोसे पर छोड देना चाहिए। इस ग्रन्थ म १७ श्लोक है। कृष्णाश्रय ११ छन्दों की रचना है इसम भी प्रत्यक बात म कृष्ण पर ही आश्रित रहने की बात कही गयी है। इस ग्रन्थ का एतिहासिक एव सामाजिक दृष्टि स बहुत अधिक महत्त्व है क्योंकि इसम तत्कालीन सामाजिक और धार्मिक वातावरण का सजीव चित्रण हुआ है। चतुश्लोकी म भी भगवान पर आश्वस्त भाव रखने की बात दुहराई गयी है। भक्तिवर्धिनी क ११ श्लोकों म वल्लभ न बतलाया है कि ईश्वर क प्रम का बीज हम सबक मन क भीतर होता है परन्तु अनक कारणों स वह अवरुद्ध रहता है जब इसका प्रस्फुरण होता है तब साधक प्रत्यक्ष स प्रम करन लगता है। इस ईश्वरीय प्रम की सिद्ध अवस्थाओं म सासारिक वस्तुओं क प्रति लगाव असम्भव हो जाता है तथा फिर इस नष्ट भी नही किया जा सकता है। पच पाद्य म कवल ५ श्लोक हैं तथा जलभेद म २०। जलभेद म साधकों क विभिन्न वर्गों एव भक्ति क विभिन्न मार्गों की चर्चा की गयी है। वल्लभ क य १६ ग्रन्थ ही सग्रहीत होकर षोडष ग्रन्थ कहलाते है। इनम स प्रथम तीन सन्यास निर्णय जलभेद एव भक्तिवर्धिनी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इनके ऊपर लिखी गयी टीकाओ वृत्तियों आदि की सख्या काफी बडी है।

चैतन्य

भक्ति क कमकाण्ड को वल्लभाचाय न सुदृढ किया एव उसक सवग (इमोशन) पक्ष को चैतन्य न। उनम अद्भुत पाण्डित्य था और उसी आधार पर जो भक्ति विकसित हुई है उसम दार्शनिक चतना तो थी ही साथ हो सहजिया वैष्णवों का प्रम-साधना भी ग्रहण कर ली गयी। श्री कृष्ण चैतन्य उत्तर मध्य युग क सबस प्रभावशाली व्यक्तियों म प्रतीत होत हैं। लगता है कि उत्तर भारत म बुद्ध क बाद चैतन्य म अधिक आकृष्ट और प्रभावशाली व्यक्तित्व दूसरा

नहीं हुआ। तुलसीदास की ख्याति दूसरे ढग की है और वह उनक साहित्य क माध्यम स बढी है जबकि चत य की सारी महिमा उनक प्रत्यक्ष यक्तित्व म निहित है। जीवन म उ होन कुल ८ श्लोक लिखे हैं पर तु उनके यक्तित्व की गत्वरता इतनी मोहक थी कि जा भी उसक सम्पक म आया उनका होकर रह गया। उनकी भक्ति पद्धति का कितना गहरा असर अ य भक्ति सम्प्रदायो पर पडा है इसकी मीमासा हम आगे करेंगे। यहा पर इस मोहक यक्तित्व क बार म इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि भक्तिमाग म दाखिल हो जान क बाद शास्त्राथ म उनकी रुचि समाप्त हो गयी, उपदेशक बनन की उ हें याद नही रही तथा जयदेव, विद्यापति चण्डीदास की कृतिया, ब्रह्म-सहिता तथा लीलाशुक बिल्वमगल कै कृष्ण कर्णामृत को छोड कर अपन भावावेग म कुछ पढ़न का फिर कभी अवसर नही मिला। राधाकृष्ण की लीलाओ का स्मरण और भजन कृष्ण सकीतन एव हरि-बोल का निर तर उच्चारण बस यही उनक नमित्तक कम धम प्रचार या शास्त्राथ थ। पर इनके पीछे सबग की सा द्रता, आत्मा की गहनता एव गुरुतम पुकार थी जिसन उ हें इतना मोहक और प्रभावशाली बना दिया। उत्तर स दक्षिण पूव स पश्चिम तक उनका नाम और प्रभाव विद्युत-वग स प्रसरित हो गया उनक जीवन-काल म हो। यह सामा य उपलब्धि न थी। प्रसिद्धि रामान द एव वल्लभ को भी प्राप्त हुई थी पर वह अपने शिष्यों भक्तों तक सामित थी। उसम पावसन का वह प्रवाह न था जो अपन साथ बहा ल जाय। चत य क चरित्र म पवत प्रवाहिनी का वग था और पावसन की गहराइ एव सर्वातिगामी प्रसार भी था।

कृष्ण चत य का बाल नाम विश्वम्भर था। नवद्वीप क विद्वान पण्डित जगन्नाथ मिश्र क घर उनका ज म स० १५४२ (१४८५ ई०) म हुआ था। बालपन क उद्दड विश्वम्भर शीघ्र ही तक विचक्षण पण्डित बन गय और फिर गया करते समय व उ ही ईश्वरपुरी के सम्पक म आय जिनका एक बार व मजाक उडा चुके थ। ईश्वरपुरी व दावन क विरक्त विद्वान भक्त माधव ■ पुरी क शिष्य थ। बहुधा चत य के अ-कल्प यक्तित्व क सम्मुख लाग माधवे द्रपुरी को उसी प्रकार अनदखा छोड जाते हैं जस रामान द क समक्ष राघवान द का उपक्षित कर दिया जाता है। व दावन क पुन उद्धार[1] का वास्तविक श्रय माधवे द्रपुरी का ही

---

१ महमूद गजनवी ने अपने आक्रमणों म मथुरा व दावन को उनक मन्दिरों की मुग्ध भाव से प्रशसा कर-करके तुडवा दिया था। कुछ समय के लिए इस विनाश ने इस प्रदेश को नितान्त श्रीहीन कर दिया था। उसके पश्चात जो तुक आते रह व इसे नष्ट ही करते रहे। प द्रहवीं शती मे व दावन विजन का स्वरूप धारण कर चुका था।

है। माधवेन्द्रपुरी बंगाली थे तथा बलदेव उपाध्याय ने इनका जन्म १४५७ वि० (१४०० ई०) में माना है। चैतन्य चरितामृत में एक घटना का उल्लेख है कि उन्होंने गोपाल की मूर्ति का पूजन करने के लिये बंगाल से दो ब्राह्मण बुलवाए थे। कहा जाता है कि गोवर्धन के आसपास ग्राम में श्रीनाथ जी की मूर्ति की सेवा पूजा बंगाली वैष्णव माधवानन्द करते थे। जब वल्लभाचार्य ने श्रीनाथ जी का विशाल मंदिर बनवाकर उसमें कीर्तन पूजन आदि की व्यवस्था की तब भी सेवा का भार बंगाली वैष्णवों पर ही रहा। इनमें से एक माधवेन्द्रपुरी थे। बाद में कृष्णदास अधिकारी ने काफी कूटनीतिक ढंग पर इन बंगालियों को निकाल बाहर किया। (चौरासी वैष्णवन की वार्ता के अनुसार इन बंगालियों की पूजा पद्धति पुष्टि सम्प्रदाय के अनुकूल नहीं थी) ये लोग साथ में एक देवी की भी उपासना करते थे।[1] अतः वल्लभ या अन्य किसी वैष्णव आचार्य के आगमन के पूर्व बंगाल का वैष्णव मत (जिसमें सहजिया साधना के अवशेष भी विद्यमान थे) ब्रज प्रदेश में पहुँच चुका था और इसने आगे के वैष्णव मतों को प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रीति से प्रभावित अवश्य किया होगा। बंगाल और ब्रज का सम्बन्ध सूत्र जोड़ने वाले प्रथम महापुरुष माधवेन्द्रपुरी ही प्रतीत होते हैं जो ब्रज में रह कर वहाँ के तीर्थों का उद्धार करने में लगे थे। इन्हीं माधवेन्द्रपुरी के शिष्य ईश्वरपुरी से चैतन्य को वैष्णव भक्ति की दीक्षा मिली। संभवतः कृष्ण चैतन्य में वृन्दावन के तीर्थों के उद्धार के प्रति जो मिशनरी उत्साह प्राप्त होता है—जिसके वशीभूत हो उन्होंने लोकनाथ गोस्वामी और भूगर्भ आचार्य को उनकी वृन्दावन इच्छा के विरुद्ध भेजा था—उसकी अप्रत्यक्ष प्रेरणा स्वयं माधवेन्द्रपुरी द्वारा ही प्राप्त हुई थी।

वैष्णव दीक्षा (सं० १५६४) मिलने के उपरान्त उनका समस्त समय वैष्णव भजन-कीर्तन में व्यतीत होने लगा। भजन कीर्तन की परम्परा पहले भी थी पर चैतन्य ने जिस आवेग को उसमें भर दिया उसकी समता भागवत में वर्णित मात्र कृष्ण के वेणु-गायन से ही की जा सकती है —

निशम्य गीतं तदनंगवर्धनं व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः।
—१०।२९।४

ता वार्यमाणाः पतिभिः पितृभिर्भ्रातृबन्धुभिः
गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्तन्त मोहिताः।—१०।२९।८

---

1 इस प्रसंग से यह अनुमान लगाना कठिन नहीं है कि ये बंगाली सहजिया वैष्णव मत के ही उत्तराधिकारी थे और चैतन्य स्वयं सहजिया के ही उत्तराधिकारी बने।

इसी प्रकार चत य क इस सकीतन की सम्पृक्ति जिसे प्राप्त हो गयी वही इसकी माधुरी म आकण्ठ मग्न हो गया। नवद्वीप म श्रीवास के आगन म होने वाले इस कीतन की ख्याति धीरे धीरे बढ चली। फिर तो इसम शा तिपुर के प्रख्यात पण्डित अद्व ताचाय तथा स यासी नित्यान द ही सम्मिलित नही हुए मुसलमान भक्त हरिदास भी आ जुडे। चत य सम्प्रदाय के विकास म आगे अद्व त एव नित्यान द (निताई) ने महत्त्वपूण योग दिया है। नित्यान द की अधीक्षता म सहस्रा पथभ्रष्ट बौद्ध नाथ पथी एव शाक्त इस सम्प्रदाय के अ त गत आ गये।

चत य का कीतन धीरे धीरे नगर कीतन का स्वरूप धारण कर लेता है। चत य के बढ़ते हुए अनुयायियो का यह सूचक है कि सहस्रा की सख्या म निमाई (चत य) के नेतत्व म लोग सडको पर नत्य गान एव कीतन करते करते विह्वल होने लगे। चत य का भी आवेश बढ़ता जा रहा था और स० १५६६ म काटवा ग्राम म ईश्वरपुरी के गुरुभाई केशव भारती स स यास दीक्षा लेकर वे घर मां एव तरुणी पत्नी का रहा सहा मोह तोड कर निकल पड। यहां फिर सिद्धाथ की याद हो आती है। अ तर इतना है कि सिद्धाथ जग क दु ख से पीडित होकर घर से निकले थे एव चत य ब्रह्मान द मे डूब कर घर त्यागते हैं।

स यास लने के पश्चात चत य जग नाथपुरी के लिये प्रस्थान करते है। यहां पर वेदा ती पडित तक शास्त्री तथा याय के प्रतिष्ठाता वासुदेव सावभौम इनसे प्रभावित होते है। अद्व ताचाय के बाद सावभौम की वष्णव परिणति चत य और उनकी भक्ति को विद्वाना म भी गहरी प्रतिष्ठा देती है। 'चत य च द्रोदय नाटक' म कवि कणपूर ने सावभौम वासुदेव के कुछ श्लोक उस समय के उद्ध त किये है जबकि वे चत य की शरण म आते हैं। उससे प्रतीत होता है कि चत य को उनके समय तक अवतार माना जाने लगा था। अपने जीवन म ही इतने जल्दी अवतार की प्रसिद्धि चत य को छोड कर शायद ही अ य किसी को भारतवष के धार्मिक इतिह स म मिली हो।

पुरी म कुछ दिन रहने के उपरा त चत य दक्षिण की तीथयात्रा पर निकलते हैं। लगभग दो वष तक (स० १५६७ ६८) वे इन यात्राओ म रह। इसी दक्षिण यात्रा म उनकी भट सुप्रसिद्ध रामान द राय स हुई थी जो स्वय एक उच्च पदस्थ शासक थ। राय रामान द से वार्ता करने के बाद सभवत चत य की भक्ति-पद्धति का दाशनिक धार्मिक स्वरूप भी कुछ स्पष्ट हुआ। दक्षिण से ही चत य ब्रह्म सहिता लाये थे जो आगे चलकर गौडीय वष्णव सम्प्रदाय का प्रधान उपजीव्य ग्र थ बना। रूप गोस्वामी ने अपने भक्तिशास्त्र के ग्र था म इसका उपयोग प्रमाण ग्र थ क रूप म किया है। इसी यात्रा म चत य दक्षिण

भारत की भक्ति के निकट सम्पर्क म भी आये होंगे। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात इस यात्रा की यह है कि उन्होने वष्णवों के साथ ही शव तीर्थों का भी भक्तिभाव पूवक भ्रमण किया। यहाँ तक कि शकराचाय के शृंगेरी मठ म भी वे गये। लौटते लौटते चतन्य इतने जनप्रिय हो चुके थे कि उडीसा के राजा प्रतापरुद्र देव भी इनके प्रभाव म आ गये। इसने चतन्य-सम्प्रदाय को आगे बढ़ने म और सहायता दी।

चतन्य के मन म प्रारम्भ से ही वृन्दावन की यात्रा करने की इच्छा थी पर माग म बराबर अडचन आती रही। पुरी-यात्रा के तीन वष पश्चात वे वृन्दावन के लिए निकले। इसी यात्रा के रास्ते बगाल के मुसलमान शासक के दो उच्च पदाधिकारी (जो ब्राह्मण होते हुये भी अन्त्यजों के समान थे बनर्जी ने तो उन्हे मुसलमान ही लिखा है[1]) चतन्य के शिष्य हुये जिनका नामकरण रूप और सनातन किया गया। आगे चलकर इन दोनों भाइयों ने सम्प्रदाय म अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योग दिया। वे नाथ सम्प्रदाय के मस्तिष्क बन गए। चतन्य मत का दार्शनिक धार्मिक एव रस शास्त्रीय आधार पर उन्होंने ही प्रदान किया। वृन्दावन के प्रसिद्ध ६ गोस्वामियों म ये दोनो बन्धु अग्रतम सिद्ध हुए।

सं० १५७१ म वृन्दावन होकर लौटने पर प्रयाग म उनकी भेंट वल्लभाचाय से कुम्भ के अवसर पर हुई तथा बनारस पहुँचने पर शाकर वेदान्त के प्रख्यात विद्वान प्रकाशानन्द सरस्वती उनके मोहक व्यक्तित्व से अप्रभावित न रह सके और ज्ञान की सारी गरिमा को छोड़ कर चतन्य के हो रहे। चतन्य और उनके मत की यह एक उल्लेखनीय विजय थी जिसने उन्हे बौद्धिकों के बीच प्रतिष्ठा दी। यद्यपि चतन्य ने कोई भाष्य नहीं लिखा था किसी दार्शनिक मतवाद का प्रसार नहीं किया था सम्भवत तब तक चतु सम्प्रदायों से उनका सम्बन्ध भी नहीं जुडा था परन्तु अद्वताचाय नित्यानन्द वासुदेव सावभौम रामानन्द राय एव प्रकाशानन्द सरस्वती जसे विद्वानों का आसपास उपलब्ध समथन चतन्यमत को (बौद्धिकों के बीच) प्रतिष्ठा देने म अत्यन्त सफल रहा।

बनारस से चतन्य पुन पुरी पहुँचे तथा जीवन के शेष १७ या १८ वष उन्होंने अपने प्रेमोन्माद म वहीं बिताये। उनका आवेग और उन्माद बढ़ता ही गया। वे भौतिक जीवन को नितान्त भुला कर दिनरात विक्षिप्तों की भाँति केवल राधा-कृष्ण-लीलाओं म ही व्यस्त रहने लगे। अनुमान है कि ऐसी ही विक्षिप्तावस्था म समुद्र के नील जल पर शुभ्र चन्द्र की ज्योत्स्ना को उन्होंने यमुनाजल पर कृष्ण की क्रीडा समझ कर उसी म डूब कर सं० १५९१ (जुलाई १५३४) म अपना

---

१ एम० टी० बनर्जी चतन्य मूवमेंट पृ० ४५ ४६ (आक्सफोर्ड यूनि० प्रेस १९३४)।

प्राण दे दिये।

चैतन्य ने जीवन में महान कार्य किया। प्रेमाभक्ति के आवेश को उन्होंने जन साधारण तक पहुँचा दिया। उनके मुख्य सहायक नित्यानन्द ने इस परिपाटी को और बढ़ा दिया। रामानन्द और वल्लभ के समान ही उनके भी महान शिष्य हुए। रूप सनातन जीव, गोपाल भट्ट कृष्णदास एवं रघुनाथ भट्ट ये षटगोस्वामी किसी भी गुरु या सम्प्रदाय के लिये ईर्ष्या के विषय हो सकते हैं। बिना इनकी मान्यता के बंगाल तक का कोई वैष्णव ग्रन्थ चैतन्य मत में प्रामाणिक नहीं माना जाता था।

ऊपर हम संकेत कर चुके हैं कि चैतन्य को शीघ्र ही अवतार माना जाने लगा था। आगे उनकी प्रतिमा के पूजन की भी व्यवस्था हुई।

रामानन्द वल्लभ और चैतन्य की इस वैष्णवाचार्य बृहत्त्रयी के अतिरिक्त कुछ अन्य व्यक्ति भी साधना एवं साहित्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हुए हैं। गोस्वामी हितहरिवंश, स्वामी हरिदास—दो ऐसे ही व्यक्तित्व थे। बृहत्त्रयी के आचार्य स्वयं कवि न थे—उनमें से एक ने केवल शिष्यों को दृष्टि दी (रामानन्द) दूसरे ने सम्प्रदाय का विधिवत निरूपण और स्थापन किया (वल्लभ) और तीसरे ने अपने व्यक्तित्व के पारस स्पर्श से जिस लोहे (जनता) को सोना बना दिया उसने स्वयं सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा कर दी (चैतन्य)। साहित्य एवं कला की दृष्टि से इनकी अपेक्षा इनके शिष्यों का महत्त्व अधिक है (कबीर एवं रैदास अष्टछाप के कवि तथा वृन्दावन के षटगोस्वामी ऐसे ही महत्त्वपूर्ण शिष्य हैं) परन्तु हितहरिवंश एवं हरिदास ऐसा लगता है आचार्य एवं शिष्य के समन्वित रूप थे। वे सम्प्रदाय प्रतिष्ठापक भी हैं और स्वयं उच्चकोटि के कवि भी बल्कि यह कहना अधिक समीचीन लगता है कि वे चैतन्य एवं अष्टछाप दोनों के मिले जुले रूप हैं। ये चैतन्य की भाँति अपने व्यक्तित्व से भी प्रभावित करते हैं तथा अपने साहित्य एवं कला से भी। उनमें चैतन्य जैसी तन्मयता है एवं सूरदास जैसा काव्य संवेग भी। कहते हैं कि हरिराम व्यास ओरछे में एक वैष्णव साधु के मुख से हितहरिवंश का एक पद सुनकर वृन्दावन की ओर उन्मुख हो गये थे।[1] स्वामी हरिदास तो अपने युग के श्रेष्ठतम संगीतज्ञ भी थे। प्रसिद्ध है कि अकबर भी छिप कर उनका गान सुनने आया था। इन लोगों ने चैतन्य की ही भाँति अपना कोई साम्प्रदायिक भाष्य भी नहीं लिखा। नीचे हम उनके जीवन और कार्यों की संक्षिप्त रूपरेखा उपस्थित कर रहे हैं।

स्वामी हरिदास

आपसी साम्प्रदायिक विद्वेष के फलस्वरूप वृन्दावन के भक्तों आचार्यों

---

1 वासुदेव गोस्वामी भक्त कवि व्यास जी, जीवनी खण्ड, पृ० ५४।

आदि का ऐतिहासिक स्वरूप निश्चित करना बहुत कठिन हो गया है। ज म सवत ज म स्थान गुरु निणय सम्प्रदाय सम्ब ध आदि का लेकर स्वामी हरिदास के सम्ब ध म काफी वितडावाद खडा किया गया है पर तु इधर जा अनुस धान हुए है उनके आधार पर स्वामी हरिदास का ज म सवत १५ ७ माना जा सकता है।[1] आचाय प० रामच द्र शुक्ल न उनका कविता काल सवत १६०० स १६१७ तक माना है।[2] यह समय निर्धारण उपयु क्त ज मतिथि मानन पर अनुचित नही प्रतीत होता। स्वामी हरिदास जी क पिता का नाम आसधीर था। अलीगढ जिले क हरिदासपुर ग्राम म उनका ज म हुआ था। शैशव से ही उनक साथ भी चमत्कारपूण घटनाए श्रद्धालु भक्तो ने जोड दी है उनकी चर्चा यहा पर प्रासगिक न हागा।

यह बात काफी विवादास्पद है कि उनका विवाह हुआ था या नही पर तु यदि हुआ भी था तो रमणी की रूपराशि उ हे लुभा न सकी और कहते हैं कि राधाष्टमी के दिन अपने पिता आसधीर जी से युगल मत्र की दीक्षा लकर विरक्त होकर य घर स चल आय। सम्भवत कुछ दिन इधर उधर घूमते घामते एव तार्थाटन करते रहे और सवत १५६२ म वे वृ दावन आ गय थे। इस प्रकार हरिदास जी वृ दावन को अपना के द्र बनान वाले महात्माओ म प्रथम है। चत य महाप्रभु वृ दावन सवत १५७१ म पहुचे थे (अपने दो शिष्यो को वे कुछ पहल ही भेज चुक थ) तथा हितहरिवश जी स १५६१ म वृ दावन आय थे। स्वामी हरिदासजी क उपास्य बाक बिहारी जी का प्राकट्य स १५६७ म हुआ था। हितहरिवश जी वृ दावन आ जाने पर इन दोनो अपूव साधको का घनिष्ठ परिचय हो गया था। उस समय क भक्तो (यथा हरिराम व्यास आदि ने इन दोनो रसिको का नाम बडे आदर स और कभी-कभी साथ साथ लिया है।[3]) हितहरिवश जी को अपनी उपासना पद्धति के निमाण म स्वामी हरिदास जी से प्रेरणा अवश्य प्राप्त हुई हागी।

स्वामी हरिदास जी अपन युग क श्र ष्ठतम सगीतकार थे। तानसन एव बजू बावरा उनक शिष्य कह जाते हैं। यह भी प्रवाद है कि स्वय अकबर उनका

---

१ (क) डा० नारायणदत्त शर्मा स्वामी हरिदास जी का सम्प्रदाय और उसका वाणी साहित्य (अप्र० प्रब०) प० १७ ।
(ख) डा शरण बिहारी गोस्वामी हिन्दी कृष्ण भक्ति काव्य में सखीभाव (अप्र प्रब०) प० ४१६।

२ हिन्दी साहित्य का इतिहास प० १७२।

३ हरिवश हरिदासा जहाँ मोहि करुना करि राखो तहा भक्त कवि व्यास प० ४०७।

संगीत सुनने के लिये उपस्थित हुआ था। संगीत एक ऐसी कला है जो अपनी नितान्त सूक्ष्मता एवं अशरीरीपन के कारण मनुष्य को रहस्यवादी एवं आध्यात्मिक बना भी देती है। स्वामी हरिदास की रसिकता को अध्यात्म के ऊँचे स्तर तक उड़ान में उनकी संगीत कला का कितना बड़ा हाथ रहा होगा यह सहज अनुमान का विषय है बल्कि कहना चाहिए कि समस्त कृष्ण भक्ति के सम्प्रदायों में संगीत की साधना ने लौकिक को अलौकिक के स्तर तक उठाने में सहायता दी होगी। यही स्थिति सूफी सम्प्रदायों के बारे में भी कही जा सकती है।

सबसे बड़ा विवाद स्वामी हरिदास जी के सम्प्रदाय को लेकर है। यद्यपि ग्राउज ने अपने 'मथुरा ममायस' में उन्हें बहुत पहले ही एक पृथक सम्प्रदाय वाला माना था।[1] सन १६४२ में होने वाले निधुवन के झगड़े के फलस्वरूप स्वामी हरिदास की टट्टी संस्थान वाली परम्परा ने अपना सम्बन्ध निम्बार्क सम्प्रदाय से जोड़ लिया। उसी काल के किशोरदास के निज मत सिद्धान्त तथा सहचरिशरण द्वारा दी गयी गुरु परम्परा के द्वारा इस मत का समर्थन किया गया है। परिणाम स्वरूप श्री बलदेव उपाध्याय,[2] डा० हरवंशलाल शर्मा[3] परशुराम चतुर्वेदी[4] डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित[5] प्रभृति लोगों ने उन्हें निम्बार्क सम्प्रदायान्तर्गत मान लिया। परन्तु वास्तव में दोनों सम्प्रदायों में इष्ट मन्त्र आचार का इतना बड़ा अन्तर है कि उन्हें एक मानना उचित न होगा। इसके अतिरिक्त हरिदासी सम्प्रदाय के एक कवि भगवत रसिक ने तो निम्बार्कियों के द्वैताद्वैत दर्शन का भी प्रत्याख्यान कर दिया है—

> नाहीं द्वैताद्वैत हरि नाहिं विशिष्टाद्वैत।
> बँधे नहीं मतवाद में ईश्वर इच्छाद्वैत।[6]

इस प्रकार उनका एक स्वतन्त्र मत प्रतीत होता है। अपनी उपासना में उन्होंने एकदम निराला ढंग अपनाया था। लोक-वेद की सभी रीतियों का परित्याग कर स्वामी हरिदास ने अपनी साधना पद्धति आरम्भ की थी। राधावल्लभीय भक्त ध्रुवदास ने उनकी इस विशेषता की ओर इंगित किया है।

१ श्री स्वामी हरिदास अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ८३ पर उद्धृत।
२ भागवत सम्प्रदाय पृ० ३५१।
३ सूरदास और उनका साहित्य पृ० १०१।
४ वैष्णव धर्म, पृ० ८६।
५ हिन्दी साहित्य कोष में सखी-सम्प्रदाय पर टिप्पणी पृ० ८०४।
६ भगवत रसिक अनन्य निश्चयात्मक ग्रन्थ, पृ० ८३।

रसिक अनन्य हरिदास जू गायो नित्य विहार।
सेवा हू मे दूर किय विधि निषेध जजार।[1]

इधर चतु सम्प्रदायो म किसी से अपना सम्ब ध जोडने के चक्कर म मगन विहारी लाल गोस्वामी ने हरिदास अभिन दन ग्र थ म अपन निब ध श्री हरिदास जी का विष्णुस्वामी सम्प्रदाय (पृ० १०६ १८) म उ ह विष्णुस्वामी सम्प्रदायान्तगत सिद्ध करना चाहा है। पर तु यह तो और भी भ्रमात्मक है। इस सम्ब ध म डा० दीन दयालु गुप्त का मत सवथा उचित प्रतीत होता है। उनके अनुसार यह सम्प्रदाय भी भक्ति का एक साधन माग है और अपने प्रारम्भिक काल म वेदान्त के किसी वाद अथवा किसी अ य दार्शनिक सिद्धान्त का प्रचारक मत नहीं था।[2] डा विजये द्र स्नातक ने भी इसे पृथक सम्प्रदाय ही माना है।[3]

स्वामी हरिदास की रचनाए अधिक नही है। व कवि स बडे सगीतज्ञ थे। प० रामच द्र शुक्ल जी ने कहा है उनके पद कठिन राग रागिनियो म गाने योग्य हैं पढ़ने म कुछ ऊबडखाबड लगते है। इनका सग्रह केलिमाल नाम से प्रकाशित है। सम्प्रदाय के भीतर इसकी अत्यधिक प्रतिष्ठा है।[4]

हरिदास जी की मृत्यु के सम्ब ध म कोई निश्चित मत नही है। अनुमान है कि सवत १६३५ के आसपास इनकी मृत्यु हुई होगी।[5] इधर वृ दावन से प्रकाशित होन वाले श्री सर्वेश्वर नामक पत्र म श्री विश्वेश्वर शरण जी ने स्वामी हरिदास पर एक लेखमाला लिखी है जिसम ज म सवत मृत्यु सवत पिता गुरु सम्प्रदाय कुल प्राप्ति के बारे म विचार किया गया है। उनक अनुसार सिद्धान्त पक्ष म श्री स्वामी जी महाराज श्री निम्बाक सम्प्रदाय के थे। वे आज म ब्रह्मचारी थे उनका ज म वि० स० १५३७ भाद्रपद शुक्ला अष्टमी को और निकुज प्रवेश १६३२ म हुआ था वे सनाढ्य कुल क थे उनका ज म वृ दावन क समीप श्री राजपुर म हुआ था उनक गुरुदेव श्री स्वामी आसधीर देव जी थे वस्तुत वे उनके पिता नहीं थ—पिता तो सनाढ्य कुल भूषण श्री गगाधर जी थ।[6] इनम स ज म मृत्यु-सवतों से हमारा काई विरोध नहीं है तथा हम उ ह निम्बाक का

१ भक्तनामावली (बयालीस लीला) पृ० २८।
२ अष्टछाप और बल्लभ सम्प्रदाय पृ० ६८।
३ राधा ब लभ सम्प्रदाय सिद्धा त और साहित्य पृ० ५१ ५२।
४ हि दी साहित्य का इतिहास पृ० १७२।
५ डा० शरण बिहारी गोस्वामी हि दी कृष्ण भक्ति का य म सखी भाव (अप्र प्रब) पृ० ६१६।
६ श्री सर्वेश्वर वष ४ अक २ पृ० २९।

अनुयायी नहीं मानते। शेष प्रश्न हमारे लिए अप्रासंगिक हैं।

परिचय-सम्बन्धी इन प्रसंगों के विवाद में हम यहाँ नहीं पड़ना चाहते और इससे हमारे मत में भी कोई अन्तर नहीं आता। वे विक्रम की १६ वीं शती के अन्तिम हिस्से एवं सत्रहवीं शती के पूर्वार्द्ध में उपस्थित थे। वृन्दावन के रसिक भक्तों में वे अन्यतम थे। उनके समकालीन एवं श्रद्धालु हरिराम व्यास के शब्दों में —

ऐसो रसिक भयो ना ह्वै है भुवमण्डल आकाश।[1]

भक्तमालकार नाभादास के अतिरिक्त उनके गुरु स्वामी अग्रदास (रामानन्दी सम्प्रदाय) ने आपको साक्षात् प्रभावतारा ही माना है —

नमो नमो श्री हरिदास बन्दा विपिन वास
वर प्राण सबस बाँके बिहारी।
श्याम श्यामा जुगल रूप माधुर्य के
रसिक रिझवार प्रेमावतारी।
परम वैराग्य निधि बसत निधिवन सदा
भावना लीन सुप्रवीन भारी
कामना कल्पतरु सकल संताप हर
अग्रदास अलि कल्याणकारी।[2]

नाभादास ने अपने भक्तमाल में उनकी निराली उपासना प्रणाली की प्रशंसा की है।[3]

जहाँ तक सम्प्रदाय एवं सिद्धान्त का प्रश्न है हम समझते हैं कि न तो वे किसी व्यवस्थित सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं और न किसी दार्शनिक मतवाद के प्रचारक। वे तो अपने श्यामा श्याम की लाड़ लड़ान में अपनी संगीत-माधुरी से रिझाते एवं लीला भावन में ही मगन रहने वाले रसिक भक्त थे।

स्वामी हरिदास जी स्वयं विरक्त साधु थे। आगे चलकर उनके अनुयायियों के दो दल हो गये। एक विरक्तों का—जिसका टट्टी-स्थान अलग चला तथा दूसरा गृहस्थ गोस्वामियों का—जिनके ऊपर बिहारी जी की सेवा-पूजा का भार है। उनके विरक्त शिष्यों में अष्टाचार्य अत्यन्त प्रसिद्ध हैं और उनकी वाणियों का एक संकलन 'अष्टाचार्यों की वानी' नाम से उपलब्ध होता है। इस वाणी की सम्प्रदाय में अत्यधिक श्रद्धा प्राप्त है।

---

१ व्यास वाणी।
२ श्री सर्वेश्वर वर्ष ३, संख्या २ पृ० १४ पर विश्वेश्वर शरण जी द्वारा उद्धृत।
३ भक्तमाल, छप्पय सं० ९१।

[illegible]
साधना के स्तर पर हरिदास जी म हुआ। उनकी यह साधना नितान्त ऐकान्तिक एव सम्पूर्ण अनन्यता की है। वास्तव म यह साधना की अत्यधिक ऊची स्थिति का नाम है। हम लगता है कि उनकी साधना को सगुणोपासना कहना बहुत उचित नही है क्योकि कृष्ण के ब्रज-लीला वाले सगुण रूप को वे स्वीकार नही करते। उन्होने कृष्ण नाम तक को स्वीकार नही किया। लीला का एक नितान्त गोपनीय रहस्यात्मक प्रकार उनको स्वीकार था। दार्शनिक चिन्तना एव तार्किक निरूपण स एकदम असम्पृक्त रह कर वे जिस भावदशा म विभोर रहते थ उसे रहस्यानुभूति की साधना कहना अधिक उचित होगा। वास्तव म प्रेमाभक्ति अपनी सर्वोत्तम परिणतियो को स्वामी हरिदास जी की साधना म पहुँच गयी थी।

उनके सम्प्रदाय म अनन्य से निरूपित कोई दार्शनिक पद्धति न होकर उपासना का मार्ग एव तत्सबधी व्यावहारिक कल्पनाए ही है। अत यहाँ हम उनके दर्शन आदि पर विचार नही करगे उनकी लीला उपास्य आदि की धारणाओ की विवेचना चतुर्थ अध्याय म की जायगी। यहाँ हम भगवतरसिक का सम्प्रदाय की उपासना आदि का परिचय देने वाला पद उद्धृत करके इस प्रसग को समाप्त करते हैं।

आचारज ललिता सखी रसिक हमारी छाप।
नित्य किशोर उपासना जुगल मन्त्र को जाप।
जुगल मन्त्र को जाप बेद रसिकन की बाणी
श्री बृन्दाबन धाम इष्ट स्यामा महरानी
प्रेम देवता मिले बिना सिधि होई न कारज
भगवत सब सुखदानि प्रकट मे रसिकाचारज
नाहीं द्वैत अद्वैत हरि नाहि विशिष्टाद्वैत।
बधे नहीं मतवाद म ईश्वर इच्छा द्वैत।
ईश्वर इच्छा द्वैत कर सबही को पोषन।
आप रहे निरलेप भगत सौ माने तोषन।
भगवत रसिक अनन्य सग डोले गलबाहीं
करे मनोरथ सिद्ध उचित अनुचित कछु नाहीं।[2]

---

१ राधामाधवयोर्जयति यमुनाकूले रह केलय गीत गोविन्द।
२ भगवत रसिक अनन्य निश्चयात्मक ग्रन्थ पृ० ४३।

गोस्वामी हित हरिवंश

हित हरिवंश जी के जन्म स्थान, जन्म संवत् पिता के नाम आदि[1] के बारे में विद्वानों में कुछ मतभेद रहा है। पर इधर राधावल्लभीय विद्वान श्री ललिताचरण गोस्वामी एवं दिल्ली विश्वविद्यालय के प्राध्यापक डॉ० विजयेन्द्र स्नातक[2] के जो शोधपूर्ण ग्रन्थ आये हैं उन्हीं के आधार पर हम यहाँ उनका जीवन चरित्र दे रहे हैं। इन ग्रन्थों में विविध प्रश्नों पर गहरी छानबीन की गयी है।

गोस्वामी हित हरिवंश का जन्म सं० १५५९ में मथुरा के निकट बाद नामक ग्राम में वैशाख शुक्ल एकादशी सोमवार को हुआ था। इनके पिता का नाम व्यास मिश्र था जो देवबन्द (सहारनपुर) के रहने वाले विद्वान—राज ज्योतिषी (सम्भवतः इब्राहीम लोदी से सम्मानित) थे। संस्कृत की शिक्षा स्वभावतः पिता से ही इन्हें प्राप्त हुई होगी। हरिवंश जी का संस्कृत ज्ञान बहुत अच्छा था यह इस बात से ही प्रकट है कि उन्होंने संस्कृत में 'राधा-सुधानिधि' काव्य की रचना की थी। उनके बाल्य जीवन से सम्बन्धित, मध्ययुगीन अन्य महापुरुषों की भाँति अनेक अलौकिक चमत्कार प्रचलित हैं। कहा जाता है कि जब ये ६ मास के थे तभी 'राधा-सुधानिधि' इनके कण्ठ से निःसृत हो रही थी जिसका लेखन कार्य इनके पितृव्य श्री नृसिंहाश्रम जी ने सम्पादित किया था। बाल्यकाल से ही राधा-कृष्ण की क्रीडाओं के अनुकरण में ही उनका मन लगता था।

गोस्वामी हित हरिवंश को दीक्षा स्वयं श्री राधिका जी से प्राप्त हुई थी। साम्प्रदायिक ग्रन्थों में राधा जी का गुरु रूप में बार-बार उल्लेख हुआ है। इस सम्बन्ध में कथा है कि एक दिन राधा जी ने उन्हें स्वप्न दिया कि घर के बाहर के पीपल के वृक्ष की ऊँची डाल पर एक लाल पत्ते पर एक मन्त्र अंकित है उसे प्राप्त करो और उसे अपना दीक्षा-मन्त्र मानो। उसी मन्त्र से हित हरिवंश जी दीक्षित हुए। इस प्रकार की धारणा आज के वैज्ञानिक युग में बहुत प्रामाणिक

---

१ वासुदेव गोस्वामी भक्त कवि व्यास जी हित हरिवंश जी के निम्न पद को उन्होंने सुना था —

आजु अति राजत दंपति भोर।
सुरति रंग के रस में भीने, नागर नवल किशोर।

जीवनी खण्ड। पृ० ५४।

२ गोस्वामी हित हरिवंश सम्प्रदाय और साहित्य।

३ राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य।

प्रचार प्रारम्भ किया जिससे अन्य सम्प्रदाय भी प्रभावित हुए। यहा तक कि गौडीय सम्प्रदाय के प्रसिद्ध विद्वान भक्त प्रबोधानन्द सरस्वती स० १५९२ म वृन्दावन पधारे तो हित हरिवश जी एव उनकी भक्ति पद्धति के प्रति अत्यन्त आकर्षित हुए। उन्होने हित हरिवश की स्तुति भी अपने अष्टक मे लिखी है।[1]

वृन्दावन आगमन के पश्चात ही सम्भवत उन्हाने ग्रन्थ रचना की होगी[2] उनके चार ग्रन्थ कहे गये हैं —'राधा सुधानिधि' राधा की स्तुति म लिखा गया सस्कृत-स्तोत्र ग्रन्थ है। हित चौरासी म उनकी भक्ति भावना की अभिव्यक्ति श्रेष्ठ काव्य के माध्यम से ब्रज भाषा के चौरासी पदो मे हुई है। सत्ताइस स्फुट पद और दोहे भी ब्रजभाषा मे ही प्राप्त है जिनम साम्प्रदायिक सिद्धान्त एव भावनाए हैं तथा यमुनाष्टक नामक सस्कृत स्तोत्र ग्रन्थ भी उनका कहा जाता है। इनम हित चौरासी निश्चय ही सवश्रेष्ठ ग्रन्थ है काव्य की दृष्टि से भी एव साम्प्रदायिक सिद्धान्तो की दृष्टि से भी। यह उनकी परिपक्वावस्था का लिखा प्रतीत हाता है। इसे सम्प्रदाय का मुख्य उपजीव्य ग्रन्थ हाने का गौरव भी प्राप्त है।

वशी के अवतार कहे जाने वाले इस श्रेष्ठ भक्त कवि एव आचाय का निधन सवत १६०९ म हुआ। राधा कृष्ण युगल की सखी भाव से आराधना करने का सन्देश देकर उन्होने एक नये प्रकार का वष्णव रहस्यवाद प्रवर्तित किया। प्रेम या हित तत्त्व का उन्होने परात्पर तत्त्व की स्थिति तक पहुचा कर प्रेम को भाव से दर्शन बना दिया। हित हरिवश जी के योग्य शिष्य हरिराम व्यास ने राधा वल्लभ सम्प्रदाय के उपास्य एव उपासना विधि आदि का सक्षिप्त परिचय एक ही पद म दिया है। पद इस प्रकार है —

रसिक अनन्य हमारी जाति।
कुल देवी राधा बरसानौ खेरौ, ब्रजबासिन सो पाति।
गोत गोपाल जनेऊ माला सिखा सिखडि हरि मदिर भाल।
हरि गुन नाम बेद धुनिसुनियत मूज पखावज कुस करताल।
साखा जमुना हरि लीला षटकम, प्रसाद प्रान धन रास।
सेवा विधि निषध जड सगति वत्ति सदा बन्दावन बास।

---

१ त्वमसि श्री हरिवश श्यामचन्द्रस्य वश। परम रसद नादमोहित सव विश्व अनुपमगणदामनिमित्तोऽसि हितेन्द्र, मम हृदि तव गाथाश्चित्रलेखव लग्ना। प्रबोधानन्द।

२ 'राधासुधानिधि' के बारे म यह ख्याति है कि वह उन्होंने शशव मे ही लिखी थी।

श्रमत भागवत कृष्ण नाम सध्या तपन गायत्री जाप।
वसो रिषि जजमान कल्पतरु व्यास न देत असीस-सराप।
—भक्त कवि व्यास जी—पद सख्या ६३ पृ० २१५।

हित हरिवश जी एव हरिदास के प्रभाव का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि परवर्ती समस्त कृष्णोपासक किसी न किसी स्तर पर युगल विहार लीलाओ के सखी भावापन्न गान को अपनाते हैं।

सूफी सम्प्रदाय सक्षिप्त इतिहास तथा तत्त्व दर्शन

सक्षिप्त इतिहास —सूफी शब्द के व्युत्पत्तिमूलक अर्थों की चर्चा मे न पड हम उसके उस सामान्य अर्थ को ही इस विवेचन मे अपने मन मे रखेंगे जिसके अनुसार यह शब्द इस्लामी रहस्यवाद के लिये प्रयुक्त होता है। सन ८०० के लगभग यह शब्द प्रयोग मे आया था।[1] तथा शीघ्र ही ५० वर्षों के भीतर ही यह इराक तक फल गया एव ११ वी शताब्दी तक पहुँचते-पहुँचते यह शब्द सपूर्ण मुस्लिम रहस्यवादियो के लिये प्रचलित हो गया था।[2]

सूफीमत के मूल मे तरह-तरह के सामाजिक आर्थिक कारण विद्वानो ने खोजने चाहे हैं जिनकी चर्चा यहाँ पर अप्रासगिक होगी परन्तु इतना सकेत कर देना अनुचित न होगा कि सूफीमत के मूल मे परम शक्ति के प्रति जो भक्ति भाव एकतत्त्व की भावना आदि बातें हैं वे सम्पूर्ण मानव जाति के अन्तरतम के निकट की धारणाए हैं। निकलसन ने अबुल हसन अलनूरी का एक कथन उद्धृत किया है कि सूफीमत ससार के प्रति घृणा एव प्रभु के प्रति प्रेम का प्रकाश है।[3] जुनद के अनुसार तसव्वुफ ईश्वर द्वारा पुरुष मे व्यक्तित्व की समाप्ति और ईश्वरत्व की उद्बुद्धि का नाम है।[4] अलगजाली ने जगत मे शातिपूर्वक रहते हुये सदा ईश्वर मे लीन रहना ही सूफी का लक्षण माना है।[5] स्पष्ट है कि ये समस्त विशिष्टताए समस्त उन्नत धर्मों मे स्वीकृत हैं।

१—आर० ए० निकलसन लिटरेरी हिस्ट्री ऑफ दि अरब्स पृ० २२८।
२—एनसाइक्लोपीडिया आफ इस्लाम, पृ० ६८१ ६८२।
३—ए लिटरेरी हिस्ट्री आफ दि अरब्स पृ० ३९२।
४—वही पृ० ३९२
५—मार्गरेट स्मिथ अलगजाली दि मिस्टिक, पृ० १०४।

विद्वानो ने सूफी मतवाद पर अनेक प्रभाव देखे है।[1] इनम से एक वग सूफीमतवाद को भारतीय साधना से बहुत अधिक प्रभावित देखता है।[2] इन लोगो का कहना है कि ईरान की आय विचारधारा ने विजता इस्लाम धम के प्रति जो विद्रोह किया वही सूफीमत के रूप म प्रकट हुआ। परन्तु निक्लसन ने अत्यन्त जोरदार शब्दो म इस मत का खडन करते हुये कहा है कि यह सत्य है कि सूफी सिद्धान्तो पर इस्लामेतर साधनाओ का भी प्रभाव पडा है पर इस्लाम स ही उसका उदभव हुआ है। उसके अनुसार इस बात का क्या उत्तर है कि कुछ प्रार म्भिक प्रमुख सूफी प्रयोक्ता ईरान के आय न होकर सीरिया और मिश्र मे थे तथा जाति स अरब थ।[3] उमन अत्यन्त निर्भ्रान्त शब्दो म कहा है सत्य यह है कि सूफीमत एक सकुल वस्तु है और इसलिये इस प्रश्न का कोई सरल उत्तर नही दिया जा सकता कि वह कसे उत्पन्न हुआ है। यो निक्लसन ने ईसाई नव अफ लातूनी ज्ञानवाद बौद्धधम एव वेदात क प्रभाव स्वीकार किए हैं। उसने सूफिया के फना और बका सम्बधी विचारो पर बौद्ध विचारधारा का स्पष्ट ऋण स्वीकार किया है।[4] इन प्रभावो के होते हुय भी यह सहज ही कहा जा सकता है कि सूफिया को अपने रहस्य ज्ञान म स्वय कुरान से भी प्रेरणा मिली है। ईश्वर एक है तथा कल्याण और दया करने वाला है।[5] वह सवव्यापक और सवज्ञ है। इस पृथ्वी और स्वग म जो कुछ है उसी का है और अत म सभी पदाथ उसी मे विलय हो जाते हैं। ईश्वर असीम सौन्दयमय है[6] ईश्वर उन्हे प्यार करता है जो सज्जन हैं। कुरान के ऐसे कथनो म रहस्यवाद के बीज विद्यमान हैं। मोहम्मद साहब को कुरान जिस प्रकार उदभासित हुआ था वह सूफी के लिये अत्यन्त

१—इसम सन्देह नहीं कि सूफियों को अद्वैतवाद पर लाने वाले प्रभाव अधिकतर बाहर वाले थ। प रामचन्द्र शुक्ल जायसी ग्रन्थावली की भूमिका प० १३१ १३२।
२—(क) वही प० १३२।
(ख) डॉ० मुन्शीराम शर्मा भक्ति का विकास प १५१।
३—दि मिस्टिक्स आफ इस्लाम भूमिका प० ६।
४—वही पृष्ठ ६।
५—वही पृ १८।
६—योर गाड इज वन गाड दयर इज नो गाड सेव हिम द बेनीफिसन्ट दि मर्सीफुल—ग्लोरियस कुरान २।१६३।
७—अल्लाह इज दान एव्ह थिंग आल नोंइग वही ५०१४।
८—वही ५१४।
६—वही ५।१४८।

रुचिकर है क्योंकि यह इस बात का प्रमाण है कि मनुष्य से ईश्वर बोलता है।[1] इसी कारण मुस्लिम रहस्यवादी यह आशा कर सकता है कि वह अपने इस नश्वर जीवन में ही उस अविनश्वर अमर तत्त्व की झाँकी उपलब्ध कर ले। इस प्रकार सूफी साधना का बीज वचन मोहम्मद साहब के समय हो ही गया था।

प्रारम्भिक २०० वर्षों तक सूफी मतवाद वैराग्य प्रधान रहा है। परन्तु इस समय के अन्त होते होते प्रेम की भावना घर करने लगी थी। इसी समय राबिया (८०० ई० के लगभग) अपनी भक्ति भावना में प्रिया का प्रेम अनन्यता भरकर उपासना करती है। वह ईश्वर के प्रति एक अत्यन्त निकटय का अनुभव करती थी। सूफीमत में दिव्य प्रेम का सिद्धान्त सबसे पहले उसी की रचनाओं में प्रकट हुआ था।[2] एक स्थल पर वह कहती है "ओ मेरे प्रिय तारे चमक रहे हैं मनुष्यों की आँखें बन्द हैं शहजादों ने अपने द्वार बन्द कर लिये हैं। प्रत्येक प्रेमी अपनी प्रियतमा के पास है और यहाँ मैं एक मात्र तुम्हारे पास हूँ।"[3] एक अन्य स्थान पर उसने अत्यन्त भाव विभोर कण्ठ से कहा है "ओ ईश्वर! यदि मैं नरक के भय से तुम्हारी पूजा करती हूँ तो मुझे नरकाग्नि में जला दो और यदि मैं स्वर्ग की आशा में तुम्हारी उपासना करती हूँ तो तुम मुझे स्वर्ग से निकाल दो परन्तु यदि मैं तुम्हारी उपासना केवल तुम्हारे लिए करती हूँ तो अपने शाश्वत सौन्दर्य को मुझसे न छिपाओ।"

इस प्रकार ईसवी सन की नवीं शताब्दी में सूफीमत प्रेम एवं अद्वैत चिन्तन के नये क्षेत्र में प्रवेश करता है। बगदाद में यह साधना अपनी पूर्णता को पहुँचती है। इस साधना में दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक दृष्टि से 'बायजीद' बिस्तामी का नाम बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है। उसने तसव्वुफ में ईश्वर की सर्वव्यापकता अद्वैतवाद एवं आवेश का तत्त्व समन्वित किया। उसने सबसे पहले फना शब्द का प्रयोग किया था जिसके अनुसार साधक अपनी अहंता को मारकर ईश्वर के प्रति विशेष भाव से समर्पित हो जाता है। जुनून अल हल्लाज आदि ने अद्वैत वादी तत्त्व को और अधिक विकसित किया। ११वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में अलगज़ाली ने शरीयत और तरीकत (शास्त्र एवं व्यवहार) का समन्वय किया।[4] यह इसलिए आवश्यक हो गया था कि धीरे धीरे सूफी सिद्धान्त इस्लाम की मूल विचारधारा से दूर हटते जा रहे थे। गज़ाली ने उसे पुनः इस्लामी केन्द्र के निकट

---

१ ए० जे० आरबेरी सूफिज्म, पृ० १३

२ आरबेरी सूफिज्म, पृ० ४३।

३ मार्गरेट स्मिथ राबिया दि मिस्टिक पृ० २७।

४ आरबेरी द्वारा पृ० ४२ पर उद्धृत।

५ यूसुफ हुसेन ग्लिम्पसेज आफ मेडीवल इंडियन कल्चर, पृ० ३५।

नाने का उद्योग किया।[1] यहीं पर यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि सूफी विचारधारा नवीं शताब्दी से केवल प्रेममार्ग पर ही नहीं चली ज्ञानमार्गी धारा भी बराबर प्रवाहित रही है पर प्रमुखता उसकी नहीं थी। सूफी साधना प्रारम्भ से ही अपने स्वरूप में वैयक्तिक रही है परन्तु धीरे धीरे यह सामान्य जन को अपनी ओर आकर्षित करने लगी थी। इस कारण यह आवश्यक हो गया था कि सूफी सिद्धांतों का एक व्यवस्थित रूपरेखा दी जाय एवं साधन प्रणाली का स्पष्ट निरूपण किया जाय। गजाली जैसे लोगों ने सूफीमत की इस दार्शनिकता को इस्लाम की धार्मिकता के साथ समन्वित करके साम्प्रदायिक ढांचे के भीतर व्यवस्थित करना चाहा। सनाई, अत्तार एवं जलालुद्दीन रूमी इसी परम्परा पर आगे चले हैं। १२वीं शताब्दी तक सूफियों के अनेक छोटे मोटे सम्प्रदाय बन गये थे। ग्यारहवीं से तेरहवीं शताब्दी तक सूफियों का स्वर्ण युग कहा जाता है। जलालुद्दीन रूमी इस युग का अंतिम श्रेष्ठतम कवि था। रूमी में ज्ञानमार्गी एवं प्रेममार्गी दोनों धाराओं का समन्वय भी था एवं इस्लाम की धार्मिकता भी सुरक्षित रही। ज्ञान और प्रेम को इस युग में अलग अलग करके नहीं देखा गया। यहां पर सूफियों की एक अन्य विशेषता की ओर इंगित कर देना उचित रहेगा। लगभग प्रत्येक सूफी विचारक ने काव्य रचना की है। यह बात वैष्णव चिंतकों में भी सुरक्षित है। शायद ही कोई वैष्णव चिंतक आचार्य या महन्त ऐसा मिले जिसने काव्य रचना नहीं की है। प्रेम प्रधान ईश्वर को जब शास्त्र के विरुद्ध एवं उसके साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध अनुचित समझा जाने लगा तब इन कवियों ने लौकिक प्रेम पात्रों (सुन्दर रमणी किशोर) एवं वस्तुओं के प्रतीकों के माध्यम से अपनी सौन्दर्य एवं प्रेम की अनुभूति को व्यक्त करना शुरू किया। यह बात दूसरी है कि प्रेम के इन प्रतीकों का अवमूल्यन और ह्रास होकर ऐन्द्रियता भी बढ़ी—ठीक वैसे ही जैसे कि राधा और कृष्ण का ह्रास रीतिकाल की शृंगारिकता में हुआ है।

भारतवर्ष में प्रवेश —

उत्तर-पश्चिमी भारत पर तुर्कों के आक्रमण के साथ ही सूफियों का भारत में प्रवेश होता है। सम्भवतः पश्चिमोत्तर भारत में सबसे पहले सुहरावर्दी सम्प्रदाय का आगमन होता है परन्तु उनका प्रभाव क्षेत्र बहुत नहीं बना वे सिंध एवं पश्चिमोत्तर प्रांत तक ही सीमित रहे। प्रभावशाली रूप में चिश्तिया सम्प्रदाय सबसे पहले भारतवर्ष में प्रतिष्ठापित हुआ था। भारत में इस सम्प्रदाय को अत्यधिक सफलता मिलने का कारण यह था कि ये लोग नयी परिस्थितियों के अनुकूल अपने

१ रामपूजन तिवारी सूफीमत साधना और साहित्य पृ २०५।

को वना सकने में समर्थ हुए थे।[1] ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती (जन्म ११४३ ई०) ने शहाबुद्दीन गोरी के आक्रमण के कुछ पूर्व सन ११६१ में इस सम्प्रदाय का प्रवेश भारतवर्ष में कराया था। प्रसिद्ध सूफी विचारक अली हुज्विरी (दाता गंजबख्श) उससे पूर्व से ही लाहौर में रह रहे थे। चिश्ती उन्हीं के पास कुछ दिन रहे। तदुपरान्त वे दिल्ली और वहाँ से अजमेर चले गये। मुईनुद्दीन के व्यक्तित्व का तत्कालीन भारतीय जनता पर बहुत प्रभाव पड़ा था—विशेषकर छोटे वर्गों के लोग उनकी ओर आकर्षित हुए थे। इस तथ्य के कारण अजमेर राजा के द्वारा उनको निकलवाने की चेष्टा भी हुई थी जो उनके व्यक्तित्व के प्रभाव के कारण सफल नहीं हो सकी थी।

चिश्ती मत का सगीत के आध्यात्मिक मूल्य पर बहुत अधिक विश्वास था एवं वे सगीतज्ञों का अत्यधिक आदर करते थे। सगीत की इन मजलिसों में वे आवेश में आकर मूर्छित तक हो जाते थे। मुईनुद्दीन के शिष्य ख्वाजा कुतुबुद्दीन बख्तियार काकी की ऐसे ही किसी आवेश की अवस्था में मृत्यु हो गयी थी। कुतुब साहब के बाद इस सम्प्रदाय के प्रधान बाबा फरीद गंजशकर हुए और उनके बाद निजामुद्दीन औलिया गद्दी के अधिकारी बने। दिल्ली के तुर्क सुल्तानों से लेकर साधारण जनता तक इनका सर्वत्र आदर था। ये सभी विरागी एवं ऊँची कोटि के साधक थे। कभी भी बादशाहों एवं सामन्तों के सम्पर्क को इन्होंने प्रोत्साहन नहीं दिया।

गयासुद्दीन तुगलक जैसे बादशाह तथा धर्मान्ध मुल्लागण उनके बढ़ते हुए प्रभाव तथा सगीत गोष्ठियों को पसन्द नहीं करते थे परन्तु कोई कठोर पग उठाने का उनका साहस नहीं हुआ। निजामुद्दीन औलिया का नाम वास्तव में भारतीय सूफी इतिहास में प्रभाव की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। उनके मधुर व्यक्तित्व तथा उदार दृष्टिकोण ने उन्हें अत्यधिक जनप्रिय बना दिया था। उनका जन्म सवत् १३६३ वि० में बदायूँ में हुआ था। वे कहा करते थे ओ मुस्लिमो मैं शपथ खाकर कहता हूँ कि वह (प्रभु) उसी को प्यार करता है जो उसके लिये मानवों को एवं मानवों के लिये उसको प्यार करते हैं। आगे चलकर अकबर के समय के प्रसिद्ध शेख सलीम भी इसी सम्प्रदाय के भक्त थे।

सुहरावर्दी सम्प्रदाय के शेख बहाउद्दीन जकरिया भी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति थे जो मुलतान को अपना केन्द्र बनाये हुए थे। उनके गुरुभाई हमीदुद्दीन नागोरी भी सगीत के बड़े प्रेमी थे। नागोरी ने तवालिउश्शमस तथा लवाइह दो पुस्तकें भी फारसी में लिखी हैं। जकरिया के एक शिष्य हुसन अमीर हुसैनी ने भी तसव्वुफ पर अनेक

---

१ यूसुफ हुसैन ग्लिम्पसेज आफ मिडीवल इंडियन कल्चर पृ० ३६।
२ सियारुल औलिया (यूसुफ हुसैन द्वारा पृ० ४३ पर उद्धृत)।

पुस्तक लिखी । इसी सप्रदाय के सत जहागश्त को मुहम्मद तुगलक ने शख उल इस्लाम नियुक्त किया था, पर उनकी प्रवृति उसम रमी नहा और व छोडकर चले गये । इस सप्रदाय के अन्तगत मूसा सुहाग और उनका सदा सुहागिन सप्रदाय आता है ।

फिर दौसिया सप्रदाय के सूफी सत शख शरफुद्दीन याहिया मनरी (मृ १४३७ वि०) का सम्मान फीरोज तुगलक बहुत अधिक करता था । इस सप्रदाय न अपना मुख्य कार्यक्षेत्र वतमान बिहार प्रदेश को बनाया था । मनरी स्वय एक बडे दार्शनिक और विचारक थ । मक्तूबात उनक विचारो का दिग्दशक श्रेष्ठ रचना है । यह वह काल था जब इब्नुल अरबी (१२२२ ई० स १२९७ वि) के वहदतुल वुजूद के सिद्धात का प्रभाव भारतवष पर पड रहा था । परन्तु मनरी ने अपनी स्वतन्त्र चितना क बल पर उसे अस्वीकार किया था । वे इस्लाम की कट्टर विचारधारा के अधिक निकट थे ।

कादिरी सप्रदाय की स्थापना बगदाद मे सवत १२२२ म हुई थी तथा मध्य एशिया एव पश्चिमी अफ्रीका म इस्लाम को फलाने म इसन बडा योग दिया था परन्तु भारतवष म यह मत शाह नियामतउल्लाह तथा मखदूम मुहम्मद जीलानी द्वारा १५ वी शती क अतिम हिस्स (सन १४८२) म लाया गया था । उन्होंन भी गुजरात म सुहरावर्दी सप्रदाय केन्द्र उच्छ को ही अपना केन्द्र बनाया । इस सप्रदाय म और भी अनेक सत हुए हैं । इनम से दारा शिकोह के गुरु मिया मीर प्रसिद्ध हैं ।

नक्शबन्दी सप्रदाय हमारे लिये अत्यत महत्त्वपूण है । यह सप्रदाय विक्रम की १७वी शती के मध्य भाग क आस पास भारतवष म ख्वाजा बाकी बिल्लाह (१६२० १६६० वि) द्वारा लाया गया था । यह सप्रदाय शरीअत की पुनप्र तिष्ठा पर बल दता है । ऊपर कहे गये समस्त सप्रदाय मनरी को छोडकर प्र ममार्गी थे । मुगलकाल की नीति क अन्तगत व खूब फल फूल थ । परन्तु १७वी शती का अन्त होते होते धर्मान्धता शास्त्रीयता शुद्धता (और रीति) की प्रवृत्तियाँ जीवन क सभी क्षत्रो म बल पकडती हैं । नक्शबन्दी सप्रदाय इस प्रवृत्ति की देन है । बाकी बिल्लाह क शिष्य शख अहमद सिरहिन्दी मुजाहिद न भी इब्नुल अरबी क सिद्धांतो का जोरदार खडन करत हुए इस्लामी शास्त्रीयता को पुनप्र तिष्ठापित करन का प्रयास किया । इस प्रयास म ही औरगजब और नक्शबन्दी सम्प्रदाय एक दूसर का सहयोग और ममत्व प्राप्त कर सके । ईश्वर और जीव क भेद पर बल देन हुए उसन वेदान्तिक अद्व तवाद क प्रभाव से अपन को अलग कर लना चाहा ।

इन प्रमुख सप्रदायो क अतिरिक्त अन्य कई सूफी सप्रदाय भी भारतवष म प्रचार-काय कर रहे थ । आईने अकबरी म अबुल फजल ने चौदह सूफी सप्रदायो

के नाम इस प्रकार गिनाये हैं —चिश्ती, सुहरावर्दी जदी इयादी, अधमी दुबेरी हबीजी तफ़ज़ा करर्वी सक्ती, जुनदी काजरूनी, तूसी और फिरदौसी,[1]

निष्कर्ष—इस प्रकार १६वीं शती में हम प्रेमाभक्ति का अप्रतिहत प्रवाह दिखायी देता है। निम्बार्क की राधा इस युग में रसोपासना की इष्ट बन गयी। चैतन्य का राधा भाव ही गोस्वामियों द्वारा श्रेष्ठतम रस प्रतिपादित होता है। हितहरिवंश और हरिदास की माधुर्य उपासना छोटे-बड़े सभी के आकर्षण का केन्द्र बनी। पुष्टि मार्ग में बालकृष्ण के साथ किशोर कृष्ण की लीलाएँ भी शत शत, सहस्र सहस्र पदों की रचना करवाती हैं। इनमें से प्रत्येक की अपनी विशेषता है, परन्तु मूल में मधुर उपासना है और उनके सम्मिलित रूप में परिणाम भी माधुर्यभाव का प्रचार प्रसार ही है। इन विविध साधनाओं के साधकों में आपस में जैसा विद्वेष भी न था। वे लोग साधक थे—महन्त नहीं। आपस में अत्यन्त सौहार्द्र था इसलिये वे एक दूसरे से प्रभावित भी होते थे। ऊपर हम चर्चा कर चुके हैं कि वल्लभाचार्य जी ने श्रीनाथ जी की सेवा पूजा का भार बंगाली वैष्णवों के पास ही रहने दिया था। वे प्रयाग में चैतन्य देव से मिले भी थे।[2] प्रबोधानन्द (प्रकाशानन्द सरस्वती जिन्हें काशी में चैतन्य ने शिक्षा दी थी) हित हरिवंश के अन्यतम प्रशंसकों में थे तथा हरिराम व्यास ने राधावल्लभीय होते हुए भी अपने पुत्र किशोरदास को स्वामी हरिदास से दीक्षा दिलवायी थी। गौडीय पटगोस्वामियों को वृन्दावन में अत्यन्त आदर के साथ देखा जाता था। एवं उनके भक्तिरस-सबंधी विवेचनों का प्रभाव निश्चित रूप से अन्य आचार्यों पर भी पड़ा। स्वयं चैतन्य दक्षिण से जो दो ग्रन्थ लाये थे उनमें लीला शुक बिल्वमंगल का कृष्ण कर्णामृत ग्रन्थ किसी अन्य मतावलम्बी का था। गौडीय वैष्णव मधुर रस

---

१ डॉ० विमलकुमार जैन सूफीमत और हिन्दी साहित्य, पृ० ८३ पर उद्धृत।

२ "भक्ति के साधन पक्ष में श्री वल्लभाचार्य जी के सम्प्रदाय पर श्री रूपगोस्वामी द्वारा विवेचित भक्ति पद्धति का किसी हद में प्रभाव श्री विट्ठलनाथ जी के समय में अवश्य हुआ। संभव है कि श्री वल्लभाचार्य जी ने अथवा गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने गान और वाद्य की महत्ता चैतन्य महाप्रभु की प्रेरणा से ली हो।'

डॉ० दीनदयालु गुप्त अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृ० ५८।

वक्तव्य है कि गान और वाद्य की यह महिमा अन्य वैष्णव सम्प्रदायों में भी स्वीकार की गयी एवं उसका चरम रूप स्वामी हरिदास में उपलब्ध होता है।

के उपासक थे ही निम्बार्क की दशश्लोकी म भी राधा की स्तुति है। निम्बार्कियो मे मधुर उपासना का प्रवाह श्री भट्ट से प्राप्त होन लगता है। यह बात दूसरी है कि बगाल म राधा परकीया बनी रही पर वृन्दावन म व स्वकीया बन गयी तथा हित हरिवश एव हरिदास की नित्य लीला म व स्वकीया परकीया निर्विशेष। यह प्रेम साधना राधा एव गोपियो के माध्यम से अभिव्यक्त हुई है। पीछे हम माधवेन्द्र पुरी का जिक्र कर चुके हैं। श्रीनाथजी के विग्रह की प्रतिष्ठा वल्लभ ने की उसके पूर्व पुजारी का नाम माधवानन्द (बगाली) वार्तासाहित्य म आता है तथा गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के बाल गुरु माधवेन्द्र पुरी बतलाय गये हैं। य दोनो यदि एक ही न भी हो तब भी पुष्टिमार्गीय आचार्यों एव गौडीय वैष्णव भक्तो का निकट सम्पर्क एव सान्निध्य तो सिद्ध होता ही है। विभिन्न सम्प्रदायो के कवियो न सम्प्रदाय का ध्यान रखे बिना ही भक्तो के नामो का सादर उल्लेख किया है। हरिराम व्यास का एक पद देखिए —

बिहारिहि स्वामी बिनु को गाव।
बिनु हरिवसहि राधा वल्लभ को रस रीति सुनाव।
रूप सनातन बिनु को वृन्दाविपिन माधुरी पाव।
कृष्णदास बिनु गिरिधर जू को को अब लाड लडाव।
मीराबाई बिनु को भक्तनि पिता जान उर लाव।
स्वारथ परमारथ जमल बिनु को सब बधु कहाव।
परमानन्द दास बिनु को अब लीला गाइ सुनाव।
सूरदास बिनु पद रचना को कौन कविहि कहि आव।
और सकल साधन बिनु को कलिकाल कटाव।
व्यास दास इन बिन को अब तन की तपन बुझाव।[1]

भक्तो का गुणगान करते समय इन्होंने निर्गुण-सगुण जैसे अन्तर भी नही किए हैं।

राधाकृष्ण की भक्ति के इस स्वरूप ने सगुण मत के दूसरे मुख्य आराध्य राम के उपासक भक्तो को भी बहुत प्रभावित किया। १७वी शती में यह प्रभाव पडना शुरू हो गया था तथा १८वी १६वी शती तक यह प्रभाव बढ़ता ही गया। सगुणोपासक न होन के कारण सत-मत म इस दम्पति लीलाओं की सीधी अभिव्यक्ति तो नहीं हुई परन्तु मधुर भाव की जो मूल धारणा थी उसका प्रकाशन साधक एव आराध्य के मध्य प्रतीक रूप से अवश्य हुआ। इस प्रतीक पद्धति के लिए तत्कालीन साधनाओं म सूफी प्रेम भावना सीधी प्रेरक शक्ति के रूप म विद्यमान थी। सूफी प्रेम भावना स्वय इस प्रेमाभक्ति की विविध साधनाओ को

1 भक्त कवि व्यास जी पृ० १६७ पद सख्या २६।

था। वास्तव मे ये सभी साधनाएं परस्पर एक-दूसरे को प्रभावित करती रही है। परन्तु इन प्रभावो का आन्तरिक स्वरूप निर्धारण एव प्रभावित प्रक्रिया की गति का वस्तुपरक निर्णय कठिन है। जीवन्त साधनाओ की ग्रहण प्रक्रिया इतनी जटिल एव सूक्ष्म होती है कि उसकी समस्त शिराओ का विश्लेषण नितान्त दुरूह हो जाता है। इसके अतिरिक्त ऐसे अध्ययन के लिए व्यापक सामाजिक जीवन के सभी पक्षो के आंकडे भी इस समय तक उपलब्ध नही हो सके हैं। जब तक समाज के विभिन्न पक्षो एव विचारो के प्रामाणिक इतिहास नही प्रस्तुत हो जाते तब तक प्रभावो की व्याख्या के लिए स्पष्ट और दृढ आधार नही मिल सकता है तथा सामाजिक जीवन के सन्दर्भ मे इन सब की निर्भ्रान्त व्याख्या भी सभव नही हो सकता।



द्वितीय अध्याय | भक्ति विवेचन

भक्ति के तत्त्व

पिछले अध्याय में हम कह चुके हैं कि भक्ति की प्राचीन परम्परा पन्द्रहवीं सोलहवीं शताब्दी में आकर एक नये आवेश और शक्ति से समृद्ध हो उठती है। इसी काल में देश के विभिन्न भागों में विभिन्न भक्ति सम्प्रदायों का उद्भव होता है। यद्यपि बाद का भी कुछ सम्प्रदाय अस्तित्व में आये पर वे सभी मूलतः इन्हीं की शाखा प्रशाखाएँ हैं। इस अध्याय में हम भक्ति के स्वरूप विश्लेषण का प्रयास करेंगे। भक्ति की विविध परिभाषाओं के अनुशीलन से हमें ऐसा लगा कि भक्ति के कतिपय सामान्य तत्त्व निर्धारित किये जा सकते हैं। आचार्यों ने अपनी पूजा, भाव या दर्शन विशेष के अनुसार इनमें से कभी किसी एक पर बल दिया है और कभी किसी दूसरे पर। नीचे हम भक्ति की कतिपय परिभाषाएं दे रहे हैं —

१ महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥
सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥
(गीता ९।१३ १४)

२ या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी ।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु ॥
(विष्णु पुराण १ २०।२०)

(अविवेकी पुरुषों की विषयों में जैसी अविचल आसक्ति रहती है तुम्हारा अनुस्मरण करते हुये तुम्हारे प्रति मेरी भी वैसी ही अविचल प्रीति रहे वह मेरे हृदय से कभी दूर न हो।)

३ सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम् ।
हृषीकेण हृषीकेश सेवनं भक्तिरुच्यते ॥

(*नारद पांचरात्र कल्याण भक्ति, अंक पृ० २६१ पर उद्धृत*) तत्परतापूर्वक सम्पूर्ण उपाधियों से रहित होकर इन्द्रियों से विशुद्ध भगवत्सेवा ही भक्ति कही जाती है।)

४ (क) मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये ।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम् ।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ।
(श्रीमद्भागवत ३।२९।११ १२)

(सागर में स्वतः प्रवाहित गंगा के जल की धारा के समान जो मनोगति मेरे गुण श्रवण मात्र से फलानुसन्धानरहित तथा भेददर्शन विहीन (*अनन्य भाव*) होकर सर्वान्तर्यामी मुझ पुरुषोत्तम में अविच्छिन्न भाव से निहित होती है वह मनोगति रूपा भक्ति ही निर्गुण भक्तियोग का स्वरूप है।)

तथा

(ख) देवानां गुणलिंगानामानुश्रविककर्मणाम् ।
सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या ।
अनिमित्ता भागवती भक्तिः
(श्रीमद्भागवत ३।२५।३२ ३)

(तात्पर्य यह कि सांसारिक विषयों का ज्ञान देने वाली इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति निष्काम रूप से जब भगवान में लगती है तो उसे भक्ति कहते हैं।)

५ मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी ।
स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते ॥
स्वात्मतत्त्वानुसन्धानं भक्तिरित्यपरे जगुः ।
(शंकराचार्य विवेकचूडामणि ३१ ३२)

(मुक्ति का कारणरूप सामग्री में भक्ति ही सबसे बढ़कर है और अपने वास्तविक स्वरूप का अनुसन्धान करना ही भक्ति कहलाता है। कोई कोई स्वात्म तत्त्व का अनुसन्धान ही भक्ति है—ऐसा कहते हैं।)

६ भज इत्येष वै धातुः सेवायां परिकीर्तितः।
तस्मात् सेवा बुधैः प्रोक्ता भक्तिसाधनभूयसी।
(गरुड पुराण अ० २३१)

(भज धातु का सेवन के अर्थ में प्रयोग होता है इसलिये बुद्धिमानों ने सेवा को ही भक्ति का प्रधान कहा है ।)

७ पूज्येष्वनुरागो भक्ति (पूज्य जनों में अनुराग ही भक्ति है।)
(देवी भागवत ७।३१)

८ (क) सा परानुरक्तिरीश्वरे (वह ईश्वर में परानुरक्ति है।)
(शाण्डिल्य भक्तिसूत्र २)

(ख) द्वेष प्रतिपक्षभावाद्रसशब्दाच्च राग । (वही ६)

९ (क) सा त्वस्मिन परमप्रेमरूपा (वह ईश्वर के प्रति परम प्रेम रूपा है)
(नारदभक्तिसूत्र २)

(ख) नारद भक्ति सूत्र में बताया गया है कि भगवान की पूजादि में (अनुराग पाराशर के अनुसार भक्ति है तथा कथाओं आदि में प्रेम गर्ग मुनि के अनुसार भक्ति की परिभाषा है। सूत्र १६ एवं १७)

१० (क) स्नेहपूर्वकमनुध्यानम'—रामानुज विशिष्टाद्वैत मत
(सम्पादक डी० टी० ताताचार्य पृ० १८४)

(ख) महनीयविषये प्रीतिरव प्रीतिरूपापन्नध्यानम सा एव भक्ति योग
परमाभक्तिरतिशयिता प्रीति
(परमाभक्ति अतिशय प्रेम है।) (वेदान्त दर्शन वही पृ० १८४)

११ श्री वैष्णव सम्प्रदाय के अनुसार 'भक्ति का सार है प्रपत्ति प्रपत्ति की उपासना से भगवत्कृपा सम्प्राप्ति होती है और इसी भगवत्कृपा से ही भक्ति की प्राप्ति होती है। (वही पृ० २१८ १८)

१२ कृपास्य दैन्यादियुजि प्रजायते
यथाभवेत प्रेम विशेषलक्षणा।
भक्तिह्यनन्याधिपतेर्महात्मन
सा चोत्तमा साधनरूपिका परा॥
(निम्बार्काचार्य दशश्लोकी ६)

(दैन्यादि गुणों से युक्त पुरुष के ऊपर भगवान श्रीकृष्ण की कृपा प्रकट होती है।

उस कृपा के द्वारा उन सर्वेश्वर परमात्मा म प्र म विशेष रूपा भक्ति उत्पन्न होती है। यह भक्ति दो प्रकार की है—
(एक साधारण रूपा अपराभक्ति और दूसरी उत्तमा पराभक्ति)

१३ माध्व सम्प्रदाय म मल रहित निर्दोष (नि स्वाथ) अमलाभक्ति को सायुज्य मुक्ति का उपाय माना है।
(बलदेव उपाध्याय भागवत सम्प्रदाय पृ २२६)

१४ सा तैलधारासमानित्य सस्मृति सन्तानरूपेणिवरानरक्ति ।
भक्तिर्विवेकादिकसप्तजन्या तथा यनाद्यष्टसुबोधकाग ॥
(रामानन्द—व० म० भा० श्लोक ६४)

(तैलधारा के समान अविच्छिन्न रूप स नित्य स्मरणपूवक परम अनुराग ही भक्ति है। वह सात विवेकादि उपायो से उत्पन्न होती है तथा यनादि के आठ अग उसके बाधक हैं।)

१५ माहात्म्यज्ञानपूवस्तु सुदृढ सवतोऽधिक ।
स्नेहोभक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिनचान्यथा।
(वल्लभाचाय त० दी० नि० शास्त्राथ प्रकरण ४६)
(भगवान क माहात्म्य ज्ञानपूवक उनम सर्वाधिक और दृढ स्नेह का होना ही भक्ति है और उसी स मुक्ति होती है। मुक्ति का अन्य कोई उपाय नही है।

१६ अन्याभिलषिताशून्य ज्ञानकमाधनावृतम।
आनकूल्येन कृष्णानुशीलन भक्तिरुत्तमा।
(रूप गोस्वामी हरिभक्ति रसामृत सिन्धु पूवक विभाग १।११)
(सम्पूर्ण अभिलाषाओ से रहित तथा ज्ञान और कम से अनाच्छादित श्रीकृष्ण क अनकूल अनुशीलन उत्तमा भक्ति है।)

१७ द्रुतस्य भगवद्धर्माद धारावाहिकता गता।
सर्वेशेमनसो वृत्तिभक्तिरित्यभिधीयते।
(मधुसूदन सरस्वती भक्ति रसायन १।३)
(भागवत धर्मों का सवन करन स द्रवित हुए चित्त का भगवान सर्वेश्वर के प्रति जो धारावाहिक (अविच्छिन्न) वृत्ति है उसी को भक्ति कहत हैं।)

१८ भक्तिभजनम उल्लासविशेष । (भक्ति मीमासा सूत्र १)
(भक्ति मन का विशेष उल्लास है।)

१६ सर्वात्मनानिमित्त व स्नेहधारानुकारिणी।
वृत्ति प्रेम परिप्लवता भक्तिर्माहात्म्य बोधजा।।
(शाण्डिल्य संहिता कल्याण भक्ति अंक पृ० २४७ पर उद्धृत)

२० निसिदिन हरि सों चितासक्ति, सदा ठगयो सो रहिये।
काऊ न जानि सके यह भक्ति प्रेम लक्षणा कहिये।।
(सुन्दर दास ज्ञान समुद्र भक्ति निरूपण ४०)

इन परिभाषाओं तथा सम्बन्धित साहित्य के अध्ययन के पश्चात हम भक्ति के निम्नलिखित तत्त्व निर्धारित कर सकते हैं —

(१) प्रेम —भक्ति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व प्रेम है यह कहना तनिक भी अनुचित न होगा।[1] वास्तव में यह तत्त्व ही वह आधार है जो भक्ति को अन्य साधनामार्गों से पृथक ही नहीं करता श्रेष्ठ भी बनाता है। यों तो भागवतकार ने कहा है जो पुरुष भगवान में निरन्तर काम क्रोध भय स्नेह ऐक्य या सौहार्द का भाव रखते हैं वे भी तन्मयता को प्राप्त हो जाते हैं।[2] तथा वल्लभाचार्य ने भी लिखा है 'सवदा सवभावेन भजनीयो व्रजाधिपः।'[3] परन्तु जैसा कि पूर्व कथित परिभाषाओं से ज्ञात होगा कि रागतत्त्व का भक्ति के क्षेत्र में जैसा श्रेष्ठ प्रकाशन प्रेमभावना (अनुरक्ति स्नेह लगाव) में होता है वैसा अन्यत्र कहीं नहीं। यह प्रेमभावना अनेक रूप ले सकती है इसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

यहीं पर प्रश्न यह उठाया जा सकता है कि इस प्रेम से तात्पर्य क्या है? चैतन्य सम्प्रदाय में प्रेम को काम से अलग करते हुये उसे कृष्णसुख तात्पर्य

---

१ (क) तत्त्ववस्तु कृष्ण, कृष्णभक्ति प्रेमरूप।
चै० च० आ० ली० परि०२, पृ० १०।
(ख) प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई
रा० च० मा० उ० का, ८६।
२ श्रीमद्भागवत ३।२६।१५।
३ चतुःश्लोकी १।
४ द्रष्टव्य परिभाषा संख्या २ ७ ८, ६ १०, १२, १४ १५, १८ १९ एवं २०।

कहा।[1] पुष्टिमार्गीय गोस्वर महाराज ने अपने भक्तिमार्तण्ड नामक ग्रन्थ में प्रेमसम्बन्धी कतिपय विचारों का संकलन किया है। इस संकलन के अनुसार भक्ति चिन्तामणि में योग वियोग-वृत्ति को प्रेम कहा गया है यानी कि योग में वियोग की चिन्ता और वियोग में योग की उत्कंठा ही प्रेम है। इसी से मिलता जुलता गुणाकर का मत उद्धृत है—यथा योगे वियोग वृत्ति प्रेम तथा वियोगे योगवृत्तिरपि प्रेम।[2] गोविन्द चक्रवर्ती का मत है कि जो तमाम आपत्तियों के एवं कठिनाइयों के बीच भी नहीं छीजता एसा गाढ़ यमन ही प्रेम है।[3] परमाथ ठक्कर के अनुसार वस्तु के प्रति एक (गहन) अवर्णनीय पुकार (या निचाव) को प्रेम कहते हैं।

इन मतों में एक विशेष आकर्षण या आकांक्षा-तत्त्व को प्रेम के मूल में स्वीकार किया गया है एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह अनुचित भी नहीं है। विष्णुपुराण[5] रामचरित मानस[6] सुन्दर दास के ज्ञान समुद्र आदि में इसी आकर्षण को स्वीकार किया गया है।

आकर्षण जो जड़ के प्रति है वह चित के प्रति हो जाय—शर्त केवल इतनी है। जीव गोस्वामी ने अपने भक्ति सन्दर्भ में स्पष्ट कहा है तन विषयिणः स्वाभाविकः विषय संसर्गे छामय प्रेमा राग यथा चक्षुरादीनां सौन्दर्यादि ताद्दश

---

१ आत्मेन्द्रिय प्रीति इच्छा तारे नाम काम
कृष्णेन्द्रिय प्रीति इच्छा धरे प्रेम नाम
कामेर तात्पर्य निज संभोग केवल
कृष्ण सुख तात्पर्य प्रेम तो प्रबल
आत्म सुख दुख गोपी ना करे विचार
कृष्ण सुख हेतु करे सद व्यवहार।
कृष्णदास कविराज चैतन्य चरितामृत आदि लीला परिच्छेद ४ पृ २८

२ अब हम आगे चलकर देखेंगे कि राधावल्लभ सम्प्रदाय जैसे रसिक मतों की प्रेम भावना पर इस मत का गहरा प्रभाव है।

३ गाढ़ व्यसन साहस्र संपात पि निरन्तरम न ह्रायते
यस्मिन स्वादु तत प्रेमलक्षणम। भक्ति मार्तण्ड प० ७५

४ दर्शनमात्रविषयिणी वचनानर्हामनीहा प्रेम —वही

५ १। ।२०

६ अन्तिम दोहा

७ भक्ति निरूपण ८३

एवान भक्तस्य श्रीभगवत्यपि राग इत्युच्यते।[1] अर्थात जसे विषयी पुरुषा का स्वभावत ही विषया के प्रति विषय ससग की इच्छा से युक्त आकपण होता है जसे आखा आदि का सौन्दय के प्रति झुकाव होता है उसी प्रकार भक्त का जब भगवान के प्रति आकपण उत्पन्न होता है तब उसे राग कहते हैं।

परन्तु गापेश्वर महाराज राग के इस आकाक्षा तत्त्व का स्वीकार नही करते। उनके अनुसार आकाक्षा एव दूसरी आकाक्षा (पुरुषाथ) का विषय नही बन सकती। उनके अनुसार भक्ति म भज धातु है एव क्तिन प्रत्यय है। धातु का अथ सवा है और प्रत्यय का प्रेम। इन दोनो से मिलकर यह शब्द बनता है और दोनो ही अर्थों को लक्षित कराता है। बिना प्रेम के सेवा कष्टकर हाती है एव सवा के बिना प्रेम पूण नहीं हाता है।[2]

इस विवेचन स हम भक्ति क दूसरे तत्त्व पर पहुचते हैं और वह है सेवा।
(२) सवा— गरुड पुराण की परिभाषा म युत्पत्ति की ओर सकेत करते हुए ही सेवा को भक्ति का साधन कहा है। नारद पाचरात्र की परिभाषा म भी इद्रिया द्वारा सभी उपाधियो से मुक्त होकर तत्परतापूवक सेवा करने का ही निर्देश किया गया है।[3] निम्बाक सम्प्रदाय म स्वय निम्बाक ने कहा है कृष्ण के चरण कमला की सवा छोडकर अन्य कोई उपाय नही है—

ना या गति कृष्ण पदारविन्दात
सद यते ब्रह्मशिवादिवन्दितात ।
भक्ते छयोपात सुचिन्तय विग्रहा
दचिन्त्यशक्तेरविचिन्त्य साशयात।

वास्तव म जहा भी सखी भाव या मजरी भाव की उपासना स्वीकृत है वहा पर सेवा भावना अनिवाय है। निम्बाक चतय राधावल्लभीय, हरिदासी एव राम भक्ति के मधुरापासक इन सभी सम्प्रदायो म सखी द्वारा युगल रूप की सवा सर्वात्मना स्वीकृत है। पुष्टि माग को तो सवा माग भी कहते है। वहा पर तनुजा, वित्तजा और मानसी, तीन प्रकार की सेवाएँ मानी जाती हैं। बल्लभाचाय

---

१ जीव गोस्वामी भक्ति सन्दभ (षट सन्दभ) पृ०—६४८ (प्र० श्यामलाल गोस्वामी, कलकत्ता)।
२ ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी (चतुथ खड) एस० एन० दास गुप्त पृ० ३५१।
३ देखिये परिभाषा स० ६।
४ निम्बाक दशश्लोकी श्लोक ८।

कहा।[1] पुष्टिमार्गीय गोस्वामी महाराज ने अपने भक्तिमार्तण्ड नामक ग्रंथ में प्रेम सम्बन्धी कतिपय विचारों का संकलन किया है। इस संकलन के अनुसार भक्ति चिन्तामणि में योग वियोग वृत्ति को प्रेम कहा गया है यानी कि योग में वियोग की शंका और वियोग में योग की उत्कंठा ही प्रेम है।[3] इसी से मिलता जुलता गुणाकर का मत उद्धृत है—यथा योग वियोग वृत्ति प्रेम तथा वियोग योगवृत्तिरपि प्रेम। गोविन्द चक्रवर्ती का मत है कि जो तमाम प्रतिकूलताओं एवं कठिनाइयों के बीच भी नहीं छीजता ऐसा गाढ़ लगन ही प्रेम है।[4] पर माथ टक्कन के अनुसार वस्तु के प्रति एक (गहन) अयुगनाय पुकार (या विवाद) को प्रेम कहते हैं।

इन मतों में एक विशेष आकर्षण या आशा-तत्त्व को प्रेम के मूल में स्वीकार किया गया है एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह अनुचित भी नहीं है। विष्णुपुराण[5] रामचरित मानस[6] सुंदर दास के ज्ञान समुद्र आदि में इसी आकर्षण का स्वीकार किया गया है।

आकर्षण जो जड़ के प्रति है वह चिद के प्रति हो जाय—बात केवल इतनी है। जीव गोस्वामी ने अपने भक्ति सन्दर्भ में स्पष्ट कहा है तत्र विषयिणः स्वाभाविको विषय संसर्ग इच्छामय प्रभा राग यथा चक्षुरादीनां सौन्दर्यं तादृग

---

१ आत्मेन्द्रिय प्रीति इच्छा तारे नाम काम
कृष्णेन्द्रिय प्रीति इच्छा धरे प्रेम नाम
कामेर तात्पर्य निज संभोग केवल
कृष्ण सुख तात्पर्य प्रेम तो प्रबल
आत्म सुख दुख गोपी ना करे विचार
कृष्ण सुख हेतु करे सद व्यवहार।
कृष्णदास कविराज चैतन्य चरितामृत आदि लीला परिच्छेद ४ पृ० २८

२ अब हम आगे चलकर देखेंगे कि राधावल्लभ सम्प्रदाय जैसे रसिक मतों की प्रेम भावना पर ऐसे मतों का गहरा प्रभाव है।

३ गाढ़ यसन साहस्र सम्पाते पि निर तरम म होयते
यदिहेति स्वादु तत प्रमलक्षणम। भक्ति मार्तण्ड, पृ० ७५

४ यत्तमात्रविषयिणी यचनानर्हासमीहा प्रेम —वही

५ १।२०।२०

६ अंतिम दोहा

७ भक्ति निरूपण ४३

एवात्र भक्तस्य श्रीभगवत्यपि राग इत्युच्यते।[1] अर्थात जैसे विषयी पुरुषों का स्वभावत ही विषयों के प्रति विषय-प्रसग की इच्छा से युक्त आकर्षण होता है जैसे आलो आदि को सौन्दर्य के प्रति झुकाव होता है उसी प्रकार भक्त का जब भगवान के प्रति आकर्षण उत्पन्न होता है, तब उसे राग कहते हैं।

परन्तु भावेश्वर महाराज राग के इस आकांक्षा तत्त्व को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार आकांक्षा एक दूसरी आकांक्षा (पुरुषार्थ) का विषय नहीं बन सकती। उनके अनुसार भक्ति में भज धातु है एव क्तिन प्रत्यय है। धातु का अर्थ सेवा है और प्रत्यय का प्रेम। इन दोनों से मिलकर यह शब्द बनता है और दोनों ही अर्थों को लक्षित कराता है। बिना प्रेम के सेवा कष्टकर होती है एव सेवा के बिना प्रेम पूर्ण नहीं होता है।[2]

इस विवेचन से हम भक्ति के दूसरे तत्त्व पर पहुचते हैं और वह है सेवा। (२) सेवा— गरुड पुराण' की परिभाषा में 'युपति की ओर सेवा करते हुए ही सेवा को भक्ति का साधन कहा है। नारद पाचरात्र की परिभाषा में भी इन्द्रियों द्वारा सभी उपाधियों से मुक्त होकर तत्परतापूर्वक सेवा करने का ही निर्देश किया गया है।[3] निम्बार्क सम्प्रदाय में स्वय निम्बार्क ने कहा है कृष्ण के चरण कमलों की सेवा छोडकर अन्य कोई उपाय नहीं है—

नान्या गति कृष्ण पदारविन्दात
सदृश्यते ब्रह्मशिवादिवन्दितात ।
भक्तेच्छयोपात्त-सुचिन्तय विग्रहा
दचिन्त्यशक्तेरविचिन्त्य साशयात ।[4]

वास्तव में जहाँ भी सखी भाव या मजरी भाव की उपासना स्वीकृत है वहा पर सेवा भावना अनिवार्य है। निम्बार्क वल्लभ राधावल्लभीय हरिदासी एव राम भक्ति के मधुरोपासक इन सभी सम्प्रदायों में सेवा द्वारा युगल रूप की सेवा सर्वात्मना स्वीकृत है। पुष्टि मार्ग को तो सेवा मार्ग भी कहते हैं। वहा पर तनुजा वित्तजा और मानसी तीन प्रकार की सेवाए मानी जाती हैं। वल्लभाचार्य

1 जीव गोस्वामी भक्ति सन्दर्भ (षट सन्दर्भ) पृ०—६४८ (प्र० श्यामलाल गोस्वामी, कलकत्ता)।
2 ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी (चतुर्थ खण्ड) एस० एन० दास गुप्त पृ० ३५१।
3 देखिये परिभाषा स० ६।
4 निम्बार्क दशश्लोकी श्लोक ८।

के अनुसार कृष्ण सेवा तन्जा कार्या मानसी सा परामता ।[1] वल्लभाचार्य ने अपने ग्रन्थ सेवा फल में सेवा का स्वरूप एवं परिणाम सभी विवेचित किये हैं। उनके अनुसार सेवा के तीन फल प्राप्त होते हैं—अलौकिक सामर्थ्य सायुज्य एवं सेवोपयोगी देह। इनमें प्रथम सबसे श्रेष्ठ है जो कि मानसी सेवा का परिणाम है। पुष्टिमार्ग के प्रसिद्ध आचार्य हरिराय जी ने भी सेवा का विशद विवेचन किया है। उनके अनुसार भी तीन प्रकार की प्रभु-सेवा में मानसी सेवा ही फल रूपिणी एवं निरोधरूपा है तथा वह ब्रजभक्तों में यही दिखायी देती है।[2] हरिराय जी ने तो सेवा और पूजा का भी अन्तर स्पष्ट करते हुए बताया है कि सेवा में स्नेह के साथ लौकिक युक्ति से परिचर्या होती है तथा पूजा में शास्त्रानुकूल अर्चना की जाती है।[2] गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने सेवा विधि की सांगोपांग व्यवस्था की थी। इस तत्त्व के अन्तर्गत ही विविध सम्प्रदायों की अष्टयाम सेवा भी आती है। दास भाव की भक्ति का तो मुख्य आधार ही सेवा तत्त्व है। वात्सल्य में पुत्र की सेवा होती है और सख्य भाव में भी सेवा का अभाव नहीं है।

सेवा या तो प्रिय की होती है (और प्रेम तत्त्व को हम ऊपर स्वीकार कर चुके हैं) या फिर महत् की। इस स्थापना के साथ ही हम भक्ति के तीसरे तत्त्व पर आते हैं।

(३) माहात्म्य ज्ञान—नारद ने अपने भक्ति सूत्र में भक्ति भावना के लिये यथाव्रजगोपिकानाम्[3] कहा है। तत्पश्चात् अगले सूत्र में ही कह दिया है कि इस अवस्था में भी (गोपियों में) माहात्म्य ज्ञान की विस्मृति का अपवाद नहीं क्योंकि उसके बिना वह प्रेम जारों के प्रेम के समान है।[4] बोपदेव ने इसी बात को अपने मुक्ताफल ग्रन्थ में दुहराया है कि स्नेह निषिद्ध तत्त्व तब बन जाता है जबकि देवता को देवता की तरह न देखकर मित्र के समान देखा जाता है।[5] वास्तव में बिना माहात्म्य ज्ञान के जो प्रेम होगा वह स्वसुख की ओर अधिक ध्यान देगा एवं जब तक अहंता विद्यमान है तब तक प्रभु प्राप्ति होती नहीं। माहात्म्य ज्ञान होने पर ही प्रेम तत्सुखी बनता है। इसीलिये वल्लभाचार्य ने सुदृढ़ एवं 'सर्वतोऽधिक' प्रेम को माहात्म्य ज्ञान पूर्वक होने पर ही भक्ति कहा

१ वल्लभाचार्य सिद्धान्त मुक्तावली १।
२ गोस्वामी हरिराय स्वमार्गीय सेवाफल निरूपण रूप निर्णय श्लोक ४८।
३ ना० भ० सूत्र २१।
४ वही सूत्र २२ २३।
५ के सी० वरदाचारी 'आसपेक्टस आफ भक्ति' (मसूर यूनिवर्सिटी १९५६) में उद्धृत पृ० १५।

है।[1] यद्यपि प्रेम की श्रेष्ठतम स्थितियो म माहात्म्य ज्ञान का महत्त्व कम हो जाता है ऐसा विद्वानो का कथन है। स्वय गोस्वामी हरिराय के अनुसार 'श्री आचार्य जी ने मारग को स्वरूप कहा है, जो माहात्म्य ज्ञानपूर्वक दृढ स्नेह सो सर्वोपरि है सो ठाकुर जी को बहुत प्रिय है पर तु जीव माहात्म्य राखे। सो काहे ते। जो माहात्म्य बिना अपराध को भय मिट जाय तासो प्रथम दशा म माहात्म्य युक्त स्नेह आवश्यक कहिये सो ठाकुर जी भक्तन क स्नेहवश होय भक्तन के पाछे पाछे डोलते हैं सो जहा ताइ ऐसो स्नेह नाही होय तहा ताइ माहात्म्य राखनो तासो माहात्म्य विचारे और अपराध सो डरपे तो कृपा होय। जब सर्वोपरि स्नेह होयगो तब आप ही ते स्नेह ऐसो पदार्थ जो माहात्म्य कू छुडाय देयगो।'[2] पर हमारा विचार है कि इस स्थिति तक पहुचते पहुचते माहात्म्य ज्ञान अवचेतन म इतना गहरे पठ चुका होता है कि बिना ऊपर से ध्यान रखे वह साधक के कार्यों का नियामक बन जाता है।

(४) अविच्छिन्नता या नैरन्तर्य—यदि प्रेम भावना सेवा या माहात्म्य ज्ञान आदि कभी-कभी ही मन म आवें तो मन म वह तीव्रता आ ही नही सकती जो भक्त और भगवान को निजी सबधो म बाँध देती है। इसी कारण भक्ति के परिभाषाकारो एव व्याख्याताओ आदि ने बार बार भक्ति की अविच्छिन्नता नैरन्तर्य धारावाहिकता या अव्यभिचारित्व एव सातत्य की ओर सकेत किया है। पीछे दी गयी परिभाषाओ म गीता भागवत, रामानन्द मधुसूदन सरस्वती शाण्डिल्य सहिता सुन्दरदास आदि ने इसी तथ्य की ओर ध्यान दिलाया है।[3] पुष्टिमार्ग चैतन्य राधावल्लभ आदि सभी सम्प्रदायो म भक्ति के इस नैरन्तर्य वाले तत्त्व की ओर इगित किया गया है। देवी भागवत भी तैलधारा के समान अविच्छिन्नता को स्वीकार करती है।[4]

(५) अनन्यता—अविच्छिन्नता का ही अलग चरण अनन्यता है। भागवतकार ने इस क्रम को अत्यधिक काव्यात्मक रूपक म कहा है। उनके अनु

---

१ (क) परिभाषा स० १५ एव १६।
(ख) वेदान्त दर्शिक (परि० स० १० (ख) ने महनीय विषय म प्रीति कहकर माहात्म्य ज्ञान की हो ओर सकेत किया है।
२ अष्टछाप-वार्ता-कांकरौली, पृ० १८।
३ दे० परिभाषा स० १,२,१४,१७,१६ एव २०।
४ देवी हिमालय से पराभक्ति के विषय मे कहती है कि उसका साधक सदा सर्वदा मेरा गुण श्रवण तथा नाम-कीर्तन किया करता है एव 'कल्याणगुण रत्नानामाकराणां मयि स्थिरम्। चेतसो वर्तन चैव तैलधारासम सदा॥ ७।३७।११ १२।

सार सागर म स्वत प्रवाहित गगाजल की धारा ने समान जब मनोगति अनन्य भाव से भगवान म निहित होती है तो उसे निर्गुण भक्ति कहते हैं ।[1] गगा की धारा जहाँ निरन्तर तय का द्योतक है वही सागर म ही गिरना उसकी अनन्यता है। इसी प्रकार मात्र इष्ट देव म ही प्रेम मना मानि निरन्तर लगे रहे तभी भक्ति की स्थिति सभव है। जब तक मन म विषय सम्बन्ध या व्यभिचारित्व विद्यमान है तब तक वह एकाग्रता आ ही नही सकती जो भक्त और भगवान् को एक कर देती है। तुलसीदास ने अपने चातक के माध्यम से इसी अनन्यता की ओर सकेत किया है। निम्बार्क की तथाकथित दशश्लोकी का नान्यागति कृष्णपदारविन्दात (श्लोक ८) इसी अनन्यता की ओर सकेत करता है। गीता इसी अनन्यता की चाह करती है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जना पर्युपासते।
तेषा नित्याभियुक्ताना योगक्षम वहाम्यहम ॥[3]

अर्थात जो अनन्य प्रेमी भक्तजन मुक्त परमेश्वर का निरन्तर चिन्तन करते हुये भजते हैं उन नित्य निरन्तर मेरा चिन्तन करने वाले पुरुषो के योगक्षेम का मैं स्वय वहन करता हूँ। नारद भक्ति-सूत्र के अनुसार भक्ति निरोधरूपा होती है। भगवान म अनन्यता एव प्रतिकूल विषय म उदासीनता को निरोध कहते हैं।[5] फिर अनन्यता की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं दूसरे आश्रयो के त्याग का नाम अनन्यता है।[6] वास्तव मे प्रेमी भक्त के मन म अपने प्रियतम को छोडकर और किसी की कल्पना ही नही होती है। रहीम ने ठीक कहा है —

प्रीतम छवि नैनन बसी पर छवि कहा समाय।
भरी सराय रहीम लखि आपु पथिक फिरि जाय ॥

इसी प्रकार सुन्दरदास ने भी अपने ज्ञान समुद्र म भक्ति निरूपण वाले अध्याय म कहा है—

सुनै न कान और की द्रसै न और अच्छना।
कहै न बात और की सुभक्ति प्रेम लच्छना ॥[7]

---

१ श्री मदभागवत ३।२९।११ १२।
२ चातक चौंतीसो, दोहावली—२७७ से ३१२।
३ गीता ९।२२ अथवा ११।५४।
४ ना भ सू०—७।
५ वही—९।
६ वही १०।
७ ज्ञान समुद्र भक्ति निरूपण छंद ३९।

प्रह लाद जब भगवान से अविचल भक्ति म गते हैं तब इसी अन-यता की ओर ही इगित करते है ।[1] श्री रूप गोस्वामी ने अपनी भक्ति का परिभाषा[2] म यद्यपि अन-यता का उल्लेख नही किया है पर परिभाषा का विश्लेषण करन पर हम अन-यता वाले तत्त्व का निश्चित रूप से उपल ध करते है । जब कोई अ-य अभिलाषा नही है, ज्ञान कर्मादि स अनावृत है और मात्र अनुकूल भाव से कृष्णानुशीलन है तो अन-यता स्पष्ट प्रतीत होती है । इसी प्रकार नारद पाचरात्र की परिभाषा[3] म भी अन-यता का अभिप्राय निहित है । वास्तव म प्रम भावना के पश्चात दूसरा सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व अन-यता ही है । श्री सप्रदाय म प्रपत्ति के तीन विशेषण—अन-य शेषत्व अन-य साधनत्व एव अन-य भोगत्व भी इसी तथ्य की ओर इगित करते हैं । अ-य भक्तिमार्गों की साधना पद्धतिया भी अन-यता को बराबर स्वीकार करती हैं ।

(६) शरणागति या प्रपत्ति —अन-य या अविच्छिन्न भाव स किय जाने वाले प्रेम और सेवा की वह स्वाभाविक परिणति है कि भक्त अपने को सपूर्णतया भगवान के चरणो म अर्पित कर दे । इस अपण का सवश्रे ष्ठ रूप *शरणागति है जहा पर कि भगवान पर ही अपने सारे योग क्षेम का भार सौंप* कर वह निश्चिन्त हो जाता है । श्रीमदभगवद्गीता म इस शरणागति एव आत्मसमपण के भाव की अत्यधिक विवृति हुई है —

तमेव शरण गच्छ सवभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शाति स्थान प्राप्स्यसि शाश्वतम ।[4]
म मना भव मदभक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामवष्यसि सत्य ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे[5]
सवधर्मान परित्य यमामेक शरण व्रज ।
अहत्वा सवपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच ।[6]

अपनी सुरक्षा अधिक शक्तिशाली क हाथ सौंप देना स्वाभाविक ही नही विवेकपूण भी है । पीछे हम परिभाषा सख्या ११ म श्री सम्प्रदाय का मत उद्धत कर चुके हैं कि भक्ति का सार प्रपत्ति है । वल्लभाचाय ने भी शरणागति को बहु

---

१ नाथ योनिसहस्रेषु येषु व्रजाम्यहम ।
तेषु तेष्वचला भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि । विष्णु पुराण १।२०।१६ ।
२ दे० परिभाषा स० १६ ।
३ „ „ स० ३ ।
४ गीता १८।६२ ।
५ वही १८।६५ ।
६ वही १८।६६ ।

मान दिया है।[1] जीव गोस्वामी ने अपने भक्ति सन्दर्भ में वैधी भक्ति के जिन ११ तत्त्वों की चर्चा की है उनमें प्रथम शरणागति है एवं अंतिम आत्मनिवेदन। मानो एक ही भाव की दो स्थितियों से उसे सम्पुटित किया गया हो। नवधा भक्ति का अंतिम तत्त्व आत्म निवेदन तो सर्वविदित ही है। रामानन्द ने भी भक्ति के क्षेत्र में आत्मसमर्पण को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया है।[2]

आगम ग्रन्थों में प्रपत्ति का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है।[3] अहिर्बुध्न्य संहिता एवं नारद पांचरात्र में उसे ६ प्रकार की बताया गया है।[4] प्रथम है भगवान की अनुकूलता का संकल्प अर्थात् जो भगवद्भाव के अनुकूल कर्त्तव्य हो उनके पालने का नियम। द्वितीय है प्रतिकूलता का त्याग। तृतीय प्रकार यह विश्वास है कि प्रभु निश्चय ही हमारी रक्षा करेंगे। एकान्त में भगवान् से अपनी रक्षा के लिए प्रार्थना करना (लक्ष्य निर्धारण) शरणागति का चौथा प्रकार है। पंचम है आत्म निवेदन अपने को सम्पूर्णतया भगवान को समर्पित कर देना तथा कार्पण्य या कातरता का प्राकट्य (अन्य दिशाओं में) प्रपत्ति का छठवां रूप है। पर लौकिक व्यवहार एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अधिक अनुकूल क्रम यह होगा—

(१) कार्पण्य (२) आत्म निवेदन (३) विश्वास (४) गोप्तृत्व का वरण (५) प्रतिकूलता का वर्जन (६) अनुकूलता का संकल्प।

शरणागति और आत्म समर्पण की महत्ता को भागवतकार ने अत्यधिक हृदय शब्दों में व्यक्त किया है

---

१ तस्मात् सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णशरणं मम
वदद्भिरेव सततं स्थेयमित्येव मे मतिः।
वल्लभाचार्य नवरत्न श्लोक ६।
(कल्याण सन्त वाणी अंक में संकलित)

२ बलदेव उपाध्याय भागवत सम्प्रदाय पृ० २६५।

३ के सी० वरदाचारी अल्वार्स आफ भक्ति पृ० ४१।

४ आनुकूलस्य संकल्पः प्रातिकूलस्य वर्जनम्
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्व वरणं तथा।
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः
(अ० सं० ३७।२८)।
तथा प्रपत्तिरानकूल्यस्य संकल्पो प्रतिकूलता।
विश्वासो वरणन्यासः कार्पण्यम् इति षड्विधा (नारद पांचरात्र वरदाचारी द्वारा उद्धृत पृ० ४१।

मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा
निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे ।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो
मयाऽऽत्म भूयाय च कल्पते ।[1]

यानी कि मनुष्य जब सारे कर्मों का त्याग करके मुझे आत्मसमर्पण कर देता है तब वह मेरा विशेष माननीय हो जाता है तथा जीवन्मुक्त होकर मत्सदृश ऐश्वर्य की प्राप्ति के योग्य हो जाता है।

जब साधक अपने को पूर्णतया भगवान् के भरोसे छोड़ देता है तब उस परम ऐश्वर्य, परम मधुर एवं परम प्रिय से यह आशा करना अनुचित नहीं है कि वह भक्त पर कृपा करेगा। शरणागति के ६ रूपों में हम यह देख आये हैं कि उनमें एक है–रक्षा का विश्वास। इस प्रकार जैसा कि श्री सम्प्रदाय में कहा है, शरणागति या प्रपत्ति से प्रभु कृपा प्राप्त होती है और वही कल्याण करने वाली होती है।

प्रभु अनुग्रह :—इस प्रकार भक्ति का सातवाँ तत्त्व प्रभु अनुग्रह सिद्ध होता है। मध्यकाल के लगभग सभी भक्ति-सम्प्रदायों में प्रभु की कृपा स्वीकार की गयी है। ऊपर हम अभी श्री सम्प्रदायानुसार प्रभु कृपा प्राप्त होने की बात कह चुके हैं। वल्लभ सम्प्रदाय का पुष्टिमार्ग नाम ही प्रभु कृपा पर आधृत है।[2] रामानुज प्रपत्ति के द्वारा प्रभु कृपा सम्पादित करने की कहते हैं, वल्लभ ने उसे बदल दिया। यहाँ पर प्रभु-कृपा प्रधान हो गयी। भगवान् के अनुग्रह से ही भक्त के हृदय में भक्ति का उदय होता है इसलिये भक्त को अपना सब कुछ भगवान को ही समर्पित करना होता है। वल्लभ ने स्पष्ट कहा है, पुष्टिमार्गीय भक्ति केवल प्रभु अनुग्रह द्वारा ही साध्य है[3] तथा भगवान् का अनुग्रह ही पुष्टिमार्गीय भक्त के सम्पूर्ण कार्यों का नियामक है।[4] हरिराय जी ने भी पुष्टिमार्ग-लक्षणानि में कहा है अनुग्रहेणैव सिद्धिर्लौकिकी यत्र वैदिकी ।[5]

निम्बार्क की भक्ति-परिभाषा[6] में भी कृष्ण-कृपा का स्पष्ट उल्लेख है। इस परिभाषा की आत्मा और वल्लभ के विचारों में पर्याप्त साम्य जान पड़ता है। यहाँ पर भी परमात्मा की कृपा से दैन्यादि गुणों वाले व्यक्ति पर प्रभु की

१ श्रीमद्भागवत ११।२६।३४।
२ पोषणं तदनुग्रहः—भागवत २।१०।४।
३ पुष्टिमार्गोऽनुग्रहैकसाध्य, प्रभु भा० ४।४।६ की टीका।
४ अनुग्रह पुष्टिमार्गे नियामक इतिस्थितिः ।
वल्लभ सिद्धांत-मुक्तावली श्लोक १८।
५ पुष्टिमार्ग लक्षणानि–श्लोक २।
६ परि० स० १२।

कृपा का उत्पन्न होना माना गया है और इस प्रभु-कृपा से भी उन गर्भेन्तर पर मात्मा म प्रम विशेषरूपा भक्ति की उत्पत्ति स्वीकार की गई है। निम्बार्क सम्प्रदायानुसार सत्ता का अनुभव या ग्या तातार श्रीकृष्ण की कृपा से उनके अनन्य भक्त को ही होता है[1] तथा प्रभु की कृपा का फल प्रभु का "परम प्राप्ति करना है ।

गौडीय वष्णव मत म तीन प्रकार की भक्ति माना गया है साधन भक्ति भाव भक्ति तथा प्रम भक्ति। य उत्तरोत्तर एक दूसरा म श्र ष्ठ है एव एक स्थिति स दूसरी म प्रयाण होता है। परन्तु यह अनिवाय क्रम नहा है। कृष्ण कृपा स किसी भी स्थिति म कोई भी प्र म उत्पन्न हो सकता है। भक्ति का तीन प्रकार स उदभव रूप गास्वामी न माना है

साधनाभिनिवेशजा कृष्णप्रसादजा कृष्णभक्तप्रसाद जा।[2] प्र मभक्ति का भी दो प्रकार का रूप गास्वामी न माना है—भावोत्थ तथा हरिप्रसादोत्थ[3] इस प्रकार हरिकृपा का पर्याप्त महत्त्व यहा भी प्राप्त है।

राधावल्लभीय सम्प्रदाय के बारे म डा० विजयेन्द्र स्नातक न लिखा है सहचरी या सखी नाम राधावल्लभ सम्प्रदाय म जीव के निज रूप की पारमार्थिक स्थिति का नाम है । जब तक वह जीव रूप म अपन को मानकर इस लोक म लीन रहता है भ्रम के जाल म भटकता रहता है किन्तु जब उसके ऊपर श्री राधा की कृपा होती है तब वह सहचरी रूप को प्राप्त होकर लौकिक सुख-दुख की अनुभूतिया स ऊपर उठकर उस आनंद को प्राप्त करन का अधिकारी बनता है जो नित्य बिहार के दशन स उपलब्ध माना गया है। स्वामी हरिदास के सम्प्रदायानुयायी बिहारिणि दास का भी कहना है कि साधन और उद्यम सब व्यथ है प्रभु की कृपा ही मुख्य है।[5] वास्तव म भक्त कवियो के दजनो उदाहरण ऐस दिये

---

१ डा० नारायणदत्त शर्मा निम्बार्क सम्प्रदाय और उसके कृष्ण भक्ति हिन्दी कवि (अप्रकाशित प्रबन्ध पृ० १२८)।

२ कृपाफल चतरप्रपत्तिलाभ लक्षणमिध्येतत
निम्बादित्य-दशश्लोकी हरिव्यास देव पृ० ३८।
हरिभक्ति रसामृत सिन्धु पृ० वि तीय लहरी श्लोक ४।

३ वही पृ० वि० श्रतय लहरी श्लोक ३ ।

४ राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य पृ० २१६।

५ साधन श्रम कछु ना कियो ना कछु करिबे योग
कृपा बिहारिणिदास को सहज सयोगी भोग।
ऐसी स्वामिनि साहि बिन रसिक अनन्य उदार
बिहारिनि दासि प्रसन्न ह्वै दियो अहार विहार ॥
बिहारिणिदास रस के दोहा १५० और १५१।

जा सकते हैं, जिनमें कि प्रभु कृपा की महिमा का गान किया गया है। वस्तुत निर्विशेष समर्पण की यह अनिवार्य परिणति है और यह तत्त्व भी उसे अन्य साधन मार्गों से विशिष्ट बनाता है।

(८) निष्काम एवं अहैतुकी वृत्ति —यद्यपि श्रीमद्भागवत में सात्त्विक राजस एवं तामस भक्तों को सकाम भावना से युक्त बताया गया है पर उसे श्रेष्ठ नहीं माना गया। वहाँ पर भी निर्गुण भक्ति को अहैतुक्यव्यवहिता कहा गया है।[1] गीता आदि में भक्ति का उद्देश्य या भक्त का काम्य मुक्ति अथवा भगवान की प्राप्ति कहा गया है।[2] मध्व ने सायुज्य मुक्ति को लक्ष्य माना था।[3] नारद भक्ति सूत्र में भी कहा गया है कि मुक्त होने की इच्छा रखने वालों को भक्ति ही ग्रहण करनी चाहिये। वल्लभ की परिभाषा में भी मुक्ति को स्थान दिया गया है।[5] पर ध्यान में रखना होगा कि इन सबने भक्ति को निष्काम भावना ही माना था। नारद भक्ति सूत्र में ही तैंतीसवें सूत्र तक पहुँचने के पूर्व ही उसे 'सान कामाय माना'[6] तथा स्वयं 'फलरूपत्वात' कहा गया है। ऐसा लगता है कि धीरे धीरे यह विचार उठने लगा होगा कि मुक्ति की कामना भी कामना ही है। अतः मुक्ति की बात को भी भगवत्प्रेम एवं सेवा के आगे छोटा करार दिया जाने लगा। भक्त जब प्रसन्न हो गया तथा भगवान् ने उसके योगक्षेम को वहन करने का भार ले लिया तब फिर मुक्ति की कामना क्या ? सम्भवतः इस बात को सबसे पहले भागवतकार ने स्पष्ट शब्दों में कहा है, (भागवत का समय ई० की ६ ७ वीं शती माना जाता है।) ऐसे भक्तजन मेरी सेवा के सिवा सालोक्य सार्ष्टि सामीप्य सारूप्य और कैवल्य मोक्ष को दिये जाने पर भी ग्रहण नहीं करते[8] भागवत में ही वृत्रासुर ने भगवान की सेवा छोड़कर सब प्रकार के वैभवों एवं मुक्ति को ठुकराने की बात कही है।[9] यों गीता में यह भावना अपरिचित नहीं है। गीताकार ने उपलब्धि के रूप में केवल भक्ति की ही चर्चा की है

---

१ श्रीमद्भागवत् ३।२६।१२।
२ गीता ७।१४ एवं ८।५ १५ अथवा १०।१०।
३ भागवत सम्प्रदाय पृ० २२६ बलदेव उपाध्याय।
४ ना० भ० सू० ३३।
५ परिभाषा सं० १५।
६ ना० भ० सू० ७।
७ वही सू० २६।
८ श्री भा० ३।२९।१३।
९ —वही ६ ११।२४ २५।

ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥ १८।५४

इसी भाव की ओर अविकल विवृति प्राप्त होती है जब ज्ञान व भक्ति कवि एव आचार्य मुक्ति का तिरस्कार भक्ति का ही अपनाने की बात करते हैं।[1] पुष्टि मार्ग में भाव भक्ति द्वारा पराभक्ति (निष्काम प्रेम) को प्राप्त करना ध्येय माना है। पराभक्ति अहैतुकी है। उस समय भक्त को भगवान के प्रेम के अतिरिक्त कोई अन्य काम्य पदार्थ—धर्म अर्थ काम मोक्ष—नहीं चाहिए। गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय में तो प्रेम को ही परम पुरुषार्थ माना गया है— प्रेमा पुमर्थो महान्। कृष्णदास कविराज ने कहा है

पंचम पुरुषार्थ सेई प्रेम महाधन कृष्णेर माधुर्य रस कराय आस्वादन॥[2]

तथा भक्ति फल प्रेम प्रयोजन। राधावल्लभीय भक्त ध्रुवदास का कहना है कि गोपियों के प्रेम में भी सकामता थी इसी कारण निष्काम भाव सम्पत्तिवाली सखियों की भावना उनसे भी श्रेष्ठ है

गोपिन के सम भक्त न आहीं उद्धव विधि तिनकी रज चाही।
तिन मन कछु सकामता आई ताते बिच अन्तर परयो माई।
दुख को मूल सकामता सुख को मूल निहकाम।
विरह वियोग न तहां कछु रसमें ध्रुव सुखधाम।[5]

परिभाषा स ३ ४ १३ १६ १६ इसी तथ्य की ओर संकेत करती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस तत्त्व के दो विभाग हैं— प्रथम निष्काम भाव दूसरे कामना के क्षेत्र में केवल भगवान की सेवा या प्रेम को प्राप्त करने की अभिलाषा अर्थात भक्ति का प्रयोजन भक्ति ही इस युग में स्वीकार कर लिया गया था।[6]

---

१ जब लगि भगति सकामता तब लगि निफल सेव।
कहैं कबीर वे क्यूं मिलै निहकामी निज देव।
—कबीर ग्रन्थावली पृ० १६ २०

२ डा० दीनदयालु गुप्त अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय पृ० ५३८ (द्वि० भा०)।

३ चैतन्यचरितामृत १ ७ १३७।

४ वही २ २३ २।

५ ध्रुवदास अनुराग लता लीला (बयालीस लीला प २७३)।

६ (१) प्रेम प्रेम ही पाइय तौ कर प्रेम को अंग।
प्रेमहि प्रेम पिछान ल झूठो साचो संग।
(स्वामी बिहारिणिदास सिद्धांत के दोहा ह लि० प्रति)।

(६) सर्वजन अधिकारित्व भक्ति भावना प्रारंभ से ही लोकचेतना के साथ सम्पृक्त रही है। जो भी धर्ममत लोक के निकट आता है निश्चय ही भक्तिभाव को स्वीकार करता है। गीता में भगवान कृष्ण ने भुजा उठाकर घोषणा की है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परांगतिम् ।[1]

हे अर्जुन स्त्री वैश्य शूद्र तथा पापयोनि में कोई भी हो वे भी मेरी शरण में आकर परम गति को प्राप्त होते हैं। भागवत में भी भगवान ने कहा है कि मेरी निर्मल सुयश सुधा में गोता लगाने से चाण्डाल तक सम्पूर्ण जगत पवित्र हो जाता है इसीलिये मैं विकुण्ठ कहलाता हूं।

शाण्डिल्य भक्तिसूत्र में भी भक्ति की इस विशेषता की ओर इंगित करते हुये कहा गया है

आनिन्द्ययोन्यधिक्रियते पारम्पर्यात् सामान्यवत् ।[2]

वल्लभाचार्य ने भी कहा किसी साधन सम्पत्ति द्वारा भगवान् भक्त से सन्तुष्ट नहीं होते परन्तु उसके केवल एक दैन्य भाव से ही वे सन्तुष्ट होते हैं।[3] तथा जब उन्होंने कहा कि 'भगवान् सर्वभाव से भजनीय हैं' तब भी इसी सर्वजन अधिकारित्व की ओर ही संकेत किया गया था। गौड़ीय वैष्णव मत में भी जीव मात्र का साध्य भगवत्प्रेम ही बताया है।[4] राधावल्लभ सम्प्रदाय में भी समान रूप से प्रत्येक को प्रेम करने का अधिकार है।

इसके अतिरिक्त विषय विरक्ति एवं रसात्मकता भक्ति के दो अन्य लक्षण कहे जा सकते हैं। शंकराचार्य के आधार पर भक्ति का एक और लक्षण स्वस्वरूप का अनुसन्धान है(परिभाषा सं० ५)। भक्तिकाल के कवि को यह नितान्त अस्वीकृत नहीं है। सूरदास ने बड़ी सशक्त भाषा में इस तथ्य की ओर संकेत किया है। मनुष्य अपना अपुनपो भूल जाता है इधर उधर भटकता रहता है। अपने सहस्त्रों पदों में इस भरमने वाले की ही वास्तविकता का अनुसन्धान भक्ति के

पिछले पृष्ठ का शेष
(२) भक्ति को साधन भक्ति जु आई।
रसिक देव भक्ति सिद्धांत मणि ६०।

१ गीता ९।३२।
२ भागवत ३।१६।६।
३ सुबोधिनी फल प्रकरण अध्याय ४।
४ चतुःश्लोकी श्लोक १।
५ श्रीमद्वैष्णव सिद्धांत रत्न-संग्रह हकीम श्यामलाल पृ० १६५।

माध्यम से उन्होंने कराना चाहा है।[1]

भक्ति के प्रकार

प्रारम्भ से ही भक्ति के विवेचकों का ध्यान भक्ति के प्रकारों की ओर रहा है। यहां पर हम विभिन्न विचारकों द्वारा उपस्थित किये गये प्रकारों के चार्ट प्रस्तुत कर रहे हैं। उनके सम्यक् अनुशीलन से प्रतीत होता है कि साधारणतः भक्ति के प्रकार विभाजन के मूलाधार दो ग्रन्थ श्रीमद्भागवत और श्रीमद्भगवद्गीता ही रहे हैं। भागवत (दे चार्ट सं० २) में गुणों के आधार पर भक्ति का विभाजन किया गया है। आगे चलकर देवी भागवत (चा ३) नारद भक्ति-सूत्र (चा० ६) सूरदास (चा० १२) एवं बोपदेव (चा० २३) आदि के विभाजनों पर हम भागवत पुराण के भक्ति प्रकार निर्णय का स्पष्ट प्रभाव देख सकते हैं। बोपदेव ने तो विस्तृतिया तक में भागवत (३।२९।८ ९ १) का अक्षरशः अनुसरण किया है। गीता के विभाजन का आधार भक्त भेद है (चा १)। शाण्डिल्य भक्ति सूत्र (चा ५) नारद भक्ति सूत्र (चा० ६) में उसे पूरी तरह स्वीकार किया ही गया है। उसके अतिरिक्त वल्लभाचार्य ने जब तीन प्रकार के जीव भेद स्वीकार करके तदनुकूल तीन प्रकार की पुष्टि भक्ति (चा० १०) मानी तो वे गीता की ही तक पद्धति पर चले थे। कृष्णदास कविराज ने भी भक्त भेद के आधार पर भक्ति का विभाजन किया है (चा १४)। साधनों के आधार पर नवधा भक्ति का जो निरूपण भागवत में किया गया (७।५।२३ २४) उसे भी आगे बराबर स्वीकार ही नहीं किया गया साधन भक्ति के और भी प्रकार निश्चित हुए और उनमें नवधा भक्ति को अन्तर्भावित करने की बराबर चेष्टा की गयी। नवधा के आधार पर विकसित दशधा प्रेमाभक्ति को विशेष मान्यता इस युग में मिली।

भक्ति के प्रकार भेद के सम्बन्ध में एक अन्य द्रष्टव्य बात यह है कि भक्ति के दो स्पष्ट रूप प्रारम्भ से ही स्वीकार कर लिये गये थे। उन्हें सामान्यतः गौणी

---

१ अपुनपौ आपुन ही बिसर्यौ
जैसे स्वान काच मंदिर में भ्रमि भ्रमि भूँकि मर्यौ।
—सूरसागर ना प्र स० ३६९

तथा

अपुनपौ आपुन ही में पायौ।
सब्दहिं सब्द भयो उजियारो सतगुरु भेद बतायो।
—सूरसागर ना प्र० स०, ४ ७१

और परा कहते हैं। उन्हीं को अपरा और परा, नवधा और दशधा, साधन भक्ति और भाव या प्रेम भक्ति, मर्यादा भक्ति और पुष्टि भक्ति, मध्यमा और उत्तमा आदि अनेक नाम दिये गये हैं। भक्ति-शास्त्र में वास्तव में दो न्याय प्रारम्भ से ही स्वीकार किये गये हैं। मर्कट किशोर-न्याय एवं मार्जार किशोर न्याय।[1] बन्दर का बच्चा अपनी मां को स्वयं पकड़े रहता है पर बिल्ली स्वयं अपने बच्चे को मुख में दबाकर ले जाती है। इस प्रकार प्रथम में साधना की स्थिति आती है। साधना की स्थिति में प्रभु के ऐश्वर्य और शक्ति आदि का ध्यान रखते हुये पूज्य बुद्धि की आवश्यकता रहती है। दूसरी दशा में प्रभु अनुग्रह मुख्य होने के कारण प्रभु के प्रति प्रेम भावना मुख्य हो जाती है। हम भक्ति के अधिकांश प्रकारों में इन दोनों धारणाओं की छाया देख सकते हैं। गो० हरिराय जी एवं कृष्णदास कविराज के विभाजन (चा० १३ एवं चा० १८) इस तथ्य को भलीभांति उजागर करते हैं। श्री रूप गोस्वामी (चा० १४) एवं सुन्दरदास (चा० २२) ने इन्हीं दो मुख्य प्रकारों को तीन में बांट दिया है। इन लोगों ने पराभक्ति को ही दो भागों में और बांटा है। बापदेव की (चा० २) निर्दिष्ट तो भक्ति में परिगणन योग्य है ही नहीं विद्वानों के दो विभाजन वास्तव में परा और गौणी ही हैं। भागवत की सात्विकी भक्ति (चा० २) निम्बार्क की अपरा भक्ति (चा० ८) वल्लभ की मर्यादा भक्ति (चा० ६) रूप गोस्वामी आदि की वैधी भक्ति (चा० १४) एवं बापदेव की सात्विकी कर्म मिश्रा (चा० २) रसिकदेव की नवधा (चा० २१) एवं सुन्दरदास की कनिष्ठा (चा० २२) में कोई तात्विक अन्तर प्रतीत नहीं होता। ये सभी साधन भक्ति की ही विविध संज्ञाएं हैं। इसी प्रकार पराभक्ति के लिये भी विभिन्न नामों का संकेत पीछे किया जा चुका है।

साधन या गौणी भक्ति वास्तविक भक्ति (परा निर्गुण पुष्टि प्रेम हित उत्तमा आदि) को प्राप्त करने की प्रथम सीढ़ी है। प्रभु का प्रेम प्राप्त करना इसका लक्ष्य है। इस लक्ष्य को प्राप्त कर लेने के बाद और कुछ प्राप्त करना शेष नहीं रहता। यही पराभक्ति की अवस्था है। यही पहुंच कर नारद भक्ति-सूत्र के शब्दों में मनुष्य न किसी भी वस्तु की इच्छा करता है, न शोक करता है, न द्वेष करता है, न किसी वस्तु में आसक्त होता है और न उस (विषय भोगों में) उत्साह होता है।[2] यह प्रेम भाव की सर्वोत्तम अवस्था होती है यही भक्त का चरम प्राप्य है,

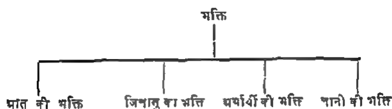
---

१ इन्हें आत्यन्तिक मानकर न चलना चाहिये। प्रथम से दूसरी स्थिति में भी प्रयाण होता है और अनायास भी प्रभु भक्ति का आविर्भाव हो सकता है।

२ ना० भ० सू० ५।

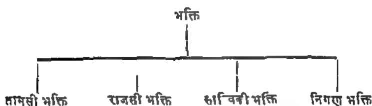
चरम सुख है परम पुरुषार्थ है।[1]

चार्ट सं० १



श्रीमद्भगवद्गीता—७।१६

चार्ट सं० २



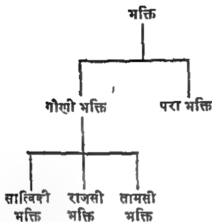
(यह भेद मनुष्यों के स्वभाव एवं गुणभेद के अनुसार हैं।
इनमें से प्रथम तीन के पुनः तीन तीन भेद हैं)

श्रीमद्भगवद् गीता—३।२९।७

---

१ भक्ति समानो आद मे भक्तन में भगवान।
श्री बिहारीदास साची कहै श्री भागवत प्रमान।
—श्री बिहारिणिदास रस की दोहा ५६६।

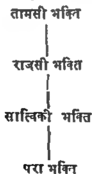
चाट स० ३



—देवी भागवत—७ ३७
[कल्याण भक्ति अक, पृ० ६४ के आधार पर]

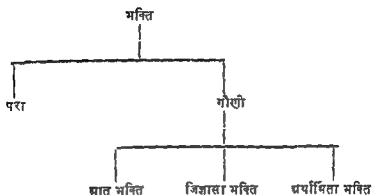
चाट स० ४

गुणभेद स भक्ति तामसी राजसी और सात्विकी प्रत्येक से दूसरी स्थिति म पहुचा जा सकता है। सात्विकी भक्ति की परिणति अतत पराभक्ति मे होनी है। इसका चाट इस प्रकार अधिक ठीक होगा।



—देवी भागवत—७।३७।११ १२

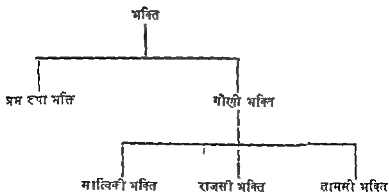
चार्ट स० ५



गौणी भक्ति को परा भक्ति के साधन रूप में स्वीकार किया है।

शाण्डिल्य भक्ति-सूत्र—२।२।५६ तथा २।२।७२

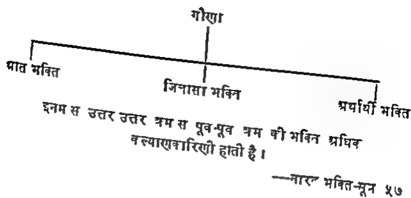
चार्ट स० ६



एक दूसरा विभाजन आर्तादि भेद के आधार पर भी होता है।

—नारद भक्ति सूत्र—५६

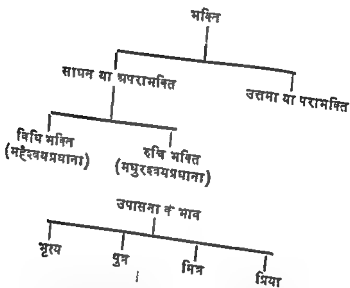
चार्ट सं० ७



इनमें से उत्तर उत्तर क्रम से पूर्व-पूर्व क्रम की भक्ति अधिक कल्याणकारिणी होती है।

—नारद भक्ति-सूत्र ५७

चार्ट सं० ८



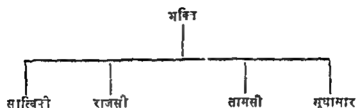
—मंत्र रहस्यषोडशी १६

हरिव्यास देव ने नवधा भक्ति को साधन रूप में स्वीकार किया है तथा साध्य प्रेमलक्षणाभक्ति को माना है।

सिद्धान्त रत्नांजलि पृ० ३७ के आधार पर।

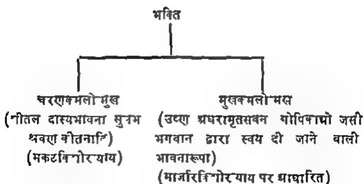
निम्बार्क-सम्प्रदाय

चार्ट सं० १२



—सूरदास सूरसागर ३।१३ प० १३३ (ना० प्र० स०)

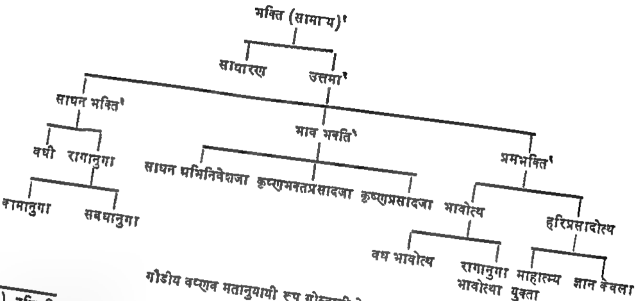
चार्ट सं १३



श्री हरिराय जी

—श्री हरिराय भक्ति द्वविध्य निरूपणम् । श्लोक १ २ ३ ।

चार्ट सं० १४



गौडीय वैष्णव मतानुयायी रूप गोस्वामी के अनुसार

(१) हरिभक्ति रसामृत सिंधु पू० वि० प्रथम लहरी
(२) वही द्वितीय लहरी १
(३) —वही—वही २।३
(४) —वही—वही २।७५
(५) —वही ३।४
(६) —वही—वही ४।३

चार्ट स० २१

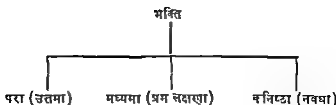


(इस ही दशधा भी कहा है और बताया है कि यह भक्ति गोपियों की है। इसी को शुद्ध भक्ति भी कहते हैं जिसम कि और किसी भाव का मल नही होता। इसकी ही परिणति सखी भावना म उन्होंने दिखाई है।)

—स्वामी रसिक देव जी (भक्ति सिद्धान्त चिन्तामणि ७२।७८ तथा ८६)

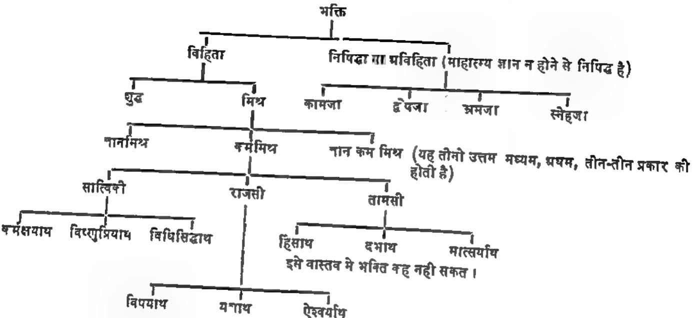
हरिदासी सम्प्रदाय के स्वामी रसिकदेव जी ने तीन प्रकार की भक्तिया मानी हैं। इस सबध म यह ध्यान रहे कि रसिक देव जी इस सम्प्रदाय की आत्मा का वास्तविक प्रतिनिधित्व नही करते। सखी सम्प्रदाय म भक्ति का एसा कोई सद्धान्तिक वर्गीकरण उपलब्ध नही है।

चार्ट स० २२



—सुन्दरदास (ज्ञान समुद्र भक्ति निरूपण छन्द ४)

चार्ट सं० २३



(इस वर्गीकरण की इन विस्तृतियो मे भागवत ३।२९ व ८ १० को ही स्पष्ट किया गया है)

बोपदेव मुक्ताफल के आधार पर।

भक्ति साधना क्रम :

भक्ति के साधना क्रम का सबसे व्यवस्थित और प्रारंभिक उल्लेख भागवत पुराण में ही मिलता है। ये साधन नौ प्रकार के हैं (१) श्रवण (२) कीर्तन (३) स्मरण (४) पाद सेवन (५) अर्चन (६) वन्दन (७) दास्य (८) सख्य (९) आत्मनिवेदन।[1] इनमें प्रथम तीन भगवान् के नाम और लीला से सम्बन्धित हैं दूसरे तीन उनके रूप से सम्बन्धित हैं एवं अन्तिम तीन साधन वास्तव में भक्त के मनोजगत से संबंधित वृत्तियाँ हैं। इन साधनों को ही नवधा भक्ति कहा गया है। साधना प्रणाली का यह क्रम अत्यधिक स्पष्टता के साथ सर्वत्र लागू नहीं भी हुआ पर मूल में इसकी अनुसारणा तो बनी रही है। शिव भक्ति योग में श्रवण कीर्तन और मनन ये तीन साधन स्वीकार किये गये हैं।[2] देवी भागवत में सद्गुरु श्रवण और नाम कीर्तन का उल्लेख किया गया है।[3] शांडिल्य भक्ति सूत्र (५६ ५७ ६५ ६६ ७४) आदि में श्रवण कीर्तन ध्यान पूजा पादोदक पत्रादिदान का उल्लेख किया गया है। नारद भक्ति-सूत्र में भक्ति के साधन विषय और संग त्याग (सू ३५) अखण्ड भजन (सू ३६) भगवद्गुण श्रवण कीर्तन (सू ३७) और महापुरुषों अथवा भगवान की कृपा (सू० ३८) कहे गये हैं। इन सभी उदाहरणों में नवधा के कुछ अंग (विशेषत श्रवण और कीर्तन) स्पष्ट देखे जा सकते हैं। नारद भक्ति सूत्र की ग्यारह आसक्तियों[4] में गुण माहात्म्यासक्ति में श्रवण और कीर्तन का तत्व प्राप्य है। रूपासक्ति और पूजासक्ति में पाद सेवन अर्चन और वन्दन निहित है। स्मरणासक्ति दास्यासक्ति सख्यासक्ति एवं आत्मनिवेदनासक्ति नवधा के स्मरण दास्य सख्य एवं आत्मनिवेदन ही है। कान्तासक्ति एवं वात्सल्यासक्ति बाद की भक्ति विवेचना द्वारा स्वीकार की गयी है। नवधा में उनका उल्लेख नहीं है। तन्मयतासक्ति एवं परमविरहासक्ति वास्तव में पराभक्ति की स्थितियाँ हैं। ये साधन मार्ग नहीं हैं।

सूरदास ने भी नवधा को ज्यों का त्यों स्वीकार किया है। नवधा के आधार पर ही भक्ति काल के कवियों ने दशधा भक्ति की चर्चा की है।[5] यह

१ श्री मद्भागवत ७ ५ २३ २४।
२ शिव पुराण विद्येश्वर संहिता १।२१।
३ देवी भागवत ७।३७।११।
४ ना भ सू० ८२।
५ सूरदास सूर सारावली सूर सागर प ५ तथा ६६ परमानन्द दास तातें दशधा भक्ति भनी (परमानन्द सागर) स्वामी रसिक देव भक्ति सिद्धांत मणि दोहा ७२।
दशधा भक्ति सुनो मन लाय। ताको साधन नवधा आय।

दसवीं प्रेम लक्षणा भक्ति है। और इसके पूर्व नवधा को स्वीकार किया गया है।

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि भक्ति-काल के आचार्यों ने इसमें नवीनता या मौलिकता की स्थापना नहीं की है। तुलसीदास ने रामचरित मानस में जिस नवधा का उल्लेख किया है वह ठीक भागवत का ही अनुवाद नहीं है। उसका क्रम यों है (१) संतों का संग (२) राम कथा में अनुराग (३) गुरु-सेवा (४) भगवान का गुणगान (५) मंत्र जाप और भजन (६) दमशील कर्म विरति एवं सद्धर्म में रति (७) संसार को भगवानमय देखना एवं राम से भी अधिक संत का सम्मान करना (८) यथालाभसंतोष तथा परदोष देखने की वृत्ति का नितान्त अभाव (९) छलहीनता सबसे सरलता, भगवान में भरोसा तथा दीनता (दुःख) का अभाव और हर्ष।[1] तुलसी ने अपनी नवधा में आचारपरायणता का भी समन्वय कर लिया है। स्वामी चरणदास ने भी अपनी नवधा में जहाँ भागवत के सारे तत्वों को स्वीकार किया है वहीं तुलसी के समान आचार के भी तत्वों—साधु-संगति भक्तों की सेवा धर्म इन्द्रिय क्षमा शील संतोष, दया को नवधा के अन्तर्गत ही माना है।[2]

गौड़ीय वैष्णवों में वर्णी के जो ११ लक्षण बताये गये हैं, उनमें से अन्तिम ६ भागवत के ही हैं एवं प्रथम दो शरणागति तथा गुरु सेवा और बढ़ा दिये गये हैं। उन दोनों ही बातों को भक्तिकाल में अत्यधिक मूल्यवान समझा गया था। वैधी भक्ति के चौंसठ साधन गौड़ीय वैष्णव गोस्वामियों ने बनाये हैं। इनमें नवधा का समावेश हो जाता है। इन ६४ अंगों में पाँच को चैतन्यदेव ने सर्वश्रेष्ठ माना था। ये पाँच साधन हैं साधु-संग नाम संकीर्तन भागवत श्रवण मथुरावास एवं श्रद्धा समेत मूर्ति पूजन।[5] हरिव्यास देव (निम्बार्क सम्प्रदाय) ने दशधाभक्ति के समान भक्ति की दश पड़िया का उल्लेख किया है। वे इस प्रकार हैं (१) रसिक जनों की सेवा (२) हृदय में दयाभाव (३) धर्मनिष्ठा (४) कथा श्रवण (५) भगवच्चरणों में अनुराग (६) भगवान के रूप में मन को लगाना (७) हृदय में प्रेम-वृद्धि (८) रूप ध्यान, गुण-गान (९) निश्चय और दृढ़ता का ग्रहण (१०) रस की सरिता का हृदय में प्रवाह।[6] हरिव्यास देव की इन दश पड़िया में भागवत की नवधा के कुछ तत्व तो मिल ही जायेंगे पर अपनी मौलिक

---

१ रामचरित मानस, उत्तर काण्ड ३५ ३६।

२ भक्ति-सागर पृ० १८१।

३ वही पृष्ठ १८०।

४ एस० के० दे वैष्णव फेथ एण्ड मूवमेण्ट प० २८० २८२।

५ चैतन्य चरितामृत मध्यलीला, परि० २२, पृ० २८४ २८५।

६ महावाणी, प० १८१।

कता भी दृष्ट य है। तुलसी के समान ही उन्होंने भी आचार के गुणों का उल्लेख किया है। यो साधक के आचार और रहन सहन की ओर पहले भी ध्यान दिया गया था पर भक्तिकाल म आकर भक्ति की लोकवाप्तिता तथा वाम मार्गी साधनाओ की आचार-हीनता की प्रतिक्रिया के कारण भक्ति के साधना के अन्तगत ही अनेक मानवीय गुणो एव सदाचार को स्पष्ट स्थान दिया गया।[1]

गुरु सेवा एव साधु-सग को और अधिक महत्त्व मिला। हरिदासी राधावल्लभीय आदि रसोपासक सम्प्रदायो म यद्यपि साधन भक्ति या नवधा भक्ति का स्वीकार नहीं किया गया परन्तु गुरु सेवा रसिक-सग आत्मसमर्पण, नाम स्मरण वाणी अनुशीलन अहकार और विषय हीनता तथा उपास्य परिचर्या को वास्तव मे साधन ही कहना चाहिए।

गौडीय वष्णवो का साधनात्रम अत्यधिक मौलिक एव मनोवैज्ञानिक है। चतन्यमतानुयायी गोस्वामियो ने साधक देह और सिद्ध देह भक्त की दो अवस्थाओ को स्वीकार किया है। प्रथम अवस्था की चरम परिणति प्रम म है और प्रम की श्रेष्ठतम परिणति महाभाव मे होती है जिसकी कि श्रेष्ठतम प्रतीक राधा हैं। यह क्रम इस प्रकार है (१) श्रद्धा (यह भक्ति का बीज है—श्रद्धा विशेष बीज (भक्ति सदभ) (२) साधु-सग (३) भजन क्रिया (४) अनथ निवृत्ति (५) निष्ठा (६) रुचि (७) आसक्ति (८) भाव (रति)। जब आसक्ति रुचि के द्वारा चित्त को मसृण बना देती है तब उसमे शुद्ध सत्त्व विशेषात्माभाव का जन्म हाता है। यह प्रम रूप सूय के उदय होने के पूव की अरुणोदय जसी स्थिति है (८) प्रम।[2] प्रम उत्पन्न हो जाने पर साधक सिद्ध देह म आ जाता है। धार्मिक चेतना (दि रिलिजस कान्शसनेस) नामक अपने ग्रन्थ म जे० बी० प्रट ने रहस्यवादी साधना की तीन स्थितियाँ मानी हैं —(१) निषेधात्मक साधना—इसम अन्तगत विषय-त्याग नतिक पवित्रता वराग्य व्रत उपवास प्राणायाम अनिद्रा आदि का उल्लेख किया है। (२) विधयात्मक—इस स्थिति को ध्यान परक (मेडिटेटिव) या आलोकपरक (इल्यूमिनेटिव) कहा है। ध्यान समाधि चिन्तन मूर्ति या लीला-कल्पना आदि इस अवस्था के भीतर हैं। (३) तीसरी अवस्था को एकात्म (यूनिटिव) स्थिति कहा गया है। इस अवस्था म ईश्वर मिलन का परमानन्द प्राप्त होता है। यह स्थिति बहुधा तीव्र आवेग या मूर्छा के क्षणो मे स्वीकार की गई है।[3]

---

१ पुष्टि भक्ति के १६ आन्तरिक और बाह्य साधनों मे भी साधनो और आचार धर्मों दोनों का ही समन्वय है।

२ हरिभक्ति रसामृत सिंधु पूर्व विभाग ४ लहरी श्लोक ६ ७।

३ जे०बी०प्रट द रिलिजस कान्शसनेस अध्याय २७ एव २८ के आधार पर।

उपास्य एवं उपासक के मध्य भाव सम्बन्ध

भक्त और भगवान के मध्य एक वैयक्तिक संबंध की कल्पना भक्तिमार्ग की सबसे बड़ी विशेषता है। भक्ति का मनोभाव कुछ ऐसा संकुल होता है कि उसमें सम्भ्रम भय पवित्रता निर्भरता प्रेम विश्वास आदि अनेक वृत्तियाँ और गुण गुम्फित रहते हैं। ईश्वर की रहस्यानुभूति अनेक रूपों में हो सकती है और उसके स्वरूप का अवधारणा ही यह निश्चित करती है कि ईश्वर और भक्त के मध्य सम्बन्धभाव (रिलेशनशिप) क्या रहे? जीवन में अनेक प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों के सम्पर्क में हम आते हैं। इन सम्बन्धों के साथ व्यवहार में हलेन्लाये उपस्थित रहते हैं। और उन्हीं में रहस्यानुभूति का द्रव ढल जाता है। उसी रूपान्तर के माध्यम में ही उस परम रूप को अभिव्यक्त किया जाता है। इस बात की निश्चितता तब और बढ़ जाती है जब ईश्वर धर्म 'संस्थापनार्थाय एवं विनाशाय दुष्कृताम' इस पृथ्वी पर अवतार लेता है। इस अवतार-कल्पना के साथ जब रक्षक का रूप मिल जाता है तब उसकी प्रभविष्णुता सहस्रगुणित हो उठती है। उसको हम पिता माता शिशु गुरु स्वामी प्रिय प्रेमिका या मित्रादि सामाजिक सम्बन्धों के रूप में भावित करने लगते हैं। यह एक प्रकार का प्रतीकवाद है। ऐसे प्रतीकों के माध्यम से दिव्य प्रेम एवं अलौकिक प्रेम के मध्य साहचर्य की स्थापना संसार के सभी आस्तिक धर्मों की विशेषता है। ऐसे स्थलों पर मूलतः अलौकिक सम्बन्ध प्रस्तुत है एवं लौकिक सम्बन्ध अप्रस्तुत। प्रारम्भ में तो ये साहचर्यमूलक ही होते हैं और उपमेय के एकाध तत्वों की ही समानता उपमान में मिलती है पर प्रगाढ़ सम्बन्ध एवं सतत ध्यान से धीरे धीरे यथार्थमूलकता का भी इनमें प्रवेश हो जाता है। हमारे समीप्य युग में ये सम्बन्ध साहचर्य से हटकर यथार्थमूलक ही होगये थे। वैदिक साहित्य[1] वृहदारण्यक उपनिषद् (४, ३, २१) आदि में केवल साहचर्य तत्त्व पर ही बल दिया गया है। गीता में थोड़ा आगे बढ़कर साहचर्य से यथार्थ भूमि में लाया गया है।[2]

पर यहाँ भी बल साहचर्य भावना या उपासना पर ही है। नारद भक्ति सूत्र में परम प्रेम रूपा में रूप शब्द साहचर्य पर बल देता है एवं परम शब्द से ज्ञात होता है इससे भिन्न भी कोई प्रेम था। वास्तव में जब यह धारणा बल पकड़ती है कि भगवान भजनीय ही नहीं सबभाव से भजनीय है[3] तभी सम्बन्धों पर अधिक बल

---

१ डा० मुन्शीराम शर्मा भक्ति का विकास पृ० १२८ १३२।

२ पितेव पुत्रस्य, सखेव सख्युः प्रियःप्रियायार्हसि देव सोढुम

—गीता, ११।४४।

३ भागवत १०।२६।१५।

क्ता भी दृष्टव्य है। तुलसी के समान ही उन्होंने भी आचार में गुणों का उल्लेख किया है। यों साधन के आचार और रहन सहन की ओर पहले भी ध्यान दिया गया था पर भक्तिकाल में आकर भक्ति की नावलम्बिता तथा वाम मार्गी साधनाओं की आचार हीनता की प्रतिक्रिया के कारण भक्ति के साधना के अंतर्गत ही अनेक मानवीय गुणों एवं सदाचार को स्पष्ट स्थान दिया गया।[1]

गुरु सेवा एवं साधु-संग को और अधिक महत्त्व मिला। हरिदासी राधावल्लभीय आदि रसोपासक सम्प्रदायों में यद्यपि साधन भक्ति या नवधा भक्ति को स्वीकार नहीं किया गया परन्तु गुरु सेवा रसिक-संग आत्मसमर्पण, नाम स्मरण वाणी अनुशीलन अहंकार और विषय हीनता तथा उपास्य परिचर्या को वास्तव में साधन ही कहना चाहिए।

गौडीय वैष्णवों का साधनाक्रम अत्यधिक मौलिक एवं मनोवैज्ञानिक है। चैतन्यमतानुयायी गोस्वामियों ने साधक देह और सिद्ध देह भक्त की दो अवस्थाओं को स्वीकार किया है। प्रथम अवस्था की चरम परिणति प्रेम में है और प्रेम की अष्टतम परिणति महाभाव में होती है जिसकी कि अष्टतम प्रतीक राधा हैं। यह क्रम इस प्रकार है (१) श्रद्धा (यह भक्ति का बीज है—श्रद्धा विशेष बीज (भक्ति सदभ) (२) साधु-संग (३) भजन क्रिया (४) अनर्थ निवृत्ति (५) निष्ठा (६) रुचि (७) आसक्ति (८) भाव (रति)। जब आसक्ति रुचि के द्वारा चित्त को मसृण बना देती है तब उसमें शुद्ध सत्व विशेषात्माभाव का जन्म होता है। यह प्रेम रूप सूर्य के उदय होने के पूर्व की अरुणोदय जैसी स्थिति है (९) प्रेम।[2] प्रेम उदय हो जाने पर साधक सिद्ध देह में आ जाता है। धार्मिक चेतना (दि रिलिजस कान्शसनेस) नामक अपने ग्रन्थ में जे बी० प्रट ने रहस्यवादी साधना की तीन स्थितियाँ मानी हैं —(१) निषेधात्मक साधना—इसके अन्तर्गत विषय-त्याग नैतिक पवित्रता वैराग्य व्रत उपवास प्राणायाम अनिद्रा आदि का उल्लेख किया है। (२) विध्यात्मक—इस स्थिति को ध्यान परक (मेडिटेटिव) या आलोकपरक (इल्यूमिनेटिव) कहा है। ध्यान समाधि चिंतन मूर्ति या लीला-कल्पना आदि इस अवस्था के भीतर हैं। (३) तीसरी अवस्था को एकात्म (यूनिटिव) स्थिति कहा गया है। इस अवस्था में ईश्वर मिलन का परमानन्द प्राप्त होता है। यह स्थिति बहुधा तीव्र आवेग या मूर्छा के क्षण में स्वीकार की गई है।[3]

---

१ पुष्टि भक्ति के १६ आंतरिक और बाह्य साधनों में भी साधनों और आचार धर्मों दोनों का ही समन्वय है।

२ हरिभक्ति रसामृत सिंधु पूर्व विभाग ४ लहरी श्लोक ६ ७।

३ जे०बी०प्रट द रिलिजस कान्शसनेस अध्याय २७ एवं २८ के आधार पर।

उपास्य एवं उपासक के मध्य भाव सम्बन्ध

भक्त और भगवान के मध्य एक वैयक्तिक संबंध की कल्पना भक्तिमार्ग की सबसे बड़ी विशेषता है। भक्ति का मनोभाव कुछ ऐसा संकुल होता है कि उसमें सम्भ्रम, भय, पवित्रता, निर्भरता, प्रेम, विश्वास आदि अनेक वृत्तियाँ और गुण गुम्फित रहते हैं। ईश्वर की रहस्यानुभूति अनेक रूपों में हो सकती है और उसके स्वरूप की अवधारणा ही यह निश्चित करती है कि ईश्वर और भक्त के मध्य सम्बन्धभाव (रिलेशनशिप) क्या रहे? जीवन में अनेक प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों के सम्पर्क में हम आते हैं। इन सम्बन्धों के सांचे व्यवहार में ढले-ढलाये उपस्थित रहते हैं। और उन्हीं में रहस्यानुभूति का द्रव ढल जाता है। उसी रूपान्तर के माध्यम से ही उस परम रूप को अभिव्यक्त किया जाता है। इस बात की निश्चितता तब और बढ़ जाती है जब ईश्वर धर्म 'संस्थापनार्थाय' एवं 'विनाशाय दुष्कृताम्' इस पृथ्वी पर अवतार लेता है। इस अवतार-कल्पना के साथ जब रक्षक का रूप मिल जाता है तब उसकी प्रभविष्णुता सहस्रगुणित हो उठती है। उसको हम पिता, माता, शिशु, गुरु, स्वामी, प्रिय, प्रमिका या मित्रादि सामाजिक सम्बन्धों के रूप में भावित करने लगते हैं। यह एक प्रकार का प्रतीकवाद है। ऐसे प्रतीकों के माध्यम से लौकिक प्रेम एवं अलौकिक प्रेम के मध्य साहचर्य की स्थापना संसार के सभी आस्तिक धर्मों की विशेषता है। ऐसे स्थलों पर मूलतः अलौकिक सम्बन्ध प्रस्तुत है एवं लौकिक सम्बन्ध अप्रस्तुत। प्रारम्भ में तो ये साहचर्यमूलक ही होते हैं और उपमेय के एकाध तत्वों की ही समानता उपमान में मिलती है पर प्रगाढ़ सम्बन्ध एवं सतत ध्यान से धीरे धीरे यथार्थमूलकता का भी इनमें प्रवेश हो जाता है। हमारे समीक्ष्य युग में ये सम्बन्ध साहचर्य से हटकर यथार्थमूलक ही हो गये थे। वैदिक साहित्य[1] बृहदारण्यक उपनिषद् (४. ३. २१) आदि में केवल साहचर्य तत्व पर ही बल दिया गया है। गीता में थोड़ा आगे बढ़कर साहचर्य से यथार्थ भूमि में लाया गया है।[2]

पर यहाँ भी बल साहचर्य भावना या उपासना पर ही है। नारद भक्ति सूत्र में परम प्रेम रूपा में रूप शब्द साहचर्य पर बल देता है एवं परम शब्द से ज्ञात होता है इससे भिन्न भी कोई प्रेम था। वास्तव में जब यह धारणा बल पकड़ता है कि भगवान भजनीय ही नहीं स्वभाव से भजनीय है[3] तभी सम्बन्धों पर अधिक बल

---

१ डा० मुन्शीराम शर्मा : भक्ति का विकास, पृ० १२८ १२९।

२ पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्

—गीता, ११।४४।

३ भागवत, १०।२६।१५।

दिया जाने लगता है क्योंकि हमारा भाव जगत हमारे प्रत्यक्ष व्यावहारिक सम्बन्धो से ही अनुशासित होता है। यों तो भगवान सब भाव से भजनीय हैं पर प्रेम भाव ही वास्तविक है। क्योंकि जीवन का सबसे गहरा और स्थायी भाव रति है। यह मनोवैज्ञानिकों का भी अभिमत नहीं है। इसलिए रति भाव की विभिन्न छायाओं का ही वैष्णव विचारकों ने मुख्य रूप से उपस्थित किया। उनके अनुसार भाव या रति पांच प्रकार की होती है जिनके अनुकूल हो पांच रस भक्तियां हो जाती हैं। शान्त प्रीति प्रेय वात्सल्य और मधुरा ये पांच रतियां हैं जिनसे कि शान्त दास्य सख्य वात्सल्य और मधुर भाव की पांच भक्तियां (भक्ति रस) उत्पन्न होती हैं।

इष्ट देवता और उसके परिकर के प्रति एक विशिष्ट निजी सम्बन्ध की विविध स्थितियां गौडीय वैष्णव मत की अपनी मौलिक देन है।[1] क्योंकि उसके बिना यह सम्बन्ध एकदम अल्प साहचर्य का हो जाता है और अचिन्त्यभेदाभेदवादी दर्शन के मध्य इस सम्बन्ध को पहचानना कठिन हो जाता है। इसीलिए इन वैष्णव आलंकारिकों ने भक्ति भाव (कृष्ण प्रीति) की प्रारम्भिक स्थिति शान्त मानी है। इस दशा में भक्त और भगवान का सम्बन्ध स्पष्ट आकार नहीं ले पाता। संसार से विरक्ति एवं ईश्वर के प्रति चित्तवृत्तियों का लगाव तो हो जाता है। परन्तु ईश्वर को निजी सम्बन्धों की परिधि के भीतर नहीं देखा जा सकता।

वास्तव में शान्त का स्थायी भाव शम एक ऐसी मानसिक अवस्था का द्योतक है जहां पर परमात्मा के साथ एकत्व की चेतना तो आ जाती है पर राग का आवेश नहीं होता। मध्य-युगीन वैष्णव रहस्यानुभव की आवेगमयी स्थिति के भीतर न समा सकने के कारण इसे वैष्णव आलंकारिकों ने कृष्णरति में सबसे नीचे की अवस्था में रखा है। वास्तव में प्रेम प्रतीकवाद का यह यथार्थ भूमि की ओर संचरण है।

शान्त भक्ति

संकल्प विकल्प से रहित मन की वृत्ति शान्त रति है। इसे शम भी कहा जाता है। यह ममता गन्ध शून्य होता है। भागवत में उसे निष्ठा बुद्धि[2] कहा गया है। इस मानसिक स्थिति को ही गीता में ब्रह्मभूत और प्रसन्नात्मा कहा है।[3] विष्णु धर्मोत्तरपुराण में कहा गया है जहां न सुख न दुःख न चिन्ता न द्वेष न

१ एस० के दे व० फे मू० पृ० २८६।
२ भागवत ११।१६।३६।
३ गीता १८।५४।

राग न कोई इच्छा है मुनीन्द्रगण उस नाम प्रधान को शान्त कहते है।[1] यह भक्ति वास्तव में मूलतः मन में वैराग्य भावना का उत्पन्न करती है। वास्तव में सारे संसार के रहस्यवादियों ने ईश्वर के मिलन के पूर्व वैराग्य द्वारा शरीर-काम नाओं को नष्ट करने की पद्धति को स्वीकार किया है। शान्त भक्ति भी वैराग्य मूलक है पर यह निषेधात्मक न होकर विधयात्मक है तथा प्रेम भावना की प्रारम्भिक स्थिति को पल्लवित करती है। प्रेट द्वारा गिनायी गया प्रथम अवस्था (परगेटिव स्टेज) शान्त भक्ति के निकट की ही वस्तु है।[2]

शान्त भक्ति एक प्रकार की ज्ञानमिश्रा भक्ति है और इसका लक्ष्य मुक्ति प्राप्त करना होता है। पर जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि परा या प्रेमा भक्ति का साधक मुक्ति न चाहकर भगवान का प्रेम चाहता है। प्रेम सदैव व्यक्ति गत सम्पर्क पर ही आधृत होता है। इसलिये भक्ति या श्रद्धा का तत्त्व होते हुए भी शान्त भक्ति श्रेष्ठ स्थान की अधिकारिणी नहीं हो पाती। यद्यपि इसका अस्वी करण नहीं किया गया। इस भक्ति के आदर्श सनत्कुमार आदि माने गये हैं। पर प्रेमा भक्ति की आदर्श तो व्रजगोपिकाएँ हैं।[3] हमारे आलोच्य काल से सम्बद्ध वैष्णव सम्प्रदायों में शान्त भक्ति का अधिक रूप देखने को नहीं मिलता। निर्गुण साधकों में ही मुख्य रूप से हम इस भक्ति को देख सकते हैं। इनमें भी सूफी एवं कृष्णो पासक प्रेम भवना के प्रभाव एवं प्रेम प्रतीकवाद के आग्रह से यत्र-तत्र दास्य भाव या कान्ता भाव का स्वरूप मिलता है। निर्गुण कवियों में पतिव्रता को अंग तथा

---

१ हरिभक्ति रसामृत सिंधु पश्चिम विभाग प्रथम लहरी श्लोक २६ ३० तथा नारायण भट्ट भक्ति रस-तरंगिणी पृ० ११३ पर उद्धृत।

२ जे० बी० प्रेट दि रिलिजस कान्शसनेस पृ० ३७४।

प्रेट ने इसका मनोवैज्ञानिक अध्ययन करते हुये बताया है कि चरित्र और आध्यात्मिकता की भावना को दृढ करने में वैराग्य भाव बहुत सहायक होता है। बल्कि एक मत तो यह भी है कि मनुष्य के मन के जितना निकट अहंकार है उतना ही निकट वैराग्य और त्याग भी। आधुनिक काल में उसका जितना अवमूल्यन हुआ है वह ठीक नहीं है (३८५ ३८६)। वास्तव में इन साधनाओं के द्वारा मनोवांछित अवांछित एवं विभ्रम उत्पन्न करने वाले तत्त्वों को दूर रखने का मूल्यवान कार्य सम्पन्न होता है।

३ नारद भक्ति सूत्र २१ तथा शाण्डिल्य भ० सू० १४।

विरहिणी की अग म का ता भाव की मधुर अभिव्यक्ति भी हुई है।[1] पर सब मिलाकर निगुणोपासक सभी सम्प्रदायों की भक्ति मुख्यतया शात भाव की ही है। इन लोगों ने ससार की असारता क्षण भगुरता भ्राति को दिखाने हुए वराग्य व अग की बड़ी चर्चा की है। और इसी प्रसग म बार-बार राम का नाम रटने राम से भक्ति करने का निर्देश भी करते जाते हैं। डा० वर्मा के निबन्ध में बताया गया है कि चेतावनी और उपदेश के अग मख्यत शान्त रस से सम्बधित हैं।[2] क्रम और सख्या तालिका म इनका स्थान तीसरा है। उपदेश और चेतावनी से सबधित साखी और शब्दों की सख्या क्रमश २६८ और २३५ है। यह इनके महत्त्व का द्योतक है।

सगुणोपासक सम्प्रदायों म ससार की विरक्ति सम्बन्धी शान्त रस की अभिव्यक्ति अवश्य हुई है पर वह वास्तव म दास्य सख्य वात्सल्य या मधुरभाव की अगभूत अभिव्यक्ति है। इनके अनुसार ये पाचों भाव एक दूसरे से निरपेक्ष नहीं हैं। उत्तरोत्तर एक का दूसरे म अतर्भाव होता चलता है तथा सवश्रेष्ठ का ता (या प्रियता) भाव म पाचों भावों का समन्वय रहता है।[3] इस प्रकार सगुणोपासक (चैतन्य वल्लभीय हरिदासी राधा वल्लभीय रामोपासक) सम्प्रदायों में शात भक्ति मुख्य नहीं है। वह भक्ति के अन्य भावों की पोषक मात्र है। शात भक्ति के विभावों की चर्चा करते हुए भक्ति रसामृत सिन्धु म भगवान चतुभज तथा आत्माराम एव तापस भक्तों को शात भक्ति का आलम्बन माना है।[4] सगुणो

---

१ डा० रामकुमार वर्मा ने भारतीय हिन्दी परिषद प्रयाग द्वारा प्रकाशित हिन्दी साहित्य में पृ० २४१ पर अट्ठाइस सत कवियों की बानियों के आधार पर विभिन्न अगों की जो तालिका दी है उससे प्रतीत होता है कि सत सप्रदायों में प्रेम का स्थान काफी ऊचा रहा है। इस तालिका में प्रेम के अगों की शब्द और साखी सख्या १६८ है तथा उसका क्रमानुसार पाचवां स्थान है। प्रेम प्रतीकों पर आधारित अगों में पतिव्रता का स्थान १५ वां है तथा उसकी शब्द साखी सख्या ३८ है। तथा विरह या विरह का उराहना का स्थान प्रेम के बाद है। उसके अगों की सख्या १४२ है। व्यभिचारिन को अग का स्थान १७ वां है और साखी सख्या ८ हैं।

२ वही पृ० २३४।

३ नारायण भट्ट ने भक्ति रस-तरगिणी मे कहा है कि अगी रसों मे परस्पर अगांगि भाव रहता है। वत्सलादौशान्तस्य यथा।
— भक्ति रस तरगिणी पृ० ११० (बाबा कृष्णदास द्वारा प्रणीत)।

४ रूप गोस्वामी हरिभक्ति रसामृत सिंधु पश्चिम विभाग १।१३ १५।

पासक सभी सम्प्रदायों के अनुयायी कवियों ने अपने पूर्ववर्ती कवियों भक्तों एवं गुरुओं की प्रशंसा में बहुत अधिक स्तुतियाँ की हैं। उन्हें हम शान्त रस के अन्तर्गत ही परिगणित कर सकते हैं। निम्बार्क सम्प्रदाय के कवियों द्वारा गुरु वन्दन एवं सिद्धांत निरूपण के प्रसंग में ईश्वर के स्वरूप दर्शन गुणगान आदि की चर्चा से युक्त तत्सम्बन्धी प्रभूत साहित्य की रचना हुई है। १७ वीं शती के अंतिम भाग के निम्बार्कीय आचार्य और कवि परशुराम देव का परशुराम सागर तो मुख्यत शान्त रस का ही ग्रन्थ है। हमारे आलोच्य युग में घनानन्द नागरीदास में शान्त रस के यथेष्ट उद्धरण मिल जाते हैं।

हरिदासी सम्प्रदाय के अष्टादश सिद्धान्त के पद रसिक दास की रचनाएं आदि सैद्धान्तिक निरूपण इसी के अन्तर्गत आवेंगे। इसी प्रकार सेवक हरिराम व्यास ध्रुवदास रूपलाल, चाचा हित वृन्दावन दास आदि में शान्त भक्ति की रचनाओं का विशाल भण्डार प्राप्त है। कृष्णदास कविराज की गौरगणोद्देश दीपिका प्रियादास की भक्त सुमिरनी भक्तमाल की टीका आदि शान्त रस के ही ग्रंथ कहे जायेंगे। सिद्धान्त निरूपण एवं गुरु महिमा गान वाली शान्त भक्ति का अभाव पुष्टि मार्ग में भी नहीं है। रामोपासना की मधुर साधना के अन्तर्गत भी शान्त रस का निषेध नहीं है।[1] शान्त भक्ति के जिन अनुभावों उद्दीपनों एवं संचारी भावों की गणना वैष्णवाचार्यों ने की है उनका भी अभाव उन सम्प्रदायों में नहीं है। पर ये सभी अनन्त मधुर भाव की ओर मोड़ दिये गये हैं।

दास्य भक्ति

भक्ति के क्षेत्र में निजी वैयक्तिक सम्बन्धों का प्रथम स्फुरण दास्य भाव में होता है। निजी सम्बन्धों के कारण भक्ति भावना यहाँ पर अधिक प्रगाढ़ हो जाती है। शान्त भक्ति की विशेषताओं के अतिरिक्त उसमें एक विशेषता और जुड़ जाती है कि भक्त भगवान् को अपना स्वामी मानकर उसकी सेवा के भाव को जगा लेता है। इस प्रकार रूपवर्णहीन शान्त की अपेक्षा यह श्रेष्ठतर है। इसमें भगवान शाश्वत स्वामी एवं उनका परिकर शाश्वत सेवक माना जाता है।

---

१ रामोपासक रामवेदशर्मा जी ने शान्त रस के उपासकों को भी प्रभु के परिकरों में माना है। उनको रूक्ष और रस रूप दो भागों में बाँटते हुए उन्होंने कहा है कि रस रूप के उपासक महलों सेवा और रस भोग का मर्म जानते हैं। युगल लीला में उनकी आस्था होती है। (भगवतीप्रसाद सिंह रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय पृ० २२२ २२३ पर उद्धृत।)

निम्बार्क द्वारा भक्ति की परिभाषा म उदधृत श्लोक (दशश्लोकी) म दन्यादि गुणो की उत्पत्ति प्रभु-कृपा से मानी गयी है। इस प्रकार दास्य भावना इस सम्प्रदाय म पूर्णतया मान्य है। यद्यपि निम्बार्क-सम्प्रदाय एव हरिदासी तथा राधावल्लभीय सम्प्रदायो मे जिस समय रसोपासना का विकास होता है उसी समय रामोपासना के समान ही सेवक भाव या कक्य भगीभाव न रहकर युगल किशोर क माधुय का मग और साधन मात्र हो जाता है। जीव का परतत्त्व स सम्बन्ध सेवक-सेन्य भाव का इन सम्प्रदायो म मान्य है। स्वा हरिदास जब कहते हैं श्री हरिदास क स्वामी श्यामा कु जविहारी आनन के आधारिनि [1]। तब स्वामी शब्द से यह सेवक सेन्य भाव प्रकट हो जाता है। वास्तव म सखी सहचरी मजरी या किंकरी भाव मूलत दास्य भावना की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। स्त्रीपदवाची होने स अन्तरग विलास म इनका प्रवेश हो जाता है जबकि पुरुष दास या सेवक का अधिकार नही होता। पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से दास या दासी म कोई अन्तर नही है।

गौडीय वष्णवो म भी दास्य भाव अमान्य नही है। ऊपर हमने हरिभक्ति रसामृत सिन्धु के आधार पर ही इसका विवेचन किया है। इस भक्तिरस को रूप गोस्वामी कृष्णदास कविराज एव जीव गोस्वामी आदि ने पाच मुख्य भक्ति रसो म ही माना है। पर उनके अनुसार उत्तरोत्तर विकास क्रम मे दास्य का भी अन्त र्भाव मधुर भाव म हो जाता है। मधुर भाव ही श्रेष्ठ है इस धारणा के कारण गौडीय भक्त कवियो ने भी मधुर भावान्तगत ही इसका चित्रण किया है।

निगुणी कवियो ने अवश्य इसकी शुद्ध प्रचुर अभिव्यक्ति की है। डा० राम कुमार वर्मा द्वारा विवेचित (पीछे उदधृत) तालिका म न न एव सखिया की सबसे अधिक सख्या विनय या विनती के अगो की २८० है।[2] इस प्रकार सर्वाधिक महत्त्व दास्य या प्रीति भक्ति को ही निगुण कवियो ने दिया ऐसा प्रतीत होता है। दास्य के दन्य विनय आत्मदोष कथन शरणागति आदि क अतिरिक्त राजा[3] स्वामी पिता[4] जननी[5] आदि रूपो म जहा कल्पना की गई है वे स्थल भी दास

पूव पृ स पर वास्तव मे वात्सल्य और दास्य को उन्होंने अन्तत युगल लीला की ओर प्रयोजित कर दिया है। अत शास्त्रीय दृष्टि से ये अ गी न होकर अ ग ही हुये।

१ अष्टादास सिद्धातके पद २।

२ हिन्दी साहित्य (द्वितीय भाग) भा० हि परिषद् पृ २४१।

३ कबीर ग्रन्थावली पृ १४३।

४ वही ग्रन्थावली पृ० ६।

५ वही ग्रन्थावली पृ० १८४।

६ वही ग्रन्थावली पृ० १२३।

भाव के ही हैं। इन प्रतीकों के माध्यम से दास्य भाव की ही अभिव्यक्ति हुई है।

सख्य भक्ति (प्रेयस रति)

दास भावना में प्रभु के गौरव एवं महत्ता की अनुभूति के कारण साधक का बहुत समीपी सम्पर्क नहीं हो पाता। स्वामी और सेवक के मध्य एक प्रकार का दुराव अवश्य रहता है। इसके अतिरिक्त स्वामी की सेवक के कार्यों में उतनी गाढ़ रुचि भी नहीं होती।

अतः भक्ति की ओर विकसित स्थिति में जिस सामाजिक भाव सम्बन्ध की कल्पना की गई वह सख्य भाव है। सखाओं में परस्पर सामीप्य बोध अधिक होता है उनमें पारस्परिक अन्तरंगता हो जाती है। वे एक दूसरे के गुप्त रहस्यों से परिचित ही नहीं होते एक दूसरे के कार्यों में गहरी रुचि भी लेते हैं।

दास्य भक्ति के सम्बन्ध में हमने सम्भ्रम शब्द का नाम लिया था। रूप गोस्वामी के अनुसार सम्भ्रम की समाप्ति अथवा विश्रम्भ यानी कि बिना किसी प्रकार के अन्तराय के गाढ़ विश्वास को ही सख्य का स्थायी कहना चाहिये।[1] गाढ़ विश्वास वाली यह सख्य रति बढ़कर प्रणय, प्रेम स्नेह तथा राग में परिणत होती है।[2] इनका फिर अनेक स्थितियों का निरूपण रूप गोस्वामी ने किया है।

सखा भी पुर तथा ब्रज सम्बन्ध से दो प्रकार के माने गये हैं।[3] ब्रज सखाओं में पुनः चार भेद हैं—सुहृत सखा, प्रियसखा प्रिय नर्म सखा। इनमें अन्तिम सब श्रेष्ठ होते हैं। सुहृत सखा कृष्ण से आयु में बड़े और कृष्ण के प्रति किंचित वात्सल्य से युक्त माने गये हैं। सखा भगवान से आयु में कुछ कम प्रिय सखा समान आयु के। प्रिय नर्म सखा उनसे भी अधिक मान वाले तथा अन्तरंग गोपनीय लीलाओं के सहचर होते हैं।[4]

इन सभी सखाओं के आलम्बन कृष्ण सुन्दर वेश धारण करने वाले सुपण्डित अत्यन्त प्रतिभाशाली दक्ष वीरशेखर विदग्ध बुद्धिमान समृद्ध एवं सुखी हैं। ऐसे भगवान के साथ उपयुक्त सम्बन्धों का अनुकरण करते हुये जो भाव प्रतिभा मन में स्थापित होती है वह सखा भक्ति की ही होती है। इसमें शान्त भक्ति के निरभिमान विरक्ति आदि भी हैं, दास का सा सेवा भाव है (सखा सेवा

---

१ ह० भ० र० सि० प० वि० ३।५४-५५।
२ वही वही ३।५६।
३ वही वही ३।६।
४ वही वही ३।१०।
५ वही वही ३।२०।

पूर्व कथित भाव दास्य भी वात्सल्य में अन्तर्भुक्त हो जाते हैं। जीवन की तीन मूल वृत्तियों — जिजीविषा कामेच्छा एवं सृजन-कामना में से एक सृजन-कामना का साकार विग्रह सन्तान होती है। इस रूप में भी वात्सल्य जीवन का अत्यधिक व्यापक और सार्वभौम भाव है। लौकिक जीवन के इस अनुभव को भी पारमार्थिक जीवन के क्षेत्र में घटाया गया है।

जिस समय भक्त परमात्मा को पुत्रवत् मानकर (नन्द यशोदा दशरथ, कौशल्या आदि की भाँति) उन्हें लाड़ लड़ाता है उनकी सुरक्षा और सुविधा का ध्यान रखता है एवं बिना प्रतिदान में कुछ चाहे निष्काम भाव से उनके प्रति स्नेह रखता है तब ऐसी भाव भक्ति को वात्सल्य भक्ति कहा जाता है। यहाँ पर न तो सम्भ्रम है न विश्रम्भ बल्कि अनुकम्पनीय पर अनुकम्पा का भाव ही स्थायी है।[1] यह वात्सल्य रति पूर्वकथित अन्य रतियों की भाँति ही प्रौढ़ होने पर प्रेमा स्नेह एवं राग अवस्थाओं को प्राप्त होती है। श्यामल गात रुचिर समस्त श्रेष्ठ लक्षणों से युक्त प्रियवाक् सरल बुद्धिमान विनयी माननीयों का मान करने वाले भगवान कृष्ण (या राम) इस रति के आलम्बन हैं।

माता पिता ज्येष्ठ भ्राता गुरुजन आदि इस भाव के आश्रय होते हैं। कुमारादि वय रूप वेष शैशव की चपलता जल्पना स्मिति आदि लीलाएँ ही उद्दीपन हैं।[2] मस्तक का सूँघना आशीर्वाद आज्ञा हितोपदेशदान चुम्बन आलेप तथा स्तन्यस्राव आदि अनुभाव हैं।[3]

रामोपासकों में वृद्ध वात्सल्य एवं लघु वात्सल्य ये दो भाग किये गये हैं। वृद्ध वात्सल्य से तात्पर्य ऊपर विवेचित वात्सल्य से है पर लघु वात्सल्य है जब राम सीता को पिता माता मानकर साधक स्वयं को शिशु रूप में कल्पित करता है।

जहाँ तक शिशु की क्रीड़ाओं बाल-लीलाओं आदि के वर्णन का प्रश्न है वात्सल्य भाव की निवृत्ति संसार के समस्त साहित्य में प्राप्त होती है। सूरदास तो इस चित्रण के अधीश्वर ही हैं। बाल-लीला एवं माता पिता की अनुभूतियों का उनसे बड़ा चितेरा संसार में दूसरा उत्पन्न नहीं हुआ है पर मानसिक धरातल पर इस भाव की साधना अत्यधिक कठिन है। जो भगवान् है ईश्वर है परमात्मा है समस्त चराचर ब्रह्माण्ड के उद्भव स्थिति एवं निलय का हेतु है उसे एक

---

१ हरिभक्ति रसामृत सिन्धु प वि० ४।२४।
२ वही वही ४।२७३।
३ वही वही ४।८।
४ वही वही ४।२० २२।
५ रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय डा० भगवती प्रसाद सिंह पृ० २५०।

नगण्य साधक शिशु मानकर व्यवहार करे—यह स्थिति तनिक कठिन है। स्वयं को शिशु एवं ईश्वर को पिता मानकर एक प्रकार की प्रतीकोपासना संभव है लेकिन यहाँ भी एक सुविकसित प्रौढ़ व्यक्तित्व बालचेष्टाएं कठिनता से ही धारण कर सकेगा। इसलिये इस भाव की अभिव्यंजना हम मध्यकालीन वैष्णव साहित्य में कम मिलता है।

वल्लभ सम्प्रदाय में कृष्ण के बाल रूप की प्रतिष्ठा अवश्य है एवं सूर और परमानन्ददास ने वात्सल्य भाव-सम्बन्धी प्रचुर एवं उत्तम साहित्य की रचना भी की। परन्तु फिर वल्लभ-सम्प्रदाय में भी मधुर भाव की साधना ही बढ़ती गयी। स्वयं सूरदास ने अपने अंतिम पद में 'युगल रूप' में ही अपनी चित्तवृत्ति के रमे रहने का उल्लेख किया है।[1]

गौड़ीय वैष्णव कवियों ने इस भाव के प्रकाशन की ओर बिल्कुल ही ध्यान नहीं दिया।[2] उनका मन कृष्ण और राधा की किशोर लीलाओं में ही रमा रहा।

निम्बार्क-सम्प्रदाय में श्रीभट्ट, हरिव्यासदेव, वृन्दावन देव, घनानन्द आदि ने बाल क्रीडाओं के वर्णन के अतिरिक्त बधाई के पदों में वात्सल्य की अभिव्यक्ति की है। यों सब मिलाकर इस सम्प्रदाय का मुख्य काम्य मधुर रस ही है। वात्सल्य के वर्णनों में भी बहाने से राधा-कृष्ण मिलन के प्रसंग इन्होंने ढूंढ लिये हैं। गोपाल वन से गोचारण के उपरान्त लौट रहे हैं तो दूलह के समान हैं[3] और सखियों के यूथ के आगे आगे आ रही राधा दुलहिन के समान हैं। 'इस सम्प्रदाय के कवियों के वात्सल्य रस के वर्णन में इस रस का वर्णन कवियों का मुख्य उद्देश्य नहीं है। वरन् उससे सम्बन्धित रति बालक कृष्ण और राधा के पोषण में सहचरी भाव का नित्य विहार दर्शन की सुख-लालसा छिपी है।'[4]

हरिदासी एवं राधावल्लभीय सम्प्रदाय में ब्रजलीलाओं का महत्त्व ही नहीं है। वहां तो युगल का नित्य विहार-लीलाओं का ही गान है, अतः

---

१ चौरासी वैष्णवन की वार्ता भावप्रकाश, पृ० ७८६।

२ वृन्दावन देव की रचना 'गीतामृत गंगा' का प्रथम घाट जन्मोत्सव एवं द्वितीय घाट पौगण्ड-लीलाओं का है।

३ गोपाल लाल, दूलह बराती।
गोधन आगे सखिन यूथ में राधा दुलहिन लाल गवाती।
दुंदुभि दूध दोहन की बाजी राजा सब गोपाल सजाती।
आरति करत माँहि जल मोती, ओमट रूप पियाती।
—श्री युगल शतक पद २०।

४ निम्बार्क-सम्प्रदाय के कृष्णभक्त हिन्दी कवि डॉ० नारायण दत्त शर्मा पृ० ५१७ (अ० प्र०)।

वात्सल्य भाव की अभिव्यजना का प्रश्न ही नहीं उठता। या सखी सम्प्रदाय (हरीदासी) के अष्टाचार्यों म से एक रसिक दास इसके अपवाद हैं। उन्होंने वात्सल्य भाव का पर्याप्त अकन किया है। यद्यपि यहाँ भी प्रवृत्ति वात्सल्य के म य मधुर भाव के प्रसगों की योजना की ही रही है। बाललीला नामक एक छोटी सी ४६ छन्दों की इनकी पुस्तक है उसम कृष्ण के जन्म बालपन आदि का वर्णन है तथा अन्त म एक गोपी राधा को कृष्ण से गोचारण के बहाने लाकर वन म मिला देती है। युगल मिलन म परिसमाप्ति होते हुए भी सम्प्रदाय की दृष्टि से यह ग्रन्थ कुछ अनोखा है। यो रसिकदास जी ने स्वय अपनी भावना स्पष्ट करते हुये लिखा है कि युगलकिशोर एक ओर सदा नित्य विहार म लगे रहते हैं एव दूसरी ओर नन्द एव वृषभानु के घर ज म भी लेते हैं।

रसोपासक सप्रदायो मे वात्सल्य भावना को रामोपासना के भीतर पर्याप्त स्थान मिला है यद्यपि प्रवृत्ति युगल किशोर के नित्य विहार म सहायक होने की है। राम-सीता का विवाह गौना करा दिया जाय उनके विहार म कोई कष्ट असुविधा न रह यह भाव इन भक्तो म मुख्य है इसके अतिरिक्त राम सीता की बालचेष्टाओं आदि का भी चित्रण शुद्ध वात्सल्य की दृष्टि से भी मिल जाता है। रामप्रियाशरण प्रेमकली ने अपने सीतायन नामक विशाल प्रबन्धकाव्य मे सीता की बाल लीलाओं का अच्छा वर्णन दिया है

छबीली जनक ललिन की जोरी
करि सिंगार निरखति नयनन भरि जननि सकल तृण तोरी।
छम छम चलति अरति पुनि दौरति मणि प्रतिबिम्ब गहोरी।

इसी प्रकार सूरकिशोर जी की जानकी जी म वात्सल्यनिष्ठा थी। कहते हैं कि ये अयोध्या का पानी भी नही पीते थ दामाद के नाते राम स परमपद तक की उन्होने याचना नही की।१० उमापति वसिष्ठ भाव स भगवान की आराधना करते थे। वे इसी कारण राम को प्रणाम नहीं करत थे।

निम्बार्कोपासकों मे न तो बाल लीलाओं का स्थान है और न प्रभु को पुत्र मानने का ही प्रश्न है। इसी कारण वात्सल्यभाव की विवृति वहा पर नही के बराबर है। स्वय ईश्वर की पिता रूप म चर्चा अवश्य आयी है—पर वह मात्र प्रतीक है। इससे अधिक उसका महत्त्व नही है। पिता या माता रूप म अनेक सन्त-कवियो ने ईश्वर को माना है इसकी चर्चा हम पीछे दास्य भक्ति के प्रसग म कर चुके हैं।

मधुरा या कान्ता भक्ति

वात्सल्य म भी एक प्रकार की दूरी माता पिता और पुत्र के मध्य

अवश्य रहती है। जैसा सर्वस्व समर्पण, जितना सान्द्र प्रेम एवं जितनी एकात्मानुभूति स्त्री-पुरुष के प्रेम में होती है उतनी अन्यत्र नहीं। स्त्री पुरुष के मध्य की काम भावना जीवन की गहनतम व्यापकतम एवं सार्वभौम वृत्ति है। इस भावना में पूर्ववर्ती सभी भावों का अन्तर्भाव हो जाता है। पत्नी सेवा भी करती है, सखा सखी की भांति मनोरंजन भी करती है, माँ के समान हित चिंता भी करती है एवं पत्नी के रूप में अपना संपूर्ण व्यक्तित्व पति को अर्पित कर देती है। प्रेमभाव की यह सर्वोच्च अवस्था है एवं संसार के सभी आस्तिक धर्मों में इस प्रतीक का व्यवहार किया गया है। पर वैष्णवों में यह प्रतीक के स्तर पर न रहकर वास्तविकता के स्तर पर ले आया गया है। गोपियाँ इस प्रेम की प्राण आश्रय हैं एवं गोपियों में राधा साक्षात् महाभावरूपा हैं। सौंदर्य एवं माधुर्य के घनविग्रह श्याम सुन्दर ही इसके आलम्बन हैं। भगवतरति का श्रेष्ठतम रूप यह मधुर भाव ही है। हमारे आलोच्य युग में इसी मधुर प्रेम के सूर्य की किरणों से सारे सम्प्रदाय आलोकित हो उठे थे। इस साधना की पृष्ठभूमि विकास स्वरूप एवं विभिन्न सम्प्रदायों में उसके रूप की विस्तृत चर्चा हम अगले अध्याय में करेंगे।

ऊपर हम जिन पांचों भक्तियों का उल्लेख कर आये हैं उनके अनुरूप भाव सत्ता वाले प्राणी पहले हो चुके हैं। चाहे सनक सनन्दन जैसे सन्त हों या हनुमान शुकदेव संजय विदुर जैसे दास हों, अर्जुन, श्रीदामा सुबल जैसे सखा हों दशरथ कौशल्या नन्द यशोदा वसिष्ठ जैसे गुरुजन हों या व्रज गोपिकाएं (राधा आदि) सीतादि हों—ये सभी अखिल भुवन मोहन श्यामसुन्दर के प्रति तत्तत भावों की प्रतिमाएं थीं। इनकी रति रागात्मिका थी। (इष्ट में गाढ़ तृष्णा राग का स्वरूप लक्षण एवं इष्ट की आविष्टता उसका तटस्थ लक्षण है।[1]) इस रागभाव की भक्ति ही रागात्मिका होती है। व्रजवासी जनों की प्रीति ऐसी ही थी।[2]

जीव स्वभावतः कृष्ण-दास है वह व्रजवासी जनों के समान तो नहीं है पर उसे चाहिए कि अपनी वासना एवं रुचि के अनुसार व्रजवासियों के उस उस भाव का अनुकरण करे। इसे ही रागानुगा भक्ति कहते हैं—यानी कि रागात्मिका का अनुकरण करने वाली। साधक अपने भावानुसार स्वयं को दास सखा माता पिता या प्रिया अनुभव करे। अपने ही ऊपर उनका आरोप करे। धीरे धीरे अभ्यास से वह वैसे ही भाव एवं प्रेम को मन में जगा सकेगा। सारे संसार के साधकों में

---

१ इष्टे गाढ़तृष्णा राग एइ स्वरूप लक्षण।
इष्टे आविष्टता एइ तटस्थ लक्षण॥
—चैतन्य चरितामृत मध्य लो०, परि० २२।८६।

२ ह० म० र० सि०, पू० वि० २।६० ६२।

सवेग कल्पना आदि रोमांस तत्वों की प्रबलता मनोवैज्ञानिक न स्वीकार की हैं।[1]

उपयुक्त परिगणित भाव भूमियाँ वास्तव ■ उस मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया पर आधारित हैं जिसमें अनुभूति और कल्पनाएं तथा इन पर उसका विश्वास एक दूसरे के सहारे बढ़ते जाते हैं तथा इन्हीं के साथ उसकी भावनात्मक जिन्दगी और उसकी श्रद्धा भी समय के साथ बढ़ती जाती है। (हिज इमोशनल लाइफ ऐण्ड हिज फ थ इन इट इन्क्रीजिंग विद द इयम)।[2]

---

१ दि मिस्टिक इज इसेन्शियली ए रोमण्टिसिस्ट। बाइ सेयिंग दिस आइ मीन दट ही एक्जिबिटस इन अ लाज डिग्री दट कान्फिडेन्स इन इमोशन एण्ड इमेजिनेशन विच आर एट दि बाटम आफ रोमण्टिसिज्म। (रहस्यवादी अनिवार्यत स्वच्छन्दतावादी होता है। यह कहने से मेरा तात्पर्य है कि वह उन कल्पनाओं और संवेगों पर अधिकांशत वैसा विश्वास प्रदर्शित करता है जो कि स्वच्छन्दतावाद के मूल मे होते हैं।)

—जे० बी० प्रट द रिलिजस कान्सनस पृ० ३६६।

२ वही पृ० ३६७।

तृतीय अध्याय

उज्ज्वल रस मीमासा

ाव का विकास पृष्ठभूमि-स्थित विविध तत्त्व

ले अध्याय मे हम सकेत कर चुके है कि मधुरा भक्ति के मूल म स्त्री सबध की धारणा विद्यमान है। अपने इष्टदेव कृष्ण क प्रति जो सिकी आविष्टता) व्रजगोपिकाओ के हृदया म था उसी का अनुगमन र जो भावचिन्तन किया जाता है, वही मधुराभक्ति म परिणत हो मस्त साधना इसी उज्ज्वल भाव तक पहुचने के लिए होती है। साधना प को हम आगे स्पष्ट करेंगे। यहा पर हम सक्षेप मे इस साधना की पृष्ठभूमि और विकास की रेखा स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे।

। साधना का प्रारभिक और एतत सबधी रूप काफी पुराना एव क है। लौकिक सबध उपमान एव पारलौकिक सबध उपमय होता है। ताओ के ऐसे अगो की ओर सकेत किया गया है। बृहदारण्यक उप एक मत्र भी इस सबध म बहुधा उद्धृत किया जाता है —

प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यम किंचन वेदनान्तरम।
म पुरुष प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यम किंचनवेदनान्तरम।[1]

हा पर वास्तव म सबधो न भी साहश्य की ओर सकेत न करके स्थिति ो व्यजित किया गया है। इस उपनिषद वाक्य म यौन सम्मिलन से लय की समाधि के आनन्द क समतुल्य बताया है। ब्रह्म और जीव के स्त्री पुरुष वाला सबध दिखाना उद्दिष्ट प्रतीत नही होता।

काम जीवन की एक प्रधान और महत्त्वपूर्ण वृत्ति है। वदिक ऋषि ने किया था कि जगत् जीवन क मूल म काम है— कामस्तदग्रे समवतताधि त प्रथम यदासीत[2]। भारतीय समाज चिन्तकों न इस शक्तिशाली वृत्ति तु बनाने के लिय विवाह की जिस सस्था का निर्माण किया उसने काम को अवस्था म लाकर उसके माध्यम से पित ऋण जसे महत्त्वपूर्ण काय सम्पा

---

१ बृहदारण्यक उपनिषद ४।३।२१।
२ ऋग्वेद ८।७।१७ अथव १६।५२।१।

दित कराने चाहे। पतिव्रत एवं पत्नीव्रत के रूप में जो आदर्श सामने आते हैं वे इस अमर्यादित वृत्ति को सीमाबद्ध करते हैं। पति पत्नी विवाह के पश्चात् लौकिक वासना तृप्ति करते हुए भी एक अभिन्न एवं अपरिवर्तनीय सूत्र में बंध कर जो सुखलाभ करते हैं उसमें काम महत्त्वहीन हो जाता है अथवा यों कहें कि अधिक उदात्त बन कर मनुष्य को शक्ति और प्रेरणा देता है। धीरे धीरे स्त्री की सामाजिक हैसियत पुरुष की अपेक्षा गिरती जाती है। पतिव्रत धर्म का महत्त्व बढ़ जाता है एवं एक पत्नीव्रत का आदर्श समाप्त हो जाता है। पत्नी समर्पणशीला बन जाती है पति की दुर्बलताओं एवं तिरस्कार को सहन करके भी वह अपनी असीम गंभीर प्रेमवृत्ति के साथ पुरुष के प्रति अनुरक्त रहती है। उसके चरित्र में एक कोमल मानवीय गहनता के साथ ही दिव्य एवं अलौकिक गुणों का अपूर्व समन्वय दिखाई देता है। इस निष्ठावान अविचल प्रेम की प्रतिमूर्ति ही भारतीय काव्य पुराण की नायिकाएं हमें मिलती हैं। हमें लगता है कि बहुपत्नीवाद के बीच से फूट कर आये हुये इस निष्ठावान अखण्ड प्रेम के नारी आदर्श ने मधुर भाव को विकसित होने में यथेष्ट सहायता दी है। एक परमपुरुष की जीवात्मा रूपी अनेक स्त्रियाँ हैं एवं ये स्त्री रूपी जीवात्माएं अपने प्रियतम से ऐसा ही दृढ़ प्रेम करें जैसा कि स्त्री अपने पति से करती है—यह आदर्श महत्त्वपूर्ण बन जाता है।

स्त्री पुरुष-संबंधों एवं प्रेम-वृत्ति के सामन्तीकरण (फ्यूडलाइजेशन आफ लव) का एक और प्रभाव भी हमें मधुर साधना में विकसित होता मिलता है। जैसे एक सामन्त के ऊपर दूसरा सामन्त होता है और उसकी सीढ़ी दर सीढ़ी सेवा होती है। प्रेम की लगभग वैसी ही सेवा हमें उत्तर मध्ययुग में प्राप्त होने लगती है। राधा हैं कृष्ण हैं उनकी प्रधान प्रधान सखियाँ हैं यूथेश्वरियाँ हैं फिर उनकी भी सेविकाएं दासियाँ या मंजरियाँ हैं। यह सारा ढांचा पूरी तौर से सामाजिक व्यवस्था पर आधारित है। मध्ययुग में व्यक्ति का व्यक्ति से प्रेम या घृणा अधिक सघन थे। देश भक्ति की भावना की अपेक्षा शरण में आये हुए को रक्षा देने की या मित्र के लिए प्राण देने की या प्रेमिका के लिये सब कुछ बलिदान कर देने की भावनाएं बड़ी प्रबल थीं। इस वैयक्तिक आवेश के कारण ही प्रेम और विश्वासघात दोनों का ही रूप महान् था। मध्ययुग में प्रेम का आवेश एक नये रूप में शक्तिशाली हो उठा यह बात दूसरी है कि उसकी वेशभूषा कुछ पुरानी हो रही। नम्रता शिष्टता एवं एक प्रकार का व्यभिचार भी इस प्रेम के अंग बन गए। सामन्त और प्रजाजन का संबंध प्रेम के क्षेत्र में नम्रता के रूप में प्रकट हुआ। दरबारी शिष्टता के मानदण्ड प्रेम के क्षेत्र में प्रेमी प्रेमिका के पारस्परिक व्यवहार में प्रतिबिम्बित होते हैं। तीसरे तत्त्व व्यभिचार के कारण और गहरे हैं। सामन्ती विधान के भीतर पत्नी सम्पत्ति के एक टुकड़े की भांति स्वीकृत थी अतः उसके साथ प्रेम के प्रति आदर्शीकरण या रूमानी भावना को

जोड़ने का प्रश्न नहीं उठता था। वह तो 'प्राप्त' ही थी। जमींदार के लिये जैसे भूमि वैसे पति के लिये स्त्री—यह सामान्य धारणा थी। इस प्रकार विवाह प्रेम के लिये बहुत उपयोगी नहीं था। यों विवाह की उपयोगिता और पत्नी की आवश्यकता स्वीकृत थी—ऐन्द्रिक प्रसन्नता तथा घरेलू सुख भावना के लिये। पर इसमें मध्ययुग का वह रोमांस कहाँ उभर पाता है? परिणाम परकीया प्रेम हुआ। वही स्त्री अपने पति के लिये महत्त्वहीन पर वही स्त्री प्रेमी के लिये प्राणाधिक प्रियतमा हो जाती है। सी० एस० लेविस का यह कथन इस प्रसंग में नितान्त सार्थक है—एनी आइडियलाइजेशन आफ सेक्सुअल लव इन ए सोसाइटी ह्वयर मैरिज इज प्योरली यूटिलिटेरियन मस्ट बिगिन वाई बीइंग ऐन आइडियलाइजेशन आफ ऐडल्टरी'। (अर्थात विवाह को मात्र उपयोगी मानने वाले समाज में यौनप्रेम का आदर्शीकरण निश्चित ही व्यभिचार के आदर्शीकरण से प्रारंभ होगा।) उत्तर मध्ययुग में परकीया प्रेम के इस आदर्शीकरण के उदाहरण भारतीय भाषाओं के वैष्णव भक्ति साहित्य में विरल नहीं हैं।[2]

इस परकीया प्रेम के पीछे एक और मनोवैज्ञानिक कुण्ठा भी स्वीकार की जा सकती है। पीछे हम कह चुके हैं कि दाम्पत्य जीवन में जिन हिन्दू आदर्शों की प्रतिष्ठा हुई थी, उनमें काम का स्थान महत्त्वहीन हो गया था। धीरे धीरे उद्दाम आवेगमय वासनात्मक प्रेम को धर्म के वैराग्यशील पक्ष ने अनुचित ठहराना शुरू किया। स्त्रियों की भाँति भाँति की निन्दा के स्वर हम गौतम बुद्ध से लेकर उत्तर मध्ययुग के कवियों साधकों तक में मिलते हैं। परन्तु साहित्य में चित्रों में जब जब परकीया प्रेम का चित्रण हुआ वह मानो एक प्रकार से धार्मिक वर्जनशीलता के प्रति विद्रोह था। विद्रोह की आत्यन्तिक विजय तब होती है जब कि

---

१ सी०एस० लेविस एलिगरी आफ लव, पृ० १३ (आक्सफर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, १९४८)।

२ परकीया प्रेम के इस सामन्ती रूप का अनजाने ही एक प्रकाशन भागवत में हो गया है। शुकदेव से महाराज परीक्षित ने कृष्ण के परदाराभिमर्शन के औचित्य के बारे में प्रश्न किया उसका उत्तर उन्होंने दिया— तेजस्वियों के लिये कोई भी चीज दोष की नहीं है जैसे कि सर्वभुक अग्नि (को मलिनता स्पर्श नहीं करती) ईश्वरगणों का वाक्य ही सत्य है आचरण सर्वथा सत्य नहीं होता ।' इस उत्तर में मानो कोई कह रहा है कि सामर्थ्यवान शक्तिशाली सामन्त के लिये कुछ भी दोष नहीं है। उसका शब्द ही कानून है सत्य है और सब कुछ मिथ्या है। यह उत्तर सामन्ती भावना की आत्मा के एकदम अनुकूल है।

वास्तविक सामाजिकता का भ्रम (इल्यूजन श्राफ रियलिटी) खत्म कर देता है।

यह शक्तिवाद वष्णव मतवाद का ही नही शव शाक्त और बौद्ध-साध नाम्रो को भी प्रभावित कर रहा था। वष्णव शव और शाक्त शास्त्रो म प्राप्त शक्तिवाद भाव भाषा या विचार किसी भी दृष्टि स परस्पर बहुत भिन्न नहीं हैं।

बौद्ध साधना का माग जब महायान क अतगत जनसाधारण क लिय उन्मुक्त हो गया तब सहज ही लोग अपन परपरागत विचारो मान्यताम्रो देवी देवताम्रो भूत प्रत जादू टोने के विश्वासो समेत उसके भीतर आ गये। इनके साथ ही हठयोग लययोग राजयोग मत्रयोग भी घुस और इन सब न एक व्यव स्थित बौद्ध तान्त्रिक साधना विधि खडी कर दी। जिसका नितिक धार्मिक दृष्टि कोण ही मूलरूप स भिन्न हो गया।[1] इसी म मिथनयोग भी आ मिला। यही पर धार्मिक निषेध की पूवचर्चित प्रतिक्रिया को हम याद कर लें। इस प्रतिक्रिया के कारण ही इन लोगो ने जिन पचमकार आदि प्रतीको का प्रयोग किया व मनुष्य का उद्दाम यौन वत्तियो से भी सबधित थे।

अस्तु शिव शक्ति विष्णु लक्ष्मी शून्यता और करुणा प्रज्ञा और उपाय चन्द्र और सूय ही राधा-कृष्ण तथा राम सीता का रूप उत्तर मध्ययुग म धारण कर लेते हैं। भारतीय धम साधना के क्षत्र म शक्तिवाद तीन रूपो म दिखाई पडता है

१ एक अद्वय समरस तत्त्व निरपक्ष सत्ता है। शिव और दोनो शक्ति उसक अशमात्र हैं।

२ शिव ही परमतत्त्व तथा शक्ति क मूल आश्रय है। अत वे ही उपास्य है शक्ति उन्ही मे निहित है।

३ शक्ति ही परमतत्त्व हैं और जिसक भीतर व आधारीभूता हैं वे ही शिव हैं। अत उपास्य शक्ति है न कि शिव।

बौद्ध साधनाम्रो एव सहजिया वष्णवो म प्रथम स्थिति अधिक मान्य रही है शवो तथा प्रारभिक वष्णव सम्प्रदायो (जस निम्बाक एव वल्लभ) म दूसरी स्थिति क निकट पहुचती हुई मान्यताए स्वीकृत हैं। गौडीय वष्णवो म तीसरी विचार धारा (शाक्तमत) की ओर झुकाव होता है जो कि हरिदासी राधावल्लभीय और हरिव्यासी (परवर्ती निम्बार्कीय मत) सम्प्रदायो म अधिक विकसित हुआ है तथा जिसकी चरम पराकाष्ठा वृन्दावन क ललित सम्प्रदाय म दिखाई पडती है।

साधना क क्षत्र म बौद्ध सिद्धो रसश्वर दशनो एव कौल कापालिक सम्प्रदायो म पिण्ड म ही ब्रह्माण्ड की कल्पना करके अद्वय या युगनद्ध स्थिति की

---

१ डा० एस बी० दासगुप्ता ओब्सक्योर रिलिजस कल्ट पृ० २१ २२।

उपलब्धि का प्रयास किया जाता था। उनके अनुसार स्त्री और पुरुष अंग (शिव और शक्ति) मनुष्य शरीर के भीतर ही है। उनकी अद्वय उपलब्धि के लिए विभिन्न प्रकार की यौगिक प्रणालियों का आश्रय लिया जाता था तथा स्त्री का प्रयोग साधन रूप में भी स्वीकार्य था। सब मिला कर इनमें यौन यौगिक साधनाएँ प्रचलित थी। इन्होंने मधुरभाव के प्रसार में पर्याप्त सहायता दी।

सहजिया वैष्णवों में आकर इस विश्वास का रूप थोड़ा बदल गया। यहाँ पर प्रत्येक पुरुष में कृष्ण और प्रत्येक स्त्री में राधा का तत्त्व स्वीकार किया गया। इसके लिये 'आरोप' साधना की कल्पना की गयी। पुरुष किसी स्त्री में राधा का आरोप कर उसका ही चिंतन करे, उसके लिए व्याकुल हो एवं स्त्री पुरुष को कृष्ण रूप में देखे। इस प्रकार स्त्री पुरुष दोनों के ही शरीर साधन बन गये। इस आरोप साधना के लिये परकीया भाव स्वीकार किया गया क्योंकि मिलन की चेष्टा वहीं अधिक तीव्र एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से गहन होती है।

गौडीय वैष्णवों को यह सहजिया साधना उत्तराधिकार में मिली। उन्हीं के प्रभाव में उन्होंने परकीया भाव को स्वीकृति भी दी जो कि मध्ययुग में आकर या तो स्वकीया हो जाती है—(पुष्टि मार्ग) या परकीया स्वकीया विवर्जित (राधावल्लभीय)। पर सहजिया वैष्णव आरोप-साधना वैष्णव मतवादों में आकर कुछ भिन्न रूप धारण कर लेती है। यहाँ पर किसी दूसरे की स्त्री पर राधा या दूसरे पुरुष पर कृष्ण का आरोप करने के स्थान पर अपने मन पर किसी पूर्व रागात्मिका भक्ति के साधक का आरोप करना होता है। इसे ही रागानुगा भक्ति कहा गया है। आरोप की यह साधना मनोवैज्ञानिक शब्दावली में आत्म सुझाव (आटो सजेश्चन) कहलायेगी तथा रहस्यानुभूति के क्षेत्र में इसको सबन मान्यता मिली है। पर दोनों प्रकार के आरोपों में आरोप का केन्द्र बदल जाता है। सहजिया वैष्णवों में किसी दूसरे को राधा या कृष्ण मानकर चलना होता है एवं वैष्णव मतवादों में अपने को ही नन्द यशोदा हनुमान सुबल उद्धव या गोपी आदि अनुभव करने का अभ्यास करना पड़ता है।

आरोप के इस अभ्यास के सफल हो जाने के बाद ही वैष्णवों ने भाव और प्रेम भक्ति की अवस्थाएं मानी हैं। उस समय के आनन्द की कोटियों में समानता है। साधना की दृष्टि से बौद्धों नाथ तन्त्रों और वैष्णवों आदि में एक समानता और भी है। तन्त्रों के सात आचारों में सर्वश्रेष्ठ कौलाचार माना गया है जिसमें कि कोई भी नियम नहीं है। वैष्णवों के यहाँ भी प्रेम की श्रेष्ठ स्थितियों में किसी भी प्रकार के विधि निषेध को स्वीकार नहीं किया गया है।

अस्तु इस मधुर साधना की पृष्ठभूमि को सामाजिक प्रेरणा एवं सम सामयिक साधनाओं के अतिरिक्त प्रभावित करने वाला तीसरा तत्त्व है—साहित्य की परम्परा। साहित्य का अवलम्बन करके ही राधा का आविर्भाव और

प्रसार हुआ है। इसके अतिरिक्त राधा प्रेम का ढांचा पूववर्ती प्रेम कविता से ही लिया गया है[1]। भारतीय साधारण काव्य प्रणाली तथा प्रचलित कवि प्रसिद्धियां को ही वैष्णव भक्त कवियो ने पूरी तरह ग्रहण कर लिया है। इसमे उन्होंने अपनी अपनी प्रतिभा और कल्पना से नये प्रसगो नयी लीलाओ नये वातावरणों एव कथन भगिमाओ का भी समावेश किया है।

चौथा अन्यतम तत्त्व है दक्षिण की भक्ति का प्रभाव। सी० एच० वाद वील ने कहा है कि भागवतधर्म (महाभारत गीता आदि) लौकिक प्रेम-सबध तथा लोकोत्तर प्रेम अथवा भक्ति के बीच साम्य स्वीकार नही करता था। भक्त की आत्मा कृष्ण के प्रति वैसी ही भावना रखे जैसी एक निष्ठावती नारी अपने पति के प्रति रखती है यह बात कही भी ध्वनित नही होती।[2] लेखिका के अनुसार तमिल शव सत माणिक वाचकर का तिरुक्कोवइ आत्मा और ईश के गूढ सबध को व्यक्त करने के लिये लोकप्रिय रोमांस के प्रतीकात्मक प्रयोग का प्रथम प्रयास माना जा सकता है। वादवाल ने एक लोक कथा के बहाने इस सम्बन्ध की अभिव्यजना का सबध सूफी प्रभाव से जोडा है।[3] हम इस बात की विस्तृत परीक्षा न करके मात्र इतना सकेत करना चाहते हैं कि पुराणो म लोकाख्यानो और तत्त्ववाद दोनो को समन्वित करके प्रेम प्रतीकवाद के यथेष्ट उदाहरण मुस्लिम पूर्व युग के मिल जाते है। जैनियो म भी प्रेम कथाओं के माध्यम से वैराग्य के उपदेश दिये गये है। यह बात दूसरी है कि जैनियो के उपसहार कुछ भद्दे ढग से आते हैं पर यह तो कलात्मक विकास हो सकता है—तथा लक्ष्यों की भिन्नता के क कारण भी सभव है।

अस्तु शवभक्तो के प्रेमप्रतीकवाद को वास्तविकता के स्तर पर आलवार भक्त ले आये। नाम्मालवार तथा आण्डाल ने अपने को गोपी तथा श्री रगम की पत्नी मानकर परमात्मा से प्रेम किया। यह भी एक प्रकार से सहजिया वैष्णवो का आरोप भावना के अनुकूल था। नारद भक्ति सूत्र म इस ही यथा व्रजगोपिकाना कहा गया है।[4] शाडिल्य सूत्र के स्वप्नेश्वर भाष्य म भी तीसरे सूत्र के सख्या त द क अथ की ओर एक सकेत दिया गया है। महाभारत के एक अवतरण के आधार पर सख्या का आशय पति के प्रति पत्नी की भक्ति स है।[5]

---

१ डा श० भू गुप्त श्री राधा का क्रम विकास पृ १४८।
२ सी० एच० वादवील भागवत धम म प्रेम प्रतीकवाद—अनुशीलन डा० धीरेन्द्र वर्मा विशेषाक पृ० २७१।
३ वही पृ० २६६।
४ वही पृ० २७२।
५ वही पृ० २७४।

उत्तर भारत की वैष्णव मधुरभाव की साधना में इस भाव के उत्तराधिकारी अधिकांशतः निर्गुण साधक और मीराबाई हैं। अन्य भावकों ने अपनी कल्पना सखा या सखियों के रूप में की है न कि प्रेमिका या पत्नी के रूप में। वास्तव में दक्षिण के भक्तों में प्रेम प्रतीकवाद विकसित हुआ था जबकि उत्तर भारत में युगल रूप का तत्त्वदर्शन। इसी कारण दक्षिण के उत्तराधिकारी अपने को राम की बहुरिया कहते हैं पर राधा वल्लभी हरिदासी निम्बार्कीय आदि सम्प्रदायों में नित्य विहार लीला के दर्शन और उस विहार में परिचर्या का महत्त्व है। पुष्टिमार्ग मुख्य सम्प्रदाय एवं स्वसुखा शाखा के रामोपासकों में प्रेम प्रतीकवाद दक्षिण की परम्परा में ही विकसित हुआ है।

माधुर्योपासना का बढ़ावा देने वाला अन्तिम मुख्य तत्त्व है—सूफी तत्त्व दर्शन। सूफी भी अपने इष्ट को लौकिक प्रेम प्रतीकों के माध्यम में अभिव्यक्त करते हैं। विरह भाव का इनमें अत्यधिक प्राधान्य है। इन्होंने भी निर्गुणोपासकों को मुख्य रूप से अपने रंग में रंगा है।[1] या सगुणोपासकों में वल्लभ एवं गौड़ीय वैष्णवों में जो विरह का भाव है उस पर भी सूफी मतवाद की छाप देखी जा सकती है। रसोपासकों में नित्य विहार के अन्तर्गत विरह की स्थिति सूफी भाव से भिन्न हो गयी है।

ऊपर कही हुई सारी बातों को यदि समेटकर देखा जाय तो प्रतीत होगा कि मधुर भाव के मूल में दो तत्त्व हैं (१) लीलावाद तथा (२) मधुर रस (कान्ता भाव)। प्रथम तत्त्व का विकास शक्तिवाद के माध्यम से विभिन्न साधनाओं के बीच से हुआ है तथा द्वितीय तत्त्व का आरम्भ प्रेम प्रतीकवाद के रूप में होता है जो धीरे धीरे यथार्थता का बाना धारण कर लेता है। सम्भवतः इन दोनों का प्रथम कलात्मक समन्वय श्रीमद्भागवत में होता है एवं चरम परिणति १६वीं १७वीं शताब्दी के वैष्णव काव्य में प्राप्त होती है।

मधुर रस का स्वरूप

काव्यशास्त्र में शृंगार को रसराज कहा गया है।

इसी प्रकार रागमूलक शृंगार को भक्ति के क्षेत्र में भी सर्वश्रेष्ठ स्थान है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से लौकिक आलम्बन के प्रति जो रति होती है उसी का जब उन्नयन हो जाता है और उसका विषय स्वयं भगवान हो जाता है तब

---

१ निर्गुणोपासक एवं सूफियों दोनों का ही सम्मिलन राजपूताने एवं पंजाब में मुख्य रूप से प्रारम्भ में हुआ होगा। यह प्रभावग्रहण १३ १४ वीं शताब्दी में ही पूरी तरह हुआ होगा।

वह मधुर रस में परिणत होता है। भक्ति रस शास्त्र में जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है कृष्ण विषया रति ही मूल स्थायी भाव होता है और उसी के पाँच मुख्य एवं सात गौण प्रकार होते हैं। इस प्रकार सब मिलाकर १२ रस (९ काव्यशास्त्र के तथा दास्य सख्य और वात्सल्य) का इस ढांचे के भीतर स्थापित किया गया है। इनमें पांच मुख्य (शान्त दास्य सख्य वात्सल्य और मधुर) में से चार का संक्षिप्त परिचय हम पिछले अध्याय में दे चुके हैं। श्री रूप गोस्वामी जी ने पंचम मधुर रस को भक्तिरसराट्[1] तथा निवृत्तों के लिये अनुपयोगी दुरूह तथा विस्तार बताया है।[2] निवृत्तों के लिये अनुपयोगी कहकर उन्होंने यह पहले ही संकेत कर दिया है कि लौकिक शृंगार रस के यह सदृश है पर वास्तव में यह सादृश्य ऊपरी है। अतएव रसशास्त्रियों (रूप जीव विश्वनाथ चक्रवर्ती कृष्णदास कविराज) ने बार बार इस बात के लिये सावधान किया है कि इसे लोक के शृंगार के समान समझने का भ्रम न किया जाय। अस्तु इस भक्ति रसराज के निरूपण के लिये रूप गोस्वामी ने उज्ज्वल नीलमणि नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ का नाम जितना ही प्रतीकात्मक है[3] उतना ही सूक्ष्म जटिल एवं विस्तारपूर्ण विवेचन है।

अस्तु इस मधुर रस की परिभाषा करते हुए उन्होंने कहा है कि वक्ष्यमाण विभावादि के द्वारा पुष्ट मधुरा रति मनीषियों (भक्तों) के हृदय में

---

१ मुख्यरसेषु पुरा यः संक्षेपेणोदितो रहस्यत्वात्।
पृथगेव भक्तिरसराट् स विस्तरेणोच्यते मधुरः ॥
—उ नी० म० पृ० ४।

श्री जीवगोस्वामी ने अपने प्रीति संदर्भ (पृ० ७०४ ७१५ तक) में भगवान की दो प्रकार की लीलाएं ऐश्वर्य एवं माधुर्य बतायी है। तथा इनमें उन्होंने माधुर्य को श्रेष्ठ बताया है। इस प्रकार भी मधुर रस ही श्रेष्ठ सिद्ध होता है। (काव्यमाला संस्करण निर्णय सागर प्रेस बम्बई १९३२)

२ निवृत्तानुपयोगित्वाद् दुरूहत्वादयं रसः।
रहस्यत्वाच्च संक्षिप्य विततांगोऽपि लिख्यते।
—ह० भ० र० सि० प० वि० ५।२ (अच्युत ग्रन्थमाला काशी संवत् १९८८)

३ शृंगार के लिये उज्ज्वल शब्द का प्रयोग भरत ने भी किया है शृंगार का वर्ण नील (श्याम) माना गया है तथा मणि समुद्र से निकलती है इस प्रकार हरिभक्ति रसामृत सिंधु से निकला हुआ यह उज्ज्वल नीलम है जो सदैव धारण करने योग्य है।

आस्वादित होकर मधुर भक्ति रस कहलाता है।[1] मधुरा या प्रियता रति का स्वरूप वे हरिभक्ति रसामृत सिन्धु में पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं। उसके अनुसार श्रीकृष्ण एवं गोपियों का दोनों का परस्पर संभोग के लिये प्रेरणा रूप भाव मधुरा या प्रियता रति कहा जाता है।

मधुर रस की यह सारी योजना पूरी तरह से संस्कृत काव्यशास्त्र (शिङ्गभूपाल के 'रसार्णव सुधाकर' का आधार सबसे अधिक लिया गया है) पर आधारित है। इसके लिये प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावली और सामान्य धारणायें (जनरल कन्सेप्ट्स) सीधे सीधे संस्कृत काव्यशास्त्र से उठा ली गयी हैं। परन्तु इन सबको कृष्ण रति की ओर जिस प्रकार मोड़ा गया है जिस ढंग से तमाम विस्तृतियों का सूक्ष्म विश्लेषण हुआ है एवं फिर समस्त कथनों को नाना ग्रन्थों से समर्थित अनुमोदित एवं उदाहरणों द्वारा पुष्ट किया गया है वह सब आश्चर्यजनक है।

नायक कृष्ण एवं उनकी नायिकाओं परिकर आदि की विविध मनःस्थितियों, अनुभावों, परिस्थितियों, क्रिया चेष्टा, वचन आदि का जैसा मार्मिक विवेचन एवं उद्घाटन श्री रूप गोस्वामी (जीव गोस्वामी, कृष्णदास कविराज, विश्वनाथ चक्रवर्ती, नारायण भट्ट आदि ने भी लगभग उन्हीं का अनुकरण सम्पन्न किया है।) ने किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। यही कारण है कि अन्य समस्त समसामयिक वैष्णव सम्प्रदायों को इस भक्तिरस शास्त्र ने गहरे रूप से प्रभावित किया है। सारे के सारे अलंकारशास्त्र का दोहन भक्ति की ओर जिस प्रकार मोड़ा वह उनके व्यक्तित्व की श्रेष्ठता, पाण्डित्य एवं प्रतिभा का स्पष्ट परिचायक है। अलंकार शास्त्र एवं भक्ति भावना का उनमें विचित्र मणि-कांचन संयोग था।

अस्तु, इस प्रियता या मधुरा रति के सर्वतोभावेन आलम्बन हैं—नायक चूड़ामणि कृष्ण एवं उनकी वल्लभाएँ।[3] नायक के रूप में कृष्ण में विविध (६४) गुण गिनाये गये हैं।[4] और वे स्वभाव से धीरोदात्तादि चार प्रकार के बताये गये

---

१ उ० नी० म० १—३ पृ० ५ अथवा ह० भ० र० सि० प० वि०, ५।१

२ मिथो हरेर्मृगाक्ष्याश्च सम्भोगस्यादिकारणम्।
मधुरा परपर्याया प्रियताख्योदिता रतिः॥
—ह० भ० र० सि० द० वि० ५।२७-२८।

३ अस्मिन्नालम्बनाः प्रोक्ताः कृष्णस्तस्य च वल्लभाः।
—उ० नी० म० पृ० ५।

४ वही पृ० ८।

हैं।[1] नायिका की दृष्टि से पति और उपपति के भेद से पुन कृष्ण के दो रूप हैं। उपपति के रूप म वे कन्याग्रा एव परोढाग्रा क प्रेमी हैं। (यहाँ पर यह याद दिला दना आवश्यक है कि सहजिया वष्णव साधना तथा कामशास्त्र स प्रभावित ग्रलकारशास्त्र के प्रभाव म उपपति (परकीया भाव) की धारणा का समावेश तो उन्होंने किया है पर रूप और जीव दोनो ही गोस्वामियो न यह बताने म अत्यधिक परिश्रम किया है कि वास्तव म उपपतित्व ऊपर से प्राकृत नाना म हैं वस्तुत वे नायक स्वकीयाग्रा के ही हैं। गौडीय वष्णवो म परकीया भाव १८ वीं शती म विश्वनाथ चक्रवर्ती की मुद्रर पाकर ही पूर्णतया प्रामाणिक बन पाता है। इसके पूव दार्शनिक स्तर पर जीव गोस्वामी आदि न इस स्वीकार नहीं किया था। इस उपपति वाले रूप म ही शृगार की सब श्रेष्ठ सत्ता है।

नायक कृष्ण के अनुकूल दक्षिण शठ और धृष्ट—ये चार रूप प्रेमी चरित्र क अनुसार और भी बताये गये हैं।

परम्परागत अलकार शास्त्र के अनुसार ही नायिकाग्रा का विभाजन किया गया है।[4] परन्तु एक मौलिक विभाजन उन्होंने भक्ति रस शास्त्र की दृष्टि से किया है। यह विभाजन महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसम कृष्णवल्ल भाग्रो को सीधे सीधे भक्त की यथार्थता दे दी गयी है। इस विभाजन का आगे दिये गये खाके से समझा जा सकता है। इस विभाजन के अनुसार सव श्रेष्ठ नित्य प्रिया नायिकाग्रो म साक्षात महाभावस्वरूपिणी राधा सव श्रेष्ठ है।[5] राधा की प्रामाणिकता तन्त्रो आदि के माध्यम स प्रतिष्ठित करते हुये उन्हें ह्लादिनी या महाशक्ति कहा गया है।[6] हरि के समान ही संख्यातीत गुणोंवाली वृन्दावनेश्वरी राधा की पाच प्रकार की सहचरियाँ है—सखी नित्यसखी प्राणसखी प्रियसखी परम श्रेष्ठ सखी। सखियो सम्बन्धी अवधारणा मधुरोपासना म अत्यधिक

---

१ उ० नी० म० पृ० ६

२ अतएव परमोत्कर्ष शृगारस्य प्रतिष्ठित । वही पृ १४

कृपया सलग्न चार्ट देखिये।

४ उ० नी० म० पृ ६, ६४ ६७ के आधार पर।

५ उ० नी० म० पृ० ७३

६ ह्लादिनी या महाशक्ति सवशक्ति वरीयसी।
तत्सारभावरूपेयमिति तन्त्रे प्रतिष्ठिता।
—उ० नी० म० पृ० ७५ ७७।

७ तास्तु वृन्दावनेश्वर्या सख्य पञ्चविधा मता।
सख्यश्च नित्यसख्यश्च प्राणसख्यश्च काश्चन॥
प्रियसख्यश्च परमप्रेष्ठ सख्यश्च विश्रुता। —वही पृ ८७।

महत्त्वपूर्ण है। हम आगे इस पर विस्तार से विचार करेंगे।

नायिका की सखियों के समान ही नायक के भी चेट विट पीठमर्द विदूषक तथा प्रिय नर्मसखा आदि सहायक हैं। शृंगार अभिसार में दूती का महत्त्वपूर्ण कार्य होता है। 'उज्ज्वल नीलमणि' का एक पूरा अध्याय इस विवेचन में लगा है।

नायिका के भागवत प्रयोजन की दृष्टि से मधुरा रति साधारणी समंजसा और समर्था तीन प्रकार की मानी गयी है। साधारणी रति में नायिका में स्वसुख की भावना होती है, जैसे कि कुब्जा ने कृष्ण से प्रथमतः स्वयं आनन्द चाहा था। समंजसा में नायक के भी सुख का ध्यान अपने सुख के साथ ही होता है। इसमें पत्नीत्वाभिमान भी रहता है। समर्था रति में अपने सुख की तनिक भी चाह नहीं होती मात्र कृष्ण सुख की ही कामना रहती है। गोपियों की रति ऐसी ही थी। यह महाभाव की अवस्था तक संचरण करती है।[1]

कृष्ण एवं नायिकाओं की कायिक मानसिक एवं वाचिक चेष्टाओं तथा प्रकृति आदि उद्दीपन विभावों की भी लम्बी सूची है। इसी प्रकार भाव हाव हेला सात्विक आदि परम्परागत अनुभाव समेट गये हैं। इनके अतिरिक्त मौग्ध्य विभ्रम, उत्तराय स्खलन जैसे मात उन्मास्वरस अनुभावों का परिगणन लेखक की मौलिकता है। वाचिक अनुभावों को भी निपुणतापूर्वक उपस्थित किया गया है।[2] व्यभिचारी भावों के प्रकरण में भी प्रचलित काव्यशास्त्र के ही संचारियों को गिनाया गया है। उग्रता एवं आलस्य को अवश्य छोड़ दिया गया है। भावोत्पत्ति (भावोदय) भावसन्धि, भावशबलता एवं भावशान्ति की भी संक्षिप्त निरूपण इसी प्रकरण में प्राप्त हो जाता है।[3]

स्थायिभाव प्रियतारति को प्रबुद्ध करने वाले कारण अभियोग विषय सम्बन्ध अभिमान उपमा तथा स्वभाव होते हैं। उत्तरोत्तर एक दूसरे से इनमें श्रेष्ठ होता है। अभियोग में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अपनी भावनाओं का आरोप होता है। शब्द स्पर्श गंध आदि इन्द्रियों के विषय दूसरी कोटि के अन्तर्गत आते हैं। इनके कारण भी रति उत्पन्न होती है। सौंदर्य कुल आदि के गौरव की भावना सम्बन्ध है तथा एक विशेष वस्तु को ही अपने पास रखने की इच्छा अभिमान के अन्तर्गत है—ये भी रति प्रादुर्भाव का हेतु बन सकती है। किसी सुन्दर वस्तु को कृष्ण सदृश देखना उपमा के अन्तर्गत है तथा बहिर्हेतुओं की अनपेक्षी निसर्ग या स्वरूप दो प्रकार वाला स्वभाव होता है। यह कृष्ण निष्ठ भी हो सकता है

---

१ वही पृ० ४०७ से ४१५ तक।

२ वही पृ० २६५ से ३४० उद्दीपन और अनुभाव प्रकरण।

३ वही, व्यभिचारी प्रकरण, पृ० ३४२ से ३८८।

और ललना निष्ठ भी।[1]

धीरे धीरे मधुरा रति सान्द्र होता हुई विभिन्न स्थितियों को पार करके महाभाव की सव श्रेष्ठ अवस्था म पहुँचती है। जस कि ईख का बीज ही इक्षु दड रस गुड खण्ड शकरा मिश्री सितापल (ओला) आदि अवस्था भेद म अनेक रूप धारण करता है वस ही रति भी प्रम स्नेह मान प्रणय राग अनुराग भाव (महाभाव) की अवस्था तक पहुचती है।[2]

(१) प्रम—नाश का कारण होते हुय भी जो कभी नाश नही होता है तथा जो दोनो (नायक-नायिका) को भावबन्धन म बाँधता है वह प्रम है। प्रौढ मध्य और मन्द भेद स यह तीन प्रकार का होता है। प्रौढ प्रम म वियोग एकदम असह्य होता है। मध्य प्रम म कष्टपूवक वियाग सह्य बन जाता है तथा मन्द प्रम म भगवान सम्बन्धी स्मृति कभी-कभी मलिन भी पड जाती है।[3]

(२) स्नेह—प्रम क परम उत्कप की दशा म द्रवीभूत चित्त की वृत्ति ही स्नेह कहलाता है। यह भी श्रेष्ठ मध्यम और कनिष्ठ उत्कृष्टता भेद से तीन प्रकार का होता है। स्नेह भी घृत स्नेह और मधु स्नेह दो प्रकार का होता है। प्रथम म धारावाहिकता होती है तथा दूसरे म अत्यत ममतामय मधुरता।[5]

( ) मान—जो स्नह उत्कप को प्राप्त होकर एकदम अनुभूत आस्वाद का अनुभव कराते हुय वामता (बाह्य उपेक्षा) भाव को धारण करता है वह मान कहलाता है।[6] स्नह ऊपर दो प्रकार क कहे जा चुके हैं ये ही क्रमश उदात्तता का प्रश्न कर उदात्त (घृत स्नेह द्वारा) एव ललित (मधु स्नह द्वारा) मान म परिवर्तित हो जाते हैं। चन्द्रावली प्रथम प्रकार के आदराजित मान की आश्रय हैं एव श्री राधा अतिशय कुटिलता धारण करने वाले ललितमान की आश्रय हैं। यहां यह कह देना भी अनुचित न होगा कि भारतीय कामशास्त्र का मान शब्द अपने आप म अप्रतिम है। इसम प्रेम मिलनोत्कण्ठा उपेक्षा रूठना इत्यादि इतने मनोवेग मिले हैं कि इस सहज ही दूसरी भाषा बोलने वाले के लिये समझना कठिन हो जाता है।

---

१ उ० नी० म० पृ० ६० ४०६।
२ वही पृ ४१६ ४१७।
३ वही पृ० ४१८ ४२४।
४ वही पृ ४२४ ४२६।
५ (क) वही पृ० ४२८ ४३१।
(ख) मधुसूदन सरस्वती ने भी अपने भक्ति रसायन मे चित्त की द्रुति तथा धारावाहिकता को अत्यधिक महत्व दिया है।
६ वही पृ ४३२।

(४) प्रणय—जब प्रिय के गौरव का भाव एकदम मिट जाता है तथा विश्रम्भ और विश्वास का उदय होता है तब गाढ़ हुआ मान ही 'प्रणय' कहलाता है।[1] इस अवस्था में कान्त और कान्ता के प्राण, मन, बुद्धि, देह आदि के मध्य भेद की भावना नहीं रहती। इसे यों भी समझना चाहिये कि मान में तो वाम गन्धता होती है पर मान छूटने पर प्रिया अपने प्रियतम से एकमेक होकर मिलती है जैसे बांध तोड़कर नदी समुद्र से मिलती है। यह उत्कृष्ट भावावेग की अवस्था होती है। प्रणय भी दो प्रकार का होता है—सुमैत्र प्रणय एवं सुसख्य प्रणय।[2] प्रथम में गौरव की भावना किंचित अवशिष्ट रहती है पर दूसरे में बिल्कुल नहीं। वास्तव में ये उदात्त और ललित मान के क्रमशः विकसित रूप हैं। यों विकास क्रम में यह भी स्वीकार किया गया है कि कभी मान से प्रणय उदित होता है और कभी-कभी प्रणय से मान भी उद्भूत होता है।[3]

(५) राग—प्रणय और अधिक उत्कृष्ट हो जाने पर 'राग' कहलाता है। इस अवस्था में दुःख भी सुख में परिणत हो जाता है।[4] यह राग भी रूप गोस्वामी के अनुसार नीलिमा और रक्तिमा दो भाँति का हो सकता है। नीलिमा राग के पुनः दो भेद हैं (१) नीलीराग जो कि व्यय सम्भावना से हीन बाहर अधिक न प्रकाशित होने वाला तथा बहुत कुछ अव्यक्त रहता है। (२) श्यामा राग नीली राग की अपेक्षा किंचित प्रकाशमान भीरुता मिश्रित तथा विलम्ब से सिद्ध होने वाला श्यामाराग होता है। रक्तिमा राग के भी दो भेद हैं—कुसुम्भ राग एवं मंजिष्ठा राग। (१) कुसुम्भ राग में चित्त शीघ्र ही रंजित हो जाता है तथा यह अन्य राग-छवि को भी व्यंजित करता है। (२) मंजिष्ठा राग कभी नष्ट नहीं होता उसे अन्य रागों की अपेक्षा नहीं होती तथा उसकी कांति कभी नष्ट नहीं होती। राधा माधव के मध्य यही राग प्रतिष्ठित रहता है।[5]

(६) अनुराग—सदा अनुभूत होने वाले प्रियतम को भी जो राग नित्य नव-नव रूप में दिखाता रहता है उसे अनुराग कहते हैं।[6] इसके अनेक पहलू होते हैं तथा परस्पर वशीभाव प्रेमवैचित्य (मिलन में भी विरह की आशंका) अप्राणिजन्य जड़ वस्तुओं में जन्म धारण करने की लालसा तथा विप्रलम्भ में विशेष स्फूर्ति आदि इस अवस्था में विरह में भी प्रिय की झलक प्राप्त होती रहती है।

---

१ उ० नी० म० पृ० ४३७।
२ वही पृ० ४३८।
३ वही पृ० ४४०।
४ वही पृ० ४४३।
५ वही पृ० ४४६, ४५१।
६ वही पृ० ४५८।

(७) भाव—अनुराग स्वसंवेद्य दशा को प्राप्त होकर माना कि जब उसका अनुभव अनुराग को छोड़कर अन्य किसी भाव से न किया जा सके प्रकाशित हो तब यह वृत्ति भाव कहलाती है।[1] स्वयं कृष्ण की पट्टमहिषियाँ (समंजसा रति) भी इस दशा को नहीं पहुँच पातीं व्रजदेवियों द्वारा संवेद्य यह भाव ही महाभाव भी कहलाता है।[2] इसके पुनः दो भेद हैं

(१) रूढ—इस अवस्था में सात्विक अपने चरम उद्दीप्त रूप में पहुँच जाते हैं। रूढ भाव की अवस्था में एक क्षण का भी वियोग असह्य हो उठता है इसमें समीपवर्ती जनों को भी आलोडित कर मथने की क्षमता होती है कल्प को क्षण (सुख में) एवं क्षण को कल्पवत (वियोग में) समझने की सामर्थ्य आ जाती है। प्रिय के सौख्य में भी आर्ति की आशंका रहती है असम्मूर्छित अवस्था में भी अपने आप तथा अन्य अपने से सम्बन्धी वस्तुओं का विस्मरण भी कर देता है।

(२) अधिरूढ—जिस अवस्था में रूढ के ऊपर कहे गये अनुभाव एक विशिष्ट अवस्था को प्राप्त होते हैं उसे अधिरूढ कहते हैं।[3] इसके भी मादन और मोदन दो प्रकार माने गये हैं। (१) सात्विकों का अत्यन्त उद्दीप्त सौष्ठव मोदन के अन्तर्गत होता है। यह राधा यूथ में ही प्राप्त होता है। तथा विश्लेष की अवस्था में इसे ही मोहन कहते हैं।[4] इस अवस्था के भी अत्यन्त प्रभावशाली सात्विकों का उल्लेख इसकी सान्द्रता को सूचित करता है। यह जब राधा में उदित होता है तो दूर अन्य कान्ताओं से आलिंगित होते हुए भी कृष्ण मूर्च्छित हो जाते हैं।[5] सारे ब्रह्माण्ड में क्षोभ उत्पन्न हो जाता है। राधा दिव्य उन्माद की अवस्था में आ जाती हैं। दिव्य उन्माद भी उद्घूर्ण एवं चित्र जल्पादि आदि अनेक भेदों वाला कहा गया है। कोई एक विलक्षण विवशतामयी चेष्टा का नाम उद्घूर्ण है। प्रियतम के मित्र के साथ भेंट होने पर रोष से अनेक भावमय जल्पों का उदित होना एवं उसके अंत में तीव्र उत्कंठा का उदय चित्रजल्प कहलाता है। इस चित्रजल्प की भी दस अवस्थाएं होती हैं।

(२) मादन जब ह्लादिनी शक्ति का सार स्वरूप प्रेम रति से लेकर महाभाव पर्यन्त सब भावों के उद्गम से उल्लसित होता है मोदन मोहन आदि से जो परात्पर है एवं श्री राधा में ही जिसकी प्रतिष्ठा है, ऐसे भाव को

---

१ उ० नी० म० पृ० ४५६ ४६०।
२ वही पृ० ४६२।
३ वही पृ० ४७२।
४ वही पृ० ४७३।
५ वही पृ० ४७७ एवं च० च० म० ली० परि० २ पृ० २६।
६ वही पृ० ४७७।

मादनाख्य' महाभाव कहते हैं।[1] इस अवस्था में विरह का अभाव होता है। हजारों नित्य लीलाएं इस भाव की विलास हैं।[2] उ० नी० म० के स्थायी भाव प्रकरण के श्लोक सं० २०८ की टीका में विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इसकी विचित्रता की ओर संकेत करते हुये कहा है प्रकार भेद से मिलन और विच्छेद पृथक विद्यमान रहते हैं और, प्रकार भेद से इन दोनों में अभिमान का भी भेद रहता है। अर्थात जिस प्रकार में संभोग विद्यमान रहता है वहां प्रिया जी को यह अभिमान रहता है कि मैं संयोगिनी हूं और जिस प्रकार में विच्छेद होता है उस जगह श्री राधारानी को यह अभिमान होता है कि मैं विरहिणी हूं। जिस समय मादनाख्य महाभाव का स्वयं उदय होता है उस समय चुम्बन, आलिंगन आदि सुखों के अनुभवों के मध्य भी वे विविध प्रकार के वियोगों का अनुभव करती हैं। इस प्रकार एक ही प्रकार के रहते हुये दो प्रकार धर्मों का अनुभव होना ही विलक्षणता है।[3] इस अवस्था में ईर्ष्या का कारण न होने पर भी ईर्ष्या होती है तथा संभोग काल में भी नायक से सम्बन्धित विविध बातों का चिन्तन स्मरण आदि होता है।

हम रति के साधारणी समञ्जसा और समर्था तीन भेद ऊपर कह आये हैं। इनमें साधारणी रति केवल प्रेम की अवस्था तक पहुंचती है अनुराग तक समञ्जसा रति का संचरण होता है पर भावदशा तक एक मात्र समर्था रति ही पहुँच पाती है। भावदशा का ही श्रेष्ठ स्तर महाभाव है। राधा स्वयं महाभाव स्वरूपा हैं उनके पूर्व की जो रति से लेकर भाव तक की आठ अवस्थायें हैं वे मधुरभाव की साधना की दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

अस्तु इस भाव दशा में पहुंचकर मधुरा या प्रियता रति उज्ज्वल शृंगार रस को प्राप्त होती है।

परम्परागत काव्यशास्त्र के अनुसार रूप गोस्वामी ने इस शृंगार के भी विप्रलंभ और संयोग दो भेद किये हैं। विप्रलम्भ के बिना संयोग पुष्ट नहीं होता है तथा इसके पूर्वराग मान प्रेम वैचित्य एवं प्रवास पुनः चार भेद हैं।[4] इनमें से १, २ और ४ तो काव्यशास्त्र कामशास्त्र के ही हैं पर प्रेम वैचित्य एक नया प्रकार है जिसमें कि प्रिय की उपस्थिति में भी विरह की आशंका बनी रहती है।[5] इन विविध विप्रलंभ प्रकारों के भी अनेक उप प्रकार इस ग्रन्थ में गिनाये गये हैं।

१ उ० नी० म० पृ० ४६६।
२ वही, पृ० ५०२।
३ वही, (आनन्द चन्द्रिका टीका) पृ० ५०३।
४ वही, पृ० ५०६-५०८।
५ वही पृ० ५४८।

सभाग शृगार भी मुख्य और गोण दो प्रकार का होता है—जाग्रत अव स्था म होने वाले प्रत्यक्ष सभोग क भी चार भेद (विप्रलभ की चारो दशाओ क समरूप) हाते है—सक्षिप्त (पूवराग न पश्चात्) सकीण (मान क पश्चात) सपन्न (थोडी दूर क प्रवास के बाद) समृद्धिमान (सुदूर प्रवास के अनन्तर)।[1] स्वप्न आदि की अवस्था म होनेवाला सभोग गौणसभाग शृगार होता है। इसक भी सक्षिप्त सकीण सपन्न एव समृद्धिमान चारो भद रूप गोस्वामी न गिनाय हैं।[2] दशन स्पश वत्मरोधन (राह रोकना) रास वृन्दावन क्रीडा यमुना जल केलि नौकाविहार वशी चोरी वस्त्रहरण चुम्बन तथा मा गत्य यौन सप्रयोग आदि शृगार क विभि न तत्त्व या चष्टाए हैं। श्री रूप गोस्वामी क अनुसार

> अयपुञ्जवल नीलमणिगहनमहाथोव सागर प्रभव ।
> भजत तव मकर कुण्डल परिसर सेवौचितीं देव।[3]

काम और भगवत प्रेम मे अन्तर

पीछे हम कह चुके है कि भक्ति रस विवेचको न अपने सामाजिक उत्तर दायित्व का ध्यान म रखत हुए बार बार भगवद रति का लौकिक काम स भिन्न कहा है। भक्ति रस क आकर ग्रथ श्रीमद भागवत न स्वय इस तथ्य को ध्यान म रखते हुये स्पष्ट कहा था

> न मय्यावशितधियां काम कामाय कल्पते।
> भर्जिता क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते। १०।२२।२६

जिनकी बुद्धि मुझम लीन रहती है उनकी कामनाए ससार क भोगो के हतु नही हाती (उनस सासारिक विषय सुख नही उत्पन्न होते क्योकि उनका विषय साक्षात परमात्मा होता।) जसे कि भुन या उबल हुए धान अकुर नही उत्पन्न कर सकत।

श्री रूप गास्वामा न जब उसे निवत्ता क लिये अनुपयोगी बताया था तब भी व यह सकत कर रह थे कि यह लौकिक काम स मिलता जुलता है। गौत मीय तन्त्र म कहा भी है प्रेमव गाप रामाणा काम इत्यगमत प्रथाम गोपरा

---

१ उ० नी म० पृ ५७१ ५७६।
२ वही पृ० ५६१ ५६२।
३ वही अतिम छद पृ० ६ ७।

भावों का प्रेम ही लोक में काम कहा गया था। परन्तु यह वास्तव में लौकिक काम से भिन्न है। इस तथ्य की ओर जीव गोस्वामी एवं कृष्णदास कविराज ने स्पष्ट ध्यान दिलाया है। जीव गोस्वामी ने भक्ति सदर्भ और प्रीति सन्दर्भ में कहा है कि गोपियों की कृष्ण के प्रति रति लौकिक काम नहीं है। यदि यह काम है भी तो गोपियों में यह प्रेम के रूप में परिवर्तित हो जाता है—तादृशीना कामो हि प्रेमैकरूप। क्योंकि समस्त कामसंभोग सा लगने वाली लीलाओं में गोपियों ने कभी भी अपने सुख की चाह नहीं की उनकी सारी प्रवृत्त सी लगने वाली चेष्टाएं कृष्ण के आनन्द के लिये थी। कृष्णदास कविराज ने भी इसी बात को कहा है —

> आत्म सुख दुःख गोपी ना करे विचार।
> कृष्ण सुख हेतु करे सब व्यवहार।
> कृष्ण बिना आर सब करि परित्याग।
> कृष्ण सुख हेतु करे शुद्ध अनुराग।[1]

इसी कारण उनका स्पष्ट मत है कि गोपीगणों का प्रेम शुद्ध और निर्मल है वह काम कभी नहीं है।[2] कामक्रीडा से कुछ साम्य होने के कारण लोग उसे काम कह देते हैं अन्यथा वह तो सहज प्रेम है।[3] काम और प्रेम के अन्तर को स्पष्ट करते हुये कविराज ने अत्यन्त सही परिभाषा दी है कि —

> आत्मेन्द्रिय प्रीति इच्छा तार नाम काम।
> कृष्णेन्द्रिय प्रीति इच्छा धरे प्रेम नाम।

इस कसौटी पर गोपियों के प्रेम को कसने पर उनका निर्णय है कि 'गोपी भाव का तात्पर्य कृष्ण सुख है गोपियों को निजेन्द्रिय सुख वाछा नहीं थी वे कृष्ण को ही सुख देने के लिये संगम और विहार करती थी।[5]

इस कसौटी पर कुब्जा की प्रीति व्याघात उपस्थित करती है इसे विच क्षण पंडित एवं दार्शनिक जीव गोस्वामी ने अनुभव कर लिया था। अतः वे एक

---

१ च० च०, आ०ली० परि० ४, पृ० २८ (पूर्णचन्द्र शील, कलकत्ता)।
२ वही पृ० २९।
३ वही म० ली० परि० ८ पृ० १५२।
४ वही आ० ली० परि० ४ पृ० २८।
५ वही, म० ली० परि० ८ पृ० १५२।

को भी रसरूप म मायता दने की बात जोर पकड़ती गयी तथा अतत अभिनव गुप्त द्वारा यह मायता पूणतया प्रतिष्ठित हो गयी। अभिनव गुप्त का समय वि० ११ वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध स्वीकार किया जाता है। हम जानते हैं कि इस समय तक भक्तिमाग का यथष्ट प्रचार हो चुका था। अधिकाश पुराण एव उप पुराण बन चुके थे। नायनारो आलवारो क भाव विह्वल गान जनमानस को आन्दोलित कर रहे थ। भक्तिपरक स्तुतियाँ एव स्तोत्र उस काल तक प्रभूत मात्रा म लिखे जा चुक थ। सभवत नारद भक्ति सूत्र एव शाडिल्य भक्ति सूत्र भी इसी युग क आसपास निर्मित हुये होगे। भागवत पुराण नारद एव शाडिल्य क भक्ति सूत्र भक्ति के आनन्द को ब्रह्मानद एव मोक्ष सुख स भी ऊपर बता चुक थे। ऐसी स्थिति म यह स्वाभाविक ही है कि भक्ति को भी रसरूप म परिगणित कराने की बात और जोर पकड़े।

छठी और सातवी शताब्दी म भामह और दण्डी ने कथन क एक प्रकार विशेष प्रियतराख्यानम को प्रयम कहा था।[1] रुद्रट न नवम शती उत्तराध म प्रयस को दसवा रस मानने की बात उठायी। सम्भवत प्रम क लिय उन्होने प्रयम नाम प्रस्तुत किया था क्योकि शृगार कवल स्त्री पुरुष क प्रम के लिय ही प्रयुक्त होता था और यह रति कामग थ युक्त होती है। इस तरह प्रयस क साथ भक्ति जसे प्रम सम्बधो को भी काव्यशास्त्र म प्रविष्ट होने का रास्ता खुलता है। यद्यपि रुद्रट क काव्यालकार म प्रयान को मत्राभाव क रूप म ही लिया गया है पर धीरे धीरे चार प्रकार क आत्मिक प्रम अलकारिका क समक्ष आते हैं

(१) मत्री भाव (२) वात्सल्य (३) प्रीति—(नेता एव अनुगतो राजा एव दरबारियो का पारस्परिक प्रम) तथा (४) भक्ति—पूज्य यक्तियो या परमश्वर क प्रति अनुराग। इन सभी का अतर्भाव प्रयस के भीतर होता रहा। परन्तु धीरे धीरे भक्ति काव्य क निर्माण क साथ साथ भक्ति (वात्सल्य का भी) का अधिकार बढ़ता गया। अभिनव गुप्त ने स्पष्ट कहा कि लोग ईश्वर प्रणिधान *विषयक भक्ति श्रद्धा आदि का भी रसरूप म स्वीकार करने को कहते है।*[2] पर अभिनव गुप्त उन्हें शात रस का ही अग मानने का निणय देते है। अभिनव गुप्त के समकालीन धनजय ने दशरूपक म प्रीति और भक्ति का अलग अलग उल्लेख करत हुय उन्ह हष उत्साह आदि ऐस ही भावो क अन्तगत परिगणित

---

१ दण्डी ने भक्ति क महत्त्व को स्वीकार किया था तथा भक्ति और प्रीति को पर्यायवाची रूप म प्रयुक्त किया है।

—काव्यादश २।२७७।

२ अभिनव भारती १।६।३४ (गायकवाड सीरीज)।

करना चाहा है।[1] सम्भवतः ईश्वर विषयक एकता (आलम्बनगत एकता) के कारण अभिनव ने भक्ति का शान्त के अन्तर्गत करना चाहा था। इसके अतिरिक्त उस समय तक भक्ति का मुक्ति से नितान्त अलग भी नहीं किया गया था। बल्कि अधिकांशतः उसे भी मुक्तिदात्री ही समझा जाता था। उधर शान्तरस में भी वैराग्य एवं मोक्ष कामना स्वीकार थी अतः अभिनव अपने समय तक बहुत अनुचित नहीं थे, पर धनंजय का हर्ष, उत्साहादि में अन्तर्भावीकरण समझ में नहीं आता। सम्भवतः प्रयास के उत्साह तथा हर्ष के परिणाम (अनुभावादि) को सोचकर उन्होंने यह सम्मिलित किया होगा। मम्मट (१२ वीं शती) ने देवादि विषयक रति को भावदशा के अन्तर्गत रखकर उसे रस मानने से इन्कार कर दिया। हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन (पृ० ६८) में स्नेह भक्ति और वात्सल्य रति के ही विशेष रूप माने। शारंगदेव ने संगीत रत्नाकर में कहा कि कुछ लोग भक्ति, स्नेह एवं लौल्य को तीन रस मानते हैं तथा श्रद्धा आर्द्रता और अभिलाषा इनके स्वामी स्थायिभाव बताते हैं पर यह असत है। ये रति के ही भेद हैं तथा स्थायी न होकर व्यभिचारी मात्र हैं।[3] चौदहवीं शती उत्तरार्द्ध के प्रसिद्ध काव्यशास्त्री विश्वनाथ कविराज ने अपने साहित्य दर्पण में वात्सल्य की तो प्रतिष्ठा कर दी पर भक्ति को रस उन्होंने भी नहीं माना। अंतिम प्रसिद्ध संस्कृत काव्यशास्त्री पंडितराज जगन्नाथ (विक्रमीय १८ वीं शती) के समय तक गौड़ीय वैष्णवों का भक्तिरस संबंधी पांडित्यपूर्ण एवं गहन विश्लेषणयुक्त विवेचन सामने आ चुका था अतः वे उसकी उपेक्षा नहीं कर सके। उन्होंने भक्ति के विभाव, अनुभाव, संचारी भावों आदि का सम्यक् उल्लेख तो किया पर इससे मुनि वचन खंडित होता है यह कहकर परम्परा के संकीर्ण नाम पर उसे रस मानने से अस्वीकार कर भाव ही माना।[4] हिन्दी में देव ने भक्ति रस पर विचार किया है और उसके प्रेम, शुद्ध एवं प्रेम शुद्ध तीन भेद किये हैं। पर उस निर्भ्रान्त एवं प्रामाणिक रूप से स्वतंत्र रस की सत्ता दे सकने में वे भी असमर्थ रहे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक युग के पूर्व तक काव्यशास्त्र में भक्तिरस को प्रामाणिक मान्यता नहीं मिल सकी। जिस देश में इतने अधिक परिमाण में भक्तिकाव्य की रचना हुई हो उसमें यह स्थिति वदतो व्याघात सी प्रतीत होती है। इस सारी परम्परा में केवल कवि कर्णपूर का अलंकार कौस्तुभ एक अपवाद है जो परम्परागत अलंकारशास्त्र का ग्रन्थ होकर भी प्रेमन् और

---

१ दशरूपक ४।८३ (साहित्य निकेतन कानपुर संस्करण)।
२ काव्य प्रकाश ४।३५ (चौखम्भा प्रकाशन)।
३ संगीत रत्नाकर पृ० ८३९।
४ रस गंगाधर, पृ० ४५, ४६।

भक्ति को रस के रूप म स्वीकार करता है।[1] पर अलकार कौस्तुभ भारतीय का यशास्त्र का बहुत मान्य ग्रन्थ नहीं है। इसके अतिरिक्त कर्णपूर स्वय चतन्य के जीवनीकार एव मतानुयायी थे।

ऐसी स्थिति म भक्ति की रसात्मकता की स्थापना का भार स्वय भक्ति शास्त्रियो पर पडा। भागवत नारद एव शाडिल्य क भक्ति सूत्र हरिभक्ति रसामृत सिन्धु उज्ज्वल नीलमणि भक्ति सदभ प्रीति सदभ कृष्णदास कविराज का चतन्य चरितामृत नारायण भट्ट की भक्ति रस-तरगिणी मधुसूदन सरस्वती का भक्तिरसायन आदि ग्रन्थो के माध्यम स इस रस को प्रतिष्ठित करने का प्रयास हुआ है।

भागवत क प्रारम्भ म ही भगवान सम्बन्धी अलौकिक रस तथा उसका अहरह पान करन वाल भावुक रसिको का उल्लख किया गया है।[2] नारद भक्ति सूत्र म उसे परम प्रम रूपा और अमृत स्वरूपा[3] बताकर रसता की ओर भी सकेत किया गया है। कमज्ञान योग से अधिक बताकर नारद न मानो उसे शात रस से सन्निविष्ट करन म अभिनव गुप्त क प्रयास का प्रत्याख्यान किया है।[4] शाण्डिल्य ने उस रस शब्द से प्रतिपाद्य रागस्वरूपा बताया है।[5]

इन्ही बातो को अधिक व्यवस्थित काव्यशास्त्रीय ढग पर मधुसूदन सरस्वती ने अपने भक्ति रसायन म उपस्थित किया है। उन्होने भक्ति को परम पुरुषाथ[6] माना (धम अथ काम मोक्ष क अतिरिक्त) तथा ज्ञान को उसका सचारी बना दिया। इस प्रकार मोक्ष और ज्ञान दोनो स अलग करके उन्होने अभिनव गुप्त क आधार पर ही प्रहार किया। उन्होने यह भी कहा कि ज्ञान और

---

१ कवि कर्णपूर की अलकार कौस्तुभ मे प्रमन की धारणा कुछ विचित्र सी है। वस्तुत आलकारिको के मधुर रस को उन्होंने यह सज्ञा दी है। ऐसा प्रतीत होता है कि राधा कृष्ण की प्रम-लीला जब सखी भाव से सेव्य हो गई तब इस रस की कल्पना की आव श्यकता पडी। इसी कारण इसे प्र गोरस भी उन्होंने स्वीकार किया है। कर्णपूर के अनुसार प्र मन अगी है और शृ गार अग। बल्कि अन्य सारे रस इस रस समुद्र म उठने वाली तरगों के समान है।
(अलकार कौस्तुभ पृ० १४८)

२ श्रीमद्भागवत १।१।३।

३ ना० भ सू सख्या २ ३।

४ वही २५।

५ शा भ० सू० ६।

६ भक्ति रसायन १।१।

भक्ति पृथक पृथक अधिकारियों के लिए हैं। इस प्रकार आश्रय भिन्नता के द्वारा भी भक्ति को शान्त के अन्तर्गत मानने का निरसन कर दिया।

अपने विवेचन में उन्होंने भक्ति को एक नया मनोविज्ञान ही दिया। इसके अनुसार अन्तःकरण की भगवदाकारता ही भक्ति है। भक्ति की पीछे दी गयी परिभाषा में भी इसी तथ्य की ओर संकेत है। चित्त तरल होकर भगवान की ओर प्रवाहित होता है एवं उस साँचे में वही आकार धारण कर लेता है। इस बात को उन्होंने टीका में और अधिक स्पष्ट कर दिया है।

उनके मतानुसार भगवान आलम्बन हैं तुलसी चन्दनादि उद्दीपन विभाव हैं, नेत्र विक्रियादि अनुभाव हैं निर्वेदादि व्यभिचारी हैं तथा भगवदाकार चित्त वृत्ति ही स्थायीभाव है।[1] स्थायी भाव के नाम से कुछ नवीनता अवश्य है पर आगे पृ० १६ पर उन्होंने इस चित्तद्रुति को प्रणय अनुराग स्नेह आदि रति के विभिन्न पर्यायों से भी अभिहित किया है। इस संयोग से परमानन्दरूप जिस रस की निष्पत्ति होती है वह स्वयं भगवान है। (भगवान को रस के साथ पर्याय रूप में देखने की यह प्रवृत्ति आगे रसोपासकों को बल देती है।) भक्ति के अतिरिक्त उन्होंने काम क्रोध भय स्नेह हर्ष ह्रास विस्मय, उत्साह शोक जुगुप्सा और काम उन ११ स्थायी भावों को रस रूप में परिणत होने वाला माना है। इनमें से उन्होंने धर्मवीर दयावीर बीभत्स शम, ईर्ष्या से उत्पन्न द्वेष, भय, रौद्र और भयानक को भक्ति रस के अंग नहीं बन सकते। शेष में भक्तिरस के अंग बनने की क्षमता है। इस विभाजन में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मधुसूदन सरस्वती शान्त को भक्ति से पृथक कर देते हैं। शान्त को वे अद्रुत चित्त [illegible] मानते हैं पर भक्ति के लिये चित्त द्रुति अनिवार्य है। मम्मट आदि के भक्ति विषयारति का उत्तर देते हुये वे कहते हैं कि यह बात अन्य स्वनायों (के [illegible]) के लिये लागू होती है परमानन्द रूप परमात्मा के लिये नहीं। [illegible] भक्ति ही वास्तविक रस है वह सूर्य के समान है तथा शृंगारादि [illegible] के तुल्य हैं।[2]

मद्वैतवादी मधुसूदन सरस्वती के पश्चात सर्वाधिक [illegible] पूर्णतम काम भक्तिरस शास्त्र के क्षेत्र में गौडीय वैष्णव [illegible] रूप गोस्वामी का रचनाकाल विक्रम की सोलहवीं शती का [illegible] का प्रारंभ है। भक्ति रसामृत सिन्धु का रचनाकाल सं० [illegible] नीलमणि इससे कुछ बाद का होगा इस समय तक [illegible] से प्रभावित हो चुका था। वैष्णव प्रेमकाव्य [illegible]

१ भ० र० प० १३ [टिप्पणी, भाग]।
२ वही, प्रथम उल्लास, पृ० ७४ [illegible]।

का य गुणों की दृष्टि से ये रचनाएं सर्वश्रेष्ठ काव्य में परिगणन योग्य हैं पर परम्परागत काव्यशास्त्र या तो इन्हें भाव मात्र मानता है या फिर लौकिक शृंगार रस के अन्तर्गत इनका विवेचन करता है—जो कि इन भक्त कवियों को किसी भी प्रकार अभिप्रेत नहीं है। रीतिकाल की शृंगारी कविता भक्ति काव्य को सही परिप्रेक्ष्य में न लेकर उसे सामान्य शृंगार की प्रेरणाभूमि के रूप में ही स्वीकार करती रही इसका मुख्य दोष समीक्षकों (काव्यशास्त्रियों) पर है।

अस्तु रूप गोस्वामी ने अपने दो ग्रन्थों हरिभक्तिरसामृतसिन्धु एवं उज्ज्वल नीलमणि में इस वैष्णव प्रेम भक्ति काव्य का पूरा व्याकरण और शास्त्र उपस्थित कर दिया। भक्ति को रस कहकर उसकी भावात्मकता को प्रतिष्ठा देने के बाद उन्होंने उसके मनोविज्ञान को पूरी तौर पर विवेचित किया। इस विवेचना की सारी शब्दावली और धारणाएं परम्परागत काव्यशास्त्र या कामशास्त्र की ही है। सहृदय का स्थान भक्त ने लेता है। इस भक्त के हृदय में कृष्ण रति रूप स्थायी भाव समुचित विभाव अनुभाव और संचारी भावों से पुष्ट होकर भक्ति रस का रूप ग्रहण करता है। इस सम्बन्ध में हरिभक्ति रसामृत सिन्धु का यह अंश द्रष्टव्य है। विभाव अनुभावादि की परिपुष्टि से भक्ति परम रस रूपा हो जाती है। विभाव अनुभाव सात्विक भाव तथा व्यभिचारी भावों से भक्तों के हृदय में आस्वाद्यत्व को प्राप्त कराया गया जो कृष्ण रति रूप स्थायी भाव है वह भक्ति में परिणत होता है। जिनके हृदय में प्राक्तन अथवा आधुनिक जन्म की सद्भक्ति की वासना या संस्कार हैं भक्ति रस का आस्वाद उन्हीं के हृदय में होता है।[1] ऐसे सहृदय भक्तों के और भी गुण गिनाये गये हैं। इस प्रकार काव्यशास्त्र को अन्यत्र चतुरतापूर्वक भावनात्मक भक्ति के क्षेत्र में व्यवहृत किया गया है। एक इन समस्त स्थापनाओं को लगभग ६ ० उद्धरणों (स्वयं रूप द्वारा रचित तथा प्रचलित भावनात्मक एवं धार्मिक साहित्य से ग्रहीत) द्वारा समर्थित किया गया है। सारा का सारा दृष्टिकोण मानसिक शृंगारिक एवं धार्मिक वृत्तियों का विचित्र समन्वय है एवं समस्त योजना अत्यधिक जटिल है।[2]

रूप गोस्वामी ने कृष्ण रति को ही मुख्य स्थायी भाव माना और फिर उसी के पांच प्रमुख तथा सात गौण भेद किये। उसी के अनुसार ५ मुख्य भक्ति रस शान्त दास्य सख्य वात्सल्य एवं मधुर माने तथा ७ गौण रस हैं—हास्य अद्भुत वीर करुण रौद्र भयानक और वीभत्स। इस सारी योजना को ध्यान

---

१ ह० भ० र० सि० द वि १।५ ७।
२ एस० के० दे व० फ० मू० पृ० १२५।
(जनरल प्रिन्टर्स एण्ड पब्लिशर्स कलकत्ता संस्करण १९४२)।

से देखने पर ज्ञात होता है कि उन्होंने काव्यशास्त्र के नवों रसों को भी इसी कृष्ण भक्ति रस के अन्तर्गत ले लिया है। उनके शांत एवं शृंगार मुख्य रसों में परिगणित हैं तथा शेष गौण रस हैं। इसके अतिरिक्त भामह और दण्डी के युग से ही जो सख्य और वात्सल्य (और प्रीति दास्य भी) के सम्बन्ध में मत चले आ रहे थे उनको भी मुख्य भक्तिरसों में परिगणित कर लिया। इस तरह दोनों परम्पराओं का समन्वय उन्होंने अपने ग्रन्थ में किया। लौकिक काव्यशास्त्र का रसराज शृंगार यहाँ भक्ति के क्षेत्र में मधुर नाम से 'भक्तिरसराज' कहा गया है। इस सारी योजना के लिये श्री सुशील कुमार डे द्वारा दिये गये चार्ट हम आगे उपस्थित कर रहे हैं यहाँ अलग से इनका विवेचन हम विस्तार भय से नहीं कर रहे हैं।

कृष्णदास कविराज जीव गोस्वामी एवं नारायण भट्टादि ने रूप गोस्वामी का ही मुख्यतः अनुसरण किया है। जीव ने कुछ काव्यशास्त्रीय प्रश्नों को उठा कर अवश्य अपनी मौलिकता का परिचय देते हुये इस विवेचन को और अधिक पूर्ण बनाया।

रूप गोस्वामी ने भक्ति को रसरूप में स्थापित तो कर दिया था पर उन्होंने काव्यशास्त्रियों के भक्ति को रस न मानने के आक्षेपों का उत्तर नहीं दिया था। भक्ति को रस कहा जाना चाहिये इसके पक्ष में जीव ने शक्तिशाली ढंग से तर्क उपस्थित किये। वास्तव में जीव गोस्वामी की प्रवृत्ति कुछ तार्किक थी। यह सारा विवेचन अत्यधिक शास्त्रीय शैली पर है। उनके अनुसार भगवत् प्रीति ठीक ही स्थायी भाव मानी जाती है। प्रीति के नाते इसमें आस्वाद्यत्व तो है ही तथा साथ ही लौकिक काव्यशास्त्र द्वारा निरूपित स्थायी भाव के लक्षण भी इसमें विद्यमान हैं। भक्ति रसावस्था को नहीं पहुँच सकती, मम्मट आदि के इस तर्क का उत्तर उन्होंने भी मधुसूदन सरस्वती की ही भाँति देते हुए कहा है कि यह सामान्य देवताओं से सम्बन्धित रति (प्राकृत देवादि विषया) के बारे में तो कहा जा सकता है परमतत्त्व कृष्ण के बारे में नहीं। कृष्ण रति में सारे तत्त्व विद्यमान हैं। उनके अनुसार वास्तव में कृष्ण रति से सम्बन्धित विभाव अनुभावादि ही अलौकिक होते हैं। काव्यशास्त्र के विभावादि लौकिक एवं इसीलिये दोषपूर्ण एवं हीनतर होते हैं। उनका अलौकिकत्व कवि की प्रस्तुतीकरण की चतुराई के कारण दिखता है। लौकिक प्रीति मायाशक्ति द्वारा उत्पन्न प्राकृत सत्त्वगुण का ही संशोधित रूप है और अलौकिक स्वरूपशक्ति द्वारा उत्पन्न भगवत् प्रीति के सुख और रसत्व की यह समता नहीं कर सकती। लौकिक रति क्षणिक एवं अनन्त दुःख देने वाली होती है। पर अलौकिक रति स्थायी एवं विशुद्ध आनन्द है। इसलिये यह कहना गलत है कि लौकिक विभावादि से ही रस उद्बुद्ध हो सकता है। वास्तविक रस तो अलौकिक कृष्ण आदि ही जगा सकते हैं एवं रस के तथाकथित सारे तत्त्व कृष्णरति के साथ विद्यमान हैं।

रस की निष्पत्ति किसके हृदय में होती है—इस प्रश्न को भी जीव गोस्वामी ने उठाया है। उन्होंने काव्यशास्त्र के चार मत उद्धृत किये हैं (१) अनुकार्यों में (२) अनुकर्त्ता में (३) सहृदय सामाजिक में (४) अनुकर्त्ता एवं सामाजिक में। जीव के अनुसार भगवत प्रीति रस के रूप में अनुकार्य अनुकर्त्ता (भक्तादि) एवं सामाजिक (भक्ति-काव्य आदि का पढ़ने वाला) तीनों में निष्पन्न होती है। पर अनुकार्यों (भगवान का परिकर) में रस की उत्पत्ति मुख्य है। यही रागात्मिका है और उसी का अनुकरण अनुकर्त्ता रागानुगा भक्ति के नाम से करते हैं। इस रस के लिये भक्ति होना आवश्यक है और इस प्रकार अनुकर्त्ता और सामाजिक दोनों भक्त ही होते हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने आलम्बन उद्दीपन अनुभाव सात्त्विक भाव व्यभिचारी भाव रसाभाव आदि का भी लगभग रूप गोस्वामी से मिलता जुलता विस्तृत निरूपण किया है। विस्तार भय से हम उसे यहां पर नहीं दे रहे हैं। इसी प्रसंग में उन्होंने लीला के प्राकृत अप्राकृत महत्त्व को समझाते हुए उसकी काम से अलौकिकता तथा परकीया भाव का वास्तविक अर्थ भी विवेचित किया है।[1] आगे १८ वीं शती में विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इस परकीया भाव को पूर्ण शास्त्रीय सिद्धता प्रदान की तथा उसे श्रेष्ठतम रति बनाया। परम्परागत काव्यशास्त्र परकीया प्रेम को शृंगार रस के अन्तर्गत नहीं रखता पर विश्वनाथ चक्रवर्ती की वैष्णव रसशास्त्र को यह प्रमुख देन थी। यद्यपि परकीया की धारणा भागवत वल्लभ चैतन्य रूप सनातन जीव आदि में भी प्राप्त होती है पर उन लोगों ने उसके दार्शनिक एवं प्रतीकात्मक अर्थ करके नैतिक दृष्टि से सम्मान्य बनाने का प्रयास किया है जबकि विश्वनाथ चक्रवर्ती ने उसे प्रत्यक्ष रूप से स्वीकार करके प्रामाणिकता दी।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का अनुमान है कि वल्लभ हितहरि वंश एवं रसिकोपासक राम सम्प्रदाय में भी कोई न कोई आध्यात्मिक रस सिद्धांत अवश्य होगा।[2] अब तक की हुई खोजों के अनुसार फुटकर सिद्धांत ग्रन्थ एवं संकेत तो प्राप्त होते हैं किन्तु पूर्व वर्णित ग्रन्थों की भाँति साङ्गोपाङ्ग विवेचन करने वाले ग्रन्थ प्राप्त नहीं हुये। राम भक्तों के रसिक सम्प्रदाय में १८ वीं शती में गलता गद्दी पर मधुराचार्य थे। उनका जीव गोस्वामी की टक्कर का लिखा गया षट् सन्दर्भों का ग्रन्थ पूरा प्राप्त हो जाने पर शायद अभीष्ट की पूर्ति कर सके। अभी तक उसका केवल सुन्दरमणि सन्दर्भ ही प्राप्त है। (वस्तुतः मणि सन्दर्भ का केवल एक भाग मिला है।) प्राप्त भाग में सीता जी का चरित्र ही मुख्यतः वर्णित है रसशास्त्रीय संकेत यत्र-तत्र अवश्य मिल जाते हैं। हम आशा करते हैं कि शायद

---

१ एस० के० दे व० फे० मू० पृ० ३०४ ३०६ के आधार पर।

२ आलोचना अंक ६ पृ० ८६ ८७।

भविष्य में यह पूरा ग्रन्थ प्रकाश में आ सके। यहाँ अब तक उपलब्ध सामग्री के आधार पर हम अन्यत्र विभिन्न सम्प्रदायों की रसोपासनाओं का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करेंगे।

अस्तु ऊपर किये गये विवेचन से इतना स्पष्ट प्रकट होता है कि भक्ति रस और काव्यरस की दो शास्त्रीय परम्पराएं मध्यकाल में अस्तित्व में आ गयी थी। भक्तिशास्त्री भक्ति को ही एकमात्र रस मानता था तथा काव्यशास्त्री भक्ति को भाव से आगे स्वीकार करने को प्रस्तुत न थे। शायद दोनों ही अनुभव करते थे कि सचमुच ही इनकी सत्ता अलग है। वस्तुतः विभावन व्यापार का बहुत बड़ा अन्तर इन दोनों के मध्य में है एवं दोनों के सामाजिकों के लिए जिस संस्कार या साधना की आवश्यकता होती है वह परस्पर बहुत भिन्न जाति की होती है। काव्य का सामाजिक एक सामान्य सांस्कृतिक वातावरण एवं अभिरुचि से सब मिल होता है जबकि भक्त वैयक्तिक साधना के द्वारा भक्तिरस के रसास्वाद के लिए अपने को तैयार करता है। हमारा विचार है कि दोनों को अलग अलग मानने का मध्यकालीन विवेचकों का आग्रह अनुचित नहीं था।

गौडीय वैष्णव, नित्य विहारोपासक, रामोपासक, निर्गुणवादी एवं सूफियों के प्रेम दृष्टिकोण सम्बन्धी अन्तर

भक्ति विवेचन के प्रसंग में पीछे हम देख चुके हैं कि प्रेम उसका एक अनिवार्य एवं सर्वप्रधान तत्त्व है। प्रेम ही वह मुख्य साधन है जो भगवान को खींच लाता है। श्रीमद्भागवत में भी भगवान् की प्रेमवश्यता स्वीकार की जा चुकी थी। यह प्रेम मानव सम्बन्धों के पांच प्रकारों में मुख्य रूप से ढलता है जिनमें कि सर्वश्रेष्ठ माधुर्य भाव है। इन सबका विस्तृत विवेचन करते हुए हम यह भी देख चुके हैं कि रूप गोस्वामी एवं मधुसूदन प्रभृति विद्वानों ने इन्हें रस रूप में प्रतिष्ठित कर दिया था। यह सब होने के बावजूद प्रेम की भावना थी साधन ही—साध्यवस्तु थी भगवान् की कृपा या स्वयं भगवान्। रस की प्रतिष्ठा प्राप्त करने के पूर्व लौकिक या मानवीय प्रेम सादृश्य-व्यंजक था पर चूंकि भक्ति में सम्बन्धमूलकता का आग्रह अनिवार्य है इसलिये जो प्रेम प्रतीकवाद या वह भक्ति रस तक आते आते भाव जगत का सत्य बन गया। सवेदना एवं गहरी भावनामूलकता से यह क्षेत्र आप्यायित हो उठा। परन्तु यह अन्तिम परिणति न थी धीरे धीरे प्रेम साध्य हो गया रस रूप बन गया काव्यशास्त्रीय चिन्तन में ही न रुककर वह स्वयं शास्त्र अथवा दर्शन बन गया। इस क्षेत्र में भक्ति की वे समस्त विस्तृतियाँ, जिनका अत्यन्त परिश्रमपूर्वक उद्घाटन रूप गोस्वामी ने किया

था बहुत ग्रथवान नही रही। आगे के पृष्ठो म हम उ ज्वल रस एव रसोपासना के विभि न सम्प्रदायो के साम्य वषम्य विकास या सकोच तथा पारस्परिक प्रभाव की रेखाओ का अध्ययन प्रस्तुत करेंगे।

गौडीय वष्णव रस शास्त्रियो के सामने एक समस्या और भी थी जिसको कि उन्हे शास्त्रीय तक सिद्ध रूप देना था। भागवत विष्णु ब्रह्मववत आदि पुराणो एव वष्णव तन्त्रो आदि म श्रीकृष्ण की नानाप्रकार की लीलाए थी। रूप सनातन जीव प्रभृति गोस्वामियो ने इन लीलाओ को भक्ति काव्य शास्त्र के रस विवेचन के अन्तगत स्वीकार करने का उत्तरदायित्व भी निभाया एव इन्हे दाशनिक पीठिका पर प्रतिष्ठित भी करना किया। इसी कारण उनके रस विवेचन म कतिपय असगतियो भी प्राप्त होती है। सबसे विचित्र असगति यह है कि वे काव्य शास्त्र की परिपाटी तो स्वीकार करते है पर काव्य सजन प्रक्रिया को स्वीकार नही करना चाहते।[1] काव्य प्रक्रिया म कवि प्रतिभाजन्य विभावन-व्यापार का महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। यह व्यापार ही काव्य क्षेत्र म लोक की प्रत्यक्ष एन्द्रिक अनुभूतियो का अलौकिक रसास्वादन बदल देता है—इसी कारण भरतादि में रस की स्थिति मानने वाले लोल्लट एव शकुक के मत का रसनिष्पत्ति के क्षेत्र म अमान्य करार दिया गया। परन्तु जसा कि हम पीछे मधुर रस के विवेचन के प्रसंग म कह चुके है जीव गोस्वामी ने भक्ति रस की अलौकिकता विभावादि (अनुराग आदि) निष्ठ कर दी न कि विभावन व्यापार निष्ठ। काव्य रस की सत्ता क्षणिक है पर विषय (आलम्बन) की गरिमा एव भक्त का समस्त रहनी करनी आदि को दृष्टिपथ पर रखने के कारण उन्होंने रस की सत्ता को भक्ति के क्षेत्र म नित्य स्वीकार किया। यो आधुनिक मनोविज्ञान प्रथम तक का उत्तर देते हुए कह सकता है कि अनुकाय एव सामाजिक के रस म कोई मौलिक अन्तर नही है एक का ही परिष्कृत एव परिवर्तित रूप दूसरा है। तथा गौडीय वष्णव रस शास्त्रियो ने रागात्मिका एव रागानुगा का जो अन्तर पहले ही विवेचित कर दिया है वह रस की मनोविज्ञान सम्मत प्रत्यक्ष एव परोक्ष अनुभूतियो के औचित्य की कसौटी पर खरा उतरता है। जहाँ तक रस की नित्यता का प्रश्न है यह तो भक्ति रस शास्त्री भी नही कहते कि सदव भक्त रसावेश म ही रहता है। परन्तु इन विवेचन के बाद भी यह तक अनुत्तरित ही रहता है कि काव्य सजन की प्रक्रिया वे स्वीकार नही करते। यह बात काव्य शास्त्र का एक सामान्य विद्यार्थी भी जानता है कि कवि प्रतिभाजन्य विभावन व्यापार रस सिद्धान्त म मूलत अनिवाय है। उसके स्थान पर जब आलम्बन की

१ श्री ललिता चरण गोस्वामी गोस्वामी हितहरिवंश सम्प्रदाय और साहित्य।

अलौकिकता, महत्ता, गुरुकृपा, प्रभु अनुग्रह अथवा भक्त (साधक) की अपनी साधना पर बल दिया जाने लगता है तो ऐसा प्रतीत होता है कि यह रस काव्य रस से कुछ भिन्न प्रकार का है। वास्तव में ऐसी विसंगतियाँ धर्मदर्शन एवं काव्य दर्शन को एक में ही मिला देने में उत्पन्न होती हैं। इस विसंगति के होते हुए भी गौड़ीय वैष्णवों का यह विवेचन काव्यशास्त्र की विस्तृतियों में इतना सूक्ष्म और प्रामाणिक है तथा कृष्ण की समस्त काव्य पुराणादि में वर्णित लीलाओं को इतनी निपुणता के साथ अपने भीतर समेट लेता है कि साधारण बुद्धि को तर्क की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। इसलिए इस रस शास्त्र का बड़ा गहरा प्रभाव हम अन्य समकालीन तथा परवर्ती विचारों पर प्राप्त होता है। निम्बार्कीय हरि-व्यास देव[1] की सिद्धान्त रत्नाञ्जलि में रसों के प्रकार आदि में उनका अनुगमन किया गया है

शान्तं दास्यं च वात्सल्यं सख्यमुज्ज्वलमेव च।
अमी पंच रसा मुख्या ये प्रोक्ता रसवेदिभिः॥

(सि० र० रस प्रकरण पृ० १२५)

रामोपासक सम्प्रदाय की रसिक भाव की साधना का रस शास्त्र गौड़ीय वैष्णवों का ही है जिसे कि राम के प्रचलित स्वरूप के अनुसार ढाल लिया गया है। शुक सम्प्रदाय के भी ऊपर इस रसशास्त्र का प्रभाव है। पुष्टि मार्ग का अलग में कोई रसशास्त्र प्राप्त नहीं होता। पुष्टिमार्गीय भक्तों ने सम्भवतः इसी शास्त्र को स्वीकार किया था, हाँ प्रभु अनुग्रह सम्बन्धी आदि के क्षेत्र में उनका अपना देन है। रसोपासकों (सखी एवं राधा वल्लभ प्रभृति सम्प्रदाय) ने यद्यपि रस विवेचन के क्षेत्र में एकदम नया रास्ता अपनाया पर जाने अनजाने गौड़ीय वैष्णव रस विचारों से वे प्रभावित होते रहे (सम्भवतः प्रभावित करते भी रहे हैं)। इन सम्प्रदायों ने काव्यशास्त्र का पल्ला पकड़ा ही नहीं—प्रारम्भ से ही इन्होंने भक्ति रस की अपेक्षा रस भक्ति की बात

१ हरिव्यास देव को लोग १६ वीं शती के पूर्वार्द्ध तक खींचते हैं पर श्री गोपालदास शर्मा के मत (हरिदासी सम्प्रदाय और उसका वाणी साहित्य अ० प्र०) से हम सहमत हैं कि उनका समय १७ वीं शती का पूर्वार्द्ध है। सिद्धान्त रत्नाञ्जलि का रस विवेचन भी उन्हें परवर्ती ही सिद्ध करता है। यदि वे पूर्ववर्ती होते तो रूप गोस्वामी निश्चित रूप से उनको प्रमाणरूप में उद्धृत करते। सिद्धान्त रत्नांजलि के श्लोक के 'रसवेदिभिः' भी हमें गौड़ीय वैष्णवगण मालूम पड़ते हैं।

कही और अन्त म वृन्दावन रस को प्रतिष्ठित किया। अपने इस रस उन्होंने का य के रस या लोक के रस स भिन्न ही रखा--उन्ह समान स्तर पर रखने की आवश्यकता हा नही थी। यहा पर न आलम्बन है न आश्रय।[1] भगवान स्वय रस स्वरूप हैं आन द स्वरूप हैं प्रम स्वरूप है यह प्र म क्रीडा परायण होता है और इसीलिये युगल के रूप म अवतरित होता है। यह युगल सहज हा प्रकट होता है अजन्मा है नित्य किशोर है, सम वयस है। वे पहले भी थे अब भी हैं आगे भी रहेंगे।[2]

यह स्थापना उन तमाम भागवत एव का यादि म वर्णित कथाओ का "पथ कर देती है जिनको ऐतिहासिक रूप स सत्य मानन के कारण रूप गोस्वामी प्रभति विद्वानो को नाना प्रकार के सम्बन्धो की कल्पना करनी पडी थी। कोई कृष्ण का दास है कोई सखा है कोई माता पिता है तो कोई वल्लभा के रूप म हृदय द बठा है। इन्हे भक्त मानते हुये नाना प्रकार क सबधो के आधार पर भक्ति रसो की कल्पना करनी पडती है। स्वय मधुर भाव वाले उज्ज्वल श्रृगार रस क क्षेत्र म नाना प्रकार की हरिवल्लभाए सखिया सखा दूती विरह मिलन आदि को स्थापित करक गौडीय वष्णवो ने समस्त कृष्ण लीलाओ को औचित्य प्रदान कर दिया है।चूकि इन लौकिक सामाजिक सम्बन्धो का उदात्तीकरण विवेचना म हुआ था इसीलिय लौकिक का यशास्त्र की परिपाटी को भी ग्रहण करना आवश्यक हो गया था। बिना उसकी राह को स्वीकार किये व सफल हो नहीं सकत थे। वास्तव म गौडीय वष्णवो ने इस ग्रथ म भी अत्यत गुरुतम दायित्व को वहन किया कि समस्त लिखित या मौखिक परम्परा को क्रूरस स्वीकार कर लने क बाद उस अध्यात्म की राह मोड दिया। साधारण शक्ति का काय यह नही था। इस सारी परम्परा का उन्होने एक अनोखा व्याख्या दे दी।

रसोपासक (हरिदासी राधावल्लभीय परवर्ती निम्बार्कीय आदि)

---

१ तहाँ न नायक नायका रस करषावत केलि
—ध्रुवदास रति मजरी लीला (बयालीस लीला, पृ १६४)।

२ माई री सहज जोरी प्रकट भई रंग की गौर श्याम घन दामिनि जसे
प्रथमहुँ हुती अबहू आगेहूँ रहिहैं न टरिहैं तसे।
अग अग की उजराई सुघराई चतराई सुन्दरता ऐसे।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामी, कु जबिहारी समबसे जसे।
—स्वा हरिदास कलिमाल पद १।

तथा

मेरे नित्य किशोर अजन्मा विहरत एक प्रान द्व तन मा
(बिहारिणिदास चौबोला १४२।

चूकि इम मारी परम्परा को अस्वीकार कर सक थे इसीलिये उनका रस सबधी चिन्तन भी परम्परागत काव्यचिन्तन स पृथक रह सका । प्रेम या रस या हित ही वह परतत्त्व है जो सष्टि म प्रवाहित हो रहा है । युगल किशोर उसी के साक्षात विग्रह हैं । वे दिन रात प्रेमकलि मे पगे रहते है । अप्राकृत प्रेम और काम के दो सिंधु उनके ह्रदया म प्रवाहित हैं ।[1]

प्रेम क रूप का बडा मार्मिक चित्रण ध्रुवदास ने किया है 'प्रेम को निज रूप चाह चटपटी अधीनता उज्ज्वलता कोमलता स्निग्धता सरसता नूतनता सदा एक रस रुचि तरग बढत रहे। सहज सुहृद मधुरता मादिकता जाको आदि अन्त नहीं छिन छिन नूतनता स्वाद ।'[2] नेम मदन काम आदि को लगभग समानार्थक रूप म इस साहित्य म प्रयुक्त किया गया है । पर यह काम भी सामान्य नहीं है । इस प्रेम का प्रकाशन अथवा प्रेम की अभिव्यञ्जना भी कह सकते हैं । लेकिन इसकी अलौकिकता इस बात म है कि यह सब प्रेम द्वारा यन्त्रित होता है । लोक म काम स्वतन्त्र होता है पर यहा प्रेम द्वारा यन्त्रित होने म ही उसकी सार्थकता होती है ।[3] निज प्रेम ही नेम है जिसे शृगार रस के पोषण क लिये अलग स कहा गया है । प्रेम तो अनादि अनन्त है पर काम या मदन या नेम सादि और सात है । काम क्रीडा है प्रेम मूल वृत्ति है । क्रीडा म चतन्यता आवश्यक है भाव वत्ति अपने म विवश कर लेती है—इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को ध्रुवदास प्रतिष्ठापित कर सके थे ।[4] इस प्रकार प्रेम और काम दोनो ही नित्य विहार मे बने रहत हैं ।[5] ललित किशोरी दव क मत से प्रतीत होता

१ प्रेम मदन के सिन्धु द्वै बहत रहत दिन होय ।
कबहु विबस चतत कबहु छिन छिन प्यारी पीय ।
छिन छिन प्यारी पीय मधुर रस बिलसत ऐसे ।
सूक्ष्म प्रेम की बात कहो कोउ बरने कैसे ।
—ध्रुवदास सिद्धात विचारलाला बयालीस लीला पृ० ४६ ।

२ ध्रुवदास सिद्धांत विचार लीला (ब० ली० पृ० ४३ ४४) ।

३ वही, पृ० ४५ ।

४ वही, पृ० ४७ ।

५ जब प्रेम रूपी सिन्धु के तरग छाव तय विजस होइ ।
जब मदन रूपी सिन्धु के तरग छाय तब चतन्य होहि ।
कबहूँ खिलारी खेल वस कबहू खिलारी वस खेल । वही पृ० ४६ ।

६ जहाँ काम तह प्रेम है, जहा प्रेम तह काम ।
इन दोउन की सधि मे विलसत श्यामाश्याम ।
—वही० पृ० ४६ ललित किशोरी दव, साखी स० ८६६ ।

प्रकार मान के भी यहा स्थून कारण नहीं है पर मान म रस की जो प्रतिक्षण वद्ध मान स्थिति होती है उसके लिय प्रिया प्रियतम इस छद्म मान का भी धारण करत है। इसे लाड भाव भी कहा गया है—

अति प्रवीन है लाडिलो रतिपति चाह बढ़ाय।
लाड मान रूखो भई कपट प्रगट मसकाय॥[1]

मान म मनाने का जो सुख है और रूठने म प्रिय क नगाव का जो अनुभव है उससे यह नित्य जोडी वचित कसे रह सकती है ? इसी लिय उन्हें तूठने से रूठना अधिक पसन्द है —

रूठनी तूठनी रस बूठनी तूठन त अति रूठनी भाव।
प्रेम प्रवीण प्रिया पिया आतर चातुर केलिकला गुरु गाव।
नाहिं कर तब पाई पर, हस आसल यों मन मोद बढ़ाव।
श्री बिहारीदास के प्रम अभग सुरग मैं रग अनग लडाव।
(बिहारिणिदेव सवया १४५)

एसे ये युगल केलि म रत रहते है। वास्तव म वे दोनो प्रम क ही खिलौन है। प्रम के खेल ही खलते हैं प्रम के पुष्पो से ही उनकी प्र मशया रचित है। उनकी चितवनि मुसुकानि प्रम की ही है। प्रेम से रजित बातें करत है एव दोनो के मध्य प्र म कलि मची है।[2] या सूरदास ने भी कहा है कि प्र म प्र म से हा उत्पन्न होता है प्र म स व्यक्ति पार हाता है प्र म स हा ससार बधा है एव प्र म से ही परमाथ की प्राप्ति होती है। और प्रम का आ निश्चय है उससे गोपाल मिलत हैं। जबकि इन रसोपासको का युगन नही युगल केलि रस की वाछा रहती है और इसा म उन्हे रस मिलता है। उनक प्राणा का आधार यह निकु ज माधुरी ही है।[3] नारद शाण्डिल्य भागवतकार आदि व्रज दवियो क प्र म को श्रष्ठ बताते हैं।

---

१ ललित किशोरी देव साखी ६१४
२ प्र म के खिलौना दोऊ, खलत हैं प्र म खल।
प्र म फूल फूलनि सों प्र म सेज रची है।
प्रेम ही की चितवनि, मुसुकनि प्रम ही की।
प्र म रगी बाते करैं प्र म केलि मची है।
—ध्रुवदास (ललिता चरण गोस्वामी द्वारा गो० हित हरिवश सिद्धात और साहित्य म पृ १८२।
३ ध्रुवदास सिद्धात विचार सोला ब० लो० पृ ४५।

हरिभक्ति रसामृत सिन्धु में गौतमीय तन्त्र का उल्लेख हुआ है कि 'प्रेमैव ब्रज गोपरामाणामाम इत्यगमत प्रथाम ।'[1] पर यहाँ यह जाता है कि उनके काम में कृष्ण सुख की चाह ही अधिक थी। कृष्णदास कविराज ने भी गोपी प्रेम को 'कृष्ण सुखैक तात्पर्यप्राप्त' ही कहा है। पर वास्तव में अंग-संग द्वारा सुख तो वहाँ प्राप्त होता है और इस प्रकार से शारीरिकता की गन्ध बनी ही रहती है। पर इन रसोपासकों ने सहचरियों को केवल इस निकुंज माधुरी रस से ही आप्यायित होना माना है और इसीलिये इसे गोपियों के प्रेम से भी ऊपर कहा है —

गोपिन के सम भक्त नाहीं, उद्धव विधि तिनकी रज चाहीं,
तिन मन कछू सकामता आई तातें बिच अन्तर परयो भाई।
दुख को मूल सकामता, सुख को मूल निहकाम।
विरह वियोग न तहाँ कछु रस में ध्रुव सुखयाम।[2]

इन गोपियों के मन में तनिक भी विकार नहीं है। इस बात को स्वयं राधा भी जानती हैं कि जो उनको अच्छा लगता है वही सखियों को भी रुचता है—

मो मन मोहे सांवरो मेरे नहीं विकार।
हौं तोहि पूछो लाडिली ताको कहा विचार।
तब हँसि बोली राधिका सखि कत पूछत मोहिं।
जो मेरे मन में बस सो मोहत है तोहि॥
—स्वामी रसिक देव सि० के दोहा ५ ६।

सहचरियाँ इस रस क्रीडा का अनिवार्य अंग हैं। 'सखी सम्प्रदाय में तो हरिदास स्वामी का खिलाड़ी तथा लाडिली लाल का खेल कह दिया गया है। इस प्रकार खेल खिलाड़ी के वश में रहता है।'[3] प्रेम की उत्तुंग तरंगों वाली नदी में विहार के आवर्त में पड़े युगल को सखी ही अपने साहस से किनारे लाती हैं। यह लीलारस सखियाँ

---

1 प्रस्तुत लेखक को गौतमीय तन्त्र की उपलब्ध प्रति में यह कथन प्राप्त नहीं हो सका है।
2 ध्रुवदास अनुरागलता लीला बयालीस लीला पृ० २४०-२४१।
3 ललितकिशोरी देव सिद्धांत की साखी ७७३ एवं ८४१।
4 मदन तरंगिनि में परे उरझे बार सिवार।
परहिं साहस सखी के अति आवत विहार॥१२६
श्रम हू निवारत कर धरत, कबहूँ लावत तीर।
श्रीबिहारिनिदास हुलास मन देत अधीरन धीर॥१३०
—बिहारिणिदास सिद्धान्त दोहा।

के लिये ही है।[1] इन सखियों का प्रम सर्वोपरि है इसके ऊपर न और सुख है न और रस।[2] लाल लाडिली के प्रम से ही इन सखियों का प्रम भी सरस है —

लाल लाडिली प्रम ते सरस सखिनु को प्रम।
अटकी हैं निज प्रम रस परसत तिनहि न नेम।[3]

सखियां ही इस रस की इस प्रकार प्रेरक भी हैं। और वे इस प्रम रस का आस्वादन भी करती हैं। युगल रूप भी रस रूप है— रसावस तथा भोक्ता और भोग्य (लाल और लाडिली) रूप में प्रकट होकर आस्वाद्य भी हैं। इस प्रकार हम यह सकते हैं कि रस ही कार्य है रस ही कारण है और रस ही प्रयोजन है। प्रिया प्रियतम एक हैं वे रस के लिये ही दो हैं और अत स्थानीया सहचरियों का भी परम प्रयोजन इस रसतत्त्व का आनन्द लेना है। गौडीय वैष्णव प्रेम को पुमर्थों में महान तक पहुचे थे पर इन्होंने एक कोटि और आगे स्थापित की कि युगल प्रेम का रस ही परम पुरुषार्थ है। केवल प्रम कह देने से तो स्वयं भगवान के प्रति किसी भी भाव से (प्रिया भाव से भी) भजन हो सकता है पर इस रसचिन्तन में इसके लिये अवकाश नहीं छोड़ा गया। क्योंकि उपासक का प्रम युगल स्वरूप लाल लाडिली की प्रेम मदन मयी केलि से रस रूप बना रहता है। जो प्रेम श्यामा श्याम के हृदय में प्रवाहित है उसी का प्रकाश उपासक के चित्त में भी है। इस प्रकार यह रस अनुकार्य निष्ठ होते हुए भी सामाजिक निष्ठ भी हो जाता है। इस विवेचना ने वृन्दावन रस[4] कहना चाहा है। वृन्दावन रस इसलिए कि इसमें व्रजलीला की मर्यादाएं नहीं हैं। यों इसे उज्ज्वल रस मधुर रस आदि नामों से प्राचीन आचार्यों ने अभिहित किया है। इस रस की प्रकृति को ठीक ही पहचान कर हरिराम व्यास ने कहा था —

---

१ दिव्य केलि कल अगन विराम।
लीलारस सखियन हित काम।
—गो हितरूपलाल रसरत्नाकर हस्तलिखित प्रति।

२ ध्रुवदास सिद्धांत विचार लीला ब० लीo पृ ८५

३ वही प्रेमलता लीला २४५

४ जब रसिकन रस सुनि पायो रस समुझि रसिकन में आयो।
रस स्वादी रस स्वाद बतायो स्वाद पाइ रस माद बताओ।
—स्वा विहारिणिदास रस के चौवाला स० १५।

५ रसिक अनन्यनि कृपा मनाऊ वृन्दावन रस कछु इक गाऊ
—ध्रुवदास रस मुक्तावली ब० लीo पृ० १४७।

यहि रस नवधा भक्ति उबीटी,
रति आगोति क्या की।
रहनि कहनि सब ह्वो तें न्यारी,
'व्यास' अनन्य सभा की।
—व्यास वाणी पद ७६ (भ० कवि० व्यास जी पृ० २११)

रस सम्बन्धी इन अन्तरों के होते हुए भी यह भक्ति अपने चरित्र और स्वभाव में रागानुगा ही है। ब्रज के जनों की भक्ति रागात्मिका कही गयी है तथा उनका अनुकरण करने वाली भक्ति रागानुगा है जिसमें कि विधि निषेध की मर्यादा नहीं होती। कूलों को उखारती नदी सी इसकी गति होती है। ठीक वही स्थिति नित्यविहारोपासना की भी है। अन्तर इतना ही है कि वहाँ व्रज के परिकर में अनेक भावनाओं वाले व्यक्ति हैं पर यहाँ पांच सखियाँ हैं अतः उन सखियों के ही गुणों का गान करते हुए उनकी सेवा को ही हृदय में विचारते रहना चाहिए। ध्रुवदास ने सिद्धान्त विचार लीला में स्पष्ट कहा है या रस का अधिकारी सखी हैं के जिन भक्तनि के सखियन को भाव है।[1] उनका निर्देश है कि इनका भाव धरि याही रस की उपासना में कपट छाड़ि भ्रम छाड़ि निश्चिन्त मन दें यह विचार में रहे।[2] अन्यत्र उन्होंने सखियों के नाम रूप एवं क्रिया आदि की चर्चा करते हुए कहा है कि जितनी तत्र में इन सबके नाम दिए हुए हैं सबसे प्रथम इनके चरणों की वन्दना करके श्यामाश्याम का सेवन करो। सखियों की इस सेवा को जो नित्त विचारता रहता है उसे यह प्रेम रस निश्चित ही मिलता है तथा उसी सुख में उसका चित्त रंगीन रहता है।[3] इस स्थिति पर पहुंचने के लिये आवश्यक है कि मन से पुरुष भाव पूर्णतः समाप्त हो जाय। रागानुगा की श्रेष्ठतम अवस्था यही तो है जब भक्त अपनी भौतिक देह के स्थान पर भावदेह ग्रहण कर लेता है।[4] नित्य विहार की इस साधना का परिणाम और फल यही है कि जब तक यह हाड़ माँस का शरीर है तब तक प्रिया का भजन एवं तन छूट जाने पर प्रिया के संग के नित्य परिकर में प्रवेश।[5] रागानुगा के समान ही विधिनिषेध के जजाल

---

१ ध्रुवदास ब० ली० पृ० ४६।
२ वही पृ० ४५।
३ वही रस मुक्तावली लीला, पृ० १५७।
४ सखी भाव तब जानिये पुरुष भाव मिट जाय
—स्वा० रसिकदेव सिद्धान्त के दोहा, १३।
५ जौं तन रहे तो प्रिया भज तन छूटे प्रिया संग
दोउ विधि आनंद अति निरख करति अभंग।
—ललित किशोरी देव साखी ३२०।

को दूर करके ही स्वा० हरिदास की पद्धति प्रारम्भ हुई है।[1]

श्री बांके बिहारी जी की सेवा पद्धति में स्वा० हरिदास जी ने विधि निषेध का निकालकर रसोपासकों की माधुर्य की भावना के अनुकूल पूजा पद्धति बनाई।[2] राधावल्लभ सम्प्रदाय के मुख्य भक्त एवं सिद्धान्त प्रतिपादक सेवक जी का भी मत है या रस में विधि नहीं निषेध वहां न नगन ग्रहन न वेध तहां कुदिन दिन में कछु नहीं। नहां शुभ अशुभ मान अपमान स्नान क्रिया जप तप नहीं।[3] भक्ति में न जनेऊ का प्रश्न है न जाति का। वास्तव में विधि निषेध के बन्धन तो अन्य धर्म रूपी मगों के लिये हैं भागवत धर्म तो केहरि के समान निर्बन्ध है उसके लिये इन नियमों की क्या आवश्यकता। यहाँ पर इतना ध्यान दिला देना हम आवश्यक समझते हैं कि विधि निषेध की मर्यादा के उल्लंघन का तात्पर्य सामाजिक आचार एवं नैतिक मर्यादाओं का अस्वीकरण नहीं है। समस्त भक्ति सम्प्रदायों में नैतिकता वैराग्य परोपकार निरभिमानता अक्रोध करुणा और सहानुभूति आदि नैतिक मानवीय मूल्यों को महत्त्वपूर्ण माना गया है। इन भक्तों का नैतिक पक्ष वास्तव में अपने आप में एक स्वतन्त्र अध्ययन का विषय है इसीलिये हम उसे यहां विस्तार से विवेचित नहीं कर रहे हैं। विस्तार में जाना हमारे लिये प्रसंगान्तर भी होगा। वस्तुतः विधि निषेध के अस्वीकरण का तात्पर्य मात्र इतना है कि बाह्य साधना पर अधिक अवलम्बित रहने की अपेक्षा अपने वैयक्तिक परिष्कार चिंतन (कन्टेम्प्लेशन) एवं प्रभुकृपा पर अधिक विश्वास रखना चाहिए। इन सम्प्रदायों में साधन भक्ति (वैधी भक्ति मर्यादा भक्ति गौणी भक्ति विहिता भक्ति अपरा भक्ति शास्त्र भक्ति आदि) का कोई स्थान न होकर मात्र फल भक्ति (रागानुगा प्रेमा परा अविहिता साध्य पुष्टि आदि) का ही विवेचन हुआ है।

---

१ रसिक अनन्य हरिदास जू गायो नित्य विहार
सेवा हू में दूरि किय विधि निषेध जंजार।
—ध्रुवदास भक्तनामावलि लीला पृ० २८।

२ गोपालदत्त शर्मा स्वामी हरिदास जी का सम्प्रदाय और उनका वाणी साहित्य पृ० ४४१ (अप्र प्र०)।

३ सेवक वाणी पृ ८२।

४ भक्ति में कहा जनेऊ जाति
—हरिराम व्यास पद १०४ (भक्त कवि व्यास जी पृ० २१७)।

५ विधि निषेध के बन्ध हैं और धर्म मग मानि।
केहरि पुनि निर्बन्ध है भगवत धर्महि जान।
—ध्रुवदास भजन सत लीला ब० ली० पृ० ७२।

रामोपासक सम्प्रदायों में भी रागानुगा भक्ति ही विकसित हुई है। जो छोटे मोटे अन्तर प्राप्त होते हैं, वे राम की ऐतिहासिक—पौराणिक लीला के आग्रह के कारण हैं। जब कि कृष्ण के प्रसंग में द्वारका मथुरा की लीलाओं को उपेक्षित करके माधुर्य भाव को ही सर्वोत्तम बताया जा सका था वहीं पर राम का राजा रूप इतना अधिक प्रतिष्ठित था कि उसकी उपेक्षा सम्भवतः साधारणीकृत भावना के विपरीत बठती। इसी कारण माधुर्य के साथ ऐश्वर्य भाव भी उस साधना में प्रतिष्ठित बना रहा।[1] ऐश्वर्य भाव की इस स्वीकृति के कारण परिकर धाम सेवाविधि एवं भाव सम्बन्धों में भी कुछ छूट देनी पड़ती है। जिस समय नित्यविहारोपासना में लोग स्वीकार करते हैं उस समय भी ऐसे जनों की कल्पना अनिवार्य हो जाती है। जो राज्य की व्यवस्था करते हैं परामर्श देते हैं या अन्य ऐसी व्यवस्थाएं करते हैं जिससे कि युगल के विहार में व्याघात न उपस्थित होने पावे। परिकर का यह विस्तार हो जाने से शान्त, दास्य, सख्य या वात्सल्य के वे सबंध जीवित रूप से स्वीकृत हो जाते हैं जिनका कृष्ण भक्ति माधुर्य के वेग में कृष्णोपासक सम्प्रदायों में अभाव हो गया था। राजा को राजभवन में अनिवार्य रूप से रहना ही चाहिए वन विपिन उनके लिये कुछ काल के लिये ही हो सकते हैं। इसी कारण वृन्दावन धाम जसी कल्पना इस सम्प्रदाय में नहीं हुई। कनक भवन अवश्य कल्पित हुआ पर वृन्दावन का जैसा माहात्म्य प्रतिष्ठित नहीं हुआ। वास्तव में रामोपासकों में सखी भावना एवं गोपी भावना जैसा स्पष्ट अन्तर बहुत विकसित नहीं हुआ। सीता की भी श्रेष्ठतम परिणति इस सम्प्रदाय में वैसी नहीं हुई जैसी कि कृष्णोपासक राधावल्लभीय या ललित सम्प्रदाय में हुई है। इसे हम यों भी समझ सकते हैं कि रामोपासकों में विविध सम्प्रदायों का स्पष्ट विभाजन एवं धारणाओं का स्पष्ट अन्तर नहीं हुआ। गद्दियां एवं अखाड़े अलग हुए पर जैसे सम्प्रदाय वृन्दावन में अलग अलग विकसित हुए हैं उसका रामोपासकों में अभाव रहा है। इसी कारण रामोपासना अधिक समन्वय प्रधान रह सकी है। सम्भवतः इसी कारण डा० भगवती प्रसाद सिंह ने उसे मध्यम मार्ग की साधना कहा है।[2] परन्तु इन कतिपय लीला-संबंधी अन्तरों के होते हुये भी रस दृष्टिकोण रामोपासकों का गौड़ीय वैष्णवों से अभिन्न है। जो कुछ यहाँ कृष्ण एवं राधा को

१ नहिं केवल ऐश्वर्य करि माधुरि रीति में मन्न।
तेहि न उपासक मानिये महारक्ष मति रक्त॥
नहिं केवल माधुर्य पुनि धरै न चित्त ऐश्वर्य।
रसिक तहिं नहिं मानिये राम उपासक वर्य॥
—जनकराज किशोरी शरण रसिक अली। धनयनतरंगिनी पृ० ३।

२ रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय, पृ० १४८।

ध्यान म रखकर कहा गया है उसी का राम एव सीता तथा परिकर क लिय अपने पक्ष मे मोड लिया गया है। मूल रस दृष्टि की इस एकता के कारण ही हम उसका अलग से विवेचन नही कर रहे हैं।

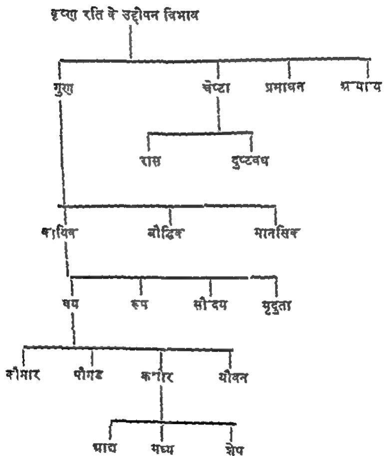
जहा तक निगु णवादियो के रस दर्शन का प्रश्न है उस पर अतिरसो क विभाजन के अन्तर्गत लाया तो जा सकता है परन्तु एक विशिष्टता का ध्यान म रखना होगा कि ये लोग किसी प्रकार की ऐतिहासिक पौराणिक सगुण लीला एव अवतारतत्त्व का स्वीकार नहा करते। इस कारण रागानुगा विधि उन पर लागू नही होती। अपने भीतर पूर्ववर्ती किसी भक्ति के भावो को जगाने क स्थान पर प्रत्यक्ष रूप से (बिना किसी माध्यम के) प्रभु स सबध जाडते हैं। पर प्रभु की काई सगुण साकार कल्पना भी उन्ह स्वीकार नहा है दूसरी ओर भक्ति म प्रभु क साथ एक निजी सबध की कल्पना अनिवार्य है। इस द्वन्द्व स्थिति म एक ही रास्ता शेष रहता है कि भगवान क लिये प्रतीक पद्धति म हो व जनक जननी स्वामी व राजा प्रियतम या भरतार हो जाते हैं। एव भक्ति के आवेग म जब ये प्रतीक वास्तविकता ग्रहण करने लगते हैं तो उसे हम रागात्मिका भक्ति कह सकते हैं न कि रागानुगा।

सूफियो म भी प्रेम प्रभाव वाली भाव पद्धति ही स्वीकार्य है पर काव्य के क्षेत्र मे उसका प्रकाशन कहानी के माध्यम स होता है। स्पष्ट है कि कहानी मे पात्र घटनाए परिस्थितियाँ एव स्थल विशेष होगे। इस रूप म एक प्रकार की लीला कल्पना अपने आप हो जाती है सूफी साधक इस प्रकार सगुण लीला गायको के कुछ निकट आते प्रतीत होते हैं। पर एक दूसरा अन्तर यहा ध्यान म रखना होगा रागुणोपासको की लीला ऐतिहासिक एव पौराणिक सन्दर्भो द्वारा अनुकूलित होकर जन मानस म प्रतिष्ठित रहती है एव गौडीय वष्णवो आदि को उस सीमा क भीतर ही सिद्धान्त कथन तथा रचनात्मक अभिव्यजनाए करनी पडी हैं। पर सूफियो क सम्मुख ऐसा कोई बन्धन नही रहता। व कथा का सगठन प्रतीको एव अभिप्रायो का प्रयोग अपने मनानुरूप करने के लिये स्वतन्त्र होत है। इतना ही नही कथा के य पात्र घटनाए आदि भी प्रतीक हो होते है। अत यदि कहानी का तत्त्व अलग कर दिया तो अपनी प्रतीक पद्धति एव भक्ति योजना म य निगु णोपासको क निकट आ जायेंगे। इतना अवश्य है कि कहानी तत्त्व एव सुदर वस्तु म परमात्मा का स्वरूप देखने की प्रवृत्ति के कारण सूफियो की अभिव्यक्तियाँ अधिक भाव प्रवण एव रसात्मक प्रतीत होन लगती हैं।

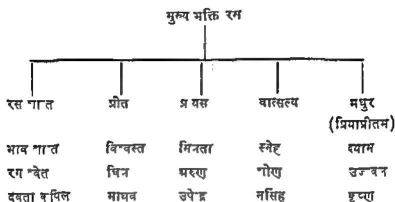
अगले अध्याय म हम इन विविध भक्ति-सम्प्रदायो के सद्धान्तिक रूप को अधिक विस्तार स विवेचित करेंगे। उपास्य धाम परिकर उपासना भाव एव नाना-तत्त्व का यह विस्तृत विवेचन इन सम्प्रदायो क साहित्य को समझने की समुचित दृष्टि दे सकेगा।

परिशिष्ट क [भक्तिरस संबंधी विविध चार्ट]

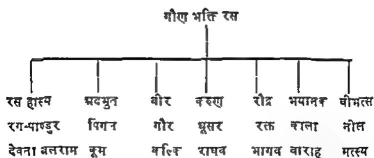
डा० सुशीलकुमार दे के आधार पर



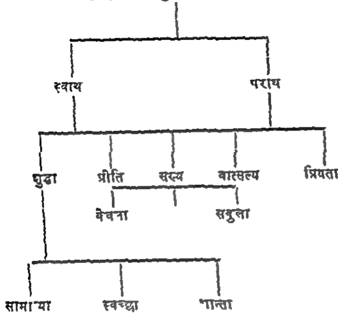
—व० फे० मू०, पृ० १२८


मुख्य भक्ति रस
रस शान्त
प्रीत
प्रेयस
वात्सल्य
मधुर (प्रियाप्रीतम)
भाव शान्त
विश्वस्त
मित्रता
स्नेह
श्याम
रंग श्वेत
चित्र
अरुण
शोण
उज्ज्वल
देवता कपिल
माधव
उपेन्द्र
नृसिंह
कृष्ण

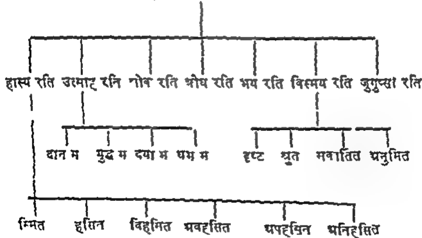
—पृ० १४५


गौण भक्ति रस
रस हास्य
अद्भुत
वीर
करुण
रौद्र
भयानक
बीभत्स
रंग-पाण्डुर
पिंगल
गौर
धूसर
रक्त
काला
नील
देवता बलराम
कूर्म
कल्कि
राघव
भार्गव
वाराह
मत्स्य

—पृ० १४५

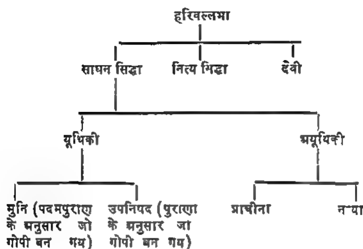

कृष्ण रति के मुख्य स्थायी भाव
स्वार्थ
परार्थ
शुद्धा
प्रीति
सख्य
वात्सल्य
प्रियता
केवला
संकुला
सामान्या
स्वच्छा
शान्ता

—पृ० १४४


कृष्ण रति के गौण स्थायी भाव
हास्य रति
उत्साह रति
शोक रति
क्रोध रति
भय रति
विस्मय रति
जुगुप्सा रति
दान में
युद्ध में
दया में
धर्म में
दृष्ट
श्रुत
संकीर्तित
अनुमित
स्मित
हसित
विहसित
अवहसित
अपहसित
अतिहसित

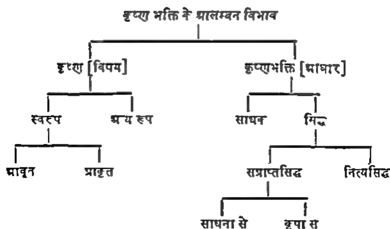
—पृ० १४४

(१)



—पृ० १५६

(२)



—पृ० १५६

चतुर्थ अध्याय

प्रेमाभक्ति का साधना दर्शन

पीछे हम ब्रज लीला एवं वृन्दावन अथवा निकुंज लीला का अनेक बार उल्लेख कर चुके हैं। ब्रज एवं निकुंज लीलाओं के पीछे स्थित धारणाओं का मुख्य अन्तर लीलाओं के इन स्वरूपों को लेकर हुआ है। मध्य युग के वैष्णव साहित्य की दो मुख्य विशेषताएँ कही जाती हैं—लीलावाद तथा मधुर रस की प्रधानता। यों तो हरिलीला-तत्त्व की परम्परा विद्वानों ने वेदों से ढूंढ निकाली है।[1] पर उसके ऐतिहासिक क्रम विकास को दिखाना हमारा उद्दिष्ट कार्य नहीं है। इस ऐतिहासिक क्रम विकास में हमारे लिए महत्त्वपूर्ण बात है कि लीला सृष्टि क्रिया से आगे बढ़कर स्वरूप शक्ति से संबंधित हो जाती है। आरम्भ में सृष्टितत्त्व की व्याख्या के रूप में ही लीलातत्त्व सम्मुख आता है मूल में इसके शक्तितत्त्व था। शक्तितत्त्व मानसत्तात्मक ग्रंथों का प्रदेय है धर्म-साधना को। शाक्त ग्रंथों में विश्वव्यापिनी आद्याशक्ति को योनिरूपा कहा गया है। पांचरात्रों में भी परमात्म धर्मधर्मी लक्ष्मी रूपा शक्ति को जगत की योनि संबोधित किया गया है।[2] इसी पांचरात्र संहिता में भगवान् पुरुषोत्तम को लीलारस समुत्सुक भी बताया गया है।[3] इस प्रकार स्त्री पुरुष मिथुन के प्रतीक रूप में यह कल्पना आ जाती है। शैव दर्शनों में भी प्रसरद्भक्तिवल्लनाल जगल्लहरि केलय कहकर धारामयी शक्ति के कल्लोल के अन्दर से ही संसार रूपा लहरी की संभूति मानी है। इस जगत-लहरी को लेकर ही परमेश्वर क्रीड़ा या लीला करते हैं। इस प्रकार लीला का क्षेत्र बहिः सृष्टि तक रहा। पर श्री वैष्णवों ने लीलावाद को ब्रह्म की स्वरूपभूता शक्ति के साथ संबद्ध कर दिया। पद्म पुराण में भी इस संबंध में एक अस्पष्ट संकेत प्राप्त होता है जिसमें कि परव्योम (विष्णु के स्वधाम) को भोगार्थ एवं निखिल जगत-लीला के लिये कहा गया है। भोग में ही उनकी नित्य स्थिति

---

१ डा० मुंशीराम शर्मा भारतीय साधना और सूर साहित्य चतुर्थ अध्याय।

२ या च सा योनिर्लक्ष्मीस्तद्धर्मधर्मिणी—अहिर्बुध्न्य संहिता ६।७।

३ वही ४१।४

भी स्वीकार की है। भोग और लीला दोनों ही उनकी शक्तिमत्ता पर आधृत है[1] पर अभी भोग शब्द लीला से अलग बना हुआ है। श्री वैष्णवों ने उसे पूरी तरह स्वरूपशक्ति के साथ संबंधित कर दिया। यामुनाचार्य ने जिस भाव विभोर कंठ से लीला गान किया है परवर्ती वैष्णव कवियों का यह रस विदग्ध लीलाएं दार्शनिक दृष्टि से भी ठीक उसकी परम्परा में आती हैं —

> अपूर्वनानारसभावनिर्भर प्रबुद्धया मुग्धविदग्धलीलया।
> क्षणाणुवत् क्षिप्तपरादिकालया प्रहर्षयेत महिषीं महाभुजाम ॥[2]

अर्थात् परादिकाल जहां क्षण के समान नगण्य है ऐसी अपूर्व नाना रस भाव निर्भर प्रबुद्ध मुग्ध और विदग्ध लीला द्वारा ही विशाल भुज (पुरुषोत्तम) अपनी वल्लभा को हर्षयुक्त कर रहे हैं।

इस उद्धरण में निर्भ्रांत रूप से लीला स्वरूप शक्ति के साथ संबंधित ही नहीं होती मधुरता की ओर भी प्रयाण करती है। इसी से मिलाकर बारहवीं शती में रचित लीलाशुक बिल्वमंगल के कृष्ण कर्णामृत का निम्न श्लोक पढ़ा जाय तो ज्ञात होगा कि यामुनाचार्य में जो लीला वर्णनमात्र है वह भक्त का प्रयोजन बन जाती है। श्लोक यों है —

> यानि त्वच्चरितामृतानि रसनालेह्यानि धन्यात्मना
> ये वा शैशवचापलव्यतिकरा राधावरोधोन्मुखा
> ये वा भावितवेणुगीतगतयो लीला मुखाम्भोरुहे
> धारावाहिकया वहन्तु हृदये तान्येव तान्येव मे ॥[3]

अर्थात् तुम्हारा जो चरितामृत धन्यात्माओं द्वारा आस्वादन योग्य है तथा शैशव एवं चपलता से उत्पन्न राधा के अंतःपुर (में केलि करने के लिए) की ओर उन्मुख जो क्रीड़ाएं हैं अथवा तुम्हारे मुखारविंद पर जो भावयुक्त वेणु गीत गति लीलाएं हैं वे ही धारावाहिक रूप से निरन्तर मेरे हृदय में बहती रहें।

इस प्रकार स्वरूपशक्ति के साथ की जाने वाली ये लीलाएं प्रधान ही नहीं हो उठती हैं उनका आस्वादन परमपुरुषार्थ भी बन जाता है। लीला दर्शन लीला आस्वादन एवं लीला-गान ही भक्तों का ध्येय बन जाता है। सहस्रों कवियों भक्तों ने इस लक्ष्य में नाना भाव से रसों को उपलब्ध करना चाहा है। स्वयं

---

१ पद्म पुराण २२७।६ १० ।
२ यामुनाचार्य श्री स्तोत्र रत्न ४४।
३ लीलाशुक कृष्णामृत १०६।

जयदेव ने भी दूर से ही इस लीला को गाया है।[1] वस्तुतः लीला का एक प्रयोजन था—सृष्टि रचना पर इस स्वरूप-लीला का कोई प्रयोजन नहीं रहा। वल्लभाचार्य ने स्पष्ट कर दिया—'नहि लीलायां किंचित् प्रयोजनमस्ति लीलाया एव प्रयोजनत्वात्।'[2] इस दृष्टिकोण की ही तर्कसिद्ध परिणति है जब यह कहा गया कि लीला आस्वादन ही अपने आप में चरम ध्येय है, मुक्ति या भगवत्प्राप्ति भी नहीं। मध्य युग का सारा वैष्णव साहित्य इस दृष्टिभंगी से पूरी तरह अनुरंजित है। यहीं पर यह याद कर लेना भी अनुचित न होगा कि साहित्य की प्रेमदेवी राधा जब वैष्णव तत्त्वज्ञान से सम्पृक्त हुई तो वे साक्षात् भगवान की स्वरूप शक्ति की श्रेष्ठतमवृत्ति ह्लादिनी शक्ति की सारभूत विग्रह मान ली गयीं। उन पर आधारित सारा प्रेम काव्य इस नव-तत्त्वदर्शन के आलोक में एक नये अर्थ से भर ही नहीं उठा, उसने आगे के साहित्य के लिए जो राजपथ उद्घाटित हुआ वह १६वीं शताब्दी तक बराबर जनाकुल बना रहा।

पद्मपुराण के पीछे उद्धृत अंश में परव्योम को ही भागाय कहकर उसके धामत्व का संकेत किया था। परन्तु ऐतिहासिक, पौराणिक, साहित्यिक एवं दार्शनिक अनेक उपादान आदि आ जुड़े तो ब्रज मथुरा द्वारका वृन्दावन गोलोक श्वेत-द्वीप, साकेत अयोध्या आदि तत्स्थानीय बन गये। इसी क्रम में परिकर, उनके नाम रूप सेवा उपास्य एवं परिकर के मध्य विविध संबंध आदि भी सम्मिलित एवं विवेचित होते गये। परवर्ती वैष्णवों के विविध सम्प्रदायों के अन्तर मुख्यतः इन विस्तृतियों को लेकर ही हैं। परात्पर-तत्त्व की लीला का दर्शन ध्यान एवं आस्वादन सबको साम्य है (निर्गुणियों एवं सूफियों की चर्चा हम अलग से करेंगे)। इस संबंध में हमें तनिक भी मत-वैभिन्य प्राप्त नहीं होता। सभी इस लीला की मुख्य प्रवृत्ति प्रेम रति या भक्ति का जयगान करते हैं। पर इसके बाद अनेक प्रश्न उठ खड़े होते हैं—युगल का स्वरूप क्या है? उनमें से प्रत्येक का अलग अलग स्वरूप एवं गुण तथा पारस्परिक संबंध क्या है? इन दोनों में प्रधान कौन है? भक्त पर अनुग्रह किसका होता है? फिर इनकी लीलाएँ कौन सी हैं? शास्त्र पुराण-वर्णित या और कोई? ये लीलाएँ कहाँ पर होती हैं तथा उस धाम का स्वरूप, गुण एवं प्रभाव क्या है? इस लीला में भाग लेने वाले परिकर में कौन कौन है? उनके नाम रूप, गुण क्रिया एवं संबंध क्या हैं? साधक के लिए इस सारे विस्तार में क्या करणीय है? ये ही कुछ प्रश्न हैं जिन पर विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायों में हमें मत वैभिन्य दिखाई पड़ता है और जिनके

---

१ राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहःकेलयः—जयदेवरचित गीतगोविन्द श्लोक १।

२ वल्लभाचार्य अणुभाष्य पृ० ६०१ (ब्रह्मसूत्र २।१।३३ का भाष्य)।

आधार पर प्रत्येक अपनी स्वतन्त्र सत्ता की घोषणा करता है। आगे हम इन्हीं प्रश्नों की चर्चा करते हुए इन विविधताओं पृथक्तासूचक तत्त्वों अथवा समानताओं का रूप स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे।

चैतन्य सम्प्रदाय मे कृष्ण, राधा, वृन्दावन, गोपी एवं सखी सबंधी धारणाओं का सैद्धान्तिक विवेचन

उपास्य धाम एवं परिकर का स्वरूप

उत्तर मध्य युग की समस्त हिन्दी काव्य धारा राम और कृष्ण इन दो नामों के चतुर्दिक ही प्रवाहित है। इन दोनों नामों में इतिहास एवं तत्त्वदर्शन का कुछ ऐसा विचित्र मेल हो गया है कि इनका व्यक्तित्व अपूर्व आकर्षण से भर उठा है। यद्यपि हमारे आलोच्य काल तक आते आते इन देवताओं का रूप बहुत कुछ स्थिर हो चुका था परन्तु फिर भी नयी नयी लीलाएं कल्पित होती रहीं नये संदर्भ में वे प्रतिष्ठित किये जाते रहे। साराश यह कि संवत १५०० से सं० १९००वि० तक के काल में उनका रूप निरन्तर नवनवायमान ही रहा। उनकी रूप माधुरी उनकी लीला उनका विलास उनका अनुग्रह अप्रतिरोध्य गति से हिन्दी प्रदेश के जन मानस में सचरण करता रहा। वे कृष्ण बन गोपीवल्लभ हुए राधा अधर सुधा लंपट हुए कुंज विहारी हुए भक्त पर सहज अनुकम्पा का वारि बरसानेवाले वारिद भी बने। मथुराधीश द्वारकापति रुक्मिणीकान्त, गोपसखा नन्दपुत्र यशोदा सुवन आदि नाना प्रकार के स्वरूप भी उनके हुए। राम शार्ङ्गपाणि जो धरा का भार हटाने आये थे तथा गीता में जिनके लिये कहा गया था—राम शस्त्रभृतामहं वे भी तुलसी के मर्यादा पुरुषोत्तम बने पर वहीं तक न रुक कर और विकास होना है। इस विकास में परिकर द्वारा नाना भाव से सवित और उपास्य तो हैं ही साथ ही— जानक्या सह सप्राप्त शृङ्गाररसनिस्पन्द तथा महारासरसोल्लासी विलासी सवदेहिनाम भी हो गये। आगे विविध सम्प्रदायों की अवधारणाओं के अनुसार इन लीला विग्रहों का रूप स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे।

गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय में कृष्ण, उनके धाम एवं परिकर सम्बन्धी धारणा

*गौडीय वैष्णव-सम्प्रदाय ने कृष्ण को पूर्ण ब्रह्म माना है। ब्रह्म को साधा*रणतया निर्विशेष माना जाता है पर इस सम्प्रदाय में वे सविशेष एवं सशक्तिक

हैं। भागवत में श्लोक —

> वदंति तत्तत्त्वविदस्तत्त्व यज्ज्ञानमद्वयम
> ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।—१।२।११

में कहे गये ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान इन तीनों शब्दों में भगवान शब्द को ही स्वीकार करके सर्वोच्च माना गया। दार्शनिक दृष्टि से शक्ति प्रमाण के प्रकार भेद और तारतम्य को लेकर एक ही अद्वय अखंड परमतत्त्व की तीन अवस्थाएँ ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान हैं। पर भगवान में सभी शक्तियाँ अपने सर्वश्रेष्ठ रूप में रहती हैं, इसलिये उनको इस मत में श्रेष्ठतम माना गया है।[1] इसके पश्चात भागवत के आधार पर कृष्ण को स्वयं भगवान माना गया।[2] इस प्रकार कृष्ण ही अवतारी हैं शेष अवतार हैं।[3] पुरुषावतार गुणावतार लीलावतार सब उन्हीं के प्रकाश हैं। अद्वय ज्ञान और तत्त्ववस्तु कृष्ण ही हैं[4] तथा कृष्णदास कविराज के अनुसार

> कृष्ण एक सर्वाश्रय कृष्ण सर्वधाम
> कृष्णेर शरीर सब विश्वेर विश्राम[5]

वे सर्वकारण कारण हैं[6]। वे विरुद्ध धर्माश्रय हैं। यों तो भगवत् तत्त्व की अनन्त शक्तियाँ हैं पर इनमें तीन प्रधान हैं—स्वरूपशक्ति, माया शक्ति और जीव शक्ति। इन्हें अन्तरंगा, बहिरंगा और तटस्था शक्ति भी कहते हैं[7]। अंतरंगा या स्वरूपशक्ति सर्वश्रेष्ठ है। कृष्ण का स्वरूप सत्, चित् और आनन्दमय है अतः यह स्वरूप शक्ति भी तीन प्रकार की है। आनन्द अंश से उद्भूत शक्ति ह्लादिनी

---

१ जीव गोस्वामी तत्त्व सन्दर्भ (पट सदर्भ संस्करण)।
२ एते चांशकला पुंस कृष्णस्तु भगवान स्वयम—भागवत १।३।२८।
३ अवतार सब पुरुषेर कला अंश स्वयं भगवान कृष्ण सब अवतंस
  चै० च०, आ० ली० परि० २ पृ० १४।
४ वही पृ० १४।
५ वही पृ० १६।
६ ईश्वर परम कृष्ण सच्चिदानन्दविग्रह।
  अनादिरादिर्गोविन्द सर्वकारणकारणम्। ब्रह्म-संहिता ५ १।
७ श्रीमद्वल्लभ सिद्धान्तरत्न संग्रह पृ० २८।
८ शक्तिश्चत्रिधा अन्तरंगा बहिरंगा तटस्था च
  —जीव गोस्वामी भगवत्सदर्भ, पृ० ६५।

और सत अश से उद्भूत शक्ति स धिनी और चित् अश म उदभूत शक्ति सवित कहलाती है।[1] स्वरूप शक्ति क इन प्रकारा का चचा हम आग था राधा क प्रसग म करेंगे। वही पर हम देखगे कि गौडीय वष्णव मतवाद म इनका स्थान कितना महत्त्वपूर्ण एव अनिवाय है। बहिरगा या मायाशक्ति है जो जगत का कारण है तथा तटस्था शक्ति जीवशक्ति है जो अनन्त है।[2] इस शक्ति कल्पना क पीछे विष्णु पुराण की परा क्षत्रज्ञ अविद्या शक्तिया का कथन विद्यमान है। स्वय जीव गोस्वामी न उन्ह प्रमाण रूप म उद्धत किया है (भगवत स दभ पृ० ६६)। यही पर यह भी याद रखना होगा कि य शक्तिया भगवान की ही हैं। भगवत-तत्त्व म स्वरूपशक्ति एव माया शक्ति दाना का ही योग है—क्वल एक न । बहिरगा शक्ति के रूप म भी भगवान का ही वभव प्रकाशित एव विकीर्ण होता है। इस शकर की माया क समान भ्रमात्मक न समझना चाहिए। इस प्रकार जगत की उत्पत्ति भगवान की ही बहिरगा शक्ति म बनाकर जगत को सापेक्ष रूप से सत्य ही नहीं भगवान की शक्ति का परिणाम भी बना दिया है। वास्तव म सारे वष्णव सम्प्रदाय परिणामवादी हैं विवतवादी नही। जीव सबधी इनकी धारणा भी महत्त्वपूर्ण है। जीव न तो अतरगा शक्ति है न बहिरगा। उसम दानो सीमाओ की ओर जाने की क्षमता या प्रवृत्ति होती है—वह दानो स ही सबधित है और दाना से अलग एक प्रकार स तटस्थ ही नही मध्यस्थ जसी उसकी स्थिति है।[3] इन शक्तिया क अतिरिक्त भी भगवान की अनन्त शक्तियो की कल्पना की गयी है तथा भगवततत्त्व की नराकार कल्पना म इन शक्तिया को स्त्री रूप म देखा गया है। इस नराकार सशक्तिक भगवततत्त्व क साथ ही लीला धाम एव परिकर की कल्पना न्यायोचित हो है। जीव गोस्वामी न इनका विस्तत विवेचन भगवत परमात्म तत्त्व एव कृष्ण सदभ म किया है यहा हम उस सारी दार्शनिक

---

१ चत० चरि०म ली परि० ८ प० १४६ (स० क्षीरोदचन्द्र गोस्वामी पूर्णचन्द्र शील कलकत्ता।

२ (क) च चरि आ० ली परि २ पृ १६।

(ख) तत्रान्तरगया स्वरूपशक्त्याख्यया पूर्णनेव स्वरूपेण वकुण्ठादि स्वरूप वभव रूपेण च तदवतिष्ठत तटस्थया रश्मि स्थानीय चिदेकात्मशुद्धजीवरूपेण बहिरगया मायाख्यया प्रतिच्छविगत वर्णशावल्यस्थानीय तदीय बहिरगवभव जडात्म प्रधानरूपेण चेति चतर्धात्वम। जीव गोस्वामी, भग सदभ पृ० ६५ ६६।

३ (क) एस० के० दे० व० फ मू० पृ० २१२ २१३।

(ख) जीव गोस्वामी भग० सदभ पृ० ६५ ७४।

४ जीवगोस्वामी भगवत-सदभ पृ० २६८।

धार्मिक चर्चा में नहीं पड़ेंगे।

पर इससे यह न समझ लेना चाहिये कि कृष्ण कुछ अजीब अद्भुत हैं। वैष्णव कवि की स्पष्ट घोषणा है कि कृष्ण के जितने भी खेल हैं उनमें सर्वोत्तम नरलीला है। नरवपु ही उनका स्वरूप है वे गोपवेशधारी हैं वेणुकरधारी हैं नव किशोर हैं नटवर हैं और अपने अनुरूप ही नवलीलाएं करते हैं

कृष्णेर जतेक खेला, सर्वोत्तम नर लीला नरवपु ताहार स्वरूप
गोपवेश वेणुकर नवकिशोर नटवर नव लीला हय अनुरूप[1]।।

भगवत्तत्त्व की चर्चा करते हुये गौड़ीय वैष्णव दार्शनिकों ने उस विशिष्ट रूपाकार एवं गुणोंवाला पूर्णतम व्यक्तित्व प्रदान किया है। इस व्यक्तित्व प्रदान का यह स्वाभाविक विकास है कि देवता का एक अपना ही अनुरूप सखा और प्रति भात करता हुआ धाम हो उसका अपना वर्ण एवं प्रसाधन सज्जा हो तथा अपने सहयोगी (परिकर) हों। यद्यपि यह सत्य है कि वह जीव में भी रहता है एवं जगत में भी उसकी व्याप्ति है क्योंकि ये सब उसकी शक्तियों के ही अंग हैं परन्तु माया शक्ति और जीवशक्ति का आवास परमात्मा है न कि साक्षात भगवान। भग वत्तत्व के रूप में उसका अपना एक पृथक धाम रूप एवं परिकर है। रूप उसका श्याम है एवं आकार के रूप में मानवाकृति की कल्पना है। नाना प्रकार के प्रतीकार्थों वाले उसके आभरण भी गिनाये गये हैं उन सबकी चर्चा में पड़ना हमारे निये प्रसंगान्तर होगा।

धाम को परमात्मा की स्वरूपभूत प्रकाशशक्ति कहा गया है[2]। तात्पर्य यह कि भगवान् और उनके परिकर का आवास और धाम स्वरूपशक्ति की ही अभिव्यंजना है। स्वरूपशक्ति के प्रकाश इस लोक को स्वरूपशक्ति के ही एक अन्य प्रकाश भक्ति के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है[3]। इस प्रकार धाम भगवान् का नित्य और सत्य अंग हो जाता है भगवतविग्रह के समान ही सत्य होते हुए भी यह उस साधक के लिये ही प्रकट होता है जो द्वारका, मथुरा, वृन्दावन आदि भौमिक स्थानों में नित्य होने वाली लीला की धारणा करता है।

---

१ च० च० म० लीला परि० २१ पृ० ७७५।
२ जीव गोस्वामी भगवत-संदर्भ, पृ० १६६।
३ वही पृ० १६४ ह्लादिनी सारांशप्रधान गुह्यविद्या एवं भक्ति तत्प्रयतलक्षणा वृत्ति द्वयरूपा गुह्यविद्यया तद्वृत्तिरूपा प्रीत्यात्मिका भक्ति प्रकाशते।
४ एस० के० डे० वै० फे० मू० पृ० २२२।

यही बात भगवान के परिकर के लिए भी कही जा सकती है। परिकर भी ह्लादिनी शक्ति का विलास है।[1] परिकर उनके माधुर्य का उपभोग करता है न कि ब्रह्मत्व का। यह धारणा महत्त्वपूर्ण है। इसी से सम्बन्धित गोपीभाव एवं सखीभाव आदि की साधनाएँ हैं। इस सम्बन्ध में हम आगे अधिक विस्तार में विवेचना करेंगे। जीव गोस्वामी ने भगवत सन्दर्भ के अन्त में अपने सारे भगवत तत्त्व विवेचन को संक्षेप में अत्यन्त सारगर्भित शब्दों में उपस्थित किया है। इसमें कहा गया है कि जो सच्चिदानन्दैक रूप स्वरूपभूत अचिन्त्यविचित्र अनन्त शक्तियुक्त है, जो धर्म होकर भी धर्मी है, निर्भेद होकर भी भेदयुक्त है, अरूप होकर भी रूपी है, व्यापक होकर भी परिच्छिन्न है, जो परस्पर विरोधी अनन्त गुणों के निधि हैं, जो स्थूल सूक्ष्म विलक्षण स्वप्रकाशाखण्ड स्वरूपभूत श्रीविग्रह हैं, स्वानुरूपा स्वशक्ति की आविर्भावलक्षणा लक्ष्मी के द्वारा जिनका वामांग रंजित है, जो निजधाम में स्वप्रभाविशेषाकार रूप परिच्छद और परिकर-सहित विराजमान हैं, जो आत्माराम मुनिगण के चित्त को भी स्वरूप शक्ति के विलासरूप अद्भुत गुणलीलादि द्वारा लीलारस से चमत्कृत करते रहते हैं, जो स्वयं सामान्य प्रकाशाकार में ब्रह्मतत्त्व के रूप में अवस्थित हैं, जो जीवाख्य तटस्थाशक्ति के और जगत प्रपंच की मूलीभूता मायाशक्ति के आश्रय हैं, वही भगवान हैं।

भगवान सम्बन्धी इन दार्शनिक स्थापनाओं को रूपरेखा देने का तात्पर्य यहाँ पर मात्र इतना है कि आगे के विवेचन के लिये अपेक्षित परिप्रेक्ष्य बना रहे। जब कृष्ण को स्वयं भगवान कहा गया तो उसका अर्थ स्पष्ट रूप से यह है कि कृष्ण में वे समस्त विभूतियाँ, नित्यत्व एवं विशिष्टताएँ स्वीकार की जाएँ जो भगवततत्त्व के बारे में कही जा चुकी हैं। इसी स्थल पर गौडीय वैष्णवों की महत्त्वपूर्ण देन प्रारम्भ होती है। उन्हें सारी कृष्णलीला की दार्शनिक व्याख्या करनी थी, उसे शास्त्र एवं धर्म की मान्यता देनी थी। ऐसा लगता है कि कृष्ण लीला वर्णन के क्षेत्र में भी दो स्पष्ट परम्पराएँ थीं जिनका समझौता एवं समन्वय उन्हें करना पड़ा है। एक परम्परा भागवत पुराण की थी जिसमें गोपियों को सर्वश्रेष्ठ भक्त मान लिया गया था। नारद एवं शाण्डिल्य के भक्तिसूत्र इसी परम्परा को दृढ़ करते हैं।[2] दूसरी परम्परा लौकिक (सेक्यूलर) साहित्य की थी जो राधा को कृष्ण की प्रेमिका के रूप में उपस्थित कर रहा था। बारहवीं से पन्द्रहवीं तक आते आते इस दूसरी परम्परा को धर्म एवं तत्त्व-दर्शन के भीतर स्थान मिलता प्रतीत होता है। इस प्रकार एक ओर गोपियों प्रेम की आदर्श थीं जिन्होंने अपना सब कुछ कृष्ण के अर्पण

१ जीव गोस्वामी : भगवतसन्दर्भ पृ० १६८।

२ वही पृ० १६६-२००।

कर लिया था और दूसरी ओर राधा थी जो प्रेम की सर्वश्रेष्ठ प्रतीक थी। भक्ति के क्षेत्र में कान्ता भाव के ये दो आदर्श सामने थे। पर भागवत पुराण में गोपीभाव को ही स्वीकार किया गया। यहीं पर एक प्रश्न उठता है कि भागवतकार ने राधा नाम क्यों नहीं अपनाया। इस सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि या तो भागवतकार को राधा नाम ज्ञात नहीं था या वह राधा भाव का विरोधी था। पर इतना तो "अनयाराधितानून" (१०।३०।२४) वाले श्लोक से लगता ही है कि एक कृष्णप्रिया गोपी से वह परिचित है पर उसका उपयोग गर्वहरण के नैतिक उपदेश के लिये किया गया है। भागवत के पहले के विष्णुपुराण[1] और फिर हरिवंश में भी एक विशेषप्रिया गोपी का उल्लेख मिलता है अतः इस गोपी से भागवतकार यदि परिचित था तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इसके अतिरिक्त राधा कृष्ण की प्रेमगोष्ठियों की परम्परा हाल की गाथा सप्तशती से लगातार प्रकाश रूप में उपलब्ध होती है। भागवतकार जैसा सिद्धसाधक साहित्यकार इस परम्परा से अपरिचित रहा हो यह भी स्वीकार करने को मन नहीं करता। ऐसा प्रतीत होता है कि भागवत के तत्त्व दर्शन के यह अनुकूल राधा नहीं जँचती थी। गोपियाँ तो जीव की प्रतीक हैं जो सर्वस्व अर्पित कर देती हैं भक्त स्थानीया हैं जो निस्संकोच निर्विशेष भाव से कृष्णशरणापन्न हो जाती हैं पर राधा की स्वरूप परम्परा से ऐसा न था। वे कृष्ण बराबर की हकदार थीं। गीत गोविन्द में हम स्पष्ट देखते हैं (इस लौकिक काव्य परम्परा की सर्वोत्तम परिणति इसमें ही हुई है) कि राधा ही कृष्ण के विरह में व्याकुल नहीं होतीं कृष्ण भी राधा अभाव में विह्वल दिखायी पड़ते हैं। ऐसा पात्र भागवत पुराण की प्रतीक योजना के बहुत अनुकूल नहीं प्रतीत होता। शास्त्रराम एवं वसन्तराम की जिन पृथक परम्पराओं का अनुमान आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लगाया है[2] संभव है कि वे गोपीभाव एवं राधाभाव अथवा भागवत प्रेम प्रतीकवाद एवं लौकिक शृंगारिक भावना मूलक प्रेम की परम्पराओं से संबंधित रहा हो। गौड़ीय वैष्णव दार्शनिकों ने इन दोनों परम्पराओं एवं आदर्शों को अत्यन्त निपुण भाव से धर्म-दर्शन स्तर पर सामंजस्य किया। इस सामंजस्य में राधा कृष्ण लीलागान की परम्परा को अत्यधिक बल मिला यही नहीं एतत्संबंधी तत्त्व विवेचना ने पूरे प्रेमाश्रित के साहित्य के मूल की दार्शनिक आधार भूमि का काम किया। ऊपर के निर्माण शिल्प में कुछ

---

१ अत्रोपविश्य सा तेन कापि पुष्पैरलङ्कृता।
अन्य जन्मनि सर्वात्मा, विष्णुरभ्यर्चितो यया। विष्णुपुराण
५।१३।३५।

२ आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, मध्यकालीन धर्मसाधना
पृ० १३५।

कपूरे या जानिया अथवा वाह्य संज्ञा में भले ही कुछ अंतर हो पर मूलाधार वही रहा।

गौडीय वैष्णवों के सामने एक दूसरी समस्या और भी थी। गौडीय गोस्वामियों के आविर्भाव के बहुत पहले ही वृन्दावन, मथुरा, द्वारका में श्रीकृष्ण की विचित्र लीला का पुराणादि में बहुप्रकार से पल्लवित हो उठी थी। सोलहवीं शताब्दी के पहले राधा की कहानी भी लोकमानस का आकर्षण बन चुकी थी। वृन्दावन के गोस्वामियों को जब राधा-कृष्ण-तत्त्व की व्याख्या करनी पड़ी तो श्रीकृष्ण की विचित्र लीला से सम्बन्धित उपाख्यानों को उन्हें लेना पड़ा और उनके मूल सिद्धान्त से संगति रखकर व्याख्या करनी पड़ी[1]। अस्तु व्रज, मथुरा, द्वारका आदि विविध स्थानों पर फली विविध प्रेम प्रसंगों को कल्पित करनेवाली इस अनन्त वैचित्र्यवाली लीला को भी मूल अपने सिद्धान्त के साथ उन्हें मिलानी थी। इन गौडीय तत्त्व विवेचकों ने इस समस्या का भी सामना अपनी प्रतिभा के बल पर किया। बल्कि कहना यों चाहिए कि दोनों ही समस्याओं का समाधान उन्होंने एक ही स्तर पर किया। आगे हम इसी की चर्चा कर रहे हैं।

यह सारा दुरूह सा प्रतीत होनेवाला कार्य वास्तव में, भगवान की शक्ति कल्पना पर आधारित है। प्रमुख शक्तियों की चर्चा हम पीछे कर चुके हैं तथा यह भी कह चुके हैं कि एक ही अद्वय परमतत्त्व शक्ति की अभिव्यक्ति एवं स्फुरण के आधार पर ही ब्रह्म, परमात्मा या भगवान कहा जाता है। ब्रह्म में शक्ति का अस्तित्व या साभावविशेष का अनुभव नहीं होता। परमात्मा में जीवशक्ति एवं माया तत्त्व से प्रत्यक्ष संबंध होता है परन्तु भगवान-तत्त्व में इन तटस्थ एवं बहिरंग शक्तियों का मूल आधारत्व तो रहता ही है साथ ही स्वरूप शक्ति के साथ प्रत्यक्ष लीला मग्नता भी विद्यमान रहती है। इस प्रकार भगवान लीलानन्दमय एवं महैश्वर्यशाली पुरुषोत्तम सिद्ध होते हैं[2]।

भगवत तत्त्व के प्रकटीकरण की एक और क्रमपद्धति भी इस सम्प्रदाय में स्वीकार की जाती है। शक्ति के क्रिया भेद के स्थान पर प्रकटीकरण की चार भूमिकाएँ भी मानी गयी हैं। प्रथम तो सदा स्वरूप में अवस्थान श्री कृष्ण परम तत्त्व के एस ही प्रथम अवस्थान हैं। दूसरी भूमिका तद्रूपवैभव में अवस्थान की है। भगवान कृष्ण के अवतारादि शुद्ध सत्त्वयुक्त वैकुण्ठादि धाम एवं धाम के नित्य परिकरगण इस द्वितीय भूमिका के ही प्रकाशन हैं। यह दोनों ही भूमिकाएँ स्वरूप शक्ति से संबंधित हैं। तटस्था शक्ति द्वारा परमतत्त्व के अवस्थान की तृतीय भूमिका जीव है एवं बहिरंगा माया शक्ति द्वारा जगत के रूप में परिणति इस

१ डा० शशिभूषण दास गुप्त : श्री राधा का क्रम विकास, पृ० २१४।
२ श्री जीव गोस्वामी के भगवत सन्दर्भ के आधार पर।

तत्त्व के अवस्थान की चतुर्थ भूमिका है।[1] यह भेद भगवान की अचिन्त्य शक्ति द्वारा सम्भव होता है। अचिन्त्य होने के कारण ही ये शक्तियां कल्पना न होकर स्वाभाविकी हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वरूपशक्ति के द्वारा पूर्ण भगवान धाम परिकर आदि के रूप में परमतत्त्व व्यंजित होता है तथा माया शक्ति के द्वारा जगत रचना का कार्य होता है। माया शक्ति का रूप बहुत कुछ परम्परा प्राप्त ही है पर उस परमतत्त्व के ही एक रूप में परमात्मा से संबंधित करके माया सृष्टि को मिथ्या नहीं सत्य सिद्ध कर दिया गया है।[2] इस बात का उल्लेख हम पीछे भी कर चुके हैं। गौडीय वैष्णवों के शक्ति सिद्धान्त में तटस्थाशक्ति की कल्पना बड़ी महत्त्वपूर्ण है। साधारणतः जीव को माया शक्ति के अन्तर्गत माना जाता है पर इस सिद्धान्त में वह तटस्थाशक्ति है जो न पूरी तरह माया शक्ति के अधीन है और न वह स्वरूपशक्ति के ही अन्तर्गत है। वह दोनों ओर जा सकता है। माया यदि विमोहित कर ले तो वह विषय-वासनाओं में लिप्त हो जाय पर यदि भक्ति (जो स्वरूपशक्ति ही है) जाग जाय तो वह स्वरूपशक्ति की लीला रुचिरी का आस्वादन करने में समर्थ हो जाता है। माया चूंकि जड़ है अतः वह इस चेतनशक्ति को विमोहित कर सकने में सदैव समर्थ नहीं होती। लीला के दृष्टि से भगवान् की स्वरूपशक्ति सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। स्वरूपशक्ति के साथ ही भगवान् का विचित्र लीला विलास चलता है। इसी शक्ति के सम्भ से भगवान में पूर्ण ऐश्वर्य एवं पूर्ण माधुर्य की सत्ता होती है। भगवान कृष्ण सच्चिदानन्द हैं—यानी कि उनके पूर्णस्वरूप में सत चित और आनन्द ये तीन धर्म होते हैं। इन्हीं तीनों धर्मों का अवलम्बन करके स्वरूपशक्ति भी त्रिधा हुई—संधिनी संवित् और ह्लादिनी। संधिनी शक्ति सत्ताकारी है उसके द्वारा भगवान स्वयं सत्तारूप होकर भी सत्ता धारण करते हैं और कराते हैं इस सर्वदेशकालद्रव्यादि प्राप्तिकारी भी कहा गया है। संवित विद्याशक्ति है—भगवान स्वयं ज्ञान रूप हैं पर इस शक्ति के द्वारा वे स्वयं जानते हैं और दूसरों को भी जनाते हैं। गुणोत्कर्ष से उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होते हुए इनमें सर्वोच्च ह्लादिनी होती है—यह वह शक्ति है जिसके द्वारा स्वयं ह्लादक भगवान ह्लादित होते हैं एवं दूसरे को भी आह्लादित करते हैं।[3]

---

१ डॉ० श० भू० गुप्त रा० कृ० वि०, पृ० १८८।

एवं

जीव गोस्वामी भगवत-संदर्भ, पृ० ६/ ६७।

२ वही-परमात्म संदर्भ, पृ० ७१ ७२।

३ जी० गो० भगवत संदर्भ पृ० १९१।

भगवान की इस मूल शक्ति के भीतर एक स्वप्रकाशता-लक्षणवृत्ति विशेष है। इस स्वप्रकाशता लक्षणवृत्ति विशेष के द्वारा जब भगवान के स्वरूप या स्वरूप शक्ति का आविर्भाव होता है तो उसी को विशुद्ध सत्व कहते हैं।[1] भगवान की यह स्वरूप शक्ति दो प्रकार से प्रकट होती है—एक अपने स्वरूप में और दूसरी अपने स्वरूपविभव में। विशुद्ध सत्त्व से ही पूर्ण भगवान श्रीकृष्ण के धाम परिकर सवकादि रूप वैभव का विस्तार होता है। अपने इस वैभव के साथ ही रसमय श्रीकृष्ण का लीला वैचित्र्य होता है। जिस प्रकार भगवान नित्य हैं उसी प्रकार उनका धाम नित्य है पार्षद परिकर और सेवक नित्य हैं तथा वन की लीला भी इसीलिये नित्य है। वास्तव में ये सब एक ही हैं केवल भगवान के प्रकार विशेष वैचित्र्य को प्रकट करने के लिये हैं।

जीव गोस्वामी ने भगवत् सन्दर्भ की इन स्थापनाओं को स्पष्ट एवं व्यावहारिक धरातल पर श्री कृष्ण सन्दर्भ में उपस्थित किया है। वस्तुतः ऐसा लगता है कि कृष्ण की काव्य पुराणादि वर्णित लीला उन लोगों के लिये ठोस ऐतिहासिक सत्य थी और उसको ही सब प्रकार से प्रामाणिक एवं सब प्रकार से साधक सिद्ध करने के लिये ही पूर्वालोचित तत्त्व विवेचन का सिस्टम खड़ा किया गया था। श्री कृष्ण सन्दर्भ में इसीलिये उन्होंने कृष्ण लीला से संबंधित सभी स्थानों व्यक्तियों एवं घटनाओं आदि को पूर्व विवेचित भगवत् लीला का ही प्रकट रूप माना। नाना प्रकार की लीलाओं को अभिन्न बताने का प्रयास गौडीय तत्त्व विवेचकों ने बराबर किया। रूप गोस्वामी का प्रयास दार्शनिक धार्मिक स्तर पर न होकर काव्यशास्त्र के स्तर पर है। जीव गोस्वामी का प्रयास दार्शनिक धार्मिक स्तर पर हुआ। काव्य के वर्णन प्रसंगों के प्रसंग में कृष्ण दास कविराज ने उसे ही उपलब्ध करना चाहा। नारायण भट्ट बलदेव विद्या भूषण एवं विश्वनाथ चक्रवर्ती प्रभृति समस्त चैतन्यमतानुयायियों का प्रयास इसी दुष्कर प्रतीत होने वाले कार्य को सुकर बनाना था।

इस कार्य को लीला का प्रकट और अप्रकट[2] विशेषता के माध्यम से सम्पन्न किया गया। श्रीकृष्ण के वपु लीला धाम परिकरादि का स्वरूप प्रकट भी है अप्रकट भी। इस प्रकट और अप्रकट में कोई भेद नहीं है। दोनों स्वरूपतः एक ही हैं। श्री कृष्ण की अचिन्त्य अनन्त शक्ति के द्वारा युगपत् यह प्रकट और

---

१ तदेव तस्या मूलशक्तेस्त्र्यात्मकत्वे सिद्ध येन स्वप्रकाशतालक्षणेन तद्वृत्तिविशेषेण स्वरूप स्वयं स्वरूपशक्तिर्वा विशिष्टं वाविर्भवति तद् विशुद्ध-सत्व। वही—पृ० १६१।

२ जी गो० श्रीकृष्ण-सन्दर्भ पृ० ४०४—' श्रीकृष्ण लीला द्विविधा अप्रकटरूपा प्रकटरूपा च।

अप्रकट धाम और लीला विस्तारित होती हैं।

धाम

वैकुण्ठ, गोलोक आदि धामों की चर्चा वैष्णवों के बीच पहले से ही होती आयी है। जीव गोस्वामी ने इन्हीं का चतुरतापूर्वक उपयोग करते हुए पुराणादि के अनुसार ही भक्ति के लोकों आदि की चर्चा करते हुए वैकुण्ठादि धामों में गोलोक को सर्वोच्च धाम माना।[1] यही गोकुल भी है—तदेव गोलोक व्याचिख्या तस्य गोकुलेन सहाभेदमाह।[2] यह गोलोक भी श्री कृष्ण के समान ही प्रापंचिक और अप्रापंचिक (प्रकृत और अप्रकृत) वस्तुओं में व्याप्त होता है तथा नाना रूपों में व्यक्त होता है।[3] जब भगवान प्रकृत जगत में अपने स्वरूप को प्रकट करते हैं तभी धाम भी परिकर समेत प्रकट होता है परन्तु भगवान के सदृश ही वे अपने अप्रकृतत्व को कभी नहीं खोते क्योंकि धाम, परिकर आदि भगवान के समान ही शुद्ध सत्व के प्रकाश होने के कारण माया प्रकृति से परे होते हैं। कृष्ण दोनों ही स्थानों पर विराजमान रहते हैं। वास्तव में जैसे भगवन्‌विग्रह की कल्पना नराकार रूप में हुई है वैसे ही धाम की कल्पना पौराणिक स्थानों के आधार पर ही इस सम्प्रदाय में हुई है। गोलोक (अप्रकटधाम) में वैसे ही नदी, वृक्ष, कुंज, लता, गोपी-गोपी आदि की कल्पना की गयी है जैसी इस लोक की पौराणिक कथाओं में वर्णित है। दोनों प्रकार के धामों में अन्तर इतना ही है कि लोक वृन्दावन में कृष्ण प्रकट और अप्रकट दोनों रूपों में रहते हैं पर अप्रकृत गोलोक में केवल अप्रकट रूप में ही विद्यमान हैं। यदि कोई यह कहे कि एक ही साथ धाम की यह दूसरी सत्ता नहीं हो सकती तो जीव गोस्वामी का जवाब होगा कि जैसे एक ही श्री विग्रह बहुत रूपों में प्रकाशित हो सकता है वैसे ही धाम भी अनेक रूपों में समानगुण और नाम से प्रकाशित हो सकता है। इस प्रकार गोलोक गोकुलयोरभेदेनैवोक्तम्।[4]

धाम संबंधी एकता के प्रतिपादन के पश्चात भी एक समस्या जीव

---

१ जी० गो० श्रीकृष्ण-संदर्भ पृ० ३६६—तदेव सर्वोपरि श्रीकृष्ण लोकों स्तात्ति सिद्धम्।

२ वही पृ० ३६६।

३ स गोलोक सर्वगत श्रीकृष्णवत सर्व प्रापंचिकाप्रापंचिकवस्तु व्यापक महान भगवद्रूप एव।

—जीव गोस्वामी श्रीकृ० संदर्भ पृ० ३६८।

४ वही पृ० ३७१ ३७१ के आधार पर।

५ वही पृ० ३७४।

गोस्वामी के सामने शेष थी कि कृष्ण की पौराणिक लीला केवल गोकुल (वृन्दावन) ही नहीं मथुरा एवं द्वारका के साथ भी घनिष्ठ रूप से सबंधित है। अतः जीव गोस्वामी ने प्रकाश भेद से कृष्ण-लोक के तीन रूप मान हैं—द्वारका, मथुरा और वृन्दावन। इन तीनों धामों में लीला परिकरादि भी तीन प्रकार के हो जाते हैं।[1] प्रकाश भेद से तात्पर्य है कि भगवान के जिस रूप में जभी लीला जहाँ पर है उसी के अनुसार अन्तर हो जाता है। ये धाम मात्र ऐसे स्थान नहीं हैं जहां भगवान की प्रतिमा स्थापित हो या जहां पर परम तत्व का सूक्ष्म स्पन्दन हो बल्कि भगवान के साक्षात निवासस्थान हैं तथा ये प्रपंचातीत नित्य अलौकिक एवं भगवान नित्यास्पद हैं। इन तीनों धामों में भी वृन्दावन लीला ही सर्वोत्तम है। यहीं पर माधुर्य अपने विशुद्ध रूप में है ऐश्वर्य से आच्छन्न नहीं है।

भगवत सन्दर्भ में जीव गोस्वामी ने माधुर्य को ह्लादिनी शक्ति का ही एक पक्ष बताया है। माधुर्य की अभिव्यक्ति के लिये ही वे यहां सुन्दर किशोर रूप में रहे। अपनी समस्त प्रकट लीला में तो वे यहां किशोर रूप में रहे ही[2] उसके बाद वृन्दावन में अप्रकट लीला में वे किशोर रूप में ही विद्यमान हैं। इसलिये किशोरावस्था को ही लीला की वास्तविक वय मानना चाहिये। चूंकि यह वय वृन्दावन में ही है अतः वृन्दावन को ही सर्वश्रेष्ठ धाम मानना होगा।[3] गोकुल व्रज और वृन्दावन को इस सम्प्रदाय में समानार्थक रूप में प्रयुक्त किया गया है।

लीला

पीछे हम भगवान की प्रकट और अप्रकट लीला[4] की चर्चा कर आये हैं और यह भी कहा था कि गौडीय वैष्णव विवेचन में लीला के इन दो रूपों की धारणा अत्यधिक महत्वपूर्ण है। दोनों ही लीलाएं नित्य हैं बल्कि यों कहें कि एक ही लीला दो रूपों में प्राकृत जीव की सामाग्री के कारण व्यक्त होती है। माया शक्ति-बद्ध जीव के लिए लीला अप्रकट है पर अपने साधकों के

---

१ वही पृ० ३७ (तत्र लोकस्तत्तल्लीला परिकरभेदेनांशभेदात द्वारकामधुरागोकुलाख्यस्थानत्रयात्मक इति निर्णीतम।

२ अत्र पूर्णकिशोरव्याप्तिर्येव व्रज प्रकटलीलारोपा जीव गोस्वामी —श्रीकृ० स पृ० ४२१।

३ (क) श्रीमद्वैष्णव सिद्धान्तरत्न संग्रह राधा गोविन्द नाथ (हिन्दी अनु० हकीम श्यामलाल) पृ ७५।
(ख) एस० के० दे० व० फ० मू० २६४ २६४।

४ श्रीकृष्णलीला द्विविधा अप्रकट रूपा प्रकट रूपा च —जी० गो० श्रीकृ० स०, पृ० ४ ५।

ऊपर कृपा दया तथा प्रेम के कारण वह प्रकट होती है इस प्राकृत जगत में भी अप्रकट-लीला प्राकृत जगत और उसके विषयों से एकदम अस्पृष्ट रहती है—प्रापंचिक लोकस्तदवस्तुमिदचामिश्रा ।[1] इसकी निरन्तरता के बारे में जीव गोस्वामी का कहना है कि काल के समान यह भी आदि मध्य और अवसान से रहित स्वप्रवाहा है—कालवदादिमध्यावसान परिच्छेद रहितस्वप्रवाहा ।[2] इस लीला में भी यादवेन्द्रत्व व्रजयुवराजत्व आदि बने रहते हैं (यानी कि व्रज द्वारका आदि के पौराणिक चरित्र नित्य अप्रकट लीला में भी विद्यमान बता कर समस्त पौराणिक लीला का दर्शीकरण कर दिया गया)। प्रकट लीला भी भगवान के विग्रह के समान ही कालादि से अपरिच्छिन्न है पर स्वरूप शक्ति की इच्छा के कारण आरम्भ और अन्त भी प्रतीत होता है प्राप्त होता है प्रापंचिक और अप्रापंचिक के मिश्रण के साथ ही कृष्ण के जन्म मृत्यु आदि की बातें भी आभासित होती हैं।[3]

अप्रकट लीला पुन दो प्रकार की है—मन्त्रोपासनामयी तथा स्वारसिकी। इनमें से प्रथम एक स्थान विशेष में सीमित नियत स्थिति की एवं उसी उसी मन्त्र ध्यानमयी होती है। यानी कि जिस मन्त्र का ध्यान होता है उसी के अनुरूप स्वरूप धाम एवं परिकर होता है। इस प्रकार भगवान् की विराट लीला बहुत सीमित एक पक्ष विशेष में ही साधक को अनुभूत होती है। (मन्त्रोपासनामयी लीला ही मानो भक्ति के क्षेत्र में साधन या वैधी भक्ति है)। स्वारसिकी लीला में भगवान् स्वयं प्रेम एवं कृपावश अपनी अनन्त लीलाएं भक्त के लिए प्रकट एवं सुलभ कर देते हैं। मन्त्रोपासना भी भी पर्यवसित स्वारसिकी में हो सकती है (जैसे कि वैधी रागानुगा में परिणत हो जाती है।)[4] स्वारसिकी अप्रकट लीला का कोई एक नियत स्थान या समय नहीं है यह यथावसर विविध स्वेच्छामयी होती है। अपने नाना लीला प्रवाह रूप में यह गंगा की धारा के समान होती है जबकि एक-एक लीलावाली मन्त्रोपासनामयी उस एक किसी ह्रद (सरोवर) या ह्रद श्रेणी के समान होती है जो मुख्य धारा से संभूत है[5])

1 जी० गो० श्री कृ० स० पृ० ४०४ ४०४।
2 वही, पृ० ४०५।
3 जीव गोस्वामी श्रीकृष्ण-सन्दर्भ, पृ० ४०५।
4 वही, पृ० ४०५।
5 वही, पृ० ४०६।
(क) मन्त्रोपासनामयत्वे पि स्वारसिक्यामेव पर्यवसति।
(ख) यथावसरविविध स्वेच्छामयी स्वारसिकी।
(ग) तत्र नानालीलाप्रवाहरूपतया स्वारसिकी गंगेव। एक-एकलीला-त्मतया मन्त्रोपासनामयी तु तदुद्भवसम्भव ह्रदश्रेणिरिवाज्ञेया।

पौराणिक कृष्ण लीला के संदर्भ में उपर्युक्त विवेचन से संबंधित एक प्रश्न उठाया जा सकता है कि जब स्वरूप धाम परिकर आदि सब एक ही हैं नित्य हैं तब वृन्दावन से मथुरा चले जाने पर कृष्ण का गोप गोपियों से वियोग अथवा द्वारका लीला की समाप्ति पर यादवों से वियुक्ति को कैसे समुचित ठहराया जाय? जीव गोस्वामी का जवाब होगा कि वास्तव में प्राकृत प्रकट रूप में ही यह वियोग है अप्रकट रूप में वहाँ नित्य मिलन और विहार ही है। एक ही स्वरूप अनेक प्रकाश प्राप्त करता है और प्रकाश भेद से अभिमानभेद (संबंध भेद) तथा क्रिया भेद हो जाता है जो अलग अलग भी सत्य है तथा एक ही समय में भगवत स्वरूप अनेक रूपों में अलग अलग प्रकाशित होकर अलग अलग लीलाएं भी कर सकता है। अतः जब एक प्रकट लीला में वियोग है तब उसी समय अप्रकट लीला में संयोग की स्थिति भी बनी रहती है। और यह सब भगवान की अचिन्त्य शक्ति के कारण है।[1] यह ध्यान रहे कि गौडीय वैष्णवों में अचिन्त्य वह ट्रम्प कार्ड है जिसका प्रयोग प्रत्येक विरोध की शान्ति के लिए वे करते हैं।

परिकर

पीछे हम धाम की चर्चा में परिकर के सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए कह चुके हैं कि परिकर स्वरूपशक्ति का ही प्रकाश है। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत ही गोकुल मथुरा एवं द्वारका के परिकरों की सार्थकता धाम के साथ ही सिद्ध की गयी है। रूप गोस्वामी के हरिभक्ति रसामृत सिन्धु एवं नीलमणि में इस परिकर को ही विभिन्न प्रकार के भक्तिरसों में अन्तर्भुक्त करने का पाण्डित्यपूर्ण एवं निपुण प्रयास किया गया है। यह भी कहा जा चुका है कि भगवान से कान्ता भाव का संबंध ही सर्वश्रेष्ठ माना जाता है—माधुर्य गुण ही भगवान की ह्लादिनी शक्ति से संबंधित माना है। इसी स्थिति में एक प्रश्न उठता है कि पौराणिक लीला में कान्ता भाव को अपनाने वाले विविध पात्रों का जो वर्णन मिलता है उनमें मात्र गोपियाँ ही कैसे श्रेष्ठ हैं? ब्रज में गोपियाँ मथुरा में कुब्जा और द्वारका में कृष्ण की १६१०८ महिषियाँ हैं जिनमें ८ पट्ट महिषियाँ भी हैं—सभी कृष्ण को पति या प्रेमी रूप में चाहती हैं अतः उनमें पुराण द्वारा स्थापित गोपीभाव की श्रेष्ठता को कैसे बनाये रखा जाय?

गौडीय तत्त्व-व्याख्याता इसका दो प्रकार से उत्तर दे सकते हैं। प्रथम उत्तर तो स्वकीया परकीया भाव के आधार पर दिया जा सकता है। कृष्णदास कविराज ने वृद्ध [illegible] में उत्तर दिया था कि —

१. जीव गोस्वामी श्रीकृष्ण-संदर्भ पृ० ४०७-४०८।

परकीय भावे अति रसेर उल्लास
ब्रज बिना इहार अन्यत्र नाहि वास
ब्रजवधूगण र इह भाव निरवधि
तार मध्ये श्रीराधार भावेर अवधि

च० च०, आ० ली० परि० ४

यदुनन्दन ने अपने कर्णानन्द में भी परकीयावाद को ही मुख्यता दी। उनके अनुसार तो जीव गोस्वामी का भी वास्तविक तात्पर्य परकीयाभाव से ही था।[1] आगे चलकर जीव व श्यामानन्द एवं श्रीनिवास ने भी परकीयावाद को ही महत्त्व दिया है। श्री निवास की शिष्य परम्परा में राधा मोहन ठाकुर ने तो मुर्शिदाबाद के नवाब जाफर अली के दरबार में कहते हैं स्वकीयावादियों को बिल्कुल निरस्त कर दिया था। इस संबंध में लीला भट्टारिका के य कौमार हर एवं रूप के प्रिय सोऽयं कृष्ण [2] का बहुधा परकीया-समर्थन में उल्लेख किया जाता है परन्तु वास्तव में इनकी व्याख्या स्वकीयात्व के आधार पर भी की जा सकती है। इस परकीयावाद को विश्वनाथ चक्रवर्ती ने अपने ग्रंथों एवं टीकाओं में पूरी तरह स्थापित कर दिया था। परन्तु प्रारम्भ में रूप एवं जीव की विचार पद्धति स्वकीयावाद के ही पक्ष में थी। यद्यपि उज्ज्वल नीलमणिकार ने परकीया में शृंगार के परमोत्कर्ष की बात कही है[3] फिर कुछ स्पष्टीकरण करते हुए बताया है कि इस भाव की हीनता केवल प्राकृत नायकों के संबंध में ही है रसनिर्यासस्वादार्थ अवतारी कृष्ण के प्रसंग में यह लघुत्व को प्राप्त नहीं होता। वास्तव में परकीया सूत्र का कथन एवं उसका स्पष्टीकरण ठीक भागवत की ही परम्परा में है। भागवत में गोपियों का वर्णन बहुधा कन्या या परस्त्री के रूप में हुआ है—रास के समय कृष्ण की मुरली के स्वर से गृहीतमानस गोपियाँ अपने सारे घर गृहस्थी

१ बाह्यार्थबुभये ताहा स्वकीया बलिया।
मितरेर अथमात्र केवल परकीया।
श्री जीवर गभीर हृदय बुझिया।
बहिर्लोक वार्तालये स्वकीय चलिया।
—यदुनन्दन कर्णानन्द, पृ० ८८।

२ रूप गोस्वामी पद्यावली श्लोक ३८२ ३८३।

३ अत्रैव परमोत्कर्ष शृंगारस्य प्रतिष्ठित (१७)
—उ० नी० म० पृ० १४।

४ लघुत्वमत्र यत प्रोक्त तत्तु प्राकृतनायके न कृष्णे रसनिर्यासस्वादायम वतारिणि। वही पृ० १४ १५।

पौराणिक कृष्ण लीला के सदभ म उपयु क्त विवेचन स सव थिन एक प्रश्न उठाया जा सकता है कि जब स्वरूप धाम परिकर ग्रादि सब एक ही हैं नित्य हैं तब वृ दावन से मथुरा चले जाने पर कृष्ण का गोप गापियो म वियाग अथवा द्वारका लीला की समाप्ति पर यादवा स वियुक्ति को कस समुचित ठहराया जाय ? जीव गोस्वामी का जवाब होगा कि वास्तव म प्राकृत प्रकट रूप म ही यह वियोग है अप्रकट रूप म बनी नित्य मिलन और विहार ही है। एक ही स्वरूप अनेक प्रकाश प्राप्त करता है और प्रकाश भेद म अभिमानभेद (सबध भेद) तथा क्रिया भद हो जाता है जो अलग अलग भी सत्य है तथा एक ही समय म भगवत स्वरूप अनेक रूपो म अलग अलग प्रकाशित होकर अलग अलग लीलाए भी कर सकता है। अत जब एक प्रकट लीला म वियाग है तब उसी समय अप्रकट लीला म सयोग की स्थिति भी बनी रहती है। और यह सब भगवान की अचिन्त्य शक्ति के कारण है।[1] यह ध्यान रहे कि गौडीय वष्णवो म अचिन्त्य वह ट्रम्प-काड है जिसका प्रयोग प्रत्यक विरोध की शान्ति के लिए वे कर लेत हैं।

परिकर

पीछे हम धाम की चर्चा म परिकर के सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए कह चुके है कि परिकर स्वरूपशक्ति का ही प्रकाश है। इस सिद्धान्त के अन्तगत ही गोकुल मथुरा एव द्वारका के परिकरो की सार्थकता धाम के साथ ही सिद्ध की गयी है। रूप गोस्वामी के हरिभक्ति रसामृत सिन्धु एव नीलमणि म इस परिकर को ही विभिन्न प्रकार के भक्तिरसा म अन्तभु क्त करने का पाण्डित्यपूण एव निपुण प्रयास किया गया है। यह भी कहा जा चुका है कि भगवान से कान्ता भाव का सबध ही सव श्रेष्ठ माना जाता है—माधुय गुण ही भगवान की ह्लादिनी शक्ति स सबधित होता है।ऐसी स्थिति म एक प्रश्न उठता है कि पौराणिक लीला म कान्ता भाव को अपनाने वाल विविध पात्रा का जो वणन मिलता है उनम मात्र गापियाँ ही कस श्रेष्ठ है ? ब्रज म गापिया मथुरा म कुब्जा और द्वारका म कृष्ण की १६ ८ महिषियाँ हैं जिनम ८ पट्ट महिषियाँ भी हैं—सभी कृष्ण को पति या प्रेमी रूप म चाहती हैं अत उनम पुराण द्वारा स्थापित गोपीभाव की श्रेष्ठता को कस बनाय रखा जाय ?

गौडीय तत्त्व-व्याख्याता इसका दो प्रकार स उत्तर दे सकते हैं। प्रथम उत्तर तो स्वकीया परकीया भाव के आधार पर दिया जा सकता है। कृष्णदास कविराज न वृद्ध इसी प्रसग म उत्तर दिया था कि —

---

[1] जीव गोस्वामी श्रीकृष्ण-सदभ पृ० ४०७ ४०८।

व काय पति पुत्र आदि को छोड कर कृष्ण की ओर दौड पड़ी थी।[1] उनके पति पिता भ्राता और बन्धुओ ने उन्हे बहुत कुछ रोका किन्तु श्री गोविन्द ने उनके चित्तो को ऐसा खींच लिया था कि वे मुग्धा बालाए उनके रोके न रुकीं—

> ता वार्यमाणा पतिभि पितृभिर्भ्रातृबन्धुभि
> गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्तन्त मोहिता ।१०।२९।८

इस प्रत्यक्ष अनैतिक-सी दिखने वाली क्रीडा के प्रति परीक्षित ने सदेह प्रकट किया था कि जगदीश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने धर्म की स्थापना और अधर्म के उन्छेद के लिये ही अपने पूर्ण अश स अवतार लिया था फिर धर्मसेतु के वक्ता स्रष्टा एव रक्षक होकर भी उन्होने परस्त्रीगमन जसा प्रतीप आचरण क्यो किया ?[2] भागवतकार ने जो उत्तर दिया था रूप गोस्वामी का उत्तर ठीक उसी की प्रतिध्वनि है। भागवतकार ने स्पष्टीकरण करते हुए कहा था कि जो गोपियो उनके पतियो और सपूर्ण देहधारियो के अन्त करण म विद्यमान हैं उन सब (बुद्धयादि) साक्षी भगवान ने हा लीला से शरीर धारण कर भूलोक म अवतार लिया था।[3] अर्थात तत्त्वत जो समस्त प्राणियो के शरीर और अन्त करण मे विराजमान रहकर निरन्तर रमण कर रहे हैं उनके लिये परस्त्री जसी कोई चीज नही है और इसीलिये परदाराभिमर्शन जसा कोई प्रश्न ही नही उठता। रसनिर्यासस्वादाय अवतारी कृष्ण की बात उठाकर रूप गोस्वामी ने दूसरे शब्दो म इस ही दुहराया है।

रूप एव जीव दोनो ही निश्चय स्वकीया के पक्ष म थे। रूप ने ललित माधव नाटक म १० वें अक में राधा और कृष्ण का विवाह करवाया है। विदग्ध माधव के प्रथम अक म भी देखते हैं कि राधा का अभिमन्यु गोप से विवाह सच्चा नही है यह केवल योगमाया का काय था। यो राधादि कृष्ण की नित्य प्रयसी है। रूप की ही विचारधारा का अनुकरण करत हुए जीव गोस्वामी ने भी परकीयावाद को मायिक कहकर नित्य प्रयसीत्व पर ही बल दिया है। उन्होने स्वकीयावाद का समर्थन नतिक परम्परा एव रसशास्त्र दोनो दृष्टियो से करना चाहा है। साहित्य-दर्पण में कहा गया है— उपनायक सस्थाया मुनिगुरुपत्नी गताया च। बहुनायक विषयाया रतौ तथानुभयनिष्ठायाम। प्रतिनायकनिष्ठत्वे तद्वदधमपात्र

---

१ श्रीमदभागवत १० २९ ५ ७।

२ श्रीमदभागवत—१०।३३।२७ २८।

३ गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम। योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्ष क्रीडनेनेह देहभाक्-श्रीमदभागवत १०।३३।३६।

तियगानि गते। शृंगारोऽनौचित्यम । [1]

भक्ति को रस मानने वाले जीव गोस्वामी ने यह सिद्ध करना चाहा कि गोपियों ने कृष्ण को पति रूप में प्राप्त किया था जार रूप में नहीं। जार शब्द का प्रयोग केवल उनके प्रेमाधिक्य की एवं मानसिक अवस्था विशेष का द्योतक है।[2] भागवत में आये कात्यायनी व्रत[3] से भी ज्ञात होता है कि कृष्ण को वर रूप में व्रजकन्याओं ने वांछा की थी और सत्यवाञ्छाकल्पतरु कृष्ण उनकी कामनाओं को पूरा न करें यह कम संभव है। इसके अतिरिक्त सिद्धान्त रसशास्त्र-सम्मत भी इस लीला को उन्होंने माना। जीव ने अपने गुरु रूप गोस्वामी के ललित माधव वाले राधाकृष्ण विवाह की ओर भी संकेत किया है। जीव के अनुसार गोपियों के साथ न तो गोपों ने कभी विवाह किया और न गोपियों को कभी स्पर्श ही किया अतः परकीयात्व या परस्त्रीत्व के अधम का दोष उन पर नहीं लगता। वस्तुतः गोपों के साथ गोपियों के मायिक शरीर का ही विवाह हुआ था और माया शक्ति द्वारा उत्पन्न देह के साथ ही गोपगणों का संयोग होता था। इस संबंध में उन्होंने भागवत के इस श्लोक का भी उपयोग किया है—

> नासूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया
> मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः १०।३३।३८

अर्थात् भगवान की माया से मोहित हो जाने के कारण व्रजवासियों ने अपनी अपनी स्त्रियों को अपने पास ही समझ कर कृष्णचन्द्र के प्रति तनिक भी असूया नहीं की।

इसी आधार पर उनका मत है कि यदि कभी पति आदि शब्दों का प्रयोग होता भी है तो उसे बाह्यी समझना चाहिए न कि आन्तरिक।[4] इसी प्रकार पीछे उद्धृत भागवत के श्लोक (१०।२९।८) में आये पुत्र शब्द के बारे में उनका कहना है कि यह दूसरे के पुत्रों के लिए है क्योंकि पुत्रवता माँ के साथ भी प्रेम संबंध रस शास्त्र की दृष्टि से परिपक्व नहीं हो पाता। इस प्रकार भागवत के प्रसंगों का

---

१ साहित्य दर्पण तृतीय परिच्छेद श्लोक २६३-२६४ (चौखम्भा वाराणसी १६५७)।

२ जीव गोस्वामी श्रीकृष्ण संदर्भ पृ० ६२८।

३ श्रीमद्भागवत—१०।२२।४।

४ जीव गोस्वामी श्रीकृष्ण संदर्भ, पृ० ५२६।

५ क्वचित्ताभिरेव तेषुपत पतिशब्द प्रयुक्तस्तद्वहिर्लौक व्यवहारेन एव —शास्त्रदृष्टित वही पृ० ५ १।

अपने अनुकूल अर्थ करते हुए जीव गोस्वामी की सम्मति है कि गोपियां उनकी स्वरूपशक्ति का प्रकाश हैं नित्य प्रेयसी हैं उनके साथ कृष्ण का सबंध सर्वथा अधर्मपूर्ण व्यभिचार का कार्य नहीं है। रूप गोस्वामी के पीछे उद्धृत श्लोक की टीका में भी इस संबंध में उन्होंने विस्तृत विवेचन करके यही कहा है—तत्त्व तो श्रीकृष्णेन तासां नित्यदाम्पत्ये सति परकीयात्वं च मायिकं सति ।[1]

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि जीव और रूप दोनों गोस्वामी पर कीया भाव के समर्थक न थे। परकीया का उल्लेख उन्हें राधा कृष्ण एवं कृष्ण गोपिया के परम्परा प्राप्त रूप के कारण करना पड़ा था। कृष्णदास कविराज का पीछे हमने परकीया समर्थक रूप में उद्धृत किया है पर आदि लीला के चतुर्थ परिच्छेद में ऐसे संकेत मिल जाते हैं कि वैकुण्ठ लीला में उपपति भाव का प्रचार नहीं है —

वैकुण्ठाद्ये नाहि ये लीलार प्रचार।
से से लीला करिब याते मोर चमत्कार।
मो विषय गोपीगणेर उपपति भाव।
योगमाया करिबेन आपन प्रभाव।

संभवत परकीया भावना सहजिया वैष्णवों की देन है। प्रारम्भ में वृन्दावन गोस्वामियों ने इसे पूर्ण शास्त्रीय प्रतिष्ठा नहीं मिलने दी परन्तु उनके पश्चात परकीया भावना इस सम्प्रदाय में पूर्णरूपेण स्वीकार कर ली गयी।

प्रस्तुत इस उपर्युक्त प्रसंगांतर के पश्चात हम फिर अपने मूल प्रश्न की ओर आते हैं कि क्यों वृन्दावन की व्रज गोपरामाओं को इतना महत्त्वपूर्ण स्थान मिला। इसके लिए एक तर्क तो परकीयावाद का है जो प्रारंभिक गोस्वामियों को बहुत दूर तक मान्य नहीं है। जीव गोस्वामी ने एक तर्क और दिया है। भगवत संदर्भ में उन्होंने भगवत तत्त्व की स्वरूपशक्ति को उनकी लीला सहायिका माना है और वहाँ उसका नाम लक्ष्मी बतलाया है लक्ष्मी का भू कृपा पुष्टि आदि आठ विनियुक्तता रूपों विग्रहों का भी चर्चा की गयी है। द्वारका मथुरा में स्वरूपशक्ति महिषी नाम से अभिहित होती है। इनमें से रुक्मिणी स्वयं लक्ष्मी हैं तथा आठों पट्ट महिषियाँ स्वरूपशक्ति की ही अन्य रूप भू कृपा आदि हैं। सामूहिक रूप से वे लक्ष्मी में एकात्म हैं पर तु गोकुल में कृष्ण की स्वरूपशक्ति का प्रकाशन व्रजदेवियों के रूप में हुआ है। वे कृष्ण की श्रेष्ठतम ह्लादिनी शक्ति

---

१ उ० नी मणि पृ २ ।
२ जीव गोस्वामी श्रीकृष्ण संदर्भ पृ ४,६ ४४२।

का विशेष अभिव्यक्ति है। इसलिए मथुरा एवं द्वारका की महिषियों में श्रेष्ठ हैं।[1] वे सब की सब वृन्दावन-लक्ष्मी हैं—श्री वृन्दावन लक्ष्म्यस्त्वेता एवेति।[2] गोपाल तापनी उपनिषद् में गोपियों को 'अविद्या कला प्रेरक' कहा गया है। इसकी व्याख्या करते हुए नक्षत्र ने कहा है 'आ' का अर्थ है सम्यक् 'विद्या' परम प्रेम रूपा है और कला उनकी वृत्तिरूपा है।[3] ह्लादिनी की तत्तत् क्रियाओं में प्रवर्तक हैं ब्रज वधुएँ—इसलिए तास्तु नित्यसिद्धा एव। ह्लादिनी की सारवृत्ति प्रेम है और उसी के रससार विशेष का उनमें प्राधान्य है एवं इसीलिए उनका प्राधान्य है—

'आसां महाभाव ह्लादिनी सारवृत्तिविशेषप्रेमरससारविशेष प्राधान्यात्।''

ये गोपियाँ 'आनन्द चिन्मय रस प्रतिभाविता' कही गयी हैं। अतएव इनमें प्रेम प्राचुर्य के प्रकाश हेतु श्री भगवान का भी इनमें परमोल्लास प्रकाश होता है एवं उसी से भगवान में रमणेच्छा प्रादुर्भूत होती है।[5] इस प्रकार एक भिन्न दार्शनिक आधार पर ब्रज देवियों की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गयी है।

परन्तु समस्त ब्रज देवियों को नित्यसिद्धा या नित्यप्रिया मान लेने पर एक असंगति सामने आती है। जीव को तटस्थाशक्ति के अन्तर्गत रखा गया है एवं नित्यसिद्धा गोपियाँ स्वरूपशक्ति के अन्तर्गत नित्य सहचरी हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में गोपीभाव की साधना के क्या अर्थ शेष हैं? दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि नित्य सिद्धत्व साधना की वस्तु नहीं है। इस असंगति से बचने के लिए गोपियों के साधनपरा, देवी और नित्यप्रिया तीन भेद किये गये हैं।[6] पूर्वजन्म की साधना से जो भक्त जन गोपीरूप पाते हैं वे साधनपरा गोपियाँ हैं। इनके अनेक भेद किये गये हैं पर उस विस्तार में हमें नहीं जाना। पर साधना द्वारा गोपीभाव की प्राप्ति इस प्रकार स्वीकार कर ली गयी है। जब जब कृष्ण अंश रूप में देव योनि में जन्म लेते हैं तब-तब उनके संतोष साधन के लिए नित्य प्रियाओं के अंशों का भी जन्म होता है, यही देवियाँ हैं। कृष्ण के ब्रज प्रवर्तगण

---

१ जीव गोस्वामी : श्री कृष्ण संदर्भ पृ० ४४२-४४४।
२ वही, पृ० ४४३।
३ वही, पृ० ४४३।
४ वही, पृ० ४४३।
५ आनन्द चिन्मयरसप्रतिभाविताभिरिति। अतएव तत्र प्राचुर्यप्रकाशेन श्री भगवतोऽपि तासु परमोल्लासप्रकाशो भवति येन ताभी रमणेच्छा जायते। —वही पृ० ४४ ४४४।
६ उ० नी० मणि पृ० ६३।

म यही देवियाँ गोप कन्याओं क रूप म नित्य प्रियाओं की प्रिय सखी स्थानीय होती हैं।[1] इस प्रकार देवी के रूप म सखी भाव का इन लोगो ने स्थान लिया। साधनपरा के प्रकार म गोपीभाव को महत्त्व मिला। यह ध्यान रहे कि साधनपरक गोपी तत्त्व ही जीव का साध्य है नित्य प्रिया गोपीत्व कभी भी साध्यवस्तु नहीं है यह नित्य सिद्ध है। यो सब मिलाकर उस सम्प्रदाय म साधना की दृष्टि से गोपीभाव की अपेक्षा सखी भाव का ही उत्कर्ष है।

राधा

पीछे हम यह चुके हैं कि गोपी लीला एव राधा लीला की दो परपराओं का समन्वयन गौडीय वष्णवो न किया है। इस समन्वय म राधा प्रमुख हो उठी हैं एव अन्य गोपिया उन्ही की अंगभूता या अंगरूपा हो गयी है। रूप गोस्वामी ने नित्यप्रिया हरि वल्लभाओं क नाम गिनाते हुए बताया—

तत्रापि सवथा श्रेष्ठ राधा चन्द्रावलीत्युभ
यूथयोस्तु ययो सन्ति कोटिसख्या मृगीदृश[2]

इन सब श्रेष्ठ राधा और चन्द्रवली म भी उनके अनुसार गुणो म अति वरीयसी एव महाभाव स्वरूपा राधा ही सर्वाधिका हैं—

तयोरप्युभयोर्मध्ये राधिका सवथाधिका
महाभावस्वरूपेय गुणरतिवरीयसी ।[3]

इसी स मिलती जुलती बात जीव गोस्वामी न भी प्रतिपादित की है। उनक अनुसार इन परममधुरप्रेमवत्तिमयी म भी राधा ततमारा ोद्रेकमयी हैं राधिका म ही प्रेमोत्कर्ष की पराकाष्ठा दिखायी पडती है। ऐश्वर्यादि समस्त शक्तियाँ इस प्रमवशिष्टय का अनुगमन करती हैं अत वृन्दावन म श्री राधिका

---

१ देवेष्वनेन जातस्य कृष्णस्य दिवि तुष्टये
नित्यप्रियाणामशाश्च या जाता देवयोनय । ५० ।
अत्रदेवावतरण जनित्वा गोपकन्यका
अगिनीनामवाप्ता प्रियसख्योऽभवन्व्रज । ५१ ।
उ नी० म० पृ० ६६ ७ ।

२ उ नी० म० पृ० ७ ।

३ उ० नी० म पृ० ७८ ।

में ही स्वयं लक्ष्मीत्व है।[1] यानी कि ह्लादिनी का सार प्रेम, प्रेम का भी सार भाव और भाव की जो पराकाष्ठा का नाम महाभाव है। और राधा ठकुरानी यही महाभावस्वरूपा हैं।[2] तात्विक दृष्टि से वे सर्वशक्ति वरीयसी ह्लादिनी शक्ति ही है।[3] तथा भगवत रति का परिणति के सर्वोच्च शिखर महाभाव की साक्षात विग्रह हैं। वे प्रेम का साक्षात स्वरूप हैं उनका देह प्रेम से विभावित है वे कृष्ण की प्रेयसी हैं यह समस्त संसार में विदित है।[4] कृष्ण को रसपान कराके वे पूर्ण काम करती हैं।[5] वास्तव में लक्ष्मीगण, महिषीगण एवं व्रज देवीगण उन्हीं का अंश हैं। उनमें व्रज देवीगण आकार भेद से राधा की ही कायव्यूह रूप हैं। ये रस का कारण हैं इन्हीं की सहायता से राधा कृष्ण को रसपान कराती हैं। राधा पूर्णशक्ति हैं कृष्ण पूर्णशक्तिमान हैं। कृष्णदास कविराज ने तो यहाँ तक कह दिया है कि वे वास्तव में एक ही हैं लीला रस के आस्वादन के लिये ही दो रूपों में वह प्रकट हुए हैं—

राधा पूर्णशक्ति कृष्ण पूर्णशक्तिमान
दुइ वस्तु भेद नाहि शास्त्रर प्रमाण
राधा कृष्ण एक सदा एकइ स्वरूप
लीला रस आस्वादिते धरे दुइ रूप।[6]

---

१ तदेव परममधुर प्रेमवृत्तिमयीषु तास्वपि तत्सारांशोद्रेकमयी श्रीराधिका तस्यामेव प्रेमोत्कर्षपराकाष्ठाया दर्शितत्वात तत प्रेमवरिष्ठय ऐश्वर्यादिरूपा अन्या शक्तयो नास्माहा अप्यनु गच्छतीति श्रीव वाचन श्री राधिकायामेव स्वयं लक्ष्मीत्वम।
—जीव गोस्वामी श्रीकृष्ण संदर्भ पृ० ४४४।

२ ह्लादिनी सार प्रेम प्रेम सार भाव।
भावेर परमकाष्ठा नाम महाभाव।
महाभाव स्वरूपा श्री राधा ठकुरानी।
सर्वगुणखानि कृष्णकान्ता शिरोमणि।
च० चरि०, आ० ली० ४ परि० पृ० २४।

३ ह्लादिनी या महाशक्ति सर्वशक्तिवरीयसी।
—उ० नी० म०, पृ० ७५।

४ प्रेमेर स्वरूप देह प्रेम विभावित कृष्णेर प्रेयसी श्रेष्ठ जगते विदित।
च० चरि म० ली० परि ४, पृ० १४६।

५ वही, पृ० १४६।

६ च० चरि०, आ० ली० परि ४ पृ० २४ २५।

बन पर है यही अचिन्त्य भेदाभेद है।

पीछे हम कह चुके हैं कि भगवत सदर्भ में भक्ति को भी ह्लादिनी शक्ति का ही एक पक्ष माना गया है। राधा भी ह्लादिनी है। भगवान का स्वरूप रसमय है। इस रसमयता का कारण ह्लादिनी शक्ति है। इस शक्ति के द्वारा भगवान स्वय आह्लादित होते हैं और दूसरों को भी आह्लादित करते हैं। इस प्रकार उनका प्रवेश दोनों ओर है। भगवान के साथ वह लीला सहचरी बन कर उन्हें रसास्वादन कराती हैं तथा भक्त के हृदय में भक्ति बन कर भगवत आनन्द में उसे लीन करती हैं। चूंकि ह्लादिनी की सारभूत विग्रह राधा है अत राधा का भी दोनों पक्षों में प्रवेश गोस्वामियों ने विवेचित किया है—

ह्लादिनी कराय कृष्ण आनन्दास्वादन
ह्लादिनी द्वाराय करे भक्तेर पोषण।[1]

वस्तुत इन तत्त्व विवेचकों ने एक ओर उन्हें कृष्ण की नित्य प्रियतमा के रूप में श्रेष्ठतम स्थान पर पहुंचा दिया दूसरी ओर भक्ति के क्षेत्र में सर्वश्रेष्ठ भक्त भी कह दिया। इसे हम यों भी कह सकते हैं कि राधा की प्रतिष्ठा स्वरूप शक्ति की श्रेष्ठतम वृत्ति के रूप में भी की गयी भगवान के प्रति पाच मुख्य भाव रसों में भी श्रेष्ठतम कान्तारति के श्रेष्ठतम रूप समर्था रति की श्रेष्ठतम प्रतिनिधि भी वे ही मानी गयी और प्रेम भाव के विकास की श्रेष्ठतम परिणति महाभाव के साथ उन्हें एकात्म दिखा कर सर्वश्रेष्ठ भक्त भी सिद्ध कर दिया गया। इस प्रकार वे सर्वोच्च शक्ति हैं सर्वाधिक मधुर कान्ता हैं और सर्वश्रेष्ठ भक्त हैं।

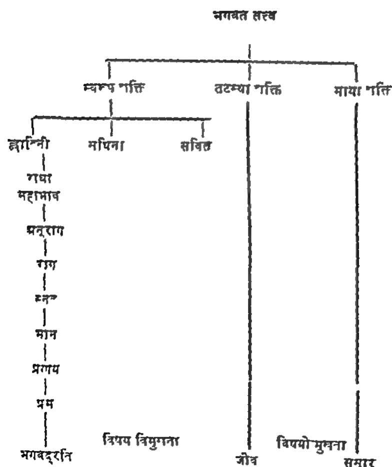
---

१ जीव गोस्वामी श्रीकृष्ण सदर्भ पृ० ४४७।

२ अत सर्वतो पि सान्द्रानन्द चमत्कारकरश्रीकृष्णप्रकाशे श्रीवृन्दावनेऽपि परमाद्भुतप्रकाश श्रीराधया युगलितस्तु श्रीकृष्ण इति।
—वही पृ० ४४७।

३ च चरि० आदि लीला परि० ४ पृ २४।

ऐसी भक्ति है जहाँ पर कि अन्य साधना की पहुँच नहीं हो सकती। राधिका की इस अवस्था को आगे दिये गये चार्ट में भली भाँति समझा जा सकता है



सखी

भारतीय प्रेम काव्य की एक अनिवार्य रूढ़ि के रूप में सखी की सत्ता सदैव मान्य रही है एवं जिस प्रकार प्रेम काव्य की रसनिर्भर नायिका राधा धर्म और दर्शन के सिंहासन पर भली भाँति आरूढ़ हो जाती है वैसे ही सखी भी साधना के क्षेत्र में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान को प्राप्त करती है। लगता है कि सखी भाव धीरे धीरे जड़ पकड़ता जा रहा था एवं १६वीं शताब्दी में अनेक सम्प्रदायों में अचानक ही फूट पड़ा। हरिदासी, राधावल्लभी एवं चैतन्य सम्प्रदाय इसके प्रारम्भिक उत्स बने एवं बाद को तो इसने अपने समकालीन प्रत्येक सगुण भक्ति सम्प्रदाय को प्रभावित किया। पुष्ट दार्शनिक भित्ति पर स्थापित पुष्टि मार्ग भी इससे अछूता नहीं रहा और मर्यादा का व्यापक राम सम्प्रदाय तो इसमें आकण्ठ मग्न हो गया। निर्गुणोपासक शुक (चरणदासी) सम्प्रदाय के बारे में तो यह कहना कठिन हो गया है कि यह निर्गुणोपासक है या सखीभावापन्न मधुर रस का उपासक। ऐतिहासिक दृष्टि को अलग रखकर केवल मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जाय तो हमारा विचार है कि सखी भाव साधना उस काल की मानसिक आवश्यकता भी थी। जब लीलावपु उपास्य हों जिसके भिन्न भिन्न धामों में भिन्न भिन्न परिकरों के साथ नित्य लीलाएँ चल रही हों और उनमें भी लक्ष्मी, रुक्मिणी, सत्यभामा, कुब्जा या राधा जैसी कान्ताएँ भी हों तब कान्ताभाव के क्षेत्र में अपने को भी एक प्रिया मानना अपने को कुछ खो देने ही जैसा है। फिर वह लीला भी क्या कुछ कम मोहक है। इसके अतिरिक्त प्रियतमा बन सकने की योग्यता का भी तो सम्पादन करना चाहिए। मामूली से किसान की कन्या भाग्य से रानी बन जाय—यह बात दूसरी है पर वह किसी तत्कालीन सामन्त या बादशाह की प्रिया बन सकने की अपेक्षा उस समय सेविका ही अधिक बन सकती थी। ऐसी स्थिति में यदि इन साधकों में सखीभाव का प्रचार हुआ हो तो उसे ऐतिहासिक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता ही समझनी चाहिए। ऐतिहासिक दृष्टि से गोपीभाव, राधा भाव एवं सखीभाव—यह विकास का क्रम रहा है तथा साधनागत विकास की दृष्टि से हमें लगता है कि गोपीभाव की चरम परिणति राधा भाव है। राधा कृष्ण प्रियतमा होने के साथ साथ सर्वश्रेष्ठ भक्त भी हैं जहाँ तक कि अन्य भक्त पहुँच ही नहीं सकते जिसका कि दर्शनमात्र दूसरे को भक्ति का आनन्द देने वाला है। ऐसी

परम निष्ठा एक के ही प्रति हो सकती है—इन तथ्यों ने गोपियों के स्थान पर एक प्रमुख गोपी राधा की कल्पना अनिवार्य करा दी (चाहे वह स्वकीया हो या परकीया)। रस के अतिरिक्त भक्ति के क्षेत्र में सेवक सेव्य भाव भी सर्वथा मनोवैज्ञानिक है। ईश्वर अपने से बड़ा है—भले ही उसे अधिक वैभवशाली न कहकर सर्वतोभावेन रसमय कह दिया जाय इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता—उसके प्रति सेवाभाव अनिवार्य है। अतः जब कान्ताभाव या मधुर रस का जोर बढ़ा तब उसी के भीतर से सेव्य सेवक सम्बन्ध पर आधृत सखीभाव भी उभर कर आ गया। पुराने दास्यभाव से इसका अन्तर मात्र इस बात में है कि वहाँ पर प्रभुत्व विभुत्व अधिक है यहाँ पर रसमयता प्रधान है। एक दूसरा अंतर यह भी है कि यहाँ पर सेवा में भी अंतरंगता अधिक है। स्त्री पुरुष की रतिकेलि के मध्यकालीन चित्रों एवं मूर्तियों में सम्भोग काल में दासियों की उपस्थिति दिखायी गयी है भक्ति साधना की दृष्टि से उनमें अंतरंगता का तत्त्व और जोड़कर सखी का स्थान न दिया गया। इस प्रकार सखीभाव की साधना मधुर रस के मध्य से सेव्य सेवक सम्बन्ध का ही पुनरुत्थान है।

चैतन्य सम्प्रदाय में इन सखियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह कहना ठीक नहीं है कि चैतन्य सम्प्रदाय में सखीभाव को पर्याप्त स्वीकृति नहीं मिली है। अन्य सखीभावोपासकों ने जो कुछ कहा गया है उसका सारतत्त्व यहाँ पर भी विद्यमान है पर यह सब कृष्ण की समस्त लीलाओं उनके बारे में प्रचलित धारणाओं का स्वीकार करना ही है और जिस ढाँचे के भीतर उस सबको स्थान दिया गया है उसी के भीतर ये भी हैं प्रसंग से इस भाव को स्फीत उन्होंने नहीं करना चाहा। उज्ज्वल नीलमणि में वर्णित राधा के के गुणों में से एक गुण यह भी है कि वे सखी प्रणयाधीना है।[1] इन सखियों को भी रूप गोस्वामी की विश्लेषण प्रवण प्रतिभा ने पाँच भागों में बाँटा है—सखी नित्यसखी प्राणसखी प्रिय सखी और परम श्रेष्ठ सखी। इनके नाम भी गिनाए गए हैं। परम श्रेष्ठ सखियाँ में ललिता विशाखा चित्रा चम्पकलता तुंगविद्या इन्दुलेखा रंगदेवी और सुदेवी हैं ये आठों सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वगुणाग्रिमा बतायी गई हैं।[2] तथा इनका राधा और कृष्ण दोनों के प्रति पराकाष्ठा का प्रेम रहता है। कभी राधा के प्रति यह प्रेम अधिक होता है (विश्वनाथ चक्रवर्ती ने अपनी टीका में बताया है कि यह समय वह है जब राधिका खण्डिता नायिका होती है) एवं कभी कृष्ण के प्रति इनका प्रेमाधिक्य हो जाता है (विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार जब राधिका मानिनी होती है)।[3]

---

१ उ० नी० म० पृ० ६५।

२ उ० नी० म० पृ० ६७ एवं ६८।

३ वही पृ ६८।

भक्ति है। इसका तात्पर्य है उन्हीं के अनुरूप सेवा का आचरण तथा श्रवण स्मरण आदि के द्वारा अनुरूप राग से रुचि उदबोधित करके लीला का रसास्वादन। डा ननिभूषणदास गुप्त का यह मन्तव्य इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है राधा प्रेम ही पूर्ण मधुर रस का रागात्मक प्रेम है वह एक राधा के सिवा और कहीं भी सम्भव नहीं है। इस राधा की कायव्यूह स्वरूपा हैं सखियाँ मंजरीगण उन सखिया की अनुगता सखाशाखा हैं श्री रूप मंजरी आदि ये मंजरीगण भी गोलोक की नित्य परिकर हैं अनुग भाव से उनकी सेवा और लीला आस्वादन ही जीव का श्रेष्ठ काम्य है।[1] इस प्रकार का सेवा का ही रूप मधुयाम की सखा और लीला में विकसित हुआ है। चैतन्य चरितामृत की भूमिका में श्री राधा गोविन्दनाथ ने सखियों एवं मंजरियों के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट किया है। उनके अनुसार सेवा के प्रकार भेद से गोपियों को दो भागों में विभक्त किया गया है—सखी तथा मंजरी। जो गोपियाँ श्री राधा की समजातीय सेवा से श्रीकृष्ण की प्रीति का विधान करती हैं उन्हें सखी कहते हैं। जो श्री राधा गोविन्द के मिलन एवं सेवा का आनुकूल्य ही सम्पादन करना अपना प्रधान कर्तव्य समझती हैं उन्हें मंजरी कहते हैं। ये राधा की किंकरी हैं एवं अंतरंग सेवा की अधिकारिणी हैं। अन्तरंग सेवा में सखियों की अपेक्षा मंजरियों का अधिकार अधिक है। मंजरीगण सखीगण से न्यून वयस्का हैं। ये भी स्वरूप शक्ति हैं। सावनसिद्धा गोपीगण सब मंजरी ही हैं। मंजरीवर्ग में नित्यसिद्ध जीव भी हैं।[2]

हम इस बात को जोर देकर कहना चाहते हैं कि चैतन्य सम्प्रदाय में भागवत की गोपियों की नित्य अवस्था वाले रूप को साधक की साधना के स्तर पर स्वीकार नहीं किया गया। राधाभाव से भजन का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता साधक के लिए लीला का आस्वादन ही रह जाता है और उसके लिए सखियों के भाव का अनुगत होना पड़ता है। परिकर के रूप में इस लीला का स्मरण और लीला का आस्वादन—यही गौडीय भक्तों का परम साधन और साध्य है। गौडीय वैष्णव भक्तिरस दर्शन में सखियों का कितना महत्वपूर्ण स्थान है इस बात पर श्री मृणालकुमार के इस वक्तव्य को उद्धृत करके हम इस प्रसंग को समाप्त करेंगे। डा दे के अनुसार —

चैतन्य सम्प्रदाय के धर्म दर्शन (थियलाजी) एवं रस शास्त्र में सखी एक महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व है। बिना उनके राधा और कृष्ण की सरस एवं मधुर (शृंगारिक) केलि न तो विस्तारित होती है और न पुष्ट होती है। इस केलि में सखी

१ शशिभूषण गुप्त रा० क्रा० वि० पृ० २ ८।

२ हकीम श्यामलाल द्वारा अनूदित उक्त ग्रन्थ के हिन्दी रूप श्रीमद् वैष्णव सिद्धान्त रत्न संग्रह पृ० १ ३ १ ४।

एवं उनके भाव का अनुकरण करने वाले (रागानुगा ढंग से) भक्त को छोड़कर अन्य किसी का प्रवेश नहीं है।[1]

यहाँ पर यह कह देना भी उचित होगा कि प्रारम्भ में तो साधनपरा गोपी भाव की साधना इस सम्प्रदाय में स्वीकार्य रही परन्तु धीरे धीरे अन्य सम्प्रदायों के प्रभाव एवं राधा के अधिक उत्कर्ष के साथ (यह परवर्ती सहजिया का भी प्रभाव था जो नित्यानन्द के साथ सम्प्रदाय में प्रविष्ट हो गए थे) सखीभाव का ही प्राधान्य हो गया। प्रिया प्यारे की जोड़ी का ही गान शत शत पदों में गान दिखाई पड़ने लगता है अन्य गोपियाँ मात्र सखियों के रूप में ही दिखाई देती हैं। स्वयं रूप गोस्वामी की पद्यावली एवं उनके शिष्य माधुरीदास की 'माधुरी वाणी' में यह अन्तर देखा जा सकता है। रूप गोस्वामी में गोपी प्रेम के चित्र उपलब्ध हो जाते हैं[2] पर माधुरीवाणी में स्वयं कृष्ण का राधा-संग विहार ही वर्णित हुआ है। माधुरीवाणी का वक्ता यह सब निरखकर सखीभावोपासकों के अधिक निकट बैठता है।[3] इस प्रवृत्ति को हम आगे और विकसित होता हुआ अठारहवीं शती के कवियों में देख सकते हैं।

गौडीय वैष्णव तत्त्ववाद की रूपरेखा

(१) कृष्ण ही परात्पर भगवत्तत्व हैं। ब्रह्म और परमात्मा उनसे हीनकोटि की अवस्थाएँ हैं।

(२) कृष्ण ही अवतारी हैं शेष अवतार।

(३) कृष्ण की तीन मुख्य शक्तियाँ हैं—अन्तरंगा स्वरूपशक्ति बहिरंगा माया शक्ति और तटस्था जीवशक्ति। इनमें स्वरूप शक्ति ही श्रेष्ठ है।

(४) स्वरूपशक्ति के द्वारा ही भगवान अपनी लीला का विस्तार करते हैं।

(५) धाम परिकर लीला सब इसी स्वरूप शक्ति के प्रकार हैं।

(६) स्वरूपशक्ति की तीन मुख्य वृत्तियाँ—ह्लादिनी संधिनी एवं संवित् हैं। इनमें ह्लादिनी ही सर्वश्रेष्ठ है।

---

१ एस० के० डे वै० फे० मू० पृ० १५८।

२ रूप गोस्वामी पद्यावली संख्या १५४ १५७।

३ माधुरी वाणी प्रकाशन बाबा कृष्णदास कुसुम सरोवर मथुरा।

(७) ह्लादिनी परम मधुर शक्ति है यहां भगवान की नित्य सहचरी राधा के रूप में आनन्द देता है एवं भक्ति के रूप में जीव को लीलारस का आस्वाद करा कर आनन्द प्रदान करता है।

(८) राधा इस प्रकार कृष्ण की सर्वोत्तम ह्लादिनीशक्ति भी हैं और सर्वोत्तम भक्त भी। उनका और कृष्ण का अन्तर शक्ति और शक्तिमान का है।

(९) धाम गोलोक है। गोलोक और गोकुल में कोई भेद नहीं है।

(१०) इस धाम का भी त्रिधा प्रकाश होता है—वृन्दावन (व्रज) मथुरा और द्वारका।

(११) प्रत्येक धाम का परिकर एवं लीला भिन्न भिन्न है। इनमें सर्वोत्तम लीला एवं परिकर वृन्दावन धाम का है।

(१२) लीला के प्रकट और अप्रकट दो रूप हैं।

(१३) भक्त का साध्य न तो नित्यप्रिया गोपीत्व है और न राधात्व की प्राप्ति ही उसका लक्ष्य है।

(१४) गोपीभाव से साधना का तात्पर्य साधनपरा गोपियों का अनुगत्य स्वीकार करना है।

(१५) राधात्व की निकटता की दृष्टि से राधा की सखी रूप में लीला का विस्तार लीला में सखीभाव और लीला का आस्वादन करने वाले का अनुगत्य है।

(१६) साध्य की दृष्टि से भगवान की लीला ही यहाँ साध्य है।

(१७) भगवत्तत्त्व चूँकि स्वयं कृष्ण हैं अतः इस सम्प्रदाय में तात्त्विक दृष्टि से प्रधानता कृष्ण की है। यद्यपि राधा को भी पर्याप्त मान मिला है एवं १७वीं शती से राधा को भी कृष्ण के बराबर स्थान प्राप्त होने लगा था।

(१८) प्रारम्भ में भी इस सम्प्रदाय में परकीया को कुछ न कुछ स्वीकृति प्राप्त रही है और बाद में तो १८वीं शती तक पहुँचते पहुँचते परकीया भाव को पूर्णतया प्रधानता मिल जाती है तथा परकीयात्व के ही आधार पर गोपियां कृष्ण प्रियाओं में श्रेष्ठ गिनी जाती हैं।

(१९) परकीया भाव की इस स्वीकृति का परिणाम है कि इस सम्प्रदाय के कवियों ने प्रेम-वर्णन के क्षेत्र में विरह और उत्कंठा भावों के प्रभूत रसात्मक चित्र प्रस्तुत किए हैं।

इस सम्प्रदाय की साधना की समीक्षा के संक्षिप्त संकेत

(१) कृष्ण में मर्यादित समस्त परम्पराओं का आत्मसात करने का प्रयत्न हुआ है।

(२) इनमें से दो परम्पराएं मुख्य हैं— भागवतादि पुराणों एवं महाभारतादि ग्रंथों में वर्णित कथा एवं काव्य के क्षेत्र में राधा कृष्ण की ललित प्रेमगाथा।

(३) प्रथम में गोपियाँ, कुब्जा, महिषियाँ उनकी प्रेमिकाएं एवं पत्नियाँ हैं दूसरी में राधा। प्रथम में सर्वोत्तम प्रेमिका (इसलिए भक्त भी) गोपिकाएं हैं एवं दूसरी परम्परा में इस पद की निर्विवाद रूप में अधिकारिणी श्री राधा हैं।

(४) अपने समन्वय में इस सम्प्रदाय के आचार्यों ने पहले तीनों धर्मों ब्रज, मथुरा एवं द्वारका—में ब्रज की गोपिकाओं को श्रेष्ठ माना और फिर इन गोपिकाओं में भी राधा का सर्वोच्च स्थान प्रदान किया।

(५) पर इस समन्वय के बावजूद दो प्रकार की साधनाओं के आदर्श साधक के सामने उपस्थित होते हैं —

(क) पहला आदर्श तो गोपियों का है पर इन्हें स्वरूपशक्ति कहा जा चुका था अतः भागवतपरक गोपियों के भाव की अनुमान करने का आदेश देकर गोपीभाव की साधना की परम्परा सुरक्षित रखी गयी।

(ख) राधावाद को प्रश्रय देने के बाद जिस साधना-पद्धति का उदय हुआ उसी को सखीभाव कहा गया। कृष्ण एवं गोपिकाओं की क्रीडा नहीं, राधा कृष्ण की केलि का ये सम्पादन और रसास्वादन करती हैं।

(६) इस समन्वय एवं अभिनवीकरण में इन्होंने अपने शक्ति सिद्धान्त का अत्यधिक उपयोग किया है। बिना इन शक्तियों की कल्पना के यह कार्य सम्भव हो नहीं था।

(७) इसके बावजूद तमाम परस्पर विरोधी दिखने वाली बातों का समाहार एवं समाधान इन्होंने भगवान की अचिन्त्य शक्ति के बल पर कर लिया है। जब इतना तर्क प्रवण सधा वाद पंडितों के सम्प्रदाय का यह हाल है तो सहज ही यह जाना जा सकता है कि भक्तिवाद तर्काश्रित या बुद्धिप्रवण न होकर राग-परक है और इसका दर्शन वस्तुतः रहस्यपरक है। इस साधना का

प्रेम रहस्यवाद (Love Mysticism) का ही पर्याय माना जाना चाहिए।

व्रजलीला एवं निकुंज लीला : भिन्नता की मानसिक पृष्ठभूमि

गौडीय वैष्णव तत्त्व दर्शन का तनिक विस्तार से उपस्थित करने का तात्पर्य मात्र इतना है कि पृष्ठभूमि में स्थित दार्शनिक विचारधारा से परिचित हुआ जा सके। मध्यकाल के विविध भक्ति सम्प्रदायों में कृष्ण व पुराणादि वर्णित लीला का इस प्रकार दार्शनिक स्तर पर व्याख्यायित करने का यह प्रयास अपने आप में अप्रतिम है। दर्शन की दृष्टि से वल्लभ-सम्प्रदाय बहुत ही पुष्ट एवं दृढ़ है पर वहाँ भी लीला के बारे में ऐसा सांगोपांग विवेचन प्राप्त नहीं होता। आगे चल कर १८वीं शताब्दी में रामायतकों ने राम कथा को भी ऐसा ही मोड़ देना चाहा है (उनकी चर्चा हम आगे करेंगे)। लेकिन उस पर गौडीय वैष्णव व्याख्या-पद्धति एवं विचारधारा का बड़ा गहरा और व्यापक प्रभाव है। गौडीय वैष्णवों के समकालीन अन्य वृन्दावनीय सम्प्रदायों ने साधना के शुद्ध व्यावहारिक धरातलों और अपनी रहस्यानुभूतियों के आधार पर ही इस लीला को ग्रहण किया। पर लगता है कि इस सबके मूल में दार्शनिक दृष्टि लगभग वही रहा है जो गौडीय वैष्णवों की थी। हमारा अनुमान है कि विष्णु, भागवत, पद्म, ब्रह्मवैवर्त पुराणादि के साथ ही वैष्णवाचार्यों द्वारा कल्पित स्वरूपशक्ति से सम्बन्धित लीला का दर्शन सामान्यतः स्वीकार कर लिया गया था। इसी कारण अन्य सम्प्रदायों में भी गौडीय वैष्णव तत्त्वदर्शन से मिलती जुलती अभिव्यक्तियाँ हमें प्राप्त हो जाती हैं। इनमें स्थापना के बाद पारस्परिक आदान प्रदान का क्रम भी चलता रहा। इसने भी समानताएँ उत्पन्न और विकसित की। परन्तु फिर भी कतिपय साधना एवं सिद्धांतगत अन्तर प्राप्त होते ही हैं।

हमारा अनुमान है कि इस अन्तर का मुख्य कारण है कि गौडीय तत्त्व दर्शन रहस्यानुभूतियों पर आधारित न होकर परम्पराप्राप्त साहित्य की नींव पर खड़ा है। उस साहित्य की व्याख्या अवश्य अपने ढंग से उन्होंने की है पर व्याख्या में पर्याप्त स्वतन्त्रता की सुविधा होने पर भी उस सार साहित्य एवं विचार की अपनी कुछ सीमाएँ और मर्यादाएँ भी होती हैं। यद्यपि स्वयं चैतन्य सम्भवतः मध्यकाल के उच्चतम एवं गहनतम रहस्यानुभूतियों वाले व्यक्ति थे पर स्वयं उन्होंने कुछ लिखा नहीं है जिससे कि उस रहस्यानुभूति के आधार का पता लगता। उनके जीवनचरितकारों ने जो कुछ चैतन्य के मुख से कहलवाया है उसके बारे में यह कहना कठिन है कि कितना चैतन्य का है और कितना उनके मुख में जीवनीकारों

ने अपना आदर्श रख लिया है। उसकी जीवनी में केवल इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वे कान्ताभाव को स्वीकार करते थे एवं मधुरभाव की अत्यधिक सान्द्र स्थितियों में गहन आवेश में मग्न भी हो जाते थे। अपनी विद्वत्ता के बल में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि महाभावस्वरूपिणी श्री राधा के भाव का मानो मूर्तिमान विग्रह थे। चैतन्य मतानुयायी तत्त्व विवेचकों ने कुछ उनसे सम्बन्धित शास्त्रों के आधार पर अपना दार्शनिक व्यावहारिक साधना का ढाँचा तैयार किया था। परन्तु हरिदासी या राधावल्लभीय सम्प्रदायों में इससे भिन्न स्थिति रही। इनके संस्थापकों स्वामी हरिदास एवं श्री हितहरिवंश ने अपनी रहस्यानुभूतियों को स्वयं ही अभिव्यक्त किया है इसके लिए किसी आप्त प्रमाण का उन्हें खोजने की आवश्यकता नहीं पड़ी। उनका अपना अनुभव स्वयं ही प्रमाण रहा। प्रमाण की दृष्टि से एक और मजेदार विकास हम देख सकते हैं—पुष्टिमार्ग में प्रमाण चतुष्टय की मान्यता है। गौडीय वैष्णवों में केवल भागवत को ही पूर्ण प्रमाण स्वीकार किया गया परन्तु हरिदासी एवं राधावल्लभीय सम्प्रदायों में भागवत इत्यादि को सम्मान तो दिया गया परन्तु प्रमाण रूप में उन्हें स्वीकार करने का प्रश्न नहीं उठा। अतः प्रमाण स्वानुभव ही रहा।[1] इस तथ्य ने एक दूसरे परिणाम पर इन सम्प्रदायों को पहुँचा दिया। इन्हें कृष्ण की विविध काव्य पुराणादि वर्णित लीलाओं को निरन्तर स्वीकार करके अपने सैद्धान्तिक ढाँचे के भीतर स्थान देने की आवश्यकता का अनुभव ही नहीं हुआ। इसे हम यों भी कह सकते हैं कि कृष्ण-लीलाओं के भीतर सार रूप से जो राधा कृष्ण के प्रेम का तत्त्व है उसे ही उन्होंने स्वीकार किया। माता पिता गुरुजन सखा गोपी गोप मथुरा, द्वारका, कंसवध, अत्याचारी का विनाश, धर्म की स्थापना आदि जितनी भी बाह्य बातें हैं उन्हें छोड़कर मात्र आन्तरिक प्रेम तत्त्व को स्वीकार किया गया। इसी कारण इन सम्प्रदायों में हमें लीला एक भिन्न स्तर पर दिखायी देती है एवं लीला की इस भिन्न स्तर वाली स्थिति के भीतर ही साधना के क्षेत्र में सखीभाव का चरम विकास हुआ। आगे हम इन सम्प्रदायों की उपास्य उपासक एवं लीला सम्बन्धी धारणाओं का विवेचन करेंगे।

---

1 अहमक याम भेद न पायो काहे को पण्डित वेद पुराना।
कागद के अक्षरनि उन्माना।
अनुभव करि प्रीतम पहिचाना सखा प्रतिदिन कछू अयाना।
—स्वामी विहारिणि देव, चौबोला ६-७।

रुचि के प्रकास परस्पर खेलन लागे ।[1]

वे रुचि या प्रेम के प्रकाश है यह तथ्य भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है यानी कि श्याम श्यामा वास्तव में एक अन्य तत्त्व रुचि या प्रेम या रस के प्रकाश हैं। गौडीय वैष्णव सिद्धान्त में हमने देखा था कि राधा कृष्ण की स्वरूपशक्ति का प्रकाश हैं उनका सम्बन्ध शक्ति और शक्तिमान का है पर यहाँ एक ही तत्त्व रुचि के ये दोनों ही प्रकाश हैं और इस प्रकार शक्ति शक्तिमान वाली व्याख्या की आवश्यकता नहीं पड़ती। इस उपपत्ति का परिणाम है कि दोनों का समानता का स्तर प्राप्त हो जाता है। 'परस्पर खेलन लागे' कथन प्रकटीकरण की अलौकिकता पारस्परिक प्रेम भावना एवं क्रीडा परायणता की ओर सकेत करता है।

इस महत्ता अनादि तत्त्व आदि का ध्यान में रखने के कारण ही सभवतः स्वामी बिहारिणि दास (इस सम्प्रदाय के सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त व्याख्याता) ने कहा था —

मन मनसा आसा मगन तन की कछू न समार।
श्री बिहारीदास नाम न कहै नित्य नित्य बिहार।
नामी नाम न भावई तन मन मनसा प्रान
आसा दास बिहार कियो बसि रसिकाने थान।
नाम न कछू बिहार बिन डारो नाम निवारि।
नामी नाम सुहावनो जब देख्यो करत बिहार।
कहा नाम नामी कहा सखी सुख पूछो तोहिं
तन मन मगन बिहार में तहाँ कछु न सु मोहिं।[2]

इस प्रकार मुख्य बात नित्य विहार है नाम नहीं। तात्पर्य यह कि इस युगलरूप का मुख्य परिचय नाम से नहीं नित्य विहार-तत्त्व से लिया जा सकता है। यदि कोई नाम लिया भी जायगा तो युगल के पारस्परिक विहार प्रेम एवं केलि को प्रकट करने वाला ही होना चाहिए। या नाम और नामी का सबध अत्यन्त उत्तम बीज एवं तरुशाखा का माना है जिसमें कि साधनरूपी अपार पुष्प खिलते हैं।[3]

वास्तव में युगल एक ही हैं केवल इच्छा से ही दो होते हैं। इसी कारण कुछ लोग इस सम्प्रदाय के दर्शन का नाम इच्छा द्वैत बताते हैं। पर वास्तव में इच्छा से दो होने का सिद्धान्त लगभग सभी वैष्णव सम्प्रदाय स्वीकार करते हैं। अन्तर इतना ही है कि यहाँ पुरुष-तत्त्व (श्याम) की ही प्रधानता नहीं है। दोनों को

१ स्फुट वाणी ? ... केलिमाल २।
२ स्वा० विहारिणि दास साखी १३० १३३।
३ नाम बीजु नामी तरसाखा साधन पहुप अपार—वही सिद्धान्त के पद १४४ (पृ० १०४)।

समान पद प्राप्त है। बिहारिणि दास ने उनके एकत्व की एक बड़ी अनोखी उपमा दी है कि चना जैसे एक ही होता है पर उसके भीतर दो दालें हो जाती हैं वैसे ही एक होते हुए भी ये दो हैं

बहुत भांति इनको कहै श्री बिहारिणि दास विचारि।
बिलस बिना आलिंगन एक चना द्वै दारि।[1]

अथवा जैसे एक ही मूल के दो स्कंध एक ही समय में होते हैं वैसे ही ये भी हैं—

एक मूल अस्थूल लौं, द्वै स्कंध समवस।[2]

यह जोड़ी ऐसी विचित्र बनी है जैसी कि किसी ने देखी है न सुनी है और न बनी है।[3] प्यारे को प्यारी अच्छी लगती है और प्यारी को प्रियतम बहुत भाते हैं दोनों को ही युगल किशोर जानना चाहिए। जैसे 'घन दामिनी' सदा साथ रहते हैं वैसे ही ये भी हैं। ऐसी अद्भुत जोड़ी है कि मन वचन और कर्म से इन्हीं का संग करने का मन होता है फिर और किसी ओर दृष्टि टलती ही नहीं है।[4] जिस प्रकार पृथ्वी में गंध है पर तु उसका रूप सूक्ष्म है उसी प्रकार श्याम के रूप में गौर अंग सूक्ष्म रूप से विद्यमान ही रहता है —

ज्यों पृथ्वी में गंध है सूक्षम धरे सरूप।
यो गौर स्याम में मिल रह्यो भिन्न न कहिये रूप।[5]

न ये लक्ष्मी और नारायण हैं और न ही ये ब्रज के राधाकृष्ण हैं—वे लोग तो इनके रस के लिए ललचाते और बिललाते रहते हैं —

अभिमानी दरबान आन को कौन कहै कुसरात।
याही ते कुलभता सबको लछिमीपति ललचात॥
यद्यपि राधा कृष्ण बसत ब्रज बिन बिहार बिललात।[6]

वेदान्त में जो निर्गुण ब्रह्म की चर्चा आती है मुनिगण जिस निराकार की बात कहते हैं वह सब इन नित्य बिहारी की आभा मात्र है —

१ स्वा० बिहारिणिदास साखी ११४।
२ वही वही १११।
३ स्वा० हरिदास केलिमाल ३१।
४ वही—वही ३।
५ वही—वही ४।
६ ललितकिशोरी देव सिद्धान्त के दोहा (कालक्रम से परवर्ती इस उद्धरण में कृष्ण का रूप शक्तिमान् का-सा प्रतीत होने लगता है) (स्वा० ह० सम्प्रदाय और वाणी साहित्य, पृ० २६५ पर उद्धृत)।
७ बिहारिणिदास सिद्धान्त के पद १४२।

निगु न ब्रह्म जो बनत वेद तासौ सुनौ जुदो इक भेद ।
सो नित्त बिहारी की आभा आहि
निराकार मुनि बदत जो ताहि ।[1]

यदि कोई यह प्रश्न करे कि विविध अवतारो का कारण क्या है तो स्वामी रसिक देव का उत्तर होगा कि इन अवतारो के उद्भव का कारण युगल का यह नित्य विहार ही है —

नारायण आदि सकल औतार तिन कारन नित्य विहार ।[2]

या वे और किसी पर आश्रित नहीं है पर मन के लिए तो कोई सहारा चाहिए और व अगोचर भी हैं अत दिखाई कैसे पड । मन इस दिव्य केलि रूपी आलम्बन के सहारे टिका रहता है इस प्रकार लीला का भी कारण नित्य विहार प्रतीत होता है ।[3] यह प्रसंग हम सूरदास के अविगति गति कछु कहत न आवै को याद दिला देता है । स्वामी ललितकिशोर देव ने इस नित्य विहार लीला का कारण प्रभु का वह अनुग्रह माना है जो सभी को आनन्द देना चाहता है अन्यथा उनका रूप तो वेदो के लिए भी अलख और अगोचर है —

निगम अगोचर अलख है क्यों हू लख्यो न जाय ।
प्रेम सहचरी भाव सों युगल रूप दरसाय ।[4]

यो मानो ही विहार के इतने लालची हैं कि उनके बिना जो समय बीतता है वह उनके शरीरो को अत्यधिक शिथिल कर देता है उन्हें वे विरह के क्षण प्रतीत होने लगते हैं —

व्याकुल विरह विहार बिनु नखसिख लोभी लीन ।
श्री बिहारिणि दास प्रम सिथिलई स्वासन चलत अधीन ।[5]

इनके विहार को ही लेकर सखी सम्प्रदाय के भक्तो ने सर्वाधिक दोहो पदो कवित्त सवैया में रस की धारा बहाई है । पर किसी को यह न समझना चाहिए कि इनके विहार में प्राकृतिक मन मथन या काम का आवेग है —

---

१ स्वा० रसिकदेव भक्ति सिद्धान्तमनि ८७ ।

२ वही ८८ ।

३ निरालम्ब नहिं मन को थिय बचन अगोचर क्यो करि लख ।
दिव्य केलि आलम्बन दीनो लीलारस यो जनहित कीनो ।
— वही रससार १२ १३ ।

४ स्वा० ललितकिशोरीदेव सिद्धान्त के दोहा । (स्वा० ह० स० वा मा० पृ २६८ पर उद्धृत) ।

५ वही साखी १३५ ।

इनके मल मथुन कछु नाहीं ए दिव्य देह विहरत बन माँहीं
काम प्रेम रस विवस विहारी, सावधान सहचरि सुकुमारी।[1]

इस अलौकिक काम प्रेम के रस में वे इतना मग्न हो जाते हैं कि उन्हें अपनी सुधबुध ही नहीं रहती। सावधान सखी उनकी चिन्ता ऐसे क्षणों में करती है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सखी सम्प्रदाय का उपास्य गौणीय वैष्णवों से पृथक है। वहाँ पर उसे सत चित आनन्द कहा गया है पर इन की विहारिणी और वल्लभ उससे भी उज्जवल हैं —

विहारिनि वल्लभ कुल में जान् ।
सत् चिद् आनन्द ब्रह्म जोति तिनहू ते उज्वल मान् ।[2]

युगल में प्रधानता

जब उपास्य का रूप युगल हो जाता है तब यह प्रश्न बहुत समीचीन नहीं रहता कि दोनों में कौन श्रेष्ठ है? पर इधर हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में जब से युगलोपासना और सखी भाव का महत्त्व प्राप्त हुआ है तब से घुमा फिरा कर राधा को अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है और इस राधा प्राधान्य का इन सम्प्रदायों का विशेष प्रदेय माना जाता है।[3] इस साहित्य के

---

१ स्वामी ललित किशोरी देव रस के चौबोला, ११।
२ किशोरदास सिद्धान्त-सार संग्रह ११।१।
३ (क) इस प्रकार लाडिली जी प्रधान उपास्य हैं । डा० गोपाल दत्त शर्मा स्वामी हरिदास और उनके सम्प्रदाय का वाणी साहित्य, पृ० ३०६।
(ख) श्रीकृष्ण का स्थान राधा की तुलना में इसलिए और भी कम महत्त्व का हो जाता है कि इस सम्प्रदाय में उसे परतत्त्व न मान कर राधा को परतत्त्व के रूप में स्थापित किया गया है। डा० विजयेन्द्र स्नातक राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य पृ० २१५।
(ग) राधावल्लभ सम्प्रदाय में प्रधान रति राधा के चरणों में मानी जाती है।
ललिताचरण गोस्वामी गो० हितहरिवंश—सम्प्रदाय और साहित्य पृ० २०४।
(घ) प्रथम उपास्य स्वरूप निश्चय करिबो ही ठीक है जाकू आगम निगमादि समस्त अपौरुषेय यथा उचित वर्णन कर रहे

प्रार्तारिक अध्ययन से मुझे यह निष्कर्ष एकांगी प्रतीत होता है। यह सत्य है कि राधा की श्रेष्ठता सम्बन्धी प्रमाण इस साहित्य में यथेष्ट है परन्तु कुंजबिहारी को ही श्रेष्ठतम मानने वाले उद्धरणों की भी कमी नहीं है। वास्तव में ये श्रेष्ठताएं सापेक्षिक हैं और भिन्न भिन्न स्तरों पर है। जहाँ पर सद्धान्तिक परात्पर तत्त्व आदि की चर्चा आ जाती है अवतार सृष्टि आदि के प्रसंग आ जाते हैं वहा पर कृष्ण की श्रेष्ठता का निदर्शन होता है परन्तु जहा पर निकुंज विहार की प्रेम पद्धति है वहाँ पर राधा अधिक गंभीर एवं प्रधान दिखाई देती है। पर यह विशेषता तो प्रेम भाव के कारण है। गौडीय वष्णवों ने महाभाव की जिस अवस्था का तादात्म्य राधा के साथ किया था उसी की अत्यन्त स्वाभाविक परिणति प्रेम के प्रदेश में राधा की यह श्रेष्ठता है। इसके अतिरिक्त ह्लादिनी शक्ति की जिस भक्ति का आनन्द देने वाली वृत्ति की चर्चा हम पीछे कर चुके हैं उसके अनुसार राधा को उपास्य मानना कृष्ण की अवमानना नहीं है— इसी प्रकार जैसे कि स्वा० हरिदास या गुरु का भी उपास्य से भी कभी कभी अधिक महत्त्व देना युगल रूप का अपमान नहीं है। अपनी स्त्री सुलभ कोमलता से राधा भक्त के लिए अधिक सुलभ है तथा राधा एवं सखी दोनों के ही स्त्रीरूपा होने से तत्सुखित्व का भाव भी अधिक सहज एवं स्वाभाविक हो जाता है। कृष्ण को उपास्य रूप में अधिक मान्यता देने से गोपीभाव से कृष्ण को कान्त मानने की अभिलाषा भी जग सकती है। हमारा विचार है कि *प्रधानता सम्बन्धी द्वैत की स्थापना इन सम्प्रदायों की युगलोपासना* एवं नित्य विहार की आत्मा के विरुद्ध है। परन्तु अगले पृष्ठों में हम विहारी एवं विहारिणी दोनों के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे।

प्रियतम

अपने अष्टादश सिद्धान्त के पदों में स्वा० हरिदास ने उन्हें हरि नाम से सम्बोधित करते हुए बताया है कि उनकी मायाबाजी विचित्र रूप से फैली हुई है[1] और उसमें मुनिगण तक भ्रमित हो जाते हैं। मृगतृष्णा रूपा जग में हरि का ही सब खेल व्याप्त रहा है।[2] इसको प्रत्येक दिन वे बुनते भी हैं और उधड़ते भी हैं इसप्रकार प्रपंच के इस सागर (जगत्) का निर्माण और विनाश सब उन्हीं की माया है —

पूर्व पृष्ठ से —

श्यामा उपास्य रहीं। डा० कन्हैयादास श्रीस्वामी हरिदास जू की उपासना शैली (श्री स्वामी हरिदास अभिनन्दन ग्रन्थ पृ० ३५-३६)।

१ तुम्हारी माया बाजी पसारी, विचित्र
मोहे मुनि मुनि काके भूले कोऊ। —अष्टादश सिद्धान्त के पद ५।

२ वही १३

निशिदिन बुनत उधेरत जात प्रपंच को सागर।[1]

संसार को माया का परिणाम एवं माया का भगवान से सम्बद्ध करके वैष्णव तत्त्वदर्शन एवं सृष्टि क्रिया के मानने वाले ही सिद्ध होते हैं। जो कुछ प्रभु चाहते हैं वही होता है। जीव कितना ही फड़फड़ावे पर प्रभु इच्छा के पिंजड़े में बद्ध हैं और उसी अनुरूप वह कार्य कर सकने में समर्थ होता है —

ज्यों ही ज्यों हो तुम राखत हो त्यों ही त्यों रहियतु हौं हरि।
और तो अचरचे पाइधरौं, सो तो कहौं कौन के पेड़ भरि।
यद्यपि कीयौ चाहौ, अपनौ मनभायौ
सो तो क्यों करि सकौ राख्यौ हौं पकरि।
कहि श्री हरिदास पिंजरा का जनावर ज्यौं,
फड़फड़ाय रह्यौ उड़िबे को कितोउ करि।[2]

उनके परात्परत्व की ओर सखी सम्प्रदाय के श्रेष्ठ व्याख्याता स्वा० बिहारिणी देव जी ने बड़े स्पष्ट संकेत किए हैं। उनके अनुसार वे मात्र अपनी इच्छा से लीला शरीर रूपी विग्रह धारी बनते हैं अन्यथा वे तो अवतारी हैं और सब भक्त ही अवतार हैं। लक्ष्मीपति नारायण ही नहीं ब्रजाधीश कृष्ण के लिए भी वे सुलभ नहीं हैं उनसे बड़ा और कौन अधिकारी है—सबसे बड़े वे स्वयं हैं। ईश्वरों के भी ईश्वर हैं। अन्य अवतार उनकी अंशकलाएँ हैं मुकुटमणि कुंजबिहारी अवतारी हैं पति हैं —

इच्छा विग्रह धर लीला वपु सब अवतारन पर अवतारी।
लक्ष्मीपति व्रजपति को दुरलभ, इनतें कौन बड़ो अधिकारी॥[3]

एवं

सकल ईश के ईश हैं अंशकला अवतार।
श्री कुंज बिहारी मुकुटमणि अवतारी भरतार॥

अथवा

निर्गुण ब्रह्म जो बरनत वेद, ताकौ सुनौ जुदौ इक भेद।
सो नित्त बिहारी की आभा आहि, निराकार मुनि बरनत जु ताहि॥[5]

---

१ अष्टादश सिद्धांत के पद १४।
२ स्वा० हरिदास केलिमाल, पद १।
३ बिहारिणिदास सवैया २८।
४ ललितकिशोरी देव सिद्धान्त की साखी, (स्वा० ह० स० वा० सा०, पृ० ३०६ पर उद्धृत)।
५ रसिक देव भक्ति-सिद्धान्त-मणि ८७।

या

अस कला सब अवतारनि को अवतारी मरतार ।[1]

ऐसे विराट का यह समझना भी भूल होगी कि वे चतुभ ज हैं षडयन्त्र हैं या कि ब्रजे वर कृष्ण हैं वे मात्र द्विभज धारी हैं। हाँ अनुपम कजबिहारी अवश्य हैं। इस प्रकार अत्यन्त कोमल मानवीय स्तर पर उनकी कल्पना की गयी है —

चुतुभु ज द्धभुज भये ब्रजभूप कजविहारी दुभुज अनूप ।[2]

यद्यपि उनका अन्त कोई नही पाता [3] पर फिर भी जो पडित लोग माहात्म्य का मिश्रण करके उनके स्वरूप का वर्णन करते हैं वे मानो इस माहात्म्य के आधार पर व्यापार करते हैं —

कागद मसि लिखि लीक लिवारी बहुमत रत पडित पटवारी।
महातम मिश्रित ते रुजिगारी जना जाति वचिन अजारी।

यह माहात्म्य रहित वहा ज्ञान वाला अत्यन्त कोमल मानवीय व्यक्तित्व सत्ता सबका सबके ऊपर है और नियन्ता है। कोई यह भी न समझे कि उनमे लीला का अभाव है— वह लीलासागर नटनागर मानो रचि म रमावे ।[5] उनका यह स्वामी आदि मध्य एवं अवसान सभी मे एक रस रहता है।[6] वास्तव मे श्याम ही एकमात्र सिंह हैं—शेष सभी तो शृगालवत् हैं। वस्तुत अपने अपने भाव के अनुसार ही लोग अपने उपास्य का स्मरण हैं। रसिकों के लिए तो मोहन अत्यन्त मृदुल वेषधारी हैं। यो सखी सम्प्रदाय के आचाय ब्रज लीलाओ का तिरस्कृत नही करते उनके अनुसार ब्रज लीला आदि के उपासक उन लीलाओ मे भी उसे देख लेते हैं (पर उसका रूप तो वही है जो रसिकों को दृश्यमान है।) —

जिहि जसा तिनि तसा देखा रसिकन की मोहन मृदु भेसा।
विधि निषेध तजि भक्ति कर निदरि
दुविधा गये हिये आवे दृष्टि।
इक मन साधन कर वृज जाई इक चितचोर हरन सुखदाई।
मुरली रव रसिक रमाई ते वनिता सब जूथ कहाई।

---

१ बिहारिणिदास सिद्धान्त के पद १४१।
२ वही रस के चौबोला १६।
३ ताको अन्त न कोऊ पाव—वही रस के चौबोला १८ (पृ० ५५)।
४ वही रस के चौबोला १३ (पृ० ५३)।
५ वही – सिद्धान्त के पद ८३।
६ वही वहा ८ ।
७ वहा वही ११७।
८ वही रस के चौबोला १६२ २१।

परन्तु जैसा कि ऊपर वर्णन कर चुके हैं प्रेम के क्षेत्र में निकुंज लीला के क्षेत्र में यहाँ अवतारी अवतार माया की बाजी पसारने वाले कोटि काम लावण्य विहारी राधा का मुख जोहते रहते हैं—उनकी कृपा की अभिलाषा रखते हैं। राधा की छाँह में ही उनमें सुघराई आयी है।[1] उनका मन होता है कि प्यारी के प्राण से प्राण मिले रहें एवं तन में तन समाया रहे पाँखों से आगे नगी रहें राधा के वशीभूत उन्हें भू ऊप भी बरदा ने नहीं है।[2] उनकी जितनी विमुना हम पीछे देख चुके हैं वह सब प्रेमराज्य के लिये नहीं हैं। यहाँ तो महत्ता सूचक ठाकुर सम्बोधन उन्हें संकुचित कर देता है। प्रिया की जूठन खाने के लिए वे लालायित रहते हैं एवं सखियों से याचना करते हैं कि प्यारी के साथ मुक्त विहार का अवसर प्रदान करती रहे। स्वा० विहारिणि दास ने इन कोमल चतुर चिकनिय लाल के लिये लिखा है —

अति टौंहक अति चिकनिया अधिक चतुर इतराइ
कित बिनो कित ठकुरई जूठन की ललचाइ।
जाच जूठन पाइये पा परि हा हा खाइ।
जो ठाकुर करि बोलिये, सकुचि तनकु ह्वै जाइ।
ताहि सुहाई न ठकुराई बड़ो प्रताप बिस्तार।
जाचत है दिन औ का सखी मोहि महार विहार।
प्रान पलित पाइनि पर परस होत निहाल।
यहै दसा सेवत सखी दूलह दुलहिन लाल।[3]

राधा

हम यह पहले ही कह चुके हैं कि राधा का परम्परा प्राप्त स्वरूप प्रेम मूर्ति का था ऐश्वर्य, वैभव की परम्पराएँ उनके साथ सम्बन्धित नहीं थीं इसी कारण राधा को स्वीकारने में उन्हें बहुत संकोच नहीं हुआ। पर इस बात तक राधा ब्रज लीलाओं के भीतर अनन्य भाव से पुष्पित हो चुकी था इसी कारण १८वीं शती के आचार्य ललितकिशोरी देव को यह बात कहने की आवश्यकता पड़ी कि ये राधा न तो ब्रज की हैं और न ही रास विलास वाली हैं यह तो तीसरी राधा है जो कुंज में स्वा० हरिदास द्वारा दुहराई जाती हैं यानी कि जो निकुंज-लीला विलास में मग्न हैं वे ही ये हैं। न तो इनका जन्म होता है न कर्म—दोनों ही समान वय वाले एवं रंग निकुंज विहार में रत रहते हैं। यह तो साधक की रुचि

---

1 कविमाल २४।
2 वही २८।
3 स्वा० विहारिणि दास साखी, १३८ १४१।

पर निर्भर करता है कि उन्हे राधा कहे या कुंजविहारिणी सज्ञा से सम्बोधित करे। वास्तव में नाम और नामी (वस्तु) में अभेद है भेद लीला का परिणाम मात्र है —

एक राधा ब्रज मे बस एक राधा रास विलास ।
तीजी राधा कुज में दुलराव हरिदास ।
राधा नाम विभाग करि समझौ रसिक सुजान ।
जनम कम जाको नहीं इकरस वस समान ।
भाव तो राधा कहो भाव कुंजविहारिणि नाम ।
नाम वस्तु अभेद है लीला भेद परिणाम ।[1]

भवभूति की उक्ति क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः उनके लिए पूरी तरह लागू होती है। प्यारी राधा का मुख ज्यों ज्यों लाड़ले देखते हैं उन्हें प्रतिक्षण नया ही लगता है —

प्यारी जू जब जब देखों तेरो मुख तब तब नयो नयो लागत ।[2]

उनका मुख नहीं है मानो प्रसून की पंक है जिसमें प्यारे के नयन फंस गए हैं।[3] वास्तव में कृष्ण की जितनी भी सुघराई है सब उन्हीं की छांह में रहने के कारण है —

सुघर भये बिहारी याही छाह ते ।
जे जे गटी सुघर जानपने को ते ते याही बाह ते ।

स्वय प्यारे अपने मुख से कहते हैं कि जहां जहां प्रिया के चरणों की छाप पड़ती है वहीं वहीं उनका मन छाया करता रहता है —

जहा जहां चरन परत प्यारी जू तेरे तहा-
तहा मन मेरो करत फिरत परछाहीं ।

यों तो ब्रह्माण्ड में अगणित नारियां हैं जो रूपवती एवं विलासिनी भी हैं पर जो शोभा जो सौन्दर्य जो सुषमा श्यामा में है वह न देव नारियों में है न नाग-नारियों में और न किसी और मनुष्य समाज में। इसके अतिरिक्त यह भुवन मोहन सौंदर्य न पहले सुना गया है न अभी है और निश्चित रूप से आगे भी नहीं होगा —

देव नारि नाग नारि और नारि
ते न होंहि और की और ।

---

१ ललितकिशोरी देव सिद्धांत की साखी (गोपाल दत्त शर्मा द्वारा स्वा० ह० स० वा० सा० में पृ० ३०३ पर उद्धृत)।

२ केलिमाल ३४।

३ वही ■ प्यारी तेरो बदन प्रसून की पंक ताम बांधे नैन द्वं ।

४ वही २४।

५ वही ५३।

पाछे न सुनी ऐसी अबहूँ आगे हू न ह्व है,
यह गति अद्भुत रूप की अद्भुत और की औरे।[1]

लाल को इसी बात का भय रहता है कि प्यारी जी कभी उससे कुमया न कर जाएं —

प्यारी जू एक बात की मोहि उर आवत है री।
मति कबहू कुमया करि जाति।[2]

वास्तव में किशोरी जी सुख का सार समूह हैं। रूप का आगार रंग की साक्षात् सागर परम विचित्र एवं अत्यन्त भोली श्यामा जी के आगे श्याम सदैव आधीनी करते हैं।[3] श्याम भोक्ता हैं एवं श्यामा भोग्या हैं अपने इस रूप में वे आलम्बन रूप भी हो जाती हैं, यही उनकी प्रधानता है। क्यों कि रूप में वे लाल के प्राणों का पोषण करती हैं सम्पूर्ण सुख वही हैं एवं प्रिय के जीवन के लिए रसिकता का आगार हैं —

भोगी स्याम भोग हैं प्यारी पोषत प्राण लाल हितकारी।
स्वामिनि सब सुख पूरण दानि प्रिय की जीवन रसिक निधानि।[4]

भोग्य की इस सहज प्रधानता के वशीभूत होकर अपने प्रताप को दुरा कर पति रति की याचना करते हैं अपनी इस रसरीति को प्रकट करने के बाद के प्रिया के चरणों में प्रणत होकर अपने को धन्य मानते हैं वे सबके स्वामी हैं पर उनकी भी स्वामिनी राधा हैं —

मानवान दे प्रान प्रिया पति रति जाचत परताप दुरायन।
यिनु रसरीति प्रतीति प्रकट करि धन्य जन्म मानत परि पायन।
कर कंकन दरपन देखहु न श्रीविहारिनि दास लहे मन भाइन।
सब ठाकुर को ठाकुर हरि ता ठाकुर की ठाकुर ठकुराइन।[5]

इस प्रभाव में ही एक अन्य स्थान पर वे सर्वोपरि कुंजविहारिनी रानी बता दी गई हैं। यहाँ तक कि ब्रजराज भी उनकी प्रजा है।[6] इस प्रेमाधिक्य के कारण ही प्रिया की भौंह का भंग होना भी लाल के लिए प्राणान्तक होता है।

---

१ कलिमाल ५४।
२ वही ७८।
३ सुख को सार समूह किशोरी। रूप निधान रंग को सागर परम विचित्र महा अतिभोरी छिन छिन लाल करत आधीन सदाइ प्रसन्न रहो तुम गोरी। —ललितकिशोरी देव रस के पद २०।
४ स्वा० ललितकिशोरी देव रस की साखी चौपाई।
५ विहारिणिदास सवैया, ११६।
६ वही वही ११६।
७ कलिमाल–१०।

या एक स्थान पर यह भी प्रतीत होता है कि कृष्ण के अनेक वल्लभाएं थीं। राधा मान किये है सखी उनसे आकर कहती है कि यदि सर्वोपरि होना चाहती हो तो चलो —

> आजु अनु दूटत है ललित त्रिभंगी पर।
> चरन चरन पर मुरली अधर धर चितवनि बंक छबीली भ्रू पर।
> चलहु न वेगि राधिका पिय प जो भयो चाहति हौ सर्वोपरि।[1]

परन्तु इस एक ही प्रसंग का अधिक खींचना उचित न होगा। इसके अतिरिक्त सर्वोपरि की व्याख्या अन्य अर्थों में भी की जा सकती है।

परन्तु जैसा कि पीछे हम अपना मत तथ्य प्रकट कर चुके हैं राधा की यह प्रधानता निकुंज लीला के प्रेमाधार को दिखलाने के लिए है। उनका वास्तविक रूप युगल का ही है—प्रधानता अप्रधानता की यहाँ चर्चा न होनी चाहिए। पर इतना अवश्य ध्यान रहे कि गौडीय वैष्णवों जैसा शक्ति एवं शक्तिमान का यहाँ पर कोई विभाजन नहीं है। इन दोनों के मध्य निरवधि नित्य विहार की केलि होती रहती है। इस केलि महारस में ही वे भी डूबे हैं एवं सखियां भी इसी रस में आनन्द लाभ करती रहती हैं। बिहारिनिदास ने दोनों का समन्वय एक स्थान पर अत्यन्त सुन्दर रीति से किया है। उनके अनुसार बिहारिणी पर भाव रखकर कुंज बिहारी राय का भजन करो —

> यों भजि कुंज बिहारी राय।
> श्री विहारनि रानी पर धरि भाव।

परिकर

जैसा कि पीछे इंगित किया जा चुका है लीला के विस्तृत रूप के स्थान पर सारभूत तत्त्व को अपनाने के कारण सखी सम्प्रदाय में परिकर की वैसा कोई व्यापक एवं पुष्ट धारणा नहीं है जैसा कि गौडीय वैष्णवों में हम उपलब्ध होती है। यहाँ पर केवल मात्र कुछ सखियों का संकेत मिलता है। सखियों के भी नाम रूप सेवा प्रकार आदि का पृथक विवेचन नहीं हुआ है। केवल सेवाकार्य या मान के समय मनाने आदि के प्रसंग में कुछ सखियों का उल्लेख हो जाता है। केलिमाल में हरिदासी नाम सखी के रूप में उल्लिखित हुआ।[2] एवं केवल एक अन्य स्थान पर ललिता का उल्लेख है।[3] अन्य स्थानों पर एक वचन या बहुवचन

---

१ केलिमाल १८।
२ बिहारिनिदास सिद्धान्त के पद १६।
३ केलिमाल ५।
४ वही ६८।

म सखी की ही चर्चा आया है । परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामी हरिदास सखियों को भगवान का ही अंश मानते थे। कम से कम एक पद में तो उन्होंने सखियों को कृष्ण मूर्ति ही कहलाया है। लाल कह रहे हैं —

जहा जहा चरन परत प्यारी जी तेरे तहा
तहा मन मेरो करत फिरत परछाहीं।
बहुत मूरत मेरी चौर दुरावत कोऊ
बीरी खवात एक व आरसी ल जाही
और सेवा बहुत भाति की जसी ये कहै
कोऊ तसी ये करो ज्यों रुचि जानो नाहीं।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा को।
भले मनावत दाइ उपाहीं[1]

सखियाँ केलि की व्यवस्था करती हैं मानिनी को मान के समय मना कर केलिसमुत्सुक बनाती हैं साथ में छिरका खेलती हैं रास के समय भी साथ रहती हैं एवं उस शोभा का पान करते रहने की ही उनकी आकांक्षा रहती है— ऐसे ही देखत रहौं जनम सुफल करि मानो तथा हसत खेलत बोलत मिलत देखो मेरी आखिन सुख।[2]

इन विविध सखियों में एक सखी अधिक प्रमुख है इसका भी सकेत अनेक स्थानों पर मिल जाता है। हरिदासी एवं ललिता नाम का उल्लेख हमने अभी किया है तथा सम्प्रदाय में इन दोनों को एक ही स्वीकार किया जाता है अतः यह निष्कर्ष अनुचित न होगा कि मुख्य सखी हरिदासी या ललिता ही है। एक अन्य स्थान पर स्वयं प्रिया का कहना है कि अनन्त जिह्वाओं से भी तेरे गुणों का गान नहीं हो सकता —

रोम रोम जो रसना होती तौऊ तेरे गुन न बखाने जात।
कहा कहौं एक जीभ सखीरी बात की बात।[3]

बाद के सम्प्रदायाचार्यों ने इन अन्तरंगा सखियों के रूप का और अधिक विकसित किया है। परवर्ती लोगों ने युगल के समक्ष ही हरिदासी सखी को स्थापित कर लिया है। बिहारिणिदास के अनुसार तो प्रेम की तरुण तरगावलि

---

१ केलिमाल, ५३।
२ वही ३ तथा ३२।
३ वही ४०।

हम जानते हैं कि जीवन का चरम लक्ष्य यही नित्य विहार रस ही है।

धाम

स्वामी हरिदास में धाम की वैसी कोई पुष्ट दार्शनिक कल्पना हमें प्राप्त नहीं होती जैसी कि गौडीय वैष्णवों के सम्प्रदाय में है। इस सम्प्रदाय में सबसे महत्त्वपूर्ण धाम निकुंज है। निकुंज की सत्ता वृन्दावन में स्वीकार की जाती है एवं वृन्दावन ब्रज में है इसलिए सभी महत्त्वपूर्ण स्वीकार किए गये हैं पर यह ध्यान रहे कि इनकी श्रेष्ठता का क्रम अपरपूर्व है। यों सब मिला कर धाम के रूप में वृन्दावन का ही स्वीकार किया गया है। स्वामी हरिदास ने अपनी रचनाओं में अनेक स्थानों पर वृन्दावन का उल्लेख किया है। उनके अनुसार वृन्दावन से बन को ही गुंजमाल की तरह हाथ में पहनना चाहिए।[1] वे यत्र ऋतु वैभव के साथ ही वृन्दावन की सुषमा भी वे वर्णन करते हैं —

ऐसी ऋतु सदा सर्वदा जो रहै बोलति मोरनि।
नीके बादर नीको धनक चहूं दिशि नीको
श्री वृन्दावन आछौ नीकी मघन की घोरनि
आछी नीकी भूमि हरी हरी
आछी नीकी बूंदनि की रेंगनि काम की रोरनि
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा के मिल गावत।
जम्यो राग मल्हार किशोर किशोरनि।

अन्य भी उन्होंने विहार के प्रसंग में बन का उल्लेख किया है। यह कहना अनुचित न होगा कि यह बन वृन्दावन ही है। परवर्ती सम्प्रदायाचार्यों ने वृन्दावन को और अधिक महत्व प्रदान कर दिया। बिहारिणिदास ने तो अन्य धामों का उल्लेख करते हुए वृन्दावन को सर्वश्रेष्ठ बना दिया —

तीरथ सकल लोक बैकुण्ठ ते मधुपुरी अधिक सदेह नसानो।
तातें अधिक निकट ब्रज बसौ ब्रह्मा बदनि प्रकट प्रमानो
श्री बिहारिनिदास निकट जनि सेवत ताज राधा रवन रवानो।
विद्यमान हरि मन्दिर राजत श्री वृन्दावन रस खानि खदानो।[3]

---

१ स्वामी हरिदास अष्टादश सिद्धान्त के पद १०।
२ वही केलिमाल ८८।
३ बिहारिणिदास सवैया कवित्त ६ ।

धर्म अर्थ मोक्ष आदि पुरुषार्थ एवं भक्ति के अनेक भेद बताये गये हैं पर जो सुख वृन्दावन में, जो पवित्रता यमुना के कूल के सौरभ में है वह अन्यत्र कहीं नहीं है —

श्री वृन्दावन को सुख कहूँ न लह्यो।
धर्म, अर्थ, कामना मुक्ति पद भेद भक्ति बहु भांति कह्यो।
परम पवित्र पुलिनि सौरभ कन पावन जमुना तीर बह्यो।[1]

अन्य मत मतान्तरों, पुराणों आदि में वर्णित वैकुण्ठ महावैकुण्ठ आदि भी उनके धाम हैं पर वृन्दावन विपिन तो राजधानी है। वृन्दावन को यदि रस की खानि कहा जाय तो अनुचित न होगा। क्योंकि साक्षात रस विग्रह गौर श्याम यहाँ नित्य विहार करते रहते हैं। राधा कृष्ण यहाँ नित्य हैं विपिन का यह विलास भी नित्य है एवं कोटि-कोटि गोलोक का आलोक यहाँ के एक एक पत्त में है —

वैकुण्ठ महा वैकुण्ठ लौं सबही धाम जानि
रजधानी वृन्दाविपुन अदभुत रस की खानि।
अदभुत रस की खानि है श्री वृन्दावन नित्त
गौर श्याम विहर जहां एक प्रान द्वै चित्त।
नित्य हो राधा कृस्न है नित्य ही विपुन विलास।
कोटि कोटि गोलोक लै एक पत्र परकास।[2]

उपासना का स्वरूप और भाव

सखी-सम्प्रदाय नाम ही यह सूचित करता है कि उपासक को सखीभाव से उपासना करनी होती है। सखियाँ ही दम्पति रस भोग का आनन्द ले पाती हैं। बिहारिणिदास जी इसीलिए कहते हैं —

सहचरी है भजो पल पास क्यों जतो सग बसिहो मनि कौट नाते।[3]

महन्त किशोरदास का भी निर्देश है कि सहचरी भाव से नित्य निकुंज विहार का भजना ही उचित है। सखी भाव की श्रेष्ठता बताते हुए वे कहते हैं —

---

१ बिहारिणिदास सिद्धान्त के एक पद १७।
२ ललित किशोरी देव सिद्धान्त की साखी १६८ १७१।
३ बिहारिणिदास परम उज्ज्वल शृंगार रस के पद २३।
४ नित्य निकुंज विहार भजि, सजि सहचरि उरभाव
—किशोरदास सिद्धान्त सरोवर ८३२।

श्रौर भाव ते अधिक श्रति सखी भाव को अग।
किशोरदास दंपति निकटि सहचरि करत प्रसंग।
सब भावन को मुकुट मणि सहचरि भाव अनूप।
किशोरदास और न निकटि सखीभाव तद्रूप।
सांति दास्य अरु सख्य हू वात्सल्य तहां न जात।
किशोरदास सहचरि निकट सतत सुख दरसात।[1]

परन्तु सहचरी भाव की पहचान क्या है ? केवल अपने को सखी कह देने से ही तो काम नहीं चलता। वास्तव में सखी भाव की साधना सहज नहीं है। जब तक पुरुषत्व का अभिमान शेष है तब तक सखी भाव का अनुसरण संभव ही नहीं है। निर्विकार शरीर में ही सखी भाव का आरोप हो सकता है मन से स्त्री सहवास की आकांक्षा निकाल देनी होती है

उलटि लगे मन स्याम सो प्रीया भाव ह्व जाय।
सखी भाव तब जानिये पुरुष भाव मिटि जाइ।
पुरुष भाव छूटे नहीं मन मे बसि रही जोइ।
सखी भाव तब जानिये निर्विकार तन होइ।

पुरुष भाव के मिटा देने और स्त्रीस्वरूप का आरोप कर लेने पर प्रेम के प्रतीकवाद का परिणाम यह भी हो सकता है कि श्याम को प्रियतम मान कर उनसे रति सुख की कामना की जाय। यद्यपि हम देख चुके हैं कि गोपियों ने कृष्ण संग सुख की स्पृहा की थी। पर सखियों के लिए यह मार्ग नहीं है। रसिक देव जी ने इस संबंध में सावधान करते हुए सखियों के स्वभाव संबंधी एक प्रसंग का उल्लेख करते हुए उनके स्वरूप का और अधिक स्पष्टीकरण किया है। सखी का मन सांवरे में रत अवश्य है पर उनके मन में भोगेच्छा का विकार नहीं है। प्रिया जी भी इसे जानती हैं कि जो कुछ उनको अच्छा लगता है वही सहचरियों को भी प्रिय है। सखी लाडिली जी से पूछती है —

मो मन मोहे सांवरो मैं नहीं विकार।
हौं तोहि पूछौ लाडिली ताको कहा विचार।[2]

१ किशोरदास सिद्धांत सरोवर ६३५ ६३७।
२ स्वा रसिकदेव साखी १३ १४।
३ रसिक देव साखी ५।

प्रिया जी का निम्नांकित उत्तर है

तब हँसि बोली राधिका सखि कित पूछति मोहि।
जो मेरे मन में बस सो मोहनु है तोहि।[1]

इस प्रकार सखियों का आनन्द प्रिया प्रियतम के आनन्द से सम्बन्धित है। उनके प्रेम को तत्सुखी इसीलिए कहा जाता है। उन्हीं (युगल दम्पति) के सुख से सुखी होना इनकी विशिष्टता है —

निर्विकार सहचरि समझि ततसुख सुखित सुजान।
ततसुख ही निज सुख गिनत दास किसोर निदान।

स्वामी रसिक देव जी ने भी इसे स्पष्ट करते हुए बताया है कि अपने सुख के अवगाहन के स्थान पर प्रिया प्रियतम के सुख की कामना करे —

ततसुख सखी का एहा रीति, तन मे रहे अपनपी जीति।
प्रिया प्रीतम को निजु सुख चाहै अपनो सुख नहिं मन औगाहै।
—भक्ति सिद्धांत मणि ४०।

इस भाव के लिए साधना का निर्देश भी स्वामी रसिक देव ने किया है कि सिद्ध सखियों के भाव का अनुसरण करना चाहिए। इस प्रकार रागानुगा भक्ति की ही प्रस्थापना उन्होंने की है —

जुगल ध्यान कौज चित लाइ सखी भाव करि सहज समाइ।
साधक रूप सेवा इत करै, सिद्ध सखीन के भाव अनुसरै।[1]

सखियों एवं प्रिया जी का इतना अभिन्नत्व हो जाता है कि उनके लिए अद्वैतवादी शब्दावली का प्रयोग करके स्पष्ट किया गया है। सखियाँ जल हैं एवं प्रिया तरंग हैं अथवा प्रिया जी जल हैं और सखियाँ तरंग —

---

१ रसिक देव साखी ६।
२ किशोर दास सिद्धान्त सरोवर ६ ६।
३ रसिक देव भक्ति सिद्धान्त-मणि ८८।

हम जल प्रिया तरग है प्रीया जल है हम हैं तरग।
तन मन मिलि एकत सुख छिन छिन बाढ्त रग।[1]

अथवा

प्रीया हमारे अन्तर है हम प्रीया के अन्तर।
अ म सग निरखौं केलि सुख सदाई रहै निरन्तर।[2]

इन सखिया के मन म प्र म से भरा रहता है। प्रेम ही उनका सवस्व है। बु कि प्रम-वारि बरसने से प्र म ही उत्पन्न होना है प्र म ही फलता फूलता है प्रमिया की इस पुकार का सुन कर सखिया जब प्र म व्यापार के लिए बढती है तो रास्ते म प्रेम ही मिलता है प्रेम ही उनका पति है उनकी वास्तविक गति भी प्रम ही है उनका नम भी प्रम ही है यहाँ तक कि उनका बिछौना ओढ़ना और भोजन प्रेम ही है एव इन प्र म स्वरूपा सखिया का अतिथि भी साक्षात प्र म ही होता है —

प्रेम प्रेम ही ऊपज जो कर प्रेम की वारि।
तब ही प्र म फूले फल्यो प्र मिनि कह्यो पुकारि।
प्र म बनिजन ही चली आगे मिलिया प्र म।
प्र म पति गति पाइ सखी मोहि प्र म को नम।
प्र म डिसोना ओढना अचवत भोजन प्र म।
प्रेम प्र म को पाहुनो प्र म प्र म को नेम।[3]

सखिया का यह नाता महल का नाता है एव यह इतना सच्चा नाता है कि और सब नाते इसके आगे झूठे हो नहीं पड जाते बल्कि यह नाता सखिया के मन को एक दुजय आत्म विश्वास स भर दता है —

हमारे महल को नातो साँचो।
ताही के बल गरजत सबसो आवत नाहीं आँचो।
श्रीकुजबिहारिनि ललित लाडिली उनहि हिये मे राँचो।
श्रीहरिदासी रसिक सिरोमणि मन मिनि पोयत पाँचो।

---

१ ललित किशोरी दव साखी २६७।
२ वही वही ३००।
३ बिहारिणि दास साखी ८७ ८६।
४ ललित किशोरी दव सिद्धान्त के पद ४५।

प्रिया का नाम ही इनके महान सुख का आधार है। यह नाम अत्यधिक आनन्द देनेवाली ही नही है रूप और रस का भण्डार भी है। यहाँ तक कि समस्त सार-तत्त्वो का भी सार तत्त्व यही है। जिसकी रसना से भूल से भी यह नाम निकल जाय वह प्रिया के उर की हार हो जाय —

महासुख प्रिया नाम आधार।
अति आनन्द रूप निधि रस निधि सकल सार को सार।
जाकी रसना भूलिहू निकस होइ प्रिया उर हार।
श्री ललित रसिकवर की निज जीवनि अदभुत नित्य विहार।[1]

माधुर्य प्रेम के इस बल पर ही तो वे बिहारी की भी परवाह नही करती उनसे भी उनका व्यवहार ऐंठ का ही होता है —

किये रहै ऐंड बिहारीय सौं है बेपरवाह बिहारनि।[2]

इस सम्प्रदाय में सखियों के वैसे भेद प्रभेद हमें प्राप्त नहीं होते जैसे कि गौडीय वैष्णवों या निम्बार्कीयों में अथवा राम भक्ति के रसिक-सम्प्रदाय में प्राप्त होते हैं। सभी सखियाँ निकुंज विहार की ही व्यवस्था करती है एवं कुंज के रन्ध्रों से उसी विहार का वर्णन कर सुखी होती हैं।

अन्त थोड़े में श्री भगवतरसिक ने इस सम्प्रदाय का रूप निम्नलिखित कुण्डलिया में अत्यधिक स्पष्टता के साथ उपस्थित किया है —

आचारज ललित सखी रसिक हमारी छाप।
नित्यकिशोर उपासना जुगुल मन्त्र को जाप।
जुगुल मन्त्र को जाप वेद रसिकनि की बानी।
श्री वृन्दावन धाम, इष्ट स्यामा महारानी।
प्रेम देवता मिले बिना सिधि होइ न कारज।
भगवत सब सुख दानि, प्रकट मे रसिकाचारज।[3]

---

१ ललित किशोरी देव सिद्धांत के पद ४८।
२ बिहारिणिदास सवैया १११।
३ भगवत रसिक अनन्य निश्चात्मक ग्रन्थ पृ० ४३ ४४।

हरिदासीय एव राधावल्लभीय सम्प्रदाय का अन्तर

युगल रूप परिकर धाम उपास्य भाव एव नित्य विहार आदि सभी म हरिदासीय सम्प्रदाय एव राधावल्लभीय सम्प्रदाय म बहुत अधिक समानता है। डा विजयेन्द्र स्नातक का सुचिन्तित मत है कि श्रीस्वामी हरिदास जी तो हितहरिवंश जी के समसामयिक थ। स्वामी जी ने सखी भाव के साथ नित्यविहार और निकुञ्जलीला को ठीक उसी रूप म गायन किया जिस रूप म श्री हितहरिवंश जी ने प्रस्तुत किया था। उनका तथा उनकी शिष्य परम्परा का जो भक्ति-साहित्य मिलता है उसम तथा राधावल्लभीय भक्ति साहित्य म विचारधारा और भावना का विशेष अन्तर नहीं है। प्राय एक ही भावभूमि पर दोनो ने साहित्य सृजन किया है।[1] दोनों के मध्य दो सामान्य भिन्नताओं की भी चर्चा उन्होंने की है। उनके अनुसार य अन्तर है —

(१) स्वामी हरिदास की साधना म वैराग्य का प्राधान्य था तथा

(२) हरिदासीय (निम्बार्कीय भी) सम्प्रदाय म स्वकीया भावना को महत्त्व प्राप्त है जब कि राधावल्लभी सम्प्रदाय म लौकिक दृष्टि स स्वकीया की स्वीकृति होने पर भी राधा को स्वकीया परकीया भेद विवर्जित माना गया।[2]

हमारे लिए डा० स्नातक की विभिन्नता सबधी इन स्थापनाओं से सहमत होना कठिन है। प्रथम स्थापना के सबध म इतना तो हम स्वीकार करते हैं कि स्वामी जी के सम्प्रदाय म विरक्त शिष्यों का स्थान महत्वपूर्ण रहा परन्तु इसके साथ ही सिक्के का दूसरा पहलू यह भी है कि उनके शिष्यों की गोस्वामी-परम्परा गृहस्थ होती आई है। जहाँ तक वैराग्य भावना के मूल्य का प्रश्न है राधावल्लभ सम्प्रदाय म ससार के प्रति विरक्त रहने को कम मान नहीं दिया गया है। हितहरिवंश जी का निम्न पद विशुद्ध वैराग्य भावना का द्योतक है —

> मानुष को तन पाय भजो ब्रजनाथ को।
> दर्वी लै क मूढ़ जरावत हाथ कों।
> श्री हित हरिवंश प्रपच विषय रस मोह के।
> हरि हां बिन कचन क्यों चलै पचीसा लोह के।[3]

---

१ डा विजयेन्द्र स्नातक राधावल्लभ सम्प्रदाय
—सिद्धान्त और साहित्य पृ० ५८६।

२ वहीं वही पृ० ५८४।

३ हित हरिवंश स्फुट वाणी स० ६।

वस्तुत भक्ति का आन्तरिक प्रेम भावना और उपासना म वरागयबाला यह अन्तर तनिक भी सिद्ध नहा हाता।

जहाँ तक स्नातक जी द्वारा स्थापित दूसरा भिन्नता का प्रश्न है वह भा समुचित प्रतात नही हाता। स्वय स्नातक जी न माना है कि लौकिक व्यवहार की दृष्टि म राधा वल्लभ सम्प्रदाय म स्वकीया भाव को स्वीकार किया गया है। ठीक यही बात सखी सम्प्रदाय क बारे म भी कही जा सकती है। सद्धान्तिक रूप से दाना ही सम्प्रदाय नित्य किशोर प्रजन्मा युगल की कल्पना करते हैं

पर प्रकट लीला (व्यवहार का लोक) क क्ष त्र म दूलह दुलहिन का रूपक कभी कभी कवियो ने बाधा है। चाचा हितवृन्दावनदास (राधावल्लभीय) न भी राधा कृष्ण का विवाह कराया है तथा स्वा० रसिक देव (हरिदासीय) ने भी श्याम श्यामा का विवाह वर्णित किया है। जा बात डा० विजय [redacted] स्नातक ने राधावल्लभ सम्प्रदाय के लिए कही है वही बात डा० गोपाल दत्त शर्मा न हरिदासीय सम्प्रदाय क प्रसग म कही है। उन्होन राधावल्लभ सम्प्रदाय की ओर इगित करत हुए लिखा है —

कोई श्री राधा का स्वकीया मानत हैं किसी किसी न श्री राधा और कृष्ण क विवाह का भी वणन किया है तथा स्वामी हरिदास जी के सम्प्रदाय क उपासना रस का नाम है—निरवधि नित्य विहार इनकी ठकुराइन कुज विहारिणी राधा स्वकीया तो हैं किन्तु वे वृषभानु गाप क घर जन्म नही लेती और न इनक ठाकुर कु ज बिहारी हा नन्दबाबा के घर प्रकट हुए।[1]

य परस्पर विरोधी वक्तव्य वस्तुत हम एक ही निष्कष तक पहुचात हैं कि स्वकीया सबधी काइ विवाद या अन्तर दाना म नही है परन्तु इसका अथ यह भी न लिया जाय कि दोनो सम्प्रदाय ठीक एक दूसरे क प्रतिरूप है। उनम कतिपय अन्य अन्तर अवश्य है। सक्ष प म हम नीचे इन अन्तरो को उपस्थित कर रहे हैं —

(१) प्रारम्भ म ब्रजलीला एव वृन्दावन (निकु ज) लीला म काइ स्पष्ट अन्तर की धारणा राधावल्लभ सम्प्रदाय म नही थी जबकि यह धारणा प्रारम्भ स हरिदासीय सम्प्रदाय म विद्यमान थी। पीछे हम दिखा चुके है कि सखी सम्प्रदाय म कृष्ण नन्द सुवन ब्रजपति जस नाम नगभग नही आते हैं पर राधा वल्लभ सम्प्रदाय म प्रारम्भ म ही इनका प्रभूत उपयोग हुआ है। हितहरिवंश जी न अपनी रचनाओ म कृष्ण नन्दनन्दन गोवधनधर ब्रजनाथ एव वृषभानु

---

१ डॉ गोपालदत्त शर्मा स्वामी हरिदास का सम्प्रदाय और उसका वाणी साहित्य पृ० २९८ (अप्र० प्रब०)।

नन्दिनी जैसे शब्दों का उपयोग किया है।[1] उन्होंने राधा एवं कृष्ण के जन्म की बधाइयाँ भी गायी हैं —

घलो वृषभानु गोप के द्वार।
जन्म लियो मोहन हित श्यामा आनन्द निधि सुकुमार।[2]

तथा

आनन्द आज नन्द के द्वार।
दास अनन्य भजन रस कारण प्रगट लाल मनोहर ग्वार।[3]

श्री हितहरिवंश ने रास के अनेक मनोहर वर्णन किये हैं। उनमें एक स्थान पर स्पष्ट रूप में भागवत की परम्परा में वे युवतियों को उचित रूप से परिरंभन चुम्बन और आलिंगन का सुख कृष्ण से प्रदान करवाते हैं —

सकल उदार नृपति चूडामणि सुख वारिद बरषायौ।
परिरंभन चुम्बन आलिंगन उचित जुवति जन पायौ।

पर इस प्रकार के वर्णन सखी सम्प्रदाय में नितान्त विरल हैं।

(२) सखियों के क्षेत्र में स्वामी हरिदास ने केवल ललिता (हरिदासी) का नाम लिया है पर हितहरिवंश जी ने ललितादिक कहकर उन पौराणिक ललितादिक सखियों की ओर संकेत किया हो।[5] इस संकेत का हो माना ग्रहण

---

१ हितहरिवंश स्फुटवाणी ४ ७ ८ ११ १५ १६ १८ १६
हित चौरासी १८ ३३ ४३ ४५ ४८ आदि।
२ वही स्फुट वाणी १६।
३ वही वही ११।
४ वही हित चौरासी ३६।
५ खेलत रास दुलहिनी दूलहु।
सुनहु न सखी सहित ललितादिक निरखि निरखि नैननि किन फूलहु।
—हि० चौ० ६२।

तुलनीय

एवं परिष्वङ्ग कराभिमर्श स्निग्धेक्षणोद्दाम विलास हास
रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्ब विभ्रमः।
—श्रीमद्भागवत १०।३३।१७।

तथा

श्लिष्यति कामपि चुम्बति कामपि कामपि रमयति रामाम्।
—गीत गोविन्द पृ० १७। (चौखम्भा संस्कृत सीरीज १९४८)।

कर ध्रुवदास ने कहा, ध्रुवदास जी ने अष्ट प्रमुख सखियाँ, फिर उनकी आठ आठ सखियाँ तथा अन्य सखियों का उल्लेख किया है। ललिता, विशाखा, चम्पकलता, चित्रा, तुंगविद्या, इन्दुलेखा, रंगदेवी एवं सुदेवी अष्ट प्रमुख सखियाँ हैं।[1]

यह अष्ट सखियाँ मानो साक्षात हित (प्रेम) की मूर्तियाँ हैं तथा सेवा में अत्यधिक प्रवीण हैं। इनके भी आठ आठ सखियाँ हैं जो उन्हीं के सुख में रंगी रहती हैं। उनके नाम, वर्ण, सेवा एवं वस्त्रों का विवरण ध्रुवदास जी ने पुराणों के अनुसार दिया है :—

अष्टसखी मनो मूरति हित की। अति प्रवीण सेवा कर चित की।
आठ आठ सहचरि तिन सगा। रगी निरंतर तेहि सुख रंगा।
नाम बरन सेवा बसन जस सुने पुरान।
ते सब ब्यौरे सो कहौं आपनि मति अनुमान।[2]

इन सबका उपरोक्त क्रम में वर्णन करने के बाद लगे हाथ ने पुन अपने सूचना-स्थान का नाम निभ्रान्त रूप से स्पष्ट कर दिया है। यह स्थान है गौतमीय तन्त्र :—

कहे गौतमी तन्त्र में इन सखियन के नाम।
प्रथम कहे हैं इनके बरन सेवहु स्यामा स्याम।[3]

अष्ट सखियों आदि के नामों की यही परम्परा गौडीय वैष्णवों में भी स्वीकृत है। ऐसा लगता है कि ध्रुवदास के समय तक रूप एवं जीव गोस्वामी का प्रभाव यथेष्ट रूप से अन्य सम्प्रदायों के सिद्धान्त-व्यवहार पर पड़ चुका था। पर लगता है कि अष्ट सखियों के नामों के बारे में ध्रुवदास निश्चित नहीं थे। रसानन्द लीला में एक दूसरी ही परम्परा उन्होंने प्रतिष्ठापित की है। इसके अनुसार ललिता, विशाखा, चन्द्रा, स्यामा, चम्पा, मुदिता, नन्दिता एवं भामा ये आठ मनभाई सखियाँ हैं जो कि रूप-लावन्य से कभी भी तृप्त नहीं होती हैं। इन आठों के भी सखावर्ग का विवरण कहीं पर उसके ने दिया है।

परन्तु हरिदासी सम्प्रदाय में इस प्रकार सखियों का कोई निरूपण अथवा विभाजन हमें प्राप्त नहीं होता। हरिदासी सम्प्रदाय में यदि मुख्य सखी कोई है

---

१ ध्रुवदास सभामंडल लीला (बयालीस लीला पृ० १ १ १ २)।
२ वही, रस मुक्तावली लीला (बयालीस लीला पृ० १४८)।
३ वही, वही पृ० १५२।
४ वही रसानन्द लीला पृ० २५०।

भी तो स्वय हरिदासी (या ललिता) शेष सब सखिया मात्र सखा है। हरिदासी के स्थान पर हितरूपा सखी की कल्पना राधावल्लभ सम्प्रदाय म भी है पर ब्रजलीला की पौराणिक कल्पना सखियो के नाम रूप सेवा वस्त्र आदि के वर्णन म इस सम्प्रदाय के भीतर प्रविष्ट अवश्य हो गयी है। इतना अवश्य है कि सखियो म भी पाँच प्रकार की सखिया या मञ्जरी एव मजरी आदि के भेद इन सम्प्रदायो म उपलब्ध नहीं होत।

इसके अतिरिक्त कुछ सामान्य अन्तर—जिनका कि परिमाणवाचक कोई पुष्ट समर्थन नहीं किया जा सकता—और भी पाठ पात प्रतीत होते हैं। राधावल्लभ सम्प्रदाय म राधा का रूप हम सखी सम्प्रदाय की अपेक्षा अधिक उभरता प्रतीत होता है। इसी प्रकार वृन्दावन के बारे म भी राधावल्लभियो के कथन अधिक भाव विह्वल एव विदग्ध लगते हैं। ध्रुवदास ने अपने सम्प्रदाय के रस का नाम ही वृन्दावन रस अभिहित किया है।[1]

कालक्रम म पूववर्ती होन के कारण हमने हरिदासी सम्प्रदाय के युगल उपास्य धाम परिकर उपासना भाव का विस्तार स उपस्थित किया है। समानता की मात्रा के आधिक्य के कारण राधावल्लभ सम्प्रदाय के प्रसग म भी उन्ही बातो को दोहराना उचित नहीं है। इसलिए हम यहा राधावल्लभ सम्प्रदाय के उपास्य धाम परिकर उपासनाभाव आदि का निरूपण अलग स नहीं कर रहे हैं।

हरिदासी एव राधावल्लभीय सम्प्रदाय की मुख्य विशेषताए

१ प्रेम ही परतत्त्व है।
२ उसका प्रकाशन श्याम श्यामा के रूप म होता है।
श्याम श्यामा नित्य विहार म निमग्न रहते हैं।
४ शक्ति शक्तिमान जस सबध इन दोनो के पारस्परिक सबध को व्याख्यायित नहीं कर सकते।
५ प्रेम और भक्ति के क्षेत्र म राधा का स्थान प्रमुख है।
६ अन्य सारे अवतार विहारी जी के ही अश हैं पर सृष्टि के पालन

१ (क) रसिक अनन्यनि कृपा मनाऊं वृन्दावन रस कुछुइक गाऊं।
—ध्रुवदास रसमुक्तावली लीला (ब० ली पृ १८७)।
(ख) करुना निधि अरु कृपानिधि श्री हरिवश उदार।
वृन्दावन रस कहन को प्रकट धरयो अवतार।
—वही रहस्यमजरी लीला पृ० १८४।

सृजन या सहार से उनका प्रत्यक्ष सबध नही है। या ससार की सृष्टि भी उनकी माया ही है पर वास्तविक नित्य स्वरूप नित्य विहार म ही है।

७ यह रूप नित्य किशोर ब्रजमा है।

८ ब्रज मथुरा द्वारका आदि की का य पुराणादि वर्णित लीलाओ से इन सम्प्रदायो का कोई प्रत्यक्ष सबध नही है। यहाँ तक कि ब्रज लाला का माधुर्य रस इस विहार रस क एक कण के झलक जान स उत्पन्न है।

९ इसी कारण परिकर एव धाम की जो विस्तृत विवेचना गौडीय वष्णवो म उपलब्ध है यहाँ पर उसका अभाव है। पर यह अभाव किसी प्रकार की हीनता का सूचक नही है। यह आवश्यकता न होने के कारण है।

१० गुरु श्री राधा क समान होता है। दोनो ही सम्प्रदायो ने अपन अपन सस्थापको को उपास्य क पद तक पहुचा दिया है।

११ जीव का उपासना सहचरी भाव से करनी चाहिए।

१२ सहचरी भाव म पुरुष भाव का अभाव हो जाता है तन मन निर्विकार हो जाते है एव नित्य-कुज विहार म सेवा करने की उत्कठा तथा विहार दर्शन की ही लालसा रहती है।

१३ सहचरी लाल-लाडिले क सुख म ही सुखी रहती है इसलिए उसके भाव को तत्सुखी भाव कहते है।

१४ सहचरी क स्वरूप म प्रेम दास्य एव सख्य का अद्भुत सयोग रहता है।

१५ नित्य विहार दर्शन ही जीवन का परम पुरुषार्थ है।

गोपीभाव एवं सखीभाव की तुलना

गोपीभाव	सखीभाव
१ कृष्ण ही परात्पर तत्त्व हैं।	१ रस ही परात्पर तत्त्व है।
२ (क) श्री कृष्ण की व्रजलीलाएं उपास्य हैं। (ख) व्रजलीला का अप्रकट स्वरूप गोलोक लीला है।	२ (क) नित्य वृन्दावन धाम की निकुंजलीला ही उपास्य है। (ख) निकुंजलीला उपासकों के लिए नित्य प्रकट और सांसारिक जीवों के लिये अप्रकट है।
३ राधाकृष्ण की क्रीडाओं में निस्संग सुखानुभव यहां नहीं है।	निस्संग सुखानुभव विद्यमान रहता है।
४ नायिकाओं में स्वकीया-परकीया का भेद, परकीया के आधार पर विरह की प्रोज्ज्वलता और तीव्रता गोपीभाव की साधना में ही है।	४ इसमें विरह का कोई स्थान नहीं है। स्वकीय परकीय भेद भी नहीं है।
५ व्रजलीला का सारा प्रसंग पौराणिक है। लोक में घटने वाली समस्त घटनाएं यहां सकलित हैं।	५ पुराणों का आधार छोड़ दिया गया है।
६ श्रीकृष्ण के अवतार काल की रास सहचरी गोपियाँ हैं।	६ गोपियाँ नित्य धाम की नित्य सहचरी हैं।

निम्बार्क सम्प्रदाय में उपास्य, परिकर, धाम एवं उपासना भाव की कल्पना

सम्प्रदाय में नित्यविहारोपासना का इतिहास

रसोपासना के ऐतिहासिक विकास क्रम में निम्बार्क सम्प्रदाय की स्थिति अत्यधिक विवादास्पद है। बल्कि यह कहना अधिक उचित होगा कि निम्बार्क मत में कम बातें ऐसी निकलेंगी जो निर्विवाद रूप से सबको स्वीकार्य हों। स्वयं निम्बार्काचार्य के उद्भव के संबंध में परस्पर इतनी भिन्न रायें और प्रमाण उद्धृत किये जाते हैं कि सत्य उन प्रमाणों से ही आवृत्त हो जाता है। रसोपासना के क्षेत्र में विवाद और संदेह का क्षेत्र और अधिक बढ़ जाता है। निम्बार्कीय मानते हैं कि रसोपासना या युगलोपासना के प्रणेता निम्बार्काचार्य ही थे। प्रमाण स्वरूप दशश्लोकी का पाँचवाँ श्लोक —

अंगेतु वामे वृषभानुजां मुदा विराजमानामनुरूपसौभगाम्।
सखीसहस्रैः परिसेवितां सदा स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम्॥

उद्धृत किया जाता है। निम्बार्क का समय भी सम्प्रदाय के उत्साही शोधक विक्रम की ६ठी से नवीं शताब्दी तक निश्चित करते हैं।[1] इस प्रकार दशश्लोकी का समय भी यही हो जाता है। परन्तु दूसरी ओर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने दशश्लोकी को १८वीं शती की प्रक्षिप्त रचना माना है।[2] निम्बार्क सम्प्रदाय के रस संबंधी आकर ग्रन्थों आदिवाणी और महावाणी के संबंध में पर्याप्त चर्चा प्रकट की गयी है। पर्याप्त विचार एवं मनन के बाद हमारा मत है कि निम्बार्क सम्प्रदाय में मधुर रागमयी उपासना बाद को प्रचलित हुई है।

इस स्थापना का प्रथम प्रमाण यह है कि निम्बार्क सम्प्रदाय के संस्कृत ग्रन्थों में हमें माधुर्य उपासना के विवरण लगभग नहीं ही उपलब्ध होते हैं। इस बात को स्वयं निम्बार्क के अन्य शोधक भी स्वीकार करते हैं।[3] यदि दशश्लोकी का प्रमाण भी माना जाय तो उससे सखी भावोपासना या युगल अद्वय रूप की वैसी स्पष्ट कल्पना प्राप्त नहीं होती। इसके अतिरिक्त इन संस्कृत ग्रन्थों में युगलोपासना के सहचरी रूप का समुचित विवरण उपलब्ध नहीं होता।

यह आश्चर्य की बात कही जायगी कि जो छिपाने की वस्तु है वह जन भावाओं में व्यक्त हो गयी थी जो भाषा उसे छिपा सकती थी उसमें वह अप्रकट ही रही। गीता की केशवकाश्मीरीकृत तत्त्वार्थ प्रकाशिका व्याख्या की अनुक्रमणिका से भगवान के जन्म लेने का प्रयोजन बताया गया है जो इस प्रकार है —

भागवत धर्म के प्रवर्तन का अभाव देख कर संसारी जनों के उद्धार के लिए अपने स्वरूप ज्ञान और भक्ति का प्रचार करने के लिए तथा अपने दर्शनार्थ चातकवत् उत्कंठित अनन्याश्रित प्रेमी भक्तों को सौन्दर्य माधुर्य लावण्य आदि से परिपूर्ण अपनी छवि के दर्शन मधुर आलाप मनोहर लीला आदि उनकी मनोभिलाषा पूर्ति करने के लिए अपने समग्र गुण और शक्ति समेत भूभारहरण के बहाने से भगवान श्री कृष्ण प्रकट हुए थे।

---

१ (क) श्री व्रजवल्लभशरण वेदान्ताचार्य युगल शतक की भूमिका पृ० १६ २०।
(ख) डॉ० नारायण दत्त शर्मा निम्बार्क सम्प्रदाय और हिन्दी कृष्ण भक्त कवि पृ० १४ १५।
२ डा० ह० प्र० द्विवेदी हिन्दी साहित्य पृ० ११६।
३ डा० ना० द० शर्मा नि० स० हि० कृ० भ० क० पृ० १२७।

इस ग्रन्थ को उद्धृत करते हुए डा० नारायण दत्त शर्मा ने निष्कर्ष निकाला है कि इसमें भगवान के आविर्भाव का प्रयोजन भक्तों की रसमयी उपासना का ही बतलाया है।[1] हम इस निष्कर्ष से सहमत नहीं हैं। भगवान के अवतार का हेतु भक्तों को लीला दर्शन कराना आनन्द देना है यह मत तथ्य भक्तिकाल के सम्पूर्ण सम्प्रदायों का रहा है। तुलसीदास ने भी भगत हेतु भगवान राम का जन्म लेना माना है एवं गौडीय वैष्णवों में भी विश्वास था कि भक्तों पर अनुग्रह करने एवं स्वलीला कीर्ति विस्तार के लिए भगवान प्रकट होते हैं।

संस्कृत एवं हिन्दी का इन रसमयी उपासना वाले ग्रन्थों में निम्बार्क को सिद्ध करके भी दो परम्पराएं प्रकट हुई हैं। पुरानी साम्प्रदायिक परम्परा के अनुसार वे भगवान विष्णु के सुदर्शन चक्र के अवतार हैं एवं बाणीग्रंथों के अनुसार उन्हें रंग देवी सखी का अवतार माना गया है। स्पष्ट है कि एक भगवान विष्णु और उनके त्रिगुण तथा नारायणत्व से सबंधित परम्परा है एवं दूसरी कृष्ण के माधुर्य एवं विलास से सबंधित है। ऐसी स्थिति में यह निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा कि रसमयी उपासना की परम्परा सम्प्रदाय का नवीन अर्जित सम्पत्ति है। यह बात तनिक भी अपमानजनक नहीं होगी कि नयी परिस्थितियों में उपासना का नवीनीकरण किया जाय। यह बात दूसरी है कि इसे स्वीकार कर लेने से समस्त माधुर्य भावना का स्रोत एवं प्रस्तोता बनने का गौरव छिन जाता है। पर हिन्दी का यह मत तो इस परम्परा के प्रथम प्रयोक्ता का गौरव शेष रह ही सकता है। कुछ विद्वानों ने इस गौरव को शाख की अविकृत मुहर लगा कर प्रामाणिक बना देना चाहा है।[2]

इस अध्याय के पूर्व लिखित पृष्ठों में हमने माधुर्योपासना के क्षेत्र में दो स्पष्ट परम्पराएं देखी हैं। एक इसे व्रज लीला गायकों की परम्परा कह सकते हैं। दूसरी परम्परा शुद्ध वृन्दावन माधुरी या निकुंज लीला के गान की है जिसमें कि

---

१ डा० नारायण दत्त शर्मा निम्बार्क सम्प्रदाय और हिन्दी कृष्ण भक्ति-काव्य (अप्र० प्रब०) पृ १२२।

२ सद्य भागवतामृत पृ० २४।

३ (क) श्री भट्ट जी एवं हरिव्यासदेव जी रसिक भावना के क्षेत्र में सभी रसिकों के पूर्ववर्ती थे। अतः निकुंजोपासना प्रवर्तन का श्रेय निम्बार्क सम्प्रदाय के आचार्यों को ही जाता है। डा० ना० द० शर्मा अप्र० प्रब० पृ ६ १।

(ख) श्री भट्ट जी व्रजवाणी के सर्वप्रथम अमर गायक हैं। युगल शतक को परम पवित्र परिष्कृत एवं ललित भाषा व्रजकाव्य का प्रथम रूप है। वही पृ ६ ६०४।

प्रवेश सखीभाव से हो ही सकता है। निम्बार्क सम्प्रदाय के वाणी-साहित्य एवं तत्संबंधी लेखन में ये दोनों परम्पराएं विचित्र भाव से गुँथी हुई हैं। कभी कभी ऐसा लगता है कि अत्यन्त योजनाबद्ध रूप से समस्त परम्पराओं के उत्कर्ष्य प्रसंगों या विचारों को अपने सम्प्रदाय के अंतर्गत भी दिखाया जाय एवं इन बातों को सम्प्रदाय के साहित्य में काफी पहले का दिखा कर परम्परा के प्रस्थापक की महिमा भी बढ़ा ली जाय।

श्रीभट्ट की आदिवाणी एवं श्री हरिव्यास देव की महावाणी इस सम्प्रदाय की रसोपासना के मुख्य आकर ग्रन्थ हैं। परन्तु इन दोनों के कालनिर्णय के संबंध में बड़ा भ्रम है। नाभादास के भक्तमाल में इन दोनों व्यक्तियों का उल्लेख हुआ है इससे इतना तो निश्चित हो जाता है कि १७वीं शती विक्रमी के पूर्वार्द्ध में ये अवश्य उपस्थित रहे होंगे। यों अभी हाल में ही नाभादास के भक्तमाल में १८वीं० शती के प्रथम दशक के कवियों (यथा भगवतमुदित एवं राधावल्लभीय चतुर्भुजदास) का संकेत प्राप्त किया गया है।[1] और इसे स्वीकार कर लेने पर इन महानुभावों का समय विक्रम की १७वीं शती के अंतिम भाग तक खींचा जा सकता है तथा "नयन बान पुनि राम ससि गनौ अंक गति बाम" में संवत् के स्थान पर राम पद न लेने से जो संवत् १६५२ समय आता है उसकी भी रक्षा हो सकती है। पर इधर यह सिद्ध हो गया है कि यह दोहा बाद का जोड़ा गया है, पुरानी प्रतियों में यह उपलब्ध नहीं है।[2] डा० गोपालदत्त शर्मा ने उनका समय सं० १५५० के आसपास अनुमान किया है। बहरहाल संवत् के विवाद में पड़ना हमारा उद्देश्य नहीं है पर मेरा अनुमान है कि श्रीभट्टजी १६वीं शती वि० के उत्तरार्ध के पूर्व नहीं थे। डा० गोपालदत्त जी ने इसी प्रसंग में आगे हरिव्यासदेव जी का समय १६२५ के आसपास माना है जो अधिक संतुलित प्रतीत होता है।[3] यह संवत् नसिंह परिचर्या के लेखन के आधार पर है। नसिंह-परिचर्या उतनी महत्त्वपूर्ण पुस्तक नहीं है अतः बहुत संभव है कि हरिव्यास देव का उल्लेख्य कार्यकाल इससे बाद का संवत् १६५० के आसपास का हो।

अस्तु डॉ० गोपालदत्त शर्मा द्वारा सुझाये गये संवतों को स्वीकार कर लेने के बाद भी आदिवाणी एवं महावाणी को और अधिक परवर्ती मानने के लिए हम बाध्य हैं। कहा जाता है कि इन दोनों ग्रन्थों का संकलन पारम्परिक

---

१ वासुदेवस्वामी नागरी प्रचारिणी पत्रिका वर्ष ६४, संवत् २०१६ अंक ३-४।

२ डॉ० गोपालदत्त शर्मा स्वा० हृ० सं० वा० सा० (अप्र० प्रब०) पृ० ४२०।

३ वही, पृ० ४२४।

देव जी ने किया था। निम्बार्क सम्प्रदाय के योगदान की प्राचीनता के अत्यन्त उत्साही समर्थक डा० नारायण दत्त शर्मा ने लिखा है "युगल शतक को निज भजन भाव रुचि से श्रीरूपरसिक जी ने हो विभिन्न सुखों में विभाजित किया है। ऐसी स्थिति में यह कहना कठिन हो जाता है कि इस संकलन में रूपरसिक देव जी की स्वयं की कितनी भजन भाव रुचि मिल गयी है। इस समय युगल शतक की जो प्रकाशित प्रति प्राप्त है उसमें भी उसके सम्पादक प्रकाशक ने भाषा छन्दादि के परिवर्तन कर दिये हैं।[1] फिर प्राचीन प्रतियों में भी छन्द संख्या को लेकर लगभग दुगुने का अन्तर है। अर्वाचीन प्रतियों में १०० दोहा और १०० पद मिलते हैं जबकि प्राचीन प्रति में ६२ पद और १२ दोहे। इस प्रकार दोहे और पद मिलाकर संख्या १०४ हो जाती है। ऐसी स्थिति में युगल शतक की प्राचीनता अथवा प्रामाणिकता पर भरपूर शंका उठती है। नाभादास के छप्पय से इतना तो सिद्ध है कि वे मधुर भाव संवलित भगवान की ललित लीला सुवलित छवि को देखते गये थे एवं उस प्रेम की कथा में सुन्दर कविताएं लिखी थीं। पर इस प्रेम और लीला के स्वरूप में कितना इन परवर्ती संशोधकों ने जोड़ा है इसका निर्णय नितान्त दुष्कर हो गया है। बहुत संभव है कि यह लीला माधुरी सूरदासादि के समान रही हो। पर इतना अवश्य लगता है कि निम्बार्क सम्प्रदाय की बंधी परम्परा के स्थान पर रागमयी भक्ति के क्षेत्र में श्रीभट्ट जी का प्रवेश हो गया था।[2]

महावाणी (युगल शतक) से भी अधिक विवाद हरि व्यासदेव जी की महावाणी को लेकर है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने तो उसे १६वीं शती की रचना माना है। नाभादास ने अपने भक्तमाल में उन्हें परम वैष्णव देवों को भी दीक्षा देने वाला बताया है पर इनकी रस रीति की चर्चा नहीं की है। हरिराम व्यास ने भी महावाणी जैसे वाक्सिद्ध रस ग्रन्थकार का उल्लेख नहीं किया है। अतः यह शंका होती है कि महावाणी का सृजन उनके द्वारा नहीं हुआ। निम्बार्कीय इसका कारण यह बताते हैं कि अत्यधिक गोपन होने के कारण ही इसका प्रचार नहीं हुआ। पर गोपनीयता की बात तो रसोपासकों ने प्रत्येक सम्प्रदाय में कही है। इससे भी अधिक शंका का स्थान वाला तथ्य है कि महावाणी हरिव्यास देव जी ने रूपरसिक देव जी को स्वप्न में प्रदान की थी और उसकी रस-भावना का विस्तार देने का आदेश किया था। यहां ने ही परशुराम देव जी से विरक्त वैष्णवों द्वारा ग्रहण करने का भी उन्हें आदेश हुआ।

१ डॉ नारायण दत्त शर्मा अप्र० प्रब० पृ० २३४।
२ भक्तमाल पृ० ७६।
३ आचार्य ह० प्र० द्विवेदी हिन्दी साहित्य पृ० १६६।
४ डा० ना० द० शर्मा अप्र० प्रब० पृ० ३२०।

इस तथ्य को तनिक इस क्रम से रख कर विचार किया जाय तो बात अधिक स्पष्ट हो जाती है —

१ हरिव्यास देव जी को अपने जीवन-काल में रसिक साधक के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त नहीं हुई थी। वो शायद श्री भट्ट जी के प्रभाव में वेदान्त रस में समुत्सुक रहे हों पर उनके समय प्रस्थाता या प्रयोक्ता वे नहीं थे।

२ उन्होंने महावाणी का लेखन स्वयं नहीं किया था बल्कि स्वप्न में रूप रसिक देव जी को प्रदान किया था।

३ हरिव्यास देव जी के १२ प्रमुख शिष्य थे और इनमें भी सलेमाबाद पीठ के परशुराम देव जी सर्वप्रमुख थे। हरिव्यास देव जी ने इनमें से किसी को भी अपनी रस रीति प्रदान नहीं की।

४ रूपरसिक देव जी ने परशुराम देवाचार्य से ही वैष्णव दीक्षा ग्रहण की अतः उन्हीं के शिष्य हुए।

५ परशुराम देव जी बड़े आचार्य ही नहीं थे समर्थ कवि भी थे। परशुराम सागर उनका प्रमुख काव्य ग्रन्थ है जिसके आधार पर डा० नारायण दत्त शर्मा ने निर्णय दिया है कि परशुराम देव जी महान कवि हैं।[1]

६ इस ग्रन्थ का मुख्य प्रतिपाद्य शृंगार या माधुर्य भाव नहीं है। इसका मुख्य रस शान्त है एवं निर्गुणी परम्पराओं को इसमें जमकर अभिव्यक्ति मिली है।

७ ऐसी स्थिति में यदि यह निष्कर्ष निकाला जाय कि रूप रसिक देव जी के मन में परशुराम जी की निर्गुण सगुण-समन्वय वाली भावना के प्रति विशेष आकर्षण नहीं था, एवं उसके स्थान पर समकालीन रसोपासना उन्हें आकर्षित कर रही थी आधुनिक मनोविज्ञान का स्वप्न दर्शन इस आधार पर यही कहेगा कि उनके अवचेतन में पड़ी इन रसों वाली ने ही स्वप्न में आकार ग्रहण किया। गुरु के प्रति जो अनाकर्षण था उसने गुरु के भी गुरु को स्वप्न में बुला लिया एवं युगल की रसमयी उपासना रची तो प्रत्यक्ष ही प्रकट हुए। इस प्रकार निम्बार्कीय होते हुए भी वे निम्बार्कीय परम्पराओं से अलग हुए एवं अन्य समकालीन कवियों अथवा साधनाओं से प्रभावित हो कर महावाणी रचना रूपरसिक जी ने की। डा० नारायण दत्त शर्मा ने भी स्वीकार किया है कि रूपरसिक जी के ऊपर भी कुछ

१ डॉ० ना० द० शर्मा प्रम० प्रब० पृ० ११।

संस्कार संभव है। इसकी प्रतीति हरि यास गगामत म महावाणी के महिमागान म होती है[1]।

८ निम्बार्कीय परम्परा म पृथक हो जाने की बात इससे भी सिद्ध होती है कि रूपरसिक देव के समकालीन या परवर्ती वृन्दावन देवाचार्य (विक्रम की १८ वी शती के उत्तरार्ध) का गीतामृत गंगा ग्रन्थ भी वैसा शुद्ध रसोपासना का ग्रन्थ नहीं है जैसा कि महावाणी है।

रूपरसिक देव जी के काल निर्णय का झगड़ा फिर खड़ा होता है। उनके ग्रन्थ नीला विंशति के सम्वत निर्धारण के लिए दो पाठों वाला दोहा प्राप्त है। एक म संवत परशुराम जु सत्यासिया आता है एवं दूसरे पाठ म मतरास जु सत्यासिया बताया गया है। प्रतियो के संवतो के मिलान या निर्णय का कार्य हमारे क्षेत्र के बाहर है पर एक तथ्य की ओर इंगित करना उपयुक्त होगा। रूपरसिक देव जी परशुराम देव जी से दीक्षा लेते हैं एवं परशुराम जी का समय सं० १६८ के बाद तक माना जाता है। इधर रूपरसिक देव के समय के बारे में हम कुछ अन्य तथ्य भी प्राप्त हुए हैं। वनीमनि जी के शिष्य किशोरी अलि जी की वाणी का संग्रह हम उपलब्ध हुआ है। प्रति १६ वी शती की प्रतीत होती है तथा खण्डित भी है। इस प्रति म संवत १८३१ तक के पत्रादि भी संगृहीत है। इसके आधार पर ज्ञात होता है कि रूपरसिक जी १८ वी शती के अन्त एवं १९ वी शती के प्रारम्भ म विद्यमान थे। अगले अध्याय म रूपरसिक जी का काल निर्णय करने म हम इस पुस्तक की सामग्री को पूरी तरह उपस्थित करेंगे। परन्तु इस आधार पर परशुराम देव एवं हरिव्यास देव का समय और अधिक परवर्ती प्रतीत होता है।

पाठ्य कह गए एक और तथ्य का हम यहाँ दिग्दर्शन देना चाहते हैं कि हरिव्यास देव जी ने सिद्धान्त रत्नाञ्जलि आदि में जिस प्रकार पंच भक्तिरसों का विवेचन किया गया है वह ठीक गौड़ीय वैष्णव परम्परा म है। ऐसा लगता है कि यास्ता य ग्रन्थ प्रक्षिप्त हैं या फिर हरिव्यास देव गौड़ीय वैष्णवों के बाद हुए हैं। हमारा अनुमान है कि ऐसे ग्रन्थ बाद म सम्प्रदाय के अनुयायियों द्वारा लिखे गए हैं। एक ओर उन्होंने शास्त्र के स्तर पर भक्ति का विवेचन गौड़ीय वैष्णवों के प्रभाव म किया और दूसरी ओर वल्लिभाचार्य एवं राधावल्लभीय मतों के रस उपासना-संबंधी दृष्टिकोणों को भी ग्रहण किया। समन्वय एवं ग्रहण का यह कार्य १७ वीं १८ वी शतियों म पूर्ण रूपेण सम्पन्न हुआ है। आचार्य नाथ काल म माधुर्योपासना या प्रेमा भक्ति का पर्याप्त प्रसार इस सम्प्रदाय म हो चुका था

---

१ डॉ ना० द० शर्मा ब्रज प्रब० पृ २६।

अत इन ग्रंथो के आधार पर हम उपास्य उपासना आदि का निरूपण कर सकते है।

इस सबध म पहली ध्यान देने योग्य बात है कि निम्बार्कीय दृष्टिकोण म (जसा कि हम पीछे भी सकेत कर चुके हैं) गौडीय वष्णव एव सखी साधना दोना का ही समन्वय हुआ है। दार्शनिक दृष्टि से वसा पुष्ट निरूपण इनम हम प्राप्त नहीं होता जसा कि गौडीयो म हम देख चुके है।

सर्वेश्वर

इस सम्प्रदाय के मुख्य उपास्य श्री सर्वेश्वर है। यह नाम उनकी विभुता एव ऐश्वय का सकेत करता है। यही परात्पर तत्त्व है यही आदि मध्य रहित कृष्ण भी है। सारे अवतार उन्हीं के अग हैं। एक रस रहन वाल वे समस्त ससार के कार्यो एव वस्तुओ के कारण है।[1] वे व्रज मा तो है ही अत्यन्त सुन्दर एव आनन्दमय भी है। वे परम सुन्दर वकुण्ठ के निवासी समस्त सुखा के सारतत्त्व अतुलनीय माधुय एव असीम ऐश्वय के निधि है।[2] वे जो एक अद्वय तत्त्व है अपनी इच्छा से ही दो हो जाते है।[3] वृन्दावन देव जी ने तो उनको मूर्तिमान शृगार एव सब रसो का आधार कहा है। रस पोषण करन वाली समस्त शक्तियो को साथ लेकर वे व्रज विहार कर रहे है —

> मूर्तिमान शृगार हरि सब रस को आधार।
> रस पोषक सब शक्ति ले व्रज मे करत विहार॥

राधा उनकी आह्लादिनी शक्ति हैं जिनके साथ वे नित्य विहार करते हैं।[5] राधा को करण की स्वकीया[6] के रूप म ही स्वीकार किया गया है। निम्बार्क सम्प्रदाय म इस प्रकार दोनो परम्पराओ का समन्वय करन का प्रयास हुआ है। इच्छा से ही एक तत्त्व दो रूपो म विभाजित हो जाता है यह बात सखी सम्प्रदाय के अनुकूल है एव राधा ह्लादिनी शक्ति है व शक्तिमान् है यह कथन गौडीय वष्णव मतवाद का स्मरण कराता है। परन्तु राधा का स्वकीयात्व गौडीय

---

१ महावाणी पृ० १७७ १७८ पद सख्या १४।
२ वही सिद्धान्त सुख ६ पृ० १७६।
३ वही सिद्धान्त सुख १४ पृ० १७७।
४ वृन्दावन देव गीता मतग्रथ प्रथम पाठ ५।
५ वही प्रथम पाठ ३।
६ महावाणी सिद्धान्त सुख ५ तथा युगल शतक पद १६ २०।

वष्णवा स भिन्ना त पृथक है। या युगल रूप क चित्रण म एकत्म सखी सम्प्रदाया जसी भावना क दशन होन लगत हैं —

प्यारी जी प्यारे को जीवन प्यारो प्यारी प्रान अधार।
प्यारी प्यारे का उरमाला प्यारो प्यारी के उरहार।
प्यारी प्यारे रग महल म रग भरे दोउ करत विहार।[1]

श्रीभट्ट जी न अपन उपास्य का रूप एकत्म स्पष्ट न न म उपस्थित करत हुए कहा है कि वृन्दावन म निवास करने वाल प्रिय प्यारे हा हमारे मन्य हैं। नन्द नन्दन एव वृषभानु नन्दिनी क चरणा क व अनन्य उपासक है —

सन्तो सेव्य हमारे श्री प्रिय प्यारे व दाविपिन विलासी।
नन्द नन्दन वषभान नन्दिनी चरण अनन्य उपासी।
मत्त प्रणय वश सदा एक रस विविध निकुञ्ज निवासी।
श्री श्रीभट युगल वशीवट सेवत मूरति सब सुखरासी।[2]

धाम

महावाणी म धाम क रूप म वृन्दावन की बनी ही उदात्त कल्पना की गयी है। उसका चित्रण भी बड़े विस्तार स हुआ है। उसकी विराटता का तनिक यह गणित दखिए —

अखिल ब्रह्माण्ड वराट क ठाट सब
महा वराट के रोम क कूप।
सावकाश उडत रहत नित सहज ही
परम ऐश्वय आश्चय मय रूप।
सो प्रथम एक हा शून्य मधि सम रह्यो
जसे तसरेनु को रेन गत अग्न।
याते दश दशगुनी सहस्रगत शून्य पुनि
तिनते सत्त सहस्र महाशून्य प्रवतन।
तिन महाशून्य क शिवा परतत्र की
कोटि गन ते गुनो प्रति अमित विस्तार।
तहाँ निजधाम वृन्दाविपिन जगमग
दिव्य वभवन को नित्य आगार।[3]

---

१ महावाणी सिद्धान्त सुख पृ २६ पद ६।
२ युगल शतक ५।
३ महावाणी सिद्धान्त सुख पृ० १०६।

एस वृन्दावन म जहाँ पर कि राधा और उनके प्रिय निरन्तर नित्य विहार करते रहते हैं जय हो —

जय वृन्दावन नित्य जय नित्य निकुंज सुख सार।
जय श्रीराधा पिय जहां विहरत नित्य विहार ।।[१]

श्रीभट्ट जी ने उसे आनन्द मूल कहा है तथा नाम लेते ही युगल विहार की प्रणयरति देने वाला बताया है।

परिकर

परिकर म सखियो की ही कल्पना की गयी है। गौड़ीय एव राधावल्लभीय सम्प्रदायो की भांति ही यहाँ पर सखियो के यूथ अष्ट प्रमुख सखियो एव फिर उनकी आठ आठ सखियां (कुल ५७६) की कल्पना की गयी है। इन सखियों के नाम रूप वेश एव सेवा आदि की यहाँ पर भी विस्तृत चर्चा है।[२]

लीला

लीला की दृष्टि से निम्बार्कीयो म फिर दोनों परपराए स्पष्ट हैं। यहाँ पर निकुंज लीला (वनिका लीला) तथा व्रज-लीला (आवरण लीला) दोनो ही का वर्णन किया गया है। इसलिए दोनो ही लीलाओ की कथाएँ एव पात्र भी हैं। इसी कारण गोपियो का भी वर्णन मिल जाता है। पर गौड़ीय वैष्णवो के समान लीलाओ का विशिष्ट व्याख्या देकर एक दार्शनिक सिस्टम के भीतर समेटन का कोई प्रयास निम्बार्क सम्प्रदाय म उपलब्ध नहीं होता।

उपासना भाव

युगल शतक एव महावाणी दोनो ही म जीव के लिए साधना मार्ग सहचरी रूप म ही स्वीकार किया गया है। यद्यपि इस अवस्था तक पहुचने के पूर्व क्रम पद्धियो की कल्पना की गयी है और ये पद्धियाँ बहुत कुछ वधी भक्ति की हैं। सभवत इन पद्धियो की स्थिति को ध्यान म रख कर ही आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने निम्बार्क सम्प्रदाय म वधी भक्ति की ही स्थिति को स्वीकार किया है।[३]

---

१ महावाणी सिद्धान्त सुख १७०।
२ युगल शतक पद ३।
३ महावाणी सिद्धान्त सुख, पृ० १७८ १८४।
४ वृन्दावनदेव गीतामृत-गंगा, प्रथम घाट।
५ डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य पृ० १९८ १९९।

पर वास्तव में मात्र वधी प्रारम्भ में ही स्वीकृत रही है अपने इस परवर्ती विकास में सम्प्रदाय में रागानुगा को पूरी तरह स्वीकार कर लिया गया है। महावाणी आदि में सखियों की विविध सेवाओं का विस्तार से उल्लेख है एवं साधक को उन्हीं सहचरियों के भाव का अनुगमन करके राधा माधव के विहार का तत्सुखी भाव से आनन्द-लाभ करना ही परम काम्य माना गया है। इस सबंध में निम्बार्क सम्प्रदाय और अन्य सखी सम्प्रदायों में विभेद दृष्टिगोचर नहीं होता।

उभकति सहचरि निरखि सख हिय मे भरी हुलास।
नव निकुंज रस पुंज छवि श्यामा श्याम विलास।[1]

डा० विजयेन्द्र स्नातक ने इस समानता को लक्षित करके ही कहा है —

श्रीभट्ट जी के युगल शतक नामक ग्रन्थ में राधा का स्वरूप नित्य विहार और सहचरी स्वरूप का बड़ी सरस शैली में प्रतिपादित किया है। यह ग्रन्थ भावना में राधावल्लभीय पद्धति से साम्य रखता है। मूलतः निम्बार्क मत में सखी का स्वरूप युगल शतक की सहचरी से कुछ भिन्न था किन्तु रस मार्ग का प्रवर्तन होने पर रसोपासना के अंगभूत सखी का ही रूप वहां भी स्वीकृत हुआ। महावाणी में तो रसोपासनानुकूल सहचरी वर्णित हुई है।[2]

वल्लभ सम्प्रदाय में कृष्ण परिकर धाम इत्यादि की कल्पना

वल्लभ सम्प्रदाय में पूर्ण पुरुषोत्तम ब्रह्म की कल्पना की गई है। अक्षर ब्रह्म तथा अन्तर्यामी ब्रह्म भी पूर्ण पुरुषोत्तम ब्रह्म के ही स्वरूप हैं। वास्तव में इस सम्प्रदाय में ब्रह्म के तीन मुख्य रूप हैं पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म कृष्ण, अक्षर ब्रह्म एवं अन्तर्यामी रूप। अक्षर ब्रह्म का स्वभाव धर्म काल भेद से इन्द्रादि देवताओं के रूप में प्रकट होता है। ब्रह्म को एक से अनेक होने की इच्छा हुई और उसने अपने स्वत्व के लिए ही अपना स्वरूप प्रकट किया। इस प्रकार सृष्टि प्राप्ति उसकी

---

१ श्री भट्ट युगल शतक दोहा ७४।
२ डॉ० विजयेन्द्र स्नातक राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य पृ० २ ?।
३ व्यष्टिसमष्टिपुरुषो जीवब्रह्माख्यो मता
अन्तर्यामीपर कृष्णो ब्रह्मदासस्तथा पर। त०दी०नि सर्व निर्णय प्रकरण श्लोक ११६ पृ०३१५।
४ अक्षरस्य स्वभावकर्मकालभेदेन इन्द्राद्य । वही- श्लोक की स्वकृत व्याख्या।

इच्छा शक्ति के परिणाम हैं[1]। यह इच्छा शक्ति ही वल्लभ सम्प्रदाय में मायाशक्ति है। पर माया यहाँ पर झूठी नहीं है। इस बात पर वल्लभ सम्प्रदाय में बहुत बल दिया गया है। ब्रह्म इस सृष्टि के समवायी और निमित्त कारण हैं[2]। ब्रह्म रमा ब म श्रुति के अनुसार रस रूप भी वह है। वह आनन्दाकार विग्रह से अपने अक्षर धाम (गोलोक) में अपनी इच्छानुसार लीला मग्न रहता है। यह सच्चिदानन्द ब्रह्म नित्य है और उसकी लीला भी नित्य है[3]। वह अनन्त रूपावाला एवं विरुद्ध धर्मों का आश्रय है।

कृष्ण

इस सम्प्रदाय के अनुसार स्वयं कृष्ण ही परमात्मा परमेश विरुद्ध धर्माश्रयी पूर्ण ब्रह्म है। सूरदास आदि ने भी उन्हें इसी रूप में लिखा है।[4] भागवत के 'एतेचांश कलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान्स्वयम्' का उपयोग इस सम्प्रदाय में भी किया गया है। हरिदासी सम्प्रदाय के सम्बन्ध में हम लक्ष्मीपति नारायण के ललचाने की बात कह चुके हैं। सूरदास भी कुछ इसी ढंग से कहते हैं —

नारायण धुनि सुनि ललचाने स्याम अधर धुनि बैन।
कहत रमा सों सुनि सुनि प्यारी बिहरत हैं बन स्याम।

शब्द शान्तपु रूपपु [illegible] वाली बात श्री कृष्ण नय स्तोत्र के लेखक श्री वल्लभाचार्य यदि मात्र रसात्मक लीलाओं में [illegible] कर धर्म-संस्थापन में भी विश्वास करें तो

---

१ अनन्तमूर्ति तद्ब्रह्म ह्यविभक्तं विभक्तिमत्। बहुस्यां प्रजायेयेति वीक्षा तस्य ह्यभूत्सती। ३० तदिच्छामात्रतस्तस्माद् ब्रह्मभूतांशचेतना। सृष्ट्यादौ निर्गता सर्वे निराकारास्तदिच्छया। ३१ त०दी०नि० शास्त्रार्थ प्रकरण पृ० ८७।

२ डा० एस०एन० दासगुप्त — ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी खण्ड ४ पृ० ३२८ ३२९।

३ डा० दीन दयालु गुप्त — अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय दूसरा भाग पृ० ४०२।

४ तत्त्वार्थदीपनिबन्ध पृ० ११५।

५ वल्लभाचार्य — सिद्धान्तमुक्तावली, श्लोक ३ (परब्रह्म तु कृष्णो हि सच्चिदानन्दकं बृहत्) तथा श्लोक १५।

६ सकल तत्त्व ब्रह्माण्ड देव पुनि माया सब विधि काल।
प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायण सब हैं अंश गोपाल। सूरसागर— ना०प्र०स० १६००।

७ सूर सागर, ना०प्र०स० १६८७।

आश्चर्य न होना चाहिए। वल्लभ सम्प्रदाय में उनके चतुर्व्यूहात्मक (धर्म संस्थापक)[1] एवं रसात्मक[2] दोनों रूपों को स्वीकार किया गया है। देवकी नन्दन वासुदेव धर्म रक्षक रूप है तथा नन्दसुवन यशोदानन्दन रसरूप है। परन्तु सम्प्रदाय में इसी मधुर रसरूप की ही विशेष महिमा है। इसी कारण वल्लभ सम्प्रदाय के कवियों ने लीलावपु कृष्ण का ही अनन्त चरित्रों का गुणगान किया है। धर्मरक्षक रूप की ओर यत्र-तत्र संकेत मात्र है।

राधा

प्रारम्भ में सम्प्रदाय में राधा का महत्त्व हमें प्राप्त नहीं होता। परिवृढाष्टक में वल्लभाचार्य ने भानुजा गोपकन्या की चर्चा अवश्य की है जिसे कि विद्वान राधा के रूप में स्वीकार करना चाहते हैं।[3] पर इस बात का कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है। इसके अतिरिक्त यदि वह राधा ही है तो फिर राधा नाम लेने में आचार्य को संकोच क्या रहा? पीछे हम कह चुके हैं कि विष्णुपुराण, भागवत पुराण आदि में एक अधिक सौभाग्यशालिनी गोपी का पता लगता है। भानुजा सम्भवतः उसी परम्परा में है। इससे यह भी प्रतीत होता है कि सामाजिक उद्देश्य को दृष्टिपथ से ओझल न करने वाले वल्लभ प्रारम्भ में राधा तत्व को स्वीकार नहीं करना चाहते थे। इसी कारण उन्होंने राधा तत्त्व को स्वीकार नहीं किया एवं बालभाव की उपासना पर बल दिया। परन्तु भागवत को प्रमाण मान कर चलने वाला व्यक्ति कान्ता भाव से बच नहीं सकता। स्वयं वल्लभ ने गोपियों को अपना गुरु 'गोप्यस्तु अस्माकं गुरवः' माना है। तथा एक अन्य स्थान में उन्होंने यह आकांक्षा व्यक्त की है कि मेरे हृदय में गोपियों के विरह का दुःख उत्पन्न हो जाय।[5] वल्लभाचार्य ने श्रीनाथ जी की सेवा में दो गौड़ीय वैष्णवों को नियुक्त किया था, उनसे सम्प्रदाय में राधा या गोपीभाव को स्थान में सहायता भी होगी। इससे

१ गोकुल प्रकट भये हरि आई।
अमर उधारन असुर संहारन अन्तर्यामी त्रिभुवनराई। सू०सा० ६३१।
२ नित्यधाम वृन्दावन स्याम नित्यरूप राधा ब्रजवाम।
नित्यरास जल नित्य विहार नित्य मान खंडिताभिसार।
ब्रह्म रूप एई करतार करण हरन त्रिभुवन संसार—वही ३४६१।
३ डा० मुन्शीराम शर्मा: भारतीय साधना और सूरसाहित्य पृ० १२८।
तथा
डा० गोवर्धन नाथ शुक्ल: परमानन्द सागर भूमिका पृ० २३।
४ गोपिका: प्रोक्ता गुरवः साधनं च तत्। संन्यास निर्णय ८।
५ वल्लभाचार्य: निरोधलक्षणम्—१।

अतिरिक्त १६वीं शती के समाप्त होते-होते चैतन्य सखी एवं राधावल्लभीय आदि सम्प्रदायों में राधा भाव का जो स्फुरण होता है उससे वल्लभ सम्प्रदाय भी बचा नहीं रह सका एवं गो० विट्ठलनाथ जी ने राधाभाव का पूर्णतया स्वीकार कर लिया। श्रीनाथ जी की वल्लभ द्वारा प्रवर्तित सेवा पद्धति में राधा या कान्ता भाव का स्थान नहीं है परन्तु विट्ठलनाथ जी ने सेवा के मण्डान में राधा को ब्रह्मात्मिका में सम्मिलित कर लिया। श्री कृष्ण के जन्मोत्सव की तरह राधा का जन्मोत्सव भी मनाया जाने लगा। विट्ठलनाथ जी ने स्वामिन्याष्टक स्वामिनी स्तोत्र एवं शृंगार रस मण्डन की रचना करके राधा एवं दाम्पत्य भाव का महत्त्वपूर्ण प्रतिपादित किया। परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि वल्लभाचार्य ने कान्ता भाव का नितान्त तिरस्कार किया है। उन्होंने जब भगवान को सर्वभाव से भजनीय बताया तब उसके अन्तर्गत रतिभाव स्वतः आ जाता है। भागवत के इलोक —

कामक्रोध भयस्नेहमैक्य सौहृदमेव च।
नित्य हरौ विदधतो यान्ति तन्मयता हि ते।[1]

की व्याख्या करते हुए अपनी सुबोधिनी टीका में उन्होंने कहा है कि काम स्त्री भाव में सौहार्द सख्य भाव में होता है। इस प्रकार स्त्रीभाव की स्वीकृति उनमें है। सूर निर्णय के लेखकों ने आचार्य वल्लभ द्वारा विवेचित तीन प्रकार की गोपियाँ—गोपांगना गोपी व्रजांगना—उद्धृत की है। गोपांगनाएं परकीया भाव में भजती है वे साक्षात् पुष्टि-पुष्ट रूप है। गोपी वास्तव में कुमारिकाएँ है जो कात्यायनी आदि व्रतों के माध्यम से कृष्ण को प्राप्त करना चाहती है ये मर्यादा पुष्ट है एवं व्रजांगनाएं कृष्ण को कान्तभाव से भजती है ये पुष्टिप्रवाह रूप है।[2] परिवृढाष्टक में उन्होंने पशुपजा का शृंगारी रूप ही चित्रित किया है —

कलिन्दोद्भूतायास्तटमनुचरन्तीं पशुपजाम्।
रहस्यैकां दृष्ट्वा नवमुभगवक्षोजयुगलाम्
दृढ़ नीवीग्रन्थिस्त्वयपति मृणाल्या दृढतरम्।
रतिप्रादुर्भावो भवतु सततं श्री परिवृढे ॥

इसी प्रकार मधुराष्टक है उसमें कृष्ण के अंग चेष्टा क्रियादि को मधुर ही कहा है। सुबोधिनी भाष्य में उन्होंने अनेक स्थानों पर रति भाव की ओर संकेत किये है।[3] यो हम पहले भी कह चुके हैं कि भागवत को प्रमाण मानकर

---

१ भागवत—१०।२६।१५।

२ द्वारकादास परिख एवं प्रभु दयाल मीतल सूर निर्णय, पृ०२०४।

३ वल्लभाचार्य, सुबोधिनी भाष्य १०।३१।७ १३ व १०।३२।२६ आदि।

चलने वाला व्यक्ति मधुर भावना को अस्वीकार नहीं कर सकता। हमारा अनुमान है कि लोक दृष्टि की विकृति के भय से उन्होंने जार भाव पर जोर दिया है अन्यथा उनकी भक्ति भावना कान्ताभाव को अस्वीकृत नहीं करती। पर राधा भाव उन्हें अवश्य बहुत स्वकीय नहीं लगता।

अस्तु वल्लभ सम्प्रदाय में चाहे जैसे भी हो राधा का चित्रण होता है एवं यह चित्रण अपनी शक्ति में किसी भी अन्य सम्प्रदाय से कम नहीं है। राधा और कृष्ण का सम्बन्ध प्रकृति पुरुष का शाश्वत सम्बन्ध माना जाने लगता है। सूरदास ने प्रीति की इस निरन्तरता का बार बार कथन किया है।[1] उन्होंने दोनों की अभिन्नता का बराबर चित्रण किया है। वे युगल स्वरूप हैं —

सदा एक रस एक अखंडित आदि अनादि अनूप।
कोटि कल्प बीतत नहिं जानत विहरत युगल स्वरूप।

लौकिक सम्बन्ध की दृष्टि से राधा कृष्ण की स्वकीया ही है। सूर परमानन्ददास आदि ने राधा कृष्ण का विवाह कराया है। इस युगल रूप में शास्त्रीय वैष्णव एवं रसात्मक लीला ही सभी का अद्भुत समन्वय हुआ है। कृष्ण के जाने के बाद के विरह की सी तरह निग्रह दिखाया गया है। उद्धव संवाद के पदों में राधा एक मात्र प्रथमा के रूप में नहीं दिखाया गया है उनमें विरहिणी गोपियों का हृदय वन्ना ही प्रकट हुआ है। अष्टछाप के कवियों ने युगलस्वरूप की सखीभाव से लीला स्वीकार भी किया है। वास्तव में संयोग और वियोग की वे समस्त स्थितियाँ इन कवियों में सहज ही प्राप्य हैं जिनकी चर्चा प्रेम के सन्दर्भ में की जाती है।

गोपी

वल्लभ सम्प्रदाय में प्रेम की वास्तविक आलम्बन गोपियाँ ही हैं। राधा भी दार्शनिक दृष्टि से कृष्ण से अभिन्न होते हुए भी (यों तो जीव और जगत भी ब्रह्म से भिन्न नहीं हैं) काव्य चित्रण के क्षेत्र में गोपी ही हैं। गौड़ीय वैष्णवों में राधा के प्रभा मण्डल में गोपियों की कान्ति मलिन पड़ जाती है परन्तु वल्लभ सम्प्रदाय में गोपियाँ अपना महत्व नहीं खोतीं। इसका कारण यह भी है कि लीला-वर्णन में श्रीमद्भागवत का अनुसरण इन कवियों ने किया है। सैद्धान्तिक स्तर पर गोपियों के दो रूप हैं—एक रूप में तो वे नित्य गोलोक में होने वाले रसरूप कृष्ण के नित्य रास की सखियाँ हैं जो कि भगवान की आनन्ददायिनी शक्ति रूप ही हैं। इस रूप में कृष्ण और उनका सम्बन्ध धर्म और धर्मी

---

१ सूरसागर—ना० प्र० स० १२६१ १३०१ १३२ १३०३ १३५०।
२ सूर सारावली व० प्र० पृ ३८।
सूर सागर ना० प्र० स० २८६ । परमानन्द सागर ६८६ ६६४ ८१६।

का है। कृष्ण की व्रजलीलाएं उनकी नित्य लीलाओं की ही अवतार हैं। कृष्ण ने अपने समस्त परिकर, राधा, गोप, गोपी, गो, गोवत्स आदि समेत अवतार लिया था।[1] भक्त (जो सत् चित् से युक्त पर आनन्द से रहित होता है) अपने आनन्द अंश की खोज में गोपी स्वरूप प्राप्त करना चाहता है। उनके राग का अनुकरण करके रागानुगा भक्ति की साधना करता है। साधना की दृष्टि से यह दूसरा रूप ही विशेष महत्त्वपूर्ण है। बहुत से विद्वान कृष्ण-लीला के आध्यात्मिक प्रतीक को स्पष्ट करने के लिए गोपियों को आत्मा और कृष्ण को परमात्मा भी सिद्ध करते हैं। एवं इस प्रकार भक्तात्मा के लिए इस भाव मार्ग का उपस्थापन करते हैं।

पीछे हम वल्लभ द्वारा बतायी गयी तीन प्रकार की गोपिकाओं की चर्चा कर चुके हैं: गोपांगना, गोपी एवं व्रजांगना। इन्हीं को अन्यपूर्वा, अनन्यपूर्वा एवं सामान्या कहा गया है। इनमें से रास में सम्मिलित होने का अधिकार प्रथम दो प्रकार की गोपियों तथा एक अन्य प्रकार निर्गुणा को है। उन्होंने सुबोधिनी में रास में प्रवेश पाने वाली इन्हीं तीन वर्गों की १६ प्रकार की गोपियों का विवरण दिया है।[2] इनमें भी अन्यपूर्वा (जो परकीया होते हुए भी कृष्ण को कान्त मानती थी) भाव को भक्ति का श्रेष्ठतम रूप माना है। इस पुष्टि पुष्ट भाव की भक्ति कहते हैं। राधा को भले ही स्वकीया माना गया हो पर गोपीभाव की भक्ति में तो परकीया भाव को ही वल्लभ सम्प्रदाय में महत्त्व दिया गया है। सूरदास, परमानन्द दास, नन्ददास आदि ने अनेक बार कुलकानि मेटकर मिलने वाली गोपियों की चर्चा है।

वल्लभ ने एक स्थान पर यह भी कहा है कि निस्साधन भक्त केवल स्त्रीभाव से भगवान का रसास्वादन करने में समर्थ होते हैं।[3] यहीं पर कार्डिनल न्यूमन की भी प्रसिद्ध उक्ति याद आ जाती है। उसने कहा था कि यदि तुम्हारी आत्मा को उच्चतर आध्यात्मिक आनन्द में आना है तो तुम्हें निश्चय ही स्त्री बन जाना चाहिए। (इफ दाई सोल इज टु गो इन्टु हाइअर स्प्रिचुअल ब्लैसेडनेस दाऊ मस्ट बिकम ए वूमन।)

अपना सब कुछ समर्पित कर देने वाली इन स्त्रियों के प्रति भागवत् में

1. डा० दीनदयालु गुप्त : अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृ० ५०५-५०६।
2. वल्लभाचार्य : सुबोधिनी, रास पंचाध्यायी, फल प्रकरण अध्याय ३।२५।
3. अतो हि भगवान् कृष्णः स्त्रीषु रेमे ह्यनिशम्। सुबोधिनी, तामसफल प्रकरण। ४।

कृष्ण कह उठे थे कि मैं तुम्हारी कृतज्ञता के पाश म कभी मुक्त नहा हो सकता।[1] परमानन्द दास न भी इन गोपियों की भूरि भूरि प्रशंसा की है। उन्होंने उन्हें प्रेम की ध्वजा कहा है। गोपी के निरान अनन्य प्रेम जिसमें कि समस्त मर्यादा को मिटा कर व कृष्ण की प्राण प्यारी बनी थी, के अनुसरण का व स्पष्ट उपदेश देते हैं

ये हरि रस ओपी सब गोप तियन ते न्यारी
कमल नयन गोविन्द चन्द की प्रानहु ते प्यारी ॥
निरमत्सर जे सतत अहहि चूडामणि गोपी।
निरमल प्रेम प्रवाह सकल मरजादा लोपी ॥
जो ऐसे मरजाद मेटि मोहन गुन गावे।
क्यों नहि परमानन्द प्रेम भगति सुख पावे।[2]

उनके अनुसार गोपियों के प्रेम की बराबरी कौन कर सकता है। उनके चरणारविन्द का रस उद्धव अपने शीश पर धारण करते हैं। स्वयं साक्षात् ब्रह्मा उनके भाव का वरण करना चाहते हैं। उन्होंने तो यहाँ तक कह दिया है कि यदि गोपियों का प्रेम और भागवत पुराण न होतो तो सभी लोग औघड पथ के अनुयायी बन कर गमया ज्ञान का कथन करते —

जो गोपिन के प्रेम न होतो अरु भागवत पुरान
तौ सब औघड पर्थाह होतो कथन गमया ज्ञान।

वस्तुत अष्टछाप का सम्पूर्ण काव्य गोपी महिमा से भरा पड़ा है। भ्रमरगीत एवं रासपंचाध्यायी के प्रसंग गोपियों के प्रेम को अप्रतिम रूप में उन्नत भूमिका में स्थापित करते हैं। अष्टछाप के कवियों ने गोपियों के भी नाना रूपों—अनन्य पूर्वा अन्यपूर्वा एवं सामान्या में किसी एक के रागात्मक सम्बन्ध का अनुगमन करना चाहा था। वल्लभ सम्प्रदाय का भक्त निकुंज-लीलाओं को कुंज रन्ध्रों से देखता हो नहीं है वह स्वयं ईश्वर को कान्त रूप में प्राप्त कर उनके साथ रमण करना चाहता है। एवं इस रूप में वह गोपीभाव वल्लभ को अपना आनन्दकारी निग्रणियों एवं मुक्तियों के अधिक निकट है। परन्तु १८वीं शती तक पहुँचते पहुँचते सखी भावना को पर्याप्त प्रश्रय कल्पना मन में भी हो जाता है।

१ न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजाम् स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः
या माभजन् दुर्जरगेहशृंखलाः संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना।
— भागवत १०। ३२। २२।

२ परमानन्ददास परमानन्द सागर ८२५।

३ वही पृ० ८२६।

४ वही पृ ८२३।

५ वही पृ ८२४।

धाम

धाम की दृष्टि से वल्लभ एवं गौडीया में कोई स्पष्ट अन्तर हमें प्राप्त नहीं होता। इस सम्प्रदाय में परब्रह्म इस संसार में अकेला ही अवतरित नहीं होता साथ ही उसकी आनन्द प्रसारिणी शक्तियाँ एवं अक्षर धाम भी जन्म लेते हैं। यह लीला धाम उसका स्वरूपभूत अंश होने के कारण मायिक शक्ति से रचित संसार के गुणात्मक रूप में भिन्न होता है। ब्रजभूमि स्वरूप भगवान के लीला धाम गोलोक या गोकुल ही का अवतार है।[1] यह भी मायिक जगत से परे है।[2] सूरदास ने वृन्दावन को निजधाम[3] एवं आदि अजिर कहा है। परन्तु यह ध्यान रहे कि सभी सम्प्रदाय की भांति इस मार्ग में वृन्दावन और ब्रज अलग अलग न होकर तात्पर्यवाची हैं —

वृन्दावन ब्रज को महतु कापै बरन्यो जाई।
चतुरानन पग परसि के लोक गयो सुख पाई।[4]

वल्लभाचार्य ने गोलोक या गोकुल का महत्त्व वैकुण्ठ से भी अधिक माना है।[5] सूर के कृष्ण की मुरली की ध्वनि जब वैकुण्ठ पहुँचती है तो नारायण उसके लिए उत्कंठित हो उठते हैं। ब्रज गोकुल वृन्दावन एवं यहाँ के निवासियों की स्तुति में परमानन्ददास ने लगभग दो दर्जन पद लिखे हैं। सूरदास परमानन्ददास इत्यादि ने यमुना की महिमा का भी गुणगान किया है।

पुष्टि मार्ग की विशेषताएँ

(१) अनुग्रह तत्त्व की अत्यधिक प्रतिष्ठा — भक्ति के क्षेत्र में यों तो प्रत्येक सम्प्रदाय ने प्रभु अनुग्रह पर बल दिया है पर उसे विशिष्ट रूप में सैद्धान्तिक स्तर पर स्वीकार करने का श्रेय वल्लभ सम्प्रदाय को ही है। पुष्टि मार्ग का नाम करण ही अनुग्रह से सम्बन्धित है। भागवत् के पोषण तदनुग्रह के आधार पर

---

१ डा० दीनदयालु गुप्त अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय पृ० ४०५।
२ अणुभाष्य अध्याय ४ पद २ सूत्र १५।
३ सूर सारावली वें० प्रेस पृ० ३४।
४ वही पृ० २
५ सूरसागर दशम स्कन्ध वें० प्रे०, पृ० १५८।
६ अणुभाष्य ४।२।१५।
७ सूरसागर ना०प्रचारिणी सभा, १६८२।
८ परमानन्द सागर—पद सं० ८३५ से ८६० विशेष रूप से।

भागवतानुसार एवं विट्ठलनाथानुसारी लीला यह भक्ति विरह के तत्त्व को भी अपने सम्प्रदाय की अपेक्षा ऊँचाई पर प्रतिष्ठित करता है। यह सर्वमान्य बात है कि अष्टछाप के कवियों ने अत्यन्त विरह-काव्य का सृजन किया है। इस विरह भावना की रचना के मनन से सूरदास की विरह भावना की भी रचना की जा सकती है। हमारा अनुमान है कि पुष्टि मार्ग के विट्ठलनाथ पर सूरदास की भी प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष कुछ-न-कुछ प्रभाव अवश्य विद्यमान है। सूरदास ने तो स्पष्ट लिखा है ऐसा विरही प्रेम कर।[1]

(५) पुष्टिमार्ग ने पुष्टि प्रवाह और मर्यादा मार्गों की कल्पना करके अन्य भावना मार्गों की भी स्वीकृति दी है जिससे पुष्टि मार्ग में भी शुद्ध पुष्ट, पुष्टि पुष्ट, मर्यादा पुष्ट एवं प्रवाह पुष्ट इन चार प्रकार के जीवों की कल्पना करके भक्ति के अनेक सम्प्रदायों की स्वीकृति दी जाती है। ऐसा लगता है कि अन्य मत का प्रचार करने से भी वल्लभ अन्य भावना-मार्गों एवं सम्प्रदायों के प्रति पूर्णतः उदार थे।

(६) पुष्टि मार्ग के दार्शनिक सिद्धान्तों पर आधारित होने से भी वल्लभ सम्प्रदाय में प्रमाणिकता का प्रश्न पुष्ट व्यावहारिक आधार पर प्रतिष्ठित किया गया। दार्शनिक भित्ति होने के कारण रसानुभूति की प्रामाणिकता भी इसमें रही परन्तु भावना के क्षेत्र में रसात्मक सत्ता की नितान्त उपेक्षा भी नहीं की गई।

(७) कृष्ण ही इस सम्प्रदाय के आराध्य हैं। राधा की प्रधानता विट्ठलनाथ के बाद वल्लभ सम्प्रदाय में कवियों में मिलती है। सूरसागर में भी कृष्ण चरित्र की ही भक्ति मिलती है।

(८) वात्सल्य, सख्य एवं मधुर इस सम्प्रदाय के कवियों के मुख्य भक्ति रस रहे हैं। इस प्रकार मानव के मनोभावों में से एक बड़े भाग को यह सम्प्रदाय पल्लवित एवं परिपुष्ट करता है।

---

१ भ्रमरगीतसार पद सं० १७५।

२ सूरसागर, दशम स्कन्ध, नागरी प्रचारिणी सभा, १९७३।

ऐसो एक नयो इनकाहि गोसो प्रभित प्यारो।

कृष्ण भक्ति छन्द सो राध सूरदास बलिहारो॥

ललित सम्प्रदाय में उपास्य, लीला, नाम परिकर एवं उपासना भाव की धारणा

ललित सम्प्रदाय वृन्दावन का एक छोटा-सा सम्प्रदाय है जिसकी स्थापना १८वीं शती के अंतिम चरण में महात्मा वंशी अलि जी ने की थी। यह सम्प्रदाय इस दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है कि राधावाद अपनी पराकाष्ठा पर इसी सम्प्रदाय में पहुँचता है। शक्ति की धारणा इस सम्प्रदाय में अत्यधिक व्यापक रूप में हुई है। पीछे हम सखी एवं राधावल्लभी सम्प्रदायों के विवेचन के प्रसंग में कह चुके हैं कि प्रेम के क्षेत्र में राधा की प्रमुखता उन सम्प्रदायों में स्वीकृत हो गयी थी पर दार्शनिक स्तर पर कृष्ण ही परात्पर तत्त्व बने रहे। शक्ति और शक्तिमान् की कल्पना उनमें शक्तिमान् के महत्त्व की दर्शिका है। परन्तु ललित सम्प्रदाय में शक्तिमान् को नहीं शक्ति को ही प्राधान्य प्राप्त हुआ। राधा ही इस सम्प्रदाय में परात्पर तत्त्व मान ली गयी।

यहीं पर यह भी ध्यान दिला देना उचित होगा कि राधा को परात्पर तत्त्व स्वीकार करने का अर्थ यह नहीं कि इस सम्प्रदाय में केवल शक्ति रूप (शक्ति भावना के अनुरूप) राधा की ही उपासना होती है। यह सम्प्रदाय भी सखी या राधावल्लभी सम्प्रदायों की भाँति ही युगलोपासक है। स्वामी हरिदास एवं गो० हित हरिवंश का उल्लेख इन्होंने बड़े सम्मान से किया है।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि इन दोनों सम्प्रदायों का इन पर गहरा प्रभाव था। पीछे सखी सम्प्रदाय की चर्चा करते हुए हम कह चुके हैं कि स्वामी हरिदास को ललिता का अवतार स्वीकार किया गया है एवं उनका अत्यधिक महत्त्व बताया गया है। ललित सम्प्रदाय में भी गुरु को ललिता रूप ही माना गया है।[2] अथवा ललिता को ही गुरु कहा है।[3] राधा को प्रमुखता देने का सबसे सम्भवतः

१ (क) श्री हरि वंश स्वरूप हैं श्री हरिदास उदार।
जे जे बातें महल की बरणत नित्त विहार॥
—वंशी अलि हृदय सर्वस्व
छंद संख्या १८।

(ख) श्री ललिता हरिवंश वपु प्रगटी रस निधि आय।
धरन माधुरी कुंवर की दोनों सबन जनाय॥ —वही वही १६।

२ श्री गुरु ललिता रूपमय तिनको नाम रटन्त।
पाठ सम्पत राधिका धाम वृन्दाविपुन बसन्त॥ —वही, वही २५।

३ गुरु श्री ललिता मैया मातु तस्या परा सखी।
—वंशी अलि श्रीराधा सिद्धान्तम् श्लोक ३॥

उन्हें राधावल्लभीय सम्प्रदाय में प्राप्त हुआ होगा। वंशी अलि जी के पश्चात् भी ललित सम्प्रदाय एवं राधावल्लभ सम्प्रदाय के आचार्यों के मध्य घनिष्ठ सम्पर्क रहा है। हमारे देखने में वंशी अलि जी के शिष्य किशोरी अलि जी की वाणी का हस्तलिखित संकलन आया है। उसमें किशोरी अलि एवं गो० चन्द्रलाल (राधावल्लभीय) के मध्य होने वाले पत्र व्यवहार का भी संग्रह है।[1] उससे ज्ञात होता है कि गो० चन्द्रलाल के मन में किशोरी अलि एवं उनकी राधोपासना के लिए अत्यधिक सम्मान का भाव था।[2]

राधा एवं उनकी लीला

मनस्वी वंशीअलि जी ने अपने 'राधा सिद्धान्तम्' ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही बता दिया है कि सौन्दर्य राशि नित्य प्रेमासक्त किशोरी राधा ही अनन्य भाव से हमारी उपास्य है।[3] वे चाहते हैं कि समस्त इन्द्रियों का विषय राधा ही हो —

राधा जीभ रटो सदा सुनौं सुकान।
श्री राधा नयनम देखिहों राधा बिनहिं आन।[4]

राधिका का रूप स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि ब्रह्मा तथा भगवान् को रचने वाली एवं अधिष्ठात्री शक्ति वही हैं।[5] सब कुछ को प्रसुस्थत रखने वाली एवं ब्रह्म की अपर पर्याय वे ही हैं। वे सवतन्त्र स्वतन्त्र हैं।[6] परन्तु वे स्वतन्त्र शक्ति होते हुए भी भक्त के आधीन हैं। स्वयं श्रीकृष्ण उनके भक्त हैं एवं उनकी भक्ति के आधीन होकर समान भाव से कृष्ण के साथ विहार करने के लिए उन्होंने अवतार धारण किया है। वृषभानु के घर में भी जन्म उन्होंने साधकों पर अनुग्रहार्थ ही लिया

---

१ डा० शरण बिहारी गोस्वामी के संग्रह से प्राप्त।
२ किशोरी अलि की वाणी पत्र संख्या १८० और आगे।
३ स्व सौन्दर्यमहाराशी नित्य सक्तकिशोरिका।
राधाऽस्माकमु पास्यास्ति तदनन्यन चेतसा॥
—वंशी अलि राधा सिद्धान्तम् १।
४ वही हृदय सर्वस्व २८।
५ शक्तेर्वा ब्रह्मणोवापि तथा भगवतोऽपिहि।
कर्त्री धी राधिका ज्ञया अधिष्ठात्री तथैव च॥
—वही रा० सि० २।
६ वहा वही ७ एवं ६।
७ नित्य भक्तपराधीना तन राधा विहारिणी।
साम्य मर्जति भक्तन रसं कृष्णेन लीलया॥
—वही वही पृ० २।

परन्तु अवतार रूप में कल्पित हो जाने के बहुत दिन बाद तक उनके प्रति प्रगाढ़ भक्ति भावना का आविर्भाव नहीं होता। श्री आर जी० भंडारकर का अनुमान है कि यद्यपि ईसवी सन के प्रारम्भ में राम विष्णु के अवतार मान गये थे किन्तु उनकी विशेष रूप से प्रतिष्ठा ग्यारहवीं शताब्दी के लगभग ही प्रारम्भ हुई है।[1] डा० कामिल बुल्के[2] डा० भगवती प्रसाद सिंह[3] आदि का अनुमान है कि रामभक्ति का आविर्भाव दक्षिण भारत के आलवार संतों में सर्वप्रथम हुआ है। बारहवीं शताब्दी के आसपास में राम भक्ति का साम्प्रदायिक रूप प्रमुखता प्राप्त करने लगता है।

जहां तक रामभक्ति में माधुर्योपासना के प्रवेश का प्रश्न है उसका निर्णय करना विवादास्पद है। हिन्दी साहित्य में माधुर्यभाव भक्ति राम भक्ति की रचनाएं तुलसीदास के बाद की ही प्राप्त हुई हैं। डा भगवती प्रसाद सिंह ने अपने महत्त्वपूर्ण शोधग्रन्थ रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय में उस भावना की प्राचीनता को वाल्मीकीय रामायण तक पहुँचाया है। परन्तु ऊपर के निर्णयों से यह ध्वनित होता है कि वाल्मीकि रामायण रामभक्ति का ग्रन्थ नहीं है। विद्वानों ने उसमें भक्ति वाले अंश प्रक्षिप्त माने हैं। अत राम सीता की शृंगारी भावना का प्रश्न उसमें काव्य के आग्रह से ही मानना उचित होगा। अन्य जिन नाट्य एवं काव्य ग्रन्थों का उल्लेख डा सिंह एवं प भुवनेश्वर नाथ मिश्र माधव (रामभक्ति में मधुर उपासना) ने किया है वे भी भक्तिकाव्य न होकर सरस साहित्य के अन्तर्गत ही परिगणनीय है। स्वयं डा सिंह ने स्वीकार किया है कि वास्तव में ये (लेखक) साधक नहीं कवि थे किन्तु वे इस भावना के समर्थक। अतएव उनकी रचनाएं स्वयं साधनात्मक न होते हुए भी रसिक साधना के लिए उपयुक्त पृष्ठभूमि बन गया।[5] प भुवनेश्वर नाथ मिश्र माधव ने जिन संहिता ग्रन्थों स्तवराज एवं गीतियां तथा रामायणों आदि[6] की चर्चा की है वे सभी परवर्ती स्रोत होती हैं। स्वयं लेखक ने उनके काल निर्णय का कोई प्रयास नहीं किया है। डा० भगवती

---

१ डा भंडारकर वैष्णविज्म शैविज्म पृ ६६।
२ डा० कामिल बुल्के रामकथा पृ १५०।
३ डा० भ० प्र सिंह रा०भ०र०स० पृ ५४।
४ आचार्य ह० प्र० द्विवेदी मधुराचार्य और उनका भक्ति-सन्दर्भ कल्पना अप्रैल १९५५ पृ ५।
५ डा भ०प्र० सिंह रा०भ०र०स० पृ० ७६।
६ भुवनेश्वरनाथ मिश्र माधव रामभक्ति में मधुर उपासना पृ० १४१ १८६।

प्रसाद सिंह ने माना है कि ऐतिहासिक दृष्टि से आलवार संतों को माधुर्यभाव का प्रथम भक्त मानना चाहिए।[1] परन्तु जैसा कि पीछे हम कह चुके हैं आलवारों की माधुर्य भावना प्रेम प्रतीकवाद के अन्तर्गत परिगणनीय है वह भाव एवं ध्यान की वस्तु नहीं है। उस माधुर्य भाव तथा परवर्ती राम एवं कृष्ण-सम्प्रदायों के माधुर्य भाव (रसिक-साधना) में गुणात्मक अन्तर है। वास्तव में इस बात को अस्वीकार करना कठिन है कि राम भक्ति की रसोपासना पर कृष्णभक्ति के सम्प्रदायों का गहरा प्रभाव है। इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि १६वीं शती तक राममक्त रसोपासना को मन समझने के लिए वृन्दावन जाते रहे हैं। यों जिन तांत्रिक साधनाओं एवं भक्तिवाद का प्रभाव कृष्णभक्ति की माधुर्य भावना तथा राधावल्लभी सखीवाद आदि पर पड़ा है वे मूल प्रभाव-स्रोत रामभक्ति को भी बराबर प्रभावित करते रहे हैं इस बात को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

रामभक्ति-साहित्य में तुलसीदास एक ऐसे विशाल वट वृक्ष के समान हैं जिसकी सुखद छाया को छोड़कर साधारण जन अन्यत्र नहीं जाना चाहता। यद्यपि तुलसीदास के युग तक (मृत्यु सं० १६८०) कृष्ण भक्ति सम्प्रदायों में रसिकोपासना एवं सखीभाव का व्यापक प्रचार हो चुका था पर अपने अप्रतिम लोक व्यक्तित्व के बल पर लोक मनस्वी तुलसीदास ने राम सीता कौशल्या भरत हनुमान आदि चरित्रों के माध्यम से जिस वैधी भक्ति एवं मर्यादा मार्ग को प्रतिष्ठित कर समाज के लिए मेरुदण्ड का कार्य किया वह सब ऐसे अविचल भाव से दृढ़ रहा कि उस पर परवर्ती रसिक साधनाओं का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ सका एवं उत्तरी भारत के अधिकांश सामाजिक जन उससे प्रेरणा लेते रहे। शास्त्रीय दृष्टि से देखने पर तुलसी के राम और सीता कृष्ण एवं राधा से भिन्न स्थिति धारण करते दिखाई देंगे। राम ही परब्रह्म हैं जो भक्तिवश कौशल्या की गोद में जन्म लेते हैं —

> ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद।
> सो अज प्रेम भगतिबस कौसल्या की गोद।[2]

उनके वाम भाग में छविनिधि आदि शक्ति श्री सीता जी शोभायमान हैं। उनके भृकुटि विलास से भी संसार उत्पन्न होता है।[3] वे संसार का उत्पन्न ही नहीं करती उसके पालन-शासन एवं हरण का कार्य भी परब्रह्म के संकेत पर जानकी ही करती हैं —

१ डा० भ०प्र० सिंह रा०भ० र०सं० पृ० ७६।
२ रामचरित मानस, बालकांड १६८,३४१ अरण्यकांड २२ ६३ कि० कांड २६ उत्तरकांड १३ ३४,८१ १३० आदि।
३ वही बा० का० १४८।

श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह जगदीश माया जानकी ।
जो सृजति जगु पालति हरति सख पाइ कृपानिधान की ।।[1]

उन्होंने तुलसीदास ने ब्रह्म की परमशक्ति कहा है —

नारद वचन सत्य सब करिहौं
परम सक्ति समेत अवतरिहौं ।।[2]

पीछे गौडीय वैष्णवों आदि के प्रसंग में हम कह चुके हैं कि राधा भक्ति देने वाली भी हैं। सूरदास ने भी राधा से कृष्णचरण रति माँगी थी। तुलसीदास भी अपनी अर्जी सीता के हाथ ही राम तक भिजवाते हैं।[3] इन युगल में प्रेम कम नहीं है पर किसी को दिखाने के लिए न होकर यह सहज रूप में मर्यादित प्रेम है। इसका मर्म राम और सीता ही जानते हैं। बल्कि यों कहना चाहिए कि इस प्रेम के मर्म राम का मन जानता है और वह मन सदा सीता के पास रहता है इस प्रीति रस की इतनी ही बात से समझा जा सकता है —

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा जानत प्रिया एक मन मोरा।
सो मन रहत सदा तोहि पाहीं जानु प्रीति रस एतनहि माहीं।

परन्तु इन प्रिया प्रियतम के सम्बन्ध की अभिव्यक्ति मर्यादित रही है। परवर्ती रामरसिकोपासकों को यह दार्शनिक रूप ज्यों का त्यों उपलब्ध हो गया उसमें सीता की कल्पना एवं प्रेम सम्बन्धों का मुक्त प्रसार और जुड़ गया। आदि शक्ति को आह्लादिनी में परिवर्तित करके फिर उसे रसदानी बनाते देर नहीं लगी। संभवत तुलसीदास के जीवनकाल में ही यह प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई थी।

रसिक सम्प्रदायों में अग्रदास इस साधना के प्रवर्तक माने जाते हैं उनका आविर्भाव-काल सम्वत् १६४२ है एवं तुलसी का मृत्यु सम्वत् १६८० है इस प्रकार अग्रदास के जीवन का प्रारम्भिक अंश तुलसी के उत्तरार्ध की समकालीन रहा है। ऐसा लगता है कि कृष्ण भक्ति की रसिकता रामभक्तों को भी आकृष्ट कर रही थी। अग्रदास ने इस प्रवृत्ति को पहचान कर उसे एक व्यवस्थित साधना पद्धति का रूप दे दिया। धीरे धीरे राम सम्प्रदाय में यही साधना बल पकड़ती गई एवं १६वीं शती की राममक्ति-साहित्य सर्वतोभावेन इसी माधुर्य भाव में डूबा हुआ दिखाई देता है।

---

१ वही अ० काण्ड १२६।
२ वही बा का १८७।
३ विनय पत्रिका पद ४१ ४२।
४ राम चरित मानस सु का १५।

कृष्ण भक्ति का प्रभाव स्वीकार करके राम सीता को युगलविहारी कह तो दिया गया परन्तु वास्तव में यह कार्य उतना सरल नहीं था। राम के चरित्र एवं लीलाओं की जो धारणा आदिकाल से लेकर मध्यकाल तक चली आ रही थी उसमें शृंगारिकता का न्यूनतम प्रवेश हुआ था। राम-सीता की राधा-कृष्ण एवं कृष्ण गोपियों जैसी प्रेम गाथाएं चित्रित करने वाला न तो कोई पुष्ट प्रकीर्णक पदों की ही परम्परा अब तक उपलब्ध हो सकी है और न भागवत जैसा कोई पुष्ट ग्रंथ एवं गीत गोविन्द जैसा ललित काव्य ही हमें प्राप्त होता है जिसमें कि राम सीता के इस उज्ज्वल रसपरक रूप को स्पष्ट किया गया हो। इसके स्थान पर राम का प्रजावत्सल दुष्ट संहारक एवं मर्यादा पुरुषोत्तम रूप अधिक स्थापित रहा है। तुलसी ने उनके इन गुणों को और सुदृढ़ भूमि पर स्थापित कर दिया था। रामकथा के सारे पात्र वास्तव में परिवार एवं समाज के विविध सम्बन्ध सूत्रों के अत्यधिक उदात्त स्तर पर प्रतिष्ठित किये गए थे। रसिकोपासकों ने इन सबको स्वीकार करते हुए भी माधुर्यपरक व्याख्या करनी चाही। राम कथा की इन्हीं आवश्यकताओं के कारण ही हमें सिद्धान्त पक्ष में यत्र-तत्र कृष्ण भक्ति के सम्प्रदायों की अपेक्षा अन्तर प्राप्त होता है अन्यथा व्यापक रूप से गौडीय वैष्णव-तत्व दर्शन (यहाँ तक कि हरिदासी आदि सम्प्रदायों की भी विचारधारा) को ही रामभक्तों ने स्वीकार किया है। नीचे इन समानताओं एवं वैषम्यों का संक्षिप्त विवरण हम उपस्थित कर रहे हैं। रामलीला को माधुर्यभावपरक मोड़ देने का सबसे अधिक शास्त्रीय एवं पाण्डित्यसाध्य प्रयत्न मधुराचार्य जी ने किया था। उन्होंने वाल्मीकीय रामायण को वर्णित का भी अपेक्षा अधिक प्रमाण एवं सारे वाङ्मय का कारण[1] बनाते हुए उसकी शृंगाररसपरक व्याख्या करने का अद्भुत प्रयत्न किया था। संस्कृत व्याकरण की कामधेनुओं के सहारे शब्दों का खींचतानकर जो अर्थ निकाले गए हैं उनसे आज का पाठक भले ही खीझ सकता है पर उस साधना के समझने में ऐसे अर्थ महत्वपूर्ण हैं। ऐसे प्रयत्नों का मनोरंजक उदाहरण है कि राम-कथा के वन गमन वाले प्रसंग को इन लोगों ने वास्तविक न मान कर माया जन्य माना। इन विचारकों के अनुसार राम सीता लक्ष्मण चित्रकूट से आगे गये हो नहीं वे चौदह वर्ष वहीं विहार करते रहे। रावण के संहार के लिए वास्तव में राम की आज्ञा से लक्ष्मी नारायण ऐसे भेज गए थे—मानो राम एवं लक्ष्मण के वेष में।

•

उपास्य

राम का उसी प्रकार परब्रह्म रूप में यहाँ पर भी कल्पना है जिस प्रकार कि अन्य रसोपासक सम्प्रदायों में हम कृष्ण का रूप देख चुके हैं।[2] वे सच्चिदानन्द

१ मधुराचार्य सुन्दरमणि-सन्दर्भ, पृ० २३।

२ रसिक अलि अनन्य तरंगिणी पृ० ४।

है।[1] वे द्विभुज परात्पर है।[2] नृत्य राघव मिलन में उन्हें लीला के क्षेत्र में दक्षिण नायक कहा गया है —

कहु दक्षिण नायक रस लीला करहिं राम सुदर मदुलीला।

दक्षिण नायक होने के नाते उन्हें अनेक प्रियाओं को वल्लभा होना पड़ता है। महर्षि मुनि कन्याओं राज कन्याओं नाग-कन्याओं तथा गंधर्व-कन्याओं को उनकी पाणिग्रहीता भार्या माना गया है। वास्तव में जब कृष्ण के इतनी भार्याएं या वल्लभाएं थीं तो फिर राम की क्या न होतीं? फिर रास के लिए भी तमाम प्रियाओं की आवश्यकता थी। इसी कारण मधुराचार्य राम सखे इत्यादि ने उनकी अनेक भार्याओं की कल्पना की है। पर दूसरी ओर राम की एक पत्नीव्रत परम्परा में अत्यधिक आदर चला आ रहा था। इन दोनों परस्पर विरोधी दिखने वाली बातों के मध्य संगति स्थापित करने के लिए बहुभार्यात्व की एक दार्शनिक व्याख्या उन्होंने देनी चाही।

इस व्याख्या के अनुसार राम की पराशक्ति सीता से ही उत्पन्न उन्हीं की अंशभूता अन्य समस्त स्त्रियां या सखियां हैं अतः वे वास्तव में सीतारूप ही है। इस तरह राम का एक पत्नीव्रत खंडित नहीं होता। मधुराचार्य ने जनक की ऐसी ही शंका का समाधान स्वयं जानकी से सुन्दरी-तंत्र के द्वितीय पटल के एक उद्धरण द्वारा कराया है। जानकी कहती है —

हे पिता आप पुरुषोत्तम श्री राम जी को रस रूप शक्ति मुझे जानें। श्री राम मेरे रूप हैं वे सत और असत् से परे हैं वे भोक्ता हैं। मेरी ईक्षणिका के आश्रय में श्री रामचन्द्र शरीर धारण करते हैं और उनकी इच्छा से मेरा शरीर है ऐसा समझिये। श्री रामचन्द्र और मेरे शरीर के ऐक्य भाव से यह रसरूप परब्रह्म है जो *आत्मनिष्ठ सुखरूप है। इसमें विश्व सुखी होता है।* इसी रस से बहुत से रस —बार करोड़ों सौम्य भयानक आदि—उद्भिन्न हुए हैं सभी शक्तियां मुझमें निकली हैं जो शुद्ध सत्वरूपा हैं और विकार रहिता हैं। ये सब श्री रामचन्द्र की भोग्यरूपा हैं सनातनी और रस मात्र विहारिका हैं। ये मेरे ही समान हैं। इन सबके भोक्ता रघुनन्दन ही हैं।

---

१ बालअली ध्यान मंजरी (रा भ म०ज पृ० २११)।
२ रसिक अली सिद्धांत मुक्तावली (वही पृ २३७) तथा नृत्य राघव मिलन पृ० ६।
३ न रा मि पृ ४१।
४ बालअली सिद्धांततत्त्व दीपिका ३१।
५ मधुराचार्य सु०म०स पृ ४३२ ४३४।

मधुराचार्य ने यह व्याख्या तो की ही है पर यह भी कह दिया है कि जो लोग उनके निरवधि नित्य विहार को नहीं जानते तथा गोत्र वेद के किंकर हैं वही लोग उन्हें एक पत्नीव्रत धारी समझते हैं अन्यथा वे तो मुखदवय रमण कामिनी-काम वद्धक हैं। मधुराचार्य के अनुसार —

जो लोग नीरस चित्त के हैं अर्थात् जो लोग श्री रामचन्द्र के निरंकुश निरवधिक नित्य विहार रस के ज्ञाता नहीं हैं केवल एक पत्नीव्रत वचनों के छायानुसारी हैं। जिनकी प्रयत्नादि बल वाले श्री रामचन्द्र जी की अघटित घटना पटीयसी शक्ति के जानकार नहीं हैं वे अपरिमित आनन्द स्वरूप परब्रह्म श्री रामदेव के शृंगाररस का परम उत्कर्ष तथा उनके मुखदवय की पराकाष्ठि में सन्देह करते हैं कि परब्रह्म-स्वरूप एक पत्नीव्रता रामचन्द्र जी में यह विहारलीला सम्भव कहाँ हो सकती। ये लोग नीरस और वेद के किंकर हैं इस कारण में धर्म विषयक भक्ति में अन्ध हैं। वे इस रस को समझ नहीं सकते, अपनी सीमा में आप ही बँधे हुए हैं। मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ। ये दूषणीय नहीं हैं भूषणीय ही है। दूषणीय इसलिए नहीं हैं कि उनकी दृष्टि श्री रामजी के नित्य ऐश्वर्य नित्य माधुर्य और नित्य सौकुमार्य रूपी तत्व जो नहीं पायी है यहाँ तो वाल्मीकि जी ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कह रखा है कि रामचन्द्रसुखदवयरसन सन् कामिनी काम वद्धन है।[1]

उनके अनुसार शृंगार रस के विश्राम स्थल केवल राम ही सकते हैं। कृष्ण में भी यह क्षमता है पर वे अंशावतार मात्र हैं। रामावतार की श्रेष्ठता का शृंगारिक दृष्टि से प्रमाण देते हुए उन्होंने वाल्मीकि रामायण से उद्धरण देते हुए कहा है कि जहाँ कृष्ण के प्रति मात्र स्त्रियाँ ही आकृष्ट होती थीं वहाँ राम के अद्भुत भुवन मोहन रूप को देखकर पुरुष भी रमणेच्छु हो उठते हैं। वन में ऋषि मुनि भी उनके साथ स्त्री रूप में रमण करने के लिए आकुल हो उठे थे।[2]

सीता

राम प्रिया सीता दार्शनिक विचार में राम की आह्लादिनी शक्ति हैं। —जयति सिया आह्लादिनी शक्ति शक्तिगन भूप।[3] हनुमत्संहिता में भी उन्हें आह्लादिनी शक्ति रूपा बताया गया है। भगवान इन्हीं को रमण नन्द करने

1 मधुराचार्य। सु० म० स० पृष्ठ ३२७ ३२८।
2 वही वही, पृ० १०६।
3 काम प्रसो नेह प्रकाश १।
4 ह० स० पृ० २१।

उन्हें दूसरे की आवश्यकता होती है इसीलिए एक ही ब्रह्म पति पत्नी का रूप धारण कर लेता है।

एकाकी नहि रमन हव चहत सहायहि सोइ।
रमत एक ही ब्रह्म यह पति पत्नी तनु होइ।[1]

वे राम के मन की गति को जानकर अपने शरीर में ही सहस्रों नारियों को उत्पन्न करके उन्हें सन्तुष्ट करती है—

रामस्य हृद्गतिं ज्ञात्वा जानकी स्वांगत सजन्।
नाय्यदात्सहस्राणि तरन्ततयु तमस्टोत्तरम्॥[2]

राम को करोड़ों ब्रह्माण्डों में भी वैसा सुख नहीं मिलता जैसा कि प्रिया जी के मुख कमल के मकरन्द का पान करने में उपलब्ध होता है। प्रियतम प्रिया है एवं प्रिया बस प्रिय है। वे एक दूसरे के प्राण है एवं दिन रात उनके चित्त एक दूसरे में उलझे रहते हैं —

पिय बस प्रिया प्रिया बस पीय उरझे रहत रैन दिन होय।
हिय के जीवन हैं पीय पीय के प्रान जीवन धन सीय।[3]

वास्तव में एक के बिना दूसरे की कल्पना भी नहीं की जा सकती —

सीता राम बिना नव राम सीता बिना नहि।
श्री सीतारामयोरेव सम्बन्ध शाश्वतो मतः॥

इस प्रकार उनका नित्य सम्बन्ध है। उनकी लीला और विहार अनाहत प्रवाधित भाव से नित्य होता रहती है। राम सीता का वियोग वास्तव में प्रकाश नाना के अन्तर्गत है— वास्तव में संयोग ही नित्य है। सीता अविद्या का नाश एवं विद्या का प्रकाश करती है।[4]

इस प्रकार हम देखते हैं कि अपने रूप शक्ति के सीता साहाय्य एवं नित्यत्व आदि की दृष्टि से स्वरूपतः सीता एवं पूर्व विवेचित राधा में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। यह मानना अवश्य है कि सीता सर्वथा स्वकीया नायिका हैं। मधुराचार्य ने परकीया भावना का अत्यधिक खण्डन किया। उनके अनुसार प्रच्छन्न कामुकत्व की जिस बात को उठाकर परकीया भाव का समर्थन किया जाता है वह लौकिक दृष्टि से ही ठीक हो सकता है। भगवत्प्रेम में तो वस्तुतः

१ बाल अली नेह प्रकाश २।
२ हनुमत्संहिता पृ० ? ।
३ बाल अली नेह प्रकाश (राधावल्लभ म० उ पृ २०१ पर उद्धत)।
४ रा त० प्र० म जानकी विलास से उद्धत।
५ प्रेमलता वृ० उ० पृ (राधावल्लभ म० उ० पृ० ३४१)।

स्वकीया प्रेम ही उत्तम प्रीति सुख का हेतु है।

परिकर

परिकर की एक विराट कल्पना गौडीय वैष्णवों में हम देख चुके हैं। उनका कारण बताते हुए हमने कहा था कि ब्रज मथुरा एवं द्वारका की त्रिविध लीलाओं को उन्हें समेटना पड़ा था एवं इसी कारण परिकर की नाना रूप में कल्पना की गई थी। परन्तु साथ ही यह भी हमने ध्यान दिलाया था कि इनमें मुख्यतः ब्रजलीला (वृन्दावन लीला) को ही प्राप्त रही। राम की लीला में धाम सम्बन्धी ऐसा वैविध्य तो नहीं है परन्तु अयोध्या में वे राजपद पर तो प्रतिष्ठित हैं ही। इसलिए लीला धाम परिकर एवं भाव सम्बन्धों आदि की दृष्टि से इस राजसत्ता के ऐश्वर्य का ध्यान में रखना पड़ता है। रामभक्ति में इसी कारण ऐश्वर्य का त्याग कहीं नहीं हुआ। माधुर्य और ऐश्वर्य दोनों का समन्वय इसमें रहा है।

अस्तु राम के ऐश्वर्य एवं माधुर्य समन्वित रूप के अनुरूप ही परिकर में विविध भाव सम्बन्धों की कल्पना की गयी है। गौडीय वैष्णवों के समान ही इस परिकर की नित्य रूप में कल्पना की जाती है—लीला की जितनी भी विभूतियाँ हैं वे सभी परिकर रूप ही हैं।[1] दिव्य धाम में समस्त पदार्थ अप्राकृत अल्प एवं चैतन्य रूप में ही रहते हैं।[2]

इस परिकर में सर्वश्रेष्ठ स्थान सखीगणों का ही है। इनकी कल्पना ठीक अन्य रस सम्प्रदायों के अनुरूप ही रामभक्ति सम्प्रदायों में भी की गई है। वे सीताजी का अंश है—श्री सिय अंश सुसखी सरूपा।[3] जिस प्रकार से सीता और राम प्रसन्न रहते हैं वही सखियाँ करती हैं —

जेहिंविधि रहहिं मुदित सियरामा सोइ सब अलिगन करहिं सुकामा।

सखियों के अनेक वर्गों में विभाजन भी रसिकों ने किये हैं। सखी एवं किंकरी के भी भेद स्पष्ट किये हैं। राम एवं सीता की अनग अनग सखियों की भी कल्पना की गयी है। परन्तु यह विस्तार हमारे लिए अनावश्यक है।

धाम

धाम सत्त्व त्रिपाद विभूति के अन्तर्गत ही है।[5]

१ प्रेमलता वृहत् उपासना रहस्य (रा० भ० म० उ०, पृ० ३४४)।
२ रामरस रंग विलास, पृ० २४।
३ उ० र०, पृ० १११ (रा० भ० र० स०, से उद्धृत)।
४ वही (रा० भ० म० उ०, पृ० ३४४)।
५ वही वही पृ० ३४१।

रहस्य उपासना रहस्य के धाम—प्रसंग में गोलोक के मध्य में अति विस्तारित एवं ननाम इस धाम की कल्पना की गयी है। अपने स्वरूप में धाम की यह कल्पना भी पीछे विवेचित कृष्णोपासकों से भिन्न नहीं है। जिस प्रकार वहाँ पर वृन्दावन की महिमा है वैसे ही यहाँ साकेत की महिमा है। विविध नाकों से परे गोलोक एवं उसके भी मध्य साकेत है।[1] साकेत के अन्तर्गत ही मध्य भाग में कनक भवन है (यह भी राजा रामचन्द्र की गरिमा के अनुकूल ही है।) यही उनका विहार प्रमोद है।[2] यहीं पर अनन्त सखियों के साथ विद्यमान सीता जी के साथ राम रास लीला आदि क्रीडाओं में मग्न रहते हैं।[3] साकेत राम की अप्राकृत लीला का धाम हो गया। प्राकृत प्रकट लीलाओं के धाम के रूप में अयोध्या का बड़ा महत्त्व है। राम प्रिया शरण प्रेमकली ने अपने सीतायन ग्रन्थ में राम एवं सीता के समान ही अयोध्या को भी अनादि कहा है —

राम अनादि सीता अनादि अवध अनादी।
तुम्हरी पुरी अनादि सकल कहें वेद के बादी।

तुलना की दृष्टि से अयोध्या को ब्रज का प्रतिरूप एवं साकेत को वृन्दावन का प्रतिरूप कहा जा सकता है। यों वन विहार के लिए चित्रकूट को सर्वाधिक मान्यता सम्प्रदाय में प्राप्त है। सीता की प्रकट लीला की जन्म भूमि होने से मिथिला भी सम्प्रदाय में आदरपूर्ण दृष्टि से धामवत देखी जाती है।

लीला

राम मर्यादा पुरुषोत्तम तो थे ही रस-साधना की आवश्यकतावश वे लीला पुरुषोत्तम भी बने। निर्गुण सगुण प्रकट एवं अप्रकट तथा तात्त्विकी एवं अतात्त्विकी लीला के अनेक भेद भी किये गये हैं। यों विविध भावों के अनुरूप माधुर्य सख्य आदि लीलाएँ भी भगवान राम की होती रहती हैं। वय एवं काल के अनुसार भी लीला भेद हो जाते हैं। ये सभी नित्य हैं।

राम के परम्परा सिद्ध उद्धारक रूप के अनुकूल ही लीला का एक उद्देश्य जीव का उद्धार एवं लीला पुरुषोत्तम की लीला का प्रयोजन (स्वरूपानन्द की प्राप्ति एवं कैंकर्यसुख प्रदान है। लीला में प्रवेश भगवदनुग्रह एवं आचार्य तथा मंत्र की मध्यस्थता से होता है।[5]

---

१ रामनवरत्नसारसंग्रह पृ० ३१ (१४)।
२ वही पृ ४ एवं उपासनात्रय सिद्धान्त पृ ८६।
३ वही पृ ४०।
४ अनन्य तरंगिनी पृ २ एवं राघव मिलन पृ ४५।
५ (क) हनुमत्संहिता पृ ७ तथा
(ख) बृहद् ब्रह्मसंहिता पृ ६९-७०।

उपासना भाव

राम भक्तों में रसिक साधना के अन्तर्गत पाँचों भक्तिभावों को स्वीकार किया जाता है[1] जबकि कृष्णोपासकों में रस-साधना माधुर्य भाव की ही द्योतक है। रसिक सम्प्रदाय में इन पाँचों भक्ति भावों की सम्बन्ध योजना की जाती है। यही नहीं—इन संबंधों को केवल राम के पक्ष में ही नहीं देखा जाता, सीता पक्ष में भी संबंध कल्पना इस सम्प्रदाय की एक विशिष्ट देन है। इस सम्प्रदाय के महात्मा सूर किशोर जी सीता को पुत्री एवं राम को जामाता मानते थे एवं प्रयाग दास जी सीता को बहन एवं राम को बहनोई के भाव में देखते थे। अन्य सामाजिक पारिवारिक संबंधों को भी इस क्षेत्र में अभिव्यक्ति मिली है तथा मर्यादा हीनता न होने में उन संबंधों का निर्वाह भी किया गया है। कृष्णोपासकों में ऐसी संबंध कल्पनाओं का अभाव है। इसका मुख्य कारण यह है कि कृष्ण का ऐसा पारिवारिक रूप पुराण गाथाओं में स्पष्ट नहीं हो सका था जैसा कि राम का प्रतिष्ठित हुआ था। इसी प्रकार राम की मधुर लीलाओं की प्रधानता देते हुए भी राम के ऐश्वर्य प्रधान एवं पारिवारिक चरित्र के प्रति श्रद्धा कम नहीं है।

सिद्धान्त की दृष्टि से भक्ति के पाँचों रसों को इस भाग में पूर्ण महत्त्व प्राप्त है। इनमें से किसी को भी आलम्बन लेकर साधना करने वाले अनन्त समय तक साकेत में लीला-सुख प्राप्त कर सकते हैं परन्तु इस धाम में इन साधकों का प्रवेश सर्वथा अवस्थिति में कुछ भेद है। अन्तरंग विहार-कुंज तक प्रवेश सखियों का ही अधिकार स्वीकार किया गया है[2] यों ये सख्यभावोपासक नाम सखाओं का भी

---

१ दास सख्य शृंगार वा शान्ति सख्य अरु दास।
पावहु रसिक सुभाव सह सेवहिं प्रभु पिय खास। तथा
डॉ० भ० प्र० सिंह रा० भ० र० स० पृ० १४३।

२ ललित लीला लाल सिय की त्रिगुन माया पार।
पुरुष तहँ पहुँचे नहीं केवल अली अधिकार।
—रसिक अली अष्टयाम रहस्य दीपिका
(रा० भ० म० उ०, पृ० २४०)

पुरुष भावना जो हिय धारे दास सखाहि तदपि प्रभु प्यारे।
गुप्त विहार न देखन पावहिं हठ बस परेउ दूरि पछितावहिं।
हनुमदादि निज धरि अलि रूपा निरखहिं गुप्त रहस्य अनूपा।
तब ते दास सखादिक भावा राखहिं उर तिय भाव सुहावा।
प्रभुहि मिलन हित भाव सुनारी धरि उर सहज जनक दुलारी।
प्रभुहि मिलन हित भाव सुनारी धरि उर सेइय जनक-दुलारी।
—प्रेम लता वृ० उ० र०, (रा० भ० म० उ०, पृ० ३४६)।

पहुँच विहार में स्वीकार करते हैं।[1] सब मिला राम भक्ति का इस साधना में शृंगार एवं सख्य दो को विशेष महत्त्व प्राप्त है। यों वात्सल्य एवं दास्य को भी अंगी रसों के रूप में कल्पित किया गया है —

वात्सल्य माता पिता सब रस को है हेतु –
तिहि बिन जग लीला जुगल बनत नहीं रस केतु।
बिना दासता भक्ति नहिं भक्ति बिना रस नाहिं।
रसिक जीव रस रंग मणि राम दास सब आहिं॥[2]

शांत रस को बहुत अधिक महत्त्व नहीं मिल सका है। सामान्य प्रजा जनों को ही शांतरसावलम्बी परिकरों के रूप में कल्पित किया गया है। इस प्रकार धाम के बाहरी आवरण में ही उनकी अवस्थिति स्वीकार की गई है। सब मिलाकर शांत, दास्य एवं वात्सल्य भावोपासक साधकों की संख्या इस धारा में कम हो रही है। मुख्यतः दो ही सशक्त परम्पराएं प्राप्त होती हैं — एक अग्रदास से प्रारंभ होने वाली माधुर्य भाव की साधना एवं दूसरी रामसखे तथा कामदेन्द्र मणि की सख्य भावापन्न साधना। प्रथम में साधक के लिए सखी भाव धारण करना पड़ता है एवं दूसरे में सखा की ही पुरुषाकार कल्पना की गई है। अब तात्त्विक दृष्टि से दोनों में कोई अन्तर नहीं प्रतीत होता। सखा सखियों नित्य विहार में प्रवेश नहीं प्राप्त करती एवं इसी प्रकार सखा भी विहार से निष्कासित नहीं हैं। हम ऊपर बता चुके हैं कि नर्म सखाओं की उपस्थिति स्वीकार की गई है। एक बात में अन्तर अवश्य हो जाता है कि सखियाँ रामसम्पृक्ता भी हैं परन्तु सखाओं के प्रसंग में ऐसा कोई भाव नहीं उठता।

जहाँ तक सखा भावना का संबंध है राम-सम्प्रदाय में स्वसुखा एवं तत्सुखा दोनों प्रकार की सखियों की मान्यता है। ऐसा लगता है कि कृष्णोपासकों में जिस गोपी भाव एवं सखा भाव का उदय हुआ था वह स्वसुखी एवं तत्सुखी सखा साधनाओं के रूप में राम सम्प्रदाय में प्रविष्ट हो जाता है। कभी कभी एक विरोधाभास भी इस स्थिति के कारण प्रतीत होता है। कृष्णोपासकों में गोपी भाव ब्रजलीला से सम्बन्धित हो गया था एवं सखा भाव वृन्दावन लीला से। ऐसा कोई आत्यंतिक विभाजन न होने से रामोपासकों में पारस्परिक सखा का अतिक्रमण होना अनुभव होता है। ऐसा लगता है कि पतनोन्मुख सामन्ती आदर्शों की छाया में ग्रहण की जाने वाली कृष्ण-लीलाओं के पौराणिक रूप के अनुकरण पर उन्हें बहुपत्नी पति

---

१ कामदेन्द्र मणि राघवेन्द्र रहस्य रत्नाकर ॥ २७।
२ राम रस रंग गाता राम रस रंग दोहा पृ० १ ११।
३ कामदेन्द्र मणि माधुर्य केलि कादंबिनी पृ० ५२।

भी बनाया गया एवं सम मार्मयिक सखीभाव के उपासकों की छाया में राम सीता की ही केलि के सुख की प्राप्ति ही जीवन का चरम काम्य भी स्वीकार करली गई।[1] जिस प्रकार कृष्णोपासकों में निकुंज रस या मगति माहिनी की चर्चा है वस ही यहां पर भी निकुंज रस या महल माधुरी की चर्चा आती है।[2]

साधना की विविध स्थितियों प्रेम की विविध दशाओं आदि की दृष्टि से रामोपासकों की इस रागानुगा भक्ति एवं कृष्णोपासकों की रागानुगा में कोई प्रति उल्लेखनीय अन्तर नहीं है। जो थोड़े बहुत अन्तर प्राप्त होते हैं वे या तो दोनो शालाओं की पुराण गाथा सबधी भिन्नता के कारण है या फिर व्यावहारिक उपासना में विस्तार के अन्तर है। विस्तार भय से इनकी चर्चा हम यहां नहीं करगे। यो यह चर्चा प्रसंग की दृष्टि से अमहत्त्वपूर्ण भी होगी।

रामोपासक रसिक साधना की मुख्य विशेषताएं —

(१) इस साधना में
(क) ऐश्वय एवं माधुर्य दोनों स्वरूपों का समन्वय है।
(ख) वधी एवं रागानुगा दोनों का समन्वित रूप ही स्वीकार किया गया है।

(२) यह साधना मर्यादा का उल्लघन नहीं करती। प्रत्येक साधक अपनी

---

१ सतगुरु दया सखा तनकीरु निज रंग महल रस रहास निहारे।
तन इत करि गुरु प्रेम भाव का आयसु पाय महल पगु धारे।
मधुर मधुर गति मधुरभाव सो मधुर मनोहर सेज सवारें।
—कृपानिवास पदावली प० ४।

२ युगल निकुंज रहस्य नवल रस सो सदगुर उपदेश कर तस
कामदेन्द्र मणि माधुर्य केलि कादम्बिनी
प० ५१।

तथा

श्री प्रसाद प्रसाद करि अष्ट सखी गुन गाय।
अलि निवास जिनकी मया महल माधुर्य पाय।
—कृपा निवास भावना पचीसी (रा०भ०म०उ० प० २२५)।

तथा

रसिक अली जीवन यही ध्यान रट दिन रैन।
बिनु युगल रस लीला लखे दिन पल हिये किमि चैन।
—रसिक अली अन्दोल रहस्य-दीपिका
(रा०भ० म० उ०, प० २४०)।

भाव साधना के अनुसार सामाजिक मर्यादाओं का दृढ़तापूर्वक पालन करता है।

(३) सखी भावना एवं मधुर रस का पर्याप्त महत्त्व होने हुए भी अन्य भाव सम्बन्धों या भक्ति रसों का न्यून नहीं माना गया है।

(४) सखी भावना में राम एवं सीता की सखियां अलग अलग है। सीता की सखियां राम भाग्याएं भी हो जाती हैं। विहार-योजना इन्हीं के जिम्मे होती है।

(५) सखी भावना के अन्तर्गत तत्सुखी के साथ ही स्वसुखी शाखा भी रसिक अली की परम्परा में स्वीकार की गई। एक मात्र राम को पुरुष एवं जीवात्मा का स्त्रीरूप में कल्पित करके राम के साथ स्त्री पुरुष संबंध की भावना करके इन लोगों ने प्रकारान्तर से कृष्ण भक्ति के गोपीभाव को स्वीकार किया था।

(६) रामोपासना में बहुमार्यात्वि ता है न कि परकीया भावना का निषेध है। यहां स्वकीया की ही एक मात्र सत्ता है।

(७) रामोपासकों का सख्य भाव भी कुछ विशिष्ट है। वह सखी भावना का ही पुरुष संस्करण है। नित्य विहार में सख्योपासकों ने नर्म सखा की उपस्थिति स्वीकार की है।

(८) सब मिलाकर धाम लीला परिकर एवं काम्यतत्त्व की दृष्टि से राम एवं कृष्ण रसोपासकों में समानता की मात्रा बहुत अधिक है।

शुक सम्प्रदाय में उपास्य, लीला, धाम परिकर एवं उपासना भाव की धारणा

इतिहास

विक्रम की १८वीं शती के उत्तरार्द्ध में शुक-सम्प्रदाय की स्थापना महात्मा श्याम चरणदास ने की थी। इस समय के आते आते समन्वय की एक प्रवृत्ति सारे देश में जाग्रत हो चुकी थी। भक्ति-सम्प्रदायों में पुराना आवेग ता नहीं रह गया था पर सिद्धान्तगत दूरी पारस्परिक सम्पर्क के कारण कम होती जा रही थी। निर्गुण और सगुण के मध्य के अन्तर तीखे नहीं रह गये थे। वास्तव में भक्ति काल में ही निर्गुण में भी गुणों की स्थापना प्रेम भावना के कारण स्वतः हो गयी थी एवं सगुण मतवादियों ने यह कभी अस्वीकार नहीं किया कि ब्रह्म निराकार

भी होता है। धीरे धीरे समन्वय की जो प्रवृत्ति बनी वह गुरु सम्प्रदाय जैसे समन्वय वादी मार्गों को जन्म देती है।

इस सम्प्रदाय के संस्थापक श्यामचरणदास पहले एक लम्बे अरसे तक योग साधना में लगे रहे हैं बाद को वे प्रेममार्गी सगुण भक्तों के लीला गायन को पूरी तरह अपना लेते हैं। एक ओर उन्होंने अष्टांग योग अष्ट प्रकार के कुम्भक छहों कर्म हठ योग आदि का वर्णन किया है जो शुद्ध रूप से या तो योग मार्ग की परम्परा में है या फिर निर्गुणी भक्तों की शब्दावली एवं वक्तव्य की अनुगूँज है।[1] दूसरी ओर उन्होंने भक्ति पक्ष का ही वर्णन नहीं किया है चीरहरण-लीला[2] दान-लीला[3] माखनचोरी-लीला काली-नथन लीला[4] मटकी-लीला कुरुक्षेत्र लीला आदि का भी जमकर वर्णन किया है। अनहद नाद शून्य नगर में की जाने वाली साधना हमारे विवेचन क्षेत्र से बाहर है उनकी प्रेमाभक्ति के सम्बन्ध में संक्षेप में विचार विमर्श अवश्य करना है।

सेव्य

चरणदास का सेव्य हरि-नाम से भी पुकारा गया है निर्गुणियों की परम्परा में उसे राम भी कहा है परन्तु सगुण भक्ति के क्षेत्र में वे कृष्ण श्याम नटनागर कुंवरकिशोर नंदराय कुंवर कन्हैया आदि नामों का सम्बोधन करते हैं। यह परमतत्व लीला सिन्धु है उसकी अगाध गति है। संसार की उत्पत्ति पालन एवं विनष्टि का वही हेतु है। पलक मारते ही करोड़ों ब्रह्माण्डों की सृष्टि कर देता है और जब चाहता है तब कुछ नहीं रह जाता। उसे न निर्गुण कहा जा सकता है और न सगुण। वास्तव में उस रूप के समान दूसरा है ही नहीं वह अपनी उपमा आप है —

> निरगुण सगुण कहा मैं जाव, चरणदास गुरु देव सुनावें।
> चरणदास वा रूप की पटतर दई न जाहि।
> राम सरीखे राम हैं और बतावों काहि॥

---

१ चरणदास भक्ति सागर पृ ४३ १६२।
२ वही पृ० २२ २३१।
३ वही ४८६ ४८६।
४ वही ' ४६० ४६१।
५ वही, " ४६२ ४६५।
६ वही, " ४६६ ५०२।
७ वही " ५११ ५५४।
८ वही भक्तिपदार्थ-वर्णन पृ० १७५।

यह भी अविगत अविनाशी आदि पुरुष है नाना प्रकार के कौतुक किया करते है अनेक प्रकार के रूप धारण करते रहते है। स्वय ही मोहनलाल ग्वाल बनकर मुरली बजाते है और आप ही व्रजस्त्री बनकर जगल को दौडी आती है। आप ही गोपी भी है और आप ही कान्ह बनकर रास रचाने वाले भी है। यही नही अन्तर्धान होकर आप ही अपने को ढूढते भी है और व्याकुल होते है। स्वय अपनी ही लीला देखने के लिए प्रेम उत्पन्न करते है। कभी एक हैं और कभी अनेक हो जाते है।

आदि पुरुष अविगत अविनासी नाना कौतुक लावे रे।
आपहि आप और नहि कोई बहुत रूप बनावे रे।
आपहि मोहन लाल ग्वाल ह्वे मुरली आनि बजावे रे।
आपहि व्रज की वनिता होकर बन को दौरी आवे रे।
आपहि गोपी कान्ह विराजे आपहि रास रचावे रे।
अन्तर्द्धान होवे फिर आपहि आपहि ढूढन धावे रे।
आपहि व्याकुल आप देखन कू लीला प्रेम बनावे रे।
परगट होय सवन सुख देवे आपहि रग बढावे रे।
और भये जब खेल मचावे आप आप रह जावे रे।
कबहुँ एक अनेक कभी हैं विधि निषेध गति खोवे रे।[1]

नारायण लक्ष्मी ब्रह्मा शकर विष्णु वेद और समस्त ससार उन्होने क्षणमात्र मे उत्पन्न कर लिया है। न उनका आदि मध्य अवसान है न उनका कोई रग है वह पुष्प की गध और नाद से भी झीना है। तीनो गुणो और पाँचो तत्त्वो के प्राण है न प्रकट है और न गुप्त फिर भी उसमे अगणित गुण भरे पडे हैं।[2] ऐसे आदि पुरुष का कहना है कि जो कोई सब कुछ तज कर मुझसे प्रीति करता है मैं उसी के हाथ बिका रहता हूँ। प्रेम के वे ऋणी है तथा प्रेमियो के लिए ही वे अवतार ग्रहण करते है। भक्त और उनमे कोई अन्तर नही होता।[3] वास्तव मे भक्तिहेतु ही उन्होने नन्दगृह मे अवतार लिया है —

साथ चरणदास शुक देव के प्रताप सेती
आदि पुरुष भक्ति हेतु नन्द गेह आयो है।[4]

---

१ चरणदास शब्द का वर्णन पृ० ४६१ ४६२।
२ पृ २५४।
३ १७६।
४ १७१।
५ १७१।
६ ४७४।

ताना ताको एव माता भुवना के बाहर जो ग्रमर लोक है उसा के मध्य वह पुरुप ब्रह्म रहता है जो कि सबके मन म भी विद्यमान है। यह ग्रमर लोक गो लोक भी कहलाता है।[1] ग्रमर लोक के मध्य हा निज धाम है जिसका कि ग्रग वृन्दावन है —

ग्रमर लोक विच है निज धामा जाको ग्रग वृन्दावन नामा।

ये पुरुषोत्तम ग्रपने धाम म रहते है पर प्रेम के कारण ब्रज म ग्राकर रहते हैं। वे लीला धारी पुरुषोत्तम वृन्दावन म सदा विहार करते रहते हैं।

पुरुषोत्तम निज धामा माँ ही कारण प्रेम रहैं ब्रज ग्राई।
पुरुषोत्तम प्रभु लीला धारी वृन्दावन मे सदा विहारी॥[2]

गोल चबूतरे एव चौसठ खम्भो वाले वृन्दावन म राधा प्यारी के साथ वे विहार करते है। वे नित्य किशोर हैं और वे नित्य किशोरी —दोनो ही बारह वर्ष की वय है। रसिक केलि के लिए यहा ग्रनेक कु ज है —

रसिक केलि एहु कु ज है।[3]

इस प्रकार पुरुष, पुरुषोत्तम स्वामी अविनाशी परब्रह्म के वाम ग्रग रूप की राशि (राधा) विद्यमान हैं।[4] राधा प्यारी नाना प्रकार के ग्रलकारो से सज्जित हैं उनकी मुस्कान विद्युत्वत् है। वास्तव म करोडो चन्द्रमा उन पर न्योछावर हैं।

परिकर

पाच तत्त्व एव तीनो गुणो से न्यारी सखियाँ सहचरियाँ खम्भे-खम्भे के निकट खडी युगल पर चवर ढुलाती रहती है। सबकी सब नित्य किशोरी गोरी व वस्त्राभूषण सज्जित हैं। सखिया सब सुहागिनें हैं चूडा पहने रहती है —
सदा सुहागिनि पहिरे चूरी सुबस पडोसी बसती रूरी।[5]

---

१ चरणदास ग्रमर लोक ग्रखण्ड धाम वर्णन पृ० १७।
२ ,, ब्रज चरित्र वर्णन पृ ७।
३ वही वही पृ० ७।
४ ,, पृ० ६।
५ ,, ग्रमर लोक ग्रखण्ड धाम वर्णन पृ० १८।
६ ,, वही पृ० २१।
७ ,, ,, पृ० २२।
८ ,, २२ २३।
९ ,, ब्रज चरित्र वर्णन पृ० ६।

सखियाँ हरि के साथ विचरण करती रहती है।[1] इसी परिकर के साथ वृन्दावन में अपूर्व रास केलि होती रहती है। चरणदास के मन को रास अत्यधिक उन्मथित कर सका था। उन्होंने बार बार उसका चित्रण किया है।

इस धाम में सखाभाव से पहुँचते हैं एवं सखी भाव से भीतर प्रवेश होता है –

> सखाभाव पहुचत यहि ठाँई, सखी भाव भीतर को जाई
> धेरे स्वरूप अनुपम भारी सदा सुहागिनी हरि पिय प्यारी।
> परम पुरुष पुरुषोत्तम पावें निकट रहें नित केलि बढावें।[2]

उपासना भाव

परन्तु जिस प्रकार चरणदास ने निर्गुण एवं सगुण लीला के प्रभाव ग्रहण किए हैं। उसी प्रकार केवल सखाभाव को ही उन्होंने नहीं स्वीकारा। उन्होंने गोपी लीलाओं का भी सहर्ष वर्णन भी गान किया है। चीर हरण लीला दान लीला मटकी लीला आदि में इन लीलाओं का रोचक चित्रण किया गया है। गोपी विरह निवेदन में वल्लभ सम्प्रदाय के कवियों की भाँति ही प्रियतम कृष्ण के अभाव में वियुक्ता गोपिकाओं ने विलाप किया है। गोपियाँ कुब्जा के प्रति ईर्ष्या प्रकट करती हैं अनन्त पुरातन संयोग प्रसंग स्मरण करती है।[3] और आँखों को दोष देती हैं कि कृष्ण की रूप माधुरी में अटक कर क्या इन्होंने कुछ अच्छा काम किया है? लाज और कुल की लाज नष्ट हो गयी है स्वयं भी अत्यन्त व्याकुल होकर आँसुओं से भरी रहती है। खाना पीना और सोना छूट गया है विरह की अग्नि हृदय में जलती रहती है –

> अखियन कहा नीकी करी।
> श्याम सुन्दर छवि निरख के जहा जाय अरी।
> अर्निहिं व्याकुल धीर नाहीं रहत असुवन भरी।
> तजो खान अरु पान सोवन प्रेम की लागी लरी।
> विरह पीड़ा उठत निसिदिन हिये पावक जरी।
> नेह पाश में ओरी ढूढ़ी गरी-गरी।
> चरणदास सुकदेव के अब कौन पन्थ परो॥

---

१ चरणदास अमर लोक अखण्ड धाम वर्णन पृ० १६।
२ वही पृ १६।
३ गोपी विरह निवेदन ४६७ ५०।
४ पृ ५०१।

इन ग्रन्थों में तथा अन्यत्र भी इस पन्थ की ऐसी कथाएँ हैं जिनमें युगल विहार-ध्यान की अभिलाषा न रखकर मात्र कृष्ण की प्रीति की वाञ्छा प्रकट की गयी है। यह बात सखी सम्प्रदायों की आत्मा के नितान्त विरुद्ध है। यह स्वसुखी प्रेम कहा जा सकता है, तत्सुखी नहीं। एक उदाहरण है —

तुम्हारे रूप लोभानी हों।
जाति वरन कुल खोय के भई प्रेम दिवानी हों।
खान-पान सब सुधि गयी और अक्कबक बानी हौं।
तुम्हरे चरण कमल मन मेरो रह्यो लिपटानी हों।
सुंदर मूरति सोहनी मेरे मन समानी हों।
तुम बिन चैन नहीं दिन राती सुनि पिय बानी हों।[1]

इस पद में गोपी प्रेम की तन्मयता भी व्यक्त है। सूरदास की भाँति इन गोपी प्रेमिकाओं में उद्धव के प्रति उपालम्भ भी निबद्ध हैं।

वह रौ बरन बाँसुरी तू हौ ब्रज के माहिं।
लगी रहत पिय मुख जू तें पल छिन छाँड़त नाहिं।
जब तू बाजत तान सूँ... एव... बड़ भाग।
... उठत जियरा ... तन मन लागत आग।[2]

राम को पति मानकर अन्य पतिव्रता नारी के प्रेम करने का निर्देश इस सम्प्रदाय में किया गया है। इस पर ... कि पतिव्रता के स्वरूप को निर्गुण भक्तों ने बहुत अपनाया है। ऐसा प्रेम के प्रभाव में पता ... कबीर ... भी ... लिया था —

गद्गद वाणी कण्ठ में आँसू टपकें नैन।
यह तो विरहिनि राम की तलफत है दिन रैन।[3]

... साधनापथ ... उपलब्ध हो जाती है। परन्तु ... कहा है कि ... वस्तु प्रेम है —

प्रेम बराबर योग ना प्रेम बराबर ज्ञान।
प्रेम भक्ति बिन साधुवा सबही थोथा ध्यान।
प्रेम छुड़ावे जगत सूँ प्रेम मिलावे राम।
प्रेम करै गति और ही ले पहुँचे हरि धाम।[4]

---

१ चरणदास ... वर्णन पृ० २५६ ३६०।
२ वही पृ० ३५८।
३ भक्ति पदार्थ वर्णन पृ० १८८।
४ ,, पृ० १८२।
५ ,, ,, पृ० १२।

यह प्रेम यदि विविध रूपों में प्रकट हो सकता है तो चरणदासी सन्त रूपों को अपनी मौज में आकर अपनाते रहे। उन्हें उनके सैद्धान्तिक मत वैमित्य में कोई मतभेद नहीं प्रतीत होता। नवधा भक्ति को भी वे बहुमान देते हैं। और सखी भाव में निजधाम में प्रवेश भी चाहते हैं। विरहिणी बनकर गद्गद् कण्ठ से प्रिय को टेरते भी हैं और रंगमहल में निगुण सेज पर सोने की व्यवस्था भी करते हैं।

सूफी प्रेम दर्शन

सूफी तत्त्ववाद के बारे में कुछ भी कहने के पूर्व इतना याद दिला देना आवश्यक है कि सूफी मत का विकास किसी आचार्य द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक पद्धति पर नहीं हुआ है। यह क्रियाशील साधकों का एक गतिशील सम्प्रदाय रहा है जो अपने विकास में नाना प्रकार के तत्त्व और प्रभाव ग्रहण करता गया है। इसी कारण सूफी दर्शन का एक सर्वमान्य स्वरूप खड़ा करना सम्भव नहीं प्रतीत होता। परन्तु जैसा कि प्रारम्भ में ही हम कह चुके हैं सूफी तत्त्ववाद के लिए बीज रूपी सामग्री कुरान में ही उपलब्ध थी तथा यह भी ध्यान में रखने की बात है कि सूफियों ने कभी भी अपने को इस्लाम से पृथक् घोषित नहीं किया वे सदैव इस्लामी धर्म के क्षेत्र में अपने को सम्बन्धित किये रहने का प्रयास करते रहे हैं। इसी कारण अपने लिए प्रामाणिकता उन्होंने कुरान एवं पैगम्बर के जीवन में खोजी है। इस प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ है कि कुरान की व्याख्या उन्होंने अपने ढंग से करनी चाही है। तथा अपने अनुकूल स्थलों पर ही अधिक बल दिया है।

सनातनपंथी मुसलमानी धारणा के अनुसार ईश्वर की सत्ता जगत् बाह्य स्वीकार की गयी है। वह स्वर्ग में रहकर सबका नियन्त्रण करता है। परन्तु उसके गुणों का जैसा वर्णन किया गया है वह सगुण मतवाद के निकट की वस्तु है। पीछे हम एतत्सम्बन्धी कतिपय उद्धरण कुरान से दे चुके हैं। वह सृष्टि का कर्ता है।[1] एकमात्र वही परमात्मा है अन्य कोई नहीं।[2] वह नित्य और सर्वशक्तिमान है।[3] वह द्रष्टा, ज्ञाता, साक्षी और स्वतः पूर्ण है।[4] सब कुछ उसी से उत्पन्न एवं सब कुछ उसी में विद्यमान है।[5] वह अपरिमित रूप है।[6] ऐसे सगुण परमात्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में सूफियों में दो वर्ग स्पष्ट रूप में देखे जा सकते हैं। वस्तुतः

---

१ ग्लोरियस कुरान सू० १३।१६।

२ वही ३।२।

३ ,, २।२६३।

४ ,, २।२२४।

५ ,, ३।१ ६।

६ ,, ६२।४।

७ , रामपूजन तिवारी सूफीमत साधना और साहित्य पृ० २७०।

बुजूद एवं वहदतुल शुहूद के सिद्धांत इन दोनों के विभाजक तत्व हैं।

पहले मत के अनुसार हक और खल्क यानी कि सृजनकर्ता और सृष्टि में एकात्म भाव है। इब्नुल अरबी के अनुसार समस्त वस्तुओं और दुनिया की पाक ईश्वर का एकता है। ईश्वर के सिवा कुछ है ही नहीं अस्तित्व में केवल वही है। वहदतुल बुजूद का सिद्धान्त वास्तव में तौहीद के इस्लामी सिद्धांत का ही विकास है। तौहीद के अनुसार परमात्मा केवल एक है। बुजूद के सिद्धान्त में केवल यह कहा गया है कि परमात्मा के अतिरिक्त और कुछ भी अस्तित्व में नहीं है। इस प्रकार इस मत के अनुसार सिद्धान्त सर्वातिशायी (इमिनेंट) है। इस सिद्धान्त का प्रभाव हिन्दी के भक्तिकाल के सूफियों पर बहुत अधिक रहा है। वहदतुल शुहूद के अनुसार सृष्टा और सृष्टि के मध्य एकत्व नहीं होता है। सर्वात्मिता के सिद्धान्त को भी इसमें स्वीकार नहीं किया जाता। मनुष्य और ईश्वर के बीच में केवल स्वामी और दास का सम्बन्ध हो सकता है न कि प्रेमी और प्रिय का। इस सिद्धान्त का प्रभाव भारतवर्ष में सत्रहवीं अठारहवीं शताब्दी में अधिक पड़ा।

सृष्टि

अधिकांश सूफी सृष्टि को ही ईश्वर की अभिव्यक्ति मानते हैं। इस विषय में वे वस्तुतः परिणामवादियों के निकट हैं। ईश्वर ने सृष्टि की रचना की है यह तो कुरान भी स्वीकार करता है। सृष्टि रचना का कारण बताते हुए हल्लाज ने कहा है कि सृष्टि रचना के पूर्व निरपेक्षत्व में ईश्वर स्वयं को प्यार करता था और प्रेम के द्वारा ही उसने अपने आप को अपने सम्मुख उद्घाटित किया।[1] इसी ने बताया है कि संसार निर्मल दर्पण के समान है और जब आँखों के बादल नष्ट हो जाते हैं तभी वह दिखाई देता है।[2] सनाई अत्तार ने इसे और स्पष्ट करते हुए कहा है वह (प्रभु) छिपी हुई निधि है तथा दृश्यमान जगत् वह साधन है जिसके माध्यम से हम उसे खोज सकते हैं।[3] इस प्रकार लीलावाद एवं प्रतिबिम्बवाद की भी स्वीकृति किन्हीं न किन्हीं रूपों में सूफीमत में प्राप्त है।

सूफियों का प्राप्य

परमात्मा के साथ एकत्व को प्राप्त करना ही उनका चरम लक्ष्य प्रतीत होता है। पर यह प्रश्न उठता है कि इस एकत्व का तात्पर्य क्या

---

१ एनसाइक्लोपीडिया आफ रिलिजन एण्ड एथिक्स खंड १२ पृ० १४ १५।
२ एन एच डॉन्सन निर्वाचित मिस्टिक्स जलालउद्दीन रूमी पृ० ६३।
३ डॉ० विमलकुमार जैन 'सूफी मत और हिन्दी साहित्य', पृ० ४६ पर उद्धत।

है ? परमात्मा में पूर्ण लय हो जाना एकत्व है अथवा स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखते हुए परमात्मा में वास करना इसका तात्पर्य माना जाय ? प्रारम्भ में बौद्ध दर्शन के निर्वाण-तत्त्व के प्रभाव में फना तत्त्व के अन्तर्गत प्रथम विचार को स्वीकार किया गया। पर धीरे धीरे फना के बाद बका की स्थिति स्वीकार की गई। फना की अवस्था में साधक अपने अस्तित्व को लय कर देता है पर बका की अवस्था में ईश्वर के साथ शाश्वत जीवन व्यतीत किया जाता है। वैष्णव तत्त्व धारा में इन दोनों की समानान्तर स्थितियाँ स्पष्ट रूप में देखी जा सकती हैं। फना तो स्पष्ट रूप से आवागमन निरपेक्ष मोक्ष है जिसे कि भक्तिवादी वैष्णव कवि स्वीकार नहीं करता पर बका की स्थिति नित्य परिकर में प्रवेश पाने जैसी है और यही वैष्णव कवि की परम आकांक्षा होती है।

साधन मार्ग

सूफी परमात्मा को चूँकि जगत में बाह्य रूप में नहीं देखते इसलिए वे उसे इस जगत् के भीतर और सबसे अधिक अपने मन के भीतर ढूँढ़ते हैं। प्रेम की राह से चलकर ही उसका भावन किया और कराया जा सकता है। इब्नुल अरबी ने एक स्थान पर कहा है कि ज्ञानी अपनी अनुभूति दूसरों को भावित नहीं करा सकते। समान अनुभव वालों को प्रतीकों के माध्यम से वे इंगित मात्र कर सकते हैं।[1] अरबी ने स्पष्ट घोषित किया कि ईश्वर के प्रति प्रेम और चाह वाले मन से अधिक उदात्त धर्म दूसरा नहीं है।[2] ज्ञान के समान प्रेम भी प्रभु अनुग्रह से ही इन सूफियों ने माना है। इतना ही नहीं ईश्वर भी अपने प्रेमियों से प्रेम करता है[3] अपना स्वरूप एवं तादात्म्य प्राप्त कराने के लिए। वास्तव में प्रेम आत्मा की दिव्य प्रेरक वृत्तिरूप होता है। इसी ने आत्मा और परमात्मा के पारस्परिक प्रेम के एकत्व का वर्णन किया था।

प्रभु अनुग्रह के अतिरिक्त गुरु निष्ठा एवं ज़िक्र (नाम-स्मरण) का इस साधन मार्ग में अत्यधिक महत्त्व है। ज़िक्र का तात्पर्य है कि परमात्मा का स्मरण करते करते एक ऐसी स्थिति को उपलब्ध करना जिसमें मन समस्त विषय विकारों से दूर होकर मात्र ईश्वर में ही लग जाता है।

सूफियों ने अपने साधन क्रम के कई निर्देश एवं प्रतीकात्मक विवरण दिए हैं। उस विस्तृत चर्चा में पड़ना हमारे लिए अप्रासंगिक होगा।

---

१ आर० ए० निकल्सन मिस्टिक्स आफ इस्लाम पृ० १०३ पर उद्धृत।

२ वही पृ० १०५ पर उद्धृत।

३ पृ० ११२।

पंचम अध्याय

विभिन्न भक्ति सम्प्रदायों का अठारहवीं शती का ब्रजभाषा प्रेमाभक्ति काव्य

वीं शती में चैतन्य सम्प्रदाय का ब्रजभाषा साहित्य
ठभूमि और संक्षिप्त रूपरेखा

पिछले अध्यायों के विवेचन के आधार पर यह धारणा सहज ही बन ती है कि भक्ति के क्षेत्र में सिद्धांत एवं प्रभाव दोनों ही दृष्टियों से चैतन्य म्प्रदाय का महत्त्व अभूतपूर्व रहा है। इस सम्प्रदाय के अनुयायी भक्तों ने प्रभूत हित्य की रचना की है—परन्तु उस रचना-क्षमता की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति संस्कृत बंगला के माध्यम से ही हुआ है। ब्रजभाषा रचना का उत्तम माध्यम इस सम्प्रदाय हीं बन सकी। स्वयं ब्रज प्रदेश में ही चैतन्यचरितामृत जैसे चरित एवं त्त्वपूर्ण ग्रंथ की रचना हुई तथा यहीं पर रूप-सनातन जीव की दार्शनिक ध्यात्मिक उपलब्धियाँ भी प्रस्तुत हुई हैं। प्रबोधानन्द की वृन्दावनशतक रायण भट्ट की भक्तिरस-तरंगिणी, बलदेव विद्याभूषण का गोविन्द भाष्य ा विश्वनाथ चक्रवर्ती के महत्त्वपूर्ण भाष्य एवं टीकाएँ ब्रजभूमि में ही आकार ग्रहण कर सकी थी। परन्तु ऐसा लगता है कि इन कृतियों के समकक्ष इस सम्प्रदाय रचनाकारों की ब्रजभाषा कृतियाँ नहीं हैं। इसके कारणों की यहाँ हम खोज ीं करेंगे परन्तु इतना तो प्रत्यक्ष है कि हमारे आलोच्य काल में भी स्वतन्त्र ौलिक रचनाएँ इस युग में कम ही लिखी गईं। भगवत मुदित, सुबल श्याम ावनदास आदि की कृतियाँ विशुद्ध अनुवाद हैं। गोस्वामीदास, ब्रजवासीदास ा मनोहर राय जैसे रीति-काव्य की परम्परा से अधिक प्रभावित हो रहे थे। भक्ति ी साधना उनमें कम [illegible] प्रतीत होती है।

स्वतन्त्र ब्रजभाषा काव्य रचना की कमी होते हुए भी यह सम्प्रदाय इस ुग में अत्यधिक प्रभावशाली बना रहा है। १८वीं शताब्दी में ही राधा ल्लभीय रसिकदास ने वृन्दावन गोस्वामियों के अनेक ग्रंथों का ब्रजभाषा अनुवाद िया था। गो० रूपलाल के 'रस रत्नाकर'[1] तथा स्वामी रसिकदेव (हरिदास

---

१ रत्नाकर, गो० रूपलाल (ललिताचरण गोस्वामी के पास की हु० लि० प्रति के आधार पर)।

सम्प्रदाय) के रस मार्ग के सिद्धान्त विवेचन पर स्पष्ट रूप से गौड़ीय वैष्णव छाया है। इन लीला ही ग्रंथों में धाम नाम परिकर नित्य सिद्ध साधन सिद्धा सखियाँ आदि का विवेचन विशुद्ध रूप से गौडीय वैष्णव आधार पर है। स्वामी नरियासदेव द्वारा रचित कई नाम वाले ग्रंथ 'सिद्धान्त रत्नाकर' का मति विवेचन 'हरिभक्ति रसामृत सिंधु' एवं 'उज्ज्वल नीलमणि' पर पूरी तरह आधृत है

इस युग के चैतन्य सम्प्रदाय का एक दूसरा विशेषता यह है कि सखी भाव से युगलोपासना इस सम्प्रदाय में भी पूरी तरह व्याप्त होती प्रतीत होती है। ब्रह्मगोपाल की 'हरिलीला' में अपवाद के लिए भी एक पद ऐसा प्रतीत नहीं होता जिसमें युगल स्तुति का वर्णन न हो। अकेले कृष्ण या अकेले राधा को चित्रित वे करते ही नहीं। इसी प्रकार प्रियादास ने भी युगल तत्व को ही अपनी रचनाओं में गान किया है। वृन्दावन (व्रज भूमि) का भी महत्त्व युगलोपासना के साथ ही बढ़ता है। इस प्रकार यह सम्प्रदाय प्रभावित ही नहीं कर रहा था स्वयं भी राधावल्लभ एवं हरिदासी सम्प्रदायों से प्रभावित भी हो रहा था।

चैतन्य मतानुयायी कवि

मनोहर राय

यह गोपाल भट्ट गोस्वामी की शिष्य परम्परा में रामशरण चट्टराज के शिष्य थे। उनके रचे हुए ग्रंथ 'श्री राधारमण रस सागर' की समाप्ति १७५७ वि० में वृन्दावन में हुई थी। इसे प्रकाशित भी किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त 'रसिक जीवनी' 'सम्प्रदाय बोधिनी' नामक दो अन्य रचनाएँ भी उनकी कही जाती हैं। पर प्रभुदयाल मीतल का अनुमान है कि 'सम्प्रदाय बोधिनी' किन्हीं और मनोहर राय की रचना है।[१] बाबा कृष्णदास ने उनके द्वारा सम्पादित 'भगवन्नाम शान्ति चिन्तामणि' नामक ब्रजभाषा ग्रन्थ की भी चर्चा की है।[२] यह एक सशक्त कवि थे। भक्तमाल के प्रसिद्ध टीकाकार प्रियादास जी मनोहररायजी के शिष्य थे। मनोहरराय जी पर रीतिकालीन प्रवृत्तियों का भी पर्याप्त प्रभाव है। भाषा अलंकार योजना, वर्णन वैचित्र्य एवं चमत्कार-योजना की दृष्टि से उन्हें रीतिकालीन कवि सहज ही अनुमित किया जा सकता है। शुक्लाभिसारिका नायिका का एक चित्र लीजिये —

---

१ रस सार 'सिद्धान्त रत्नाकर' (निम्बार्क शोध मंडल वृन्दावन)।

२ हिन्दी अनुशीलन (धीरेन्द्र वर्मा अंक) पृ० ४१३।
कृष्णदास 'राधारमण रस सागर की भूमिका' पृ० ३।

सरद की रैनि उजियारी अभिसार प्रिया,
प्रीतम प सेत सारी खोर अग कीने हैं।
मालती मुक्ता मल्ली माला, अग अग सोहैं
आभूषन हीरनि जटित रग भीने हैं ॥
चादनी म अलि चली देखी न पाव अली,
अग की सुगधि अनुसार क हूँ कौन हैं।
राधिका सग मिले मनोहर भाति भाति,
खिले नन भिन मानो गोभा जन मीनें हैं ॥

सिगार क लिए जिन रात्मी उपकरणा एव माधना का जुटाया गया है व भी रातिकाल क पद्माकर आदि का याद दिलाते ह।

शुद्ध भवनात्मक चित्रणा म भी मनोहररायजी पर्याप्त कुशल थ। अनुराग और आतुरता की व्यजित करने वाला यह रविन रातिकाल क एम ही दवमाना कवित्ता म स्थान पान योग्य है

तसी रहीं जोइ सोइ चली है तमसि तसी
काहू की न मान कोऊ आतुरता बढी हैं।
अस्त व्यस्त भूपन वसन मन मन काम,
मनमथ राज चटसार मानौं पढी हैं।
सनमुख नाद सुधी म गति न भई बाधा
आगे पूजा साधा प्रेम गनराज चढी हैं।
रमण सौं मिली राधा शोभा सिधु त अगाधा
मानो हर मूरति सनेह साचे गढी हैं।

इस रातिवर्णन क कारण उनकी भक्ति का स्वर कुछ दबा-सा प्रतीत होता है।

प्रियादास

य पूर्वोक्त मनोहरदास (राय) क शिष्य थ। नाभादास क भक्तमाल की इनकी भक्त रस बोधिनी टीका प्रसिद्ध है। इसक अतिरिक्त बाबा वृन्दावनदास न इनकी, रसिक मोहिनी अनन्य मोहिनी चाहवेली और गुमरिणी नामक चार अन्य रचनाओं एक शा निल म प्रकाशित की थी। प्रियादास सूरतनगर राजपुरा क रहन वाल वासुदेव एव गगाबाई क पुत्र थ। जम सवत् का यद्यपि निश्चित पता नहीं है पर सवत् १७ ५ क आसपास इसका अनुमान इस आधार पर किया जा सकता है कि भक्तमाल की भक्तिरस बोधिनी टीका उन्होने सवत् १७६९ म समाप्त की थी। अत इस समय स ० २५ वर्ष पूर्व उनका आविर्भाव अनुचित सभावना नहीं है। इनक इन पाच ग्रथ रसिक मोहिनी म इन्होने

रचनाकाल संवत् १७६४ दिया है। इस प्रकार १८वीं शती का उत्तरार्ध उनका रचनाकाल कहा जा सकता है। प्रियादास जी का सबसे प्रिय छन्द दोहा है यद्यपि अन्य समसामयिक छन्दों का भी प्रयोग उन्होंने किया है। दोहों में उनकी भाषा अत्यधिक विदग्ध रूप में प्रकट हुई है। अपनी कल्पना योजना में दोहे कभी कभी बिहारी से टक्कर लेते प्रतीत होते हैं —

> घिरति रहे ब्रज भूमि मे भूमि नैन अकुलाय
> घूम घूम तन लोट कैं उठै रूप गुन गाय।
> बिना पलक दृग दृग जुरे देख्यो अचरज सार
> गुह चलहू जब घर लाज इक टक रहे निहार।

परन्तु सब मिलाकर उनका यह शृंगार वर्णन नाभादास के निकट की वस्तु बना रहता है।

भगवत मुदित

भगवत मुदित जी के सम्बन्ध में नाभादास ने अपने भक्तमाल में एक छप्पय लिखा है जिसकी प्रियादास जी ने ५ कवित्तों में टीका की है। इस वर्णन के अनुसार यह माधवदास (माधव मुदित) के पुत्र थे तथा सूजा (शुजाउरमुल्क) के आगरा के दीवान थे। गौड़ीय सम्प्रदाय के भक्त हरिदास के यह शिष्य थे। अपने गुरु ब्राह्मणों ब्रजवासियों इत्यादि में इनकी अत्यधिक श्रद्धा थी। नाभादास के अनुसार यह सखी भाव के उपासक थे तथा नित्य कीर्तन में ही उनकी चित्तवृत्ति रमी रहती थी।

इनके रसिक अनन्यमाल में राधावल्लभीय भक्तों के चरित्रों का संग्रह किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि गुरु शाखा से गौड़ीय वल्लभ मतानुयायी होते हुए भी वे राधावल्लभीय भक्तिभाव से विशेष प्रभावित थे। उनका दूसरा ग्रन्थ वृन्दावनशतक प्रसिद्ध महात्मा प्रबोधानन्द के वृन्दावन महिमामृत का ही यत्किंचित रूपान्तर है। प्रबोधानन्द जी के बारे में भी यही प्रवाद है कि सम्प्रदाय से चैतन्य मतानुयायी होने पर भी वे हित हरिवंश और उनकी भजनरीति से अत्यधिक प्रभावित रहे।

भगवत मुदित मुक्तक प्रधान लेखक हैं। उनकी मौलिक रचनाएं यद्यपि कम हैं। पर वृन्दावनशतक के अनुवाद में भी उनका कवित्व प्रकाशित हुआ है। नीचे हम एक उदाहरण दे रहे हैं —

> नव किशोर चित चोर तरुण तन मोर है।
> कोटि कोटि छवि काम स्याम द्युति गौर है।

दोउ मूरति तन एक जीव जीवन रस भोगी।
कौतुक केलि बिलास सदा आनंद उपयोगी।
चलत फिरत नव कुंज में स्रवत हैं है मम पुलक मन।
देखि नवल नागरी सेपधु गति है परति तन।

मिश्र बन्धुओं ने उनके चार ग्रन्थ — रसिक अनन्य माल, वृन्दावन शतक, हित चरित्र तथा सेवक चरित्र बनाये हैं। पर वास्तव में हित चरित्र राधावल्लभीय उत्तमदास की रचना है एवं सेवक चरित्र रसिक अनन्यमाल का ही एक अंश है। इस प्रकार मुख्यतः उनके प्रथम दो ही ग्रन्थ सिद्ध होते हैं। कुछ स्फुट पद उनके यत्र तत्र और भी उपलब्ध हो जाते हैं। उनके रसिक अनन्य माल का ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्व है। उसका रचनाकाल संवत् १८०७ है।

किशोरीदास

किशोरीदास जी का समय श्री प्रभुदयाल मीतल ने विक्रम की १८वीं शती का पूर्वार्द्ध माना है।[1] किशोरीदास जी बंगाली ब्राह्मण थे एवं गोस्वामी यशोदानन्द जी उनके गुरु थे। सनातन गोस्वामी की पाँचवीं पीढ़ी में वे मदनमोहन मन्दिर वृन्दावन के आचार्य थे। इस दृष्टि से उनका समय १८वीं शती उत्तरार्ध तक जाता है यद्यपि पीढ़ी की दृष्टि से काल निर्णय करना बहुत प्रामाणिक नहीं प्रतीत होता।

कुसुम सरोवर के बाबा कृष्णदास के पास हमने उनकी बानी का संग्रह किशोरीदास की बानी देखा है। ग्रन्थ में स्फुट पद हैं एवं प्रत्येक पद में राग रागिनी के नाम तथा ताल दिये हुए हैं। ऐसा लगता है कि वे संगीत के बहुत बड़े जानकार थे। उक्त बानी ग्रन्थ से तीन पद हम नीचे दे रहे हैं—प्रथम दो पद नित्य बिहार लीला से सम्बन्धित हैं एवं तृतीय पद ब्रजनामगान की परम्परा में है। प्रथम छन्द राग मारू जलद तिताला में है, दूसरा राग केदार में गाया जाता है तथा तृतीय तिताल में सारंग राग के अन्तर्गत लिया हुआ है।

झूलत कदम्ब छइयाँ
धीरे धीरे जमुना तीर पिय प्यारी, पटुली पर बैठे दोऊ भर बहियाँ।
उर के धार हार मुरझावत कर समरस चित चहियाँ।
किशोरीदास ब्रजचंद प्यारो छवि देखे भूपटतर नइयाँ।

× × ×

१ प्रभुदयाल मीतल हिन्दी अनुशीलन (धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक) पृ ५१२।

खेलत चौपर पीतम प्यारो ।
अपनी अपनी जीत विचारत, ढारन पास चोपन मारो ।
× × ×
आओ सिमिट सब ब्रजवासी लल गया अपनो संग ।
रहो गिरि की छया सब सब सुख नाचो गावो करहु बहुरंग ।
पवत को परभाव लखोने तब द मन माहि उमग ।
श्री व्रजचन्द किशोर अहे नग मधुरा को मान करिहुँ भग ।

गौरगणदास

गौरगणदास की एक रचना गौराग भूषण मभावना बा० कृष्णदास द्वारा प्रकाशित हो चुकी है । इसकी भूमिका में इन्हें सनातन गोस्वामी चरणों के प्राचीन प्रिय शिष्य बताया गया है । पर यह रचना परवर्ती प्रतीत होती है । बाबा जी ने इसका समय १८वीं शती का पूर्वार्द्ध माना है ।[1] इस पुस्तिका में भाषा के अतिरिक्त अन्य ब्रजभाषा रचनाएं भी हैं । इन्होंने अपनी साधना को स्वयं ब्रजभाषाभाषाश्रित बताया है ।

चिंतामनि ब्रजभूमि बिलोकत नित नूतन नव भाव भरी ।
धसरि धरि अग ब्रज रज म प्रम मत्र जनु धाय करी ।
गुरु अनुसरत भाव की वारिधि उमगि उमगि बह्यौ गौर हरी ।
श्री रूप सनातन स्वामी उर म ब्रजगोपिन अनुभाव सरी ।

गौराग भूषण मभावना की भाषा संस्कृत, पजाबी एव ब्रज मिश्रित खडी बोली है । रचना नाना छन्दों तथा अलकारों से युक्त है । रचनात्मकता की दृष्टि से भी कृति बहुत उच्च कोटि की नहीं है पर आगे विधान के विद्यार्थियों के लिए इसमें बहुत सामग्री मिल जायगी ।

सुबल श्याम

इन्होंने सनातन गोस्वामी के प्रथम दो खण्डों का इसी नाम से ब्रजभाषा में अनुवाद किया है । बाबा कृष्णदास ने इसे प्रकाशित किया है । ये नारायण भट्ट के प्रधान सम्पत्ति मिश्र के शिष्य थे । इनका निश्चित वृत्त ज्ञात नहीं है पर नारायण भट्ट से दो पीढ़ियों में होने से अनुमानतः यह अठारहवीं शती के अन्त एवं १९वीं शती के प्रारम्भ में विद्यमान रहे होंगे । इनके अनुवाद का एक अंश उदाहरण स्वरूप

[1] अनुसंधान मौलिक हिंदी अनुशीलन (डा० धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक वर्ष १३ अंक १२) पृ० ८१२ ।

उपस्थित कर रहे हैं —

लीला राधाकृष्ण की अति निगूढ़ तर सोय।
वात्सल्यादिक भावकहि नाहि गोचर है जोय।
एक सखीगण बिन जु लीला पुष्ट न होय,
विस्तार लीला सखी, आस्वाद उन सोय।
तिहि लीला मधि सखी बिन नहीं अन्य गति जोय
तिनहीं की अनुगति कर, सखीभाव जो होय
दम्पति सदा कुंज की साध्य पाय है सोय,
पवे की तिहि साध्य को नहि उपाय अरु कोय।

—म० लीला। परि ८, पृ० ६७

यह अंश अनन्य चरितामृत के मध्यलीला खण्ड के अष्टम परिच्छेद के प्रसिद्ध सिद्धान्त कथा का अनुवाद है जिसमें कि सखी का महत्त्व बताया गया है। अनुवाद पर्याप्त स्पष्ट एवं सफल हुआ है पर उसमें साहित्य का स्पष्ट अभाव है जो मूल ग्रंथ में उपलब्ध होता है।

साधुचरणदास

साधु चरणदास के बारे में भी कुछ प्रामाणिक सामग्री प्राप्त नहीं है परन्तु उनका रचित रसिक विलास नामक ग्रंथ हस्तलिखित रूप में हमने राधा कृष्ण दास के पास देखा है। इस ग्रंथ की रचना का काल तथा ग्रंथ का उद्देश्य एवं वर्ण्य उन्होंने प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर दिया है। इस कथन से ज्ञात होता है कि ग्रंथ सम्वत् १७५८ (अथवा १७९८) में पूरा हुआ था।

सम्वत् सत्रह सै अठावन पायो इन
माह सुदि शुक्लपक्ष पंचमी सुहाई है।
शनिश्चरवार ऋतुराज हू को आगम हो
ताही दिन ग्रन्थ यह पूरण सुहाई है।
रसिक विलास नाम ग्रन्थ अभिराम यहै
गुन गिन स्याम आइ सुखदाई है।
श्यामा मन लाई साधु चरण बनाइ पोथी
अति सुलभाइ अमहाइ छवि छाई है।
रसिक विलास नाम ग्रन्थ अभिराम कियौ
को है श्यामता की उपमा विचारयो है।

हरिदासी सम्प्रदाय मे १८वीं शती का ब्रजभाषा काव्य

पृष्ठभूमि और संक्षिप्त रूपरेखा

नित्य विहारोपासना के प्रथम प्रयोक्ता हरिदासी या सखी-सम्प्रदाय में भी प्रभाव ग्रहण की प्रक्रिया प्राप्त होती है। वल्लभ सम्प्रदाय गौडीय वैष्णव या निम्बार्कीय जहाँ निकुंज लीला एवं सखी भावोपासना की ओर झुकते हैं वहीं १८वीं शती में हरिदासी सम्प्रदाय में नित्य विहार का परिशुद्ध रूप ब्रजलीला एवं गोपीभाव से मिश्रित हो जाता है। स्वामी नरहरि देव रसिक देव पीताम्बर देव आदि कवियों ने स्थूल विरह स्थूल मान परकीया भाव कृष्ण के प्रति गोपियों का कान्ता भाव इन सभी की अभिव्यक्ति की है। रसिक देव ने तो बाल-लीलाओं का भी चित्रण किया है। सम्प्रदाय में कुछ विशृंखलता भी इस काल में आती है। रसिक बिहारी गोर लाल आदि स्थानों का उदय इसी काल में होता है। स्वामी ललित किशोरी देव ने टटी सस्थान की परम्परा इसी युग में स्थापित की। ललित किशोरी जी ने पूर्वोल्लिखित मिश्रणों को दूर कर पुनः नित्य विहार का शुद्ध रूप अपनी परम्परा के अन्तर्गत प्रस्थापित किया। ललित किशोरी जी कवि रूप में भी महत्त्वपूर्ण हैं पर उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण साधनानुभूति की दृष्टि से हैं। उनके काव्य में साधनागत निष्ठा का अद्भुत आवेग प्राप्त होता है। अपने सीमित क्षेत्र के भीतर उन्होंने अत्यन्त सशक्त शब्दावली में अपनी अनुभूति का अभिव्यक्त किया है। परन्तु इस अभिव्यंजना में सचष्टता या पच्चीकारी की ओर ध्यान नहीं दिया गया है।

समग्र रूप से देखने पर यह अवश्य ज्ञात होता है कि प्रस्तुत सम्प्रदायानुयायियों ने काव्य रचना की ओर सचेष्ट ध्यान नहीं दिया है। सम्भवतः संगीत की ओर अधिक ध्यान अवश्य रहा है। एक और विचित्र तथ्य है कि गृहस्थ एवं विरक्त इन दोनों परम्पराओं का प्रस्तुत युग तक काव्य रचना केवल विरक्तों के अन्तर्गत ही प्राप्त होता है। उनमें भी आचार्यों को छोड़ कर अन्य अनुयायियों की रचना भी अत्यधिक विरल है। यह भी सम्भव है कि अन्य रसिकों की रचनाओं के रक्षण पर ध्यान न दिया गया हो।

हरिदासी सम्प्रदाय के कवि

नरहरिदास

स्वामी हरिदास की पांचवीं शिष्य पीढ़ी में नरहरिदास जी हुए हैं। उनके

गुरु का नाम स्वामी सरस देव था। नरहरि देव जी सम्प्रदाय की गद्दी पर सम्वत् १६८५ में स्वामी सरसदास की मृत्यु के पश्चात् प्रतिष्ठित हुए थे। इनके प्रधान शिष्य स्वा० रसिक देव जी ने अपने 'गुरु मंगल' में उन्हें बुन्देलखण्ड के गुना (या गुन्यौ) नामक ग्राम का निवासी तथा विष्णुदास का पुत्र बताया है। उनके अनुसार नरहरिदास जी की जन्मतिथि ज्येष्ठ कृष्ण द्वितीया है। स्वा० पीताम्बर देव आदि परवर्ती जन भी अपनी बधाइयों में इन्हें ज्येष्ठ कृष्ण द्वितीया को ही उत्पन्न मानते हैं।[1] अपने क्षेत्र बुन्देलखण्ड में ही भक्ति का ये प्रचार करते रहते थे। निजमत सिद्धान्त में किशोरदास ने बताया है कि स्वा० सरसदास ने बुन्देलखण्ड जाकर ही इन्हें अपना शिष्य बनाया था।[2] निजमत सिद्धांत में उनके जन्म का सम्वत् १६४० बताया है जो अनुचित नहीं प्रतीत होता। पौष शुक्ला सप्तमी सम्वत् १७४१ में नरहरि देव जी का वृन्दावन में स्वर्गवास हो गया था। स्वा० नरहरि देव जी में कुछ विचित्र परम्पराएं भी सम्प्रदाय में प्रविष्ट हो गया था। कहना यों चाहिए कि विशृंखलता का प्रारम्भ इन्हीं के समय में हुआ था। इनके पूर्वाचार्यों ने वृन्दावन से बाहर बहुत कम प्रस्थान किया था पर नरहरि देव जी बहुधा बाहर रह कर प्रचार कार्य में लगे रहते थे। ऐसा लगता है कि भक्ति का प्रारम्भिक आवेग शिथिल पड़ चला था और साम्प्रदायिक प्रतिष्ठा बनाने की धारणा अधिक बलवती हो उठी थी। नरहरि देव जी निधिवन छोड़ वर्तमान रसिक बिहारी जी के मन्दिर के स्थान पर रहने लगे थे। उनके उपास्य आजकल गोरेलाल जी के मन्दिर में स्थापित हैं।

अष्टाचार्यों की वाणी की जो प्रतिलिपि हमें उपलब्ध हो सकी है उसमें नरहरि देव के संग्रह का परिमाण बहुत कम है। पाँच साखियाँ एवं सिद्धान्त के पद तथा १० रस के पद ही उनके इस संग्रह में संकलित हैं। अलग से उनका कोई ग्रंथ अब तक उपलब्ध नहीं हो सका है।

साखियों में जाति-पाँति के खंडन के साथ ही बाह्य कर्मकाण्ड के प्रति धिक्कार जैसी भर्त्सना का स्वर हमें प्राप्त होता है

नरहरि पाणी मूल को गर्व करौ मति कोइ
जद्यपि घर कसक है जगत उजेरो होइ।[3]

यद्यपि विरह की स्वीकृति हरिदासी सम्प्रदाय में नहीं है पर नरहरिदास जी का एक सुन्दर विरह का पद मिलता है

---

१ सिद्धान्त रत्नाकर पृ० ९६ एवं १०६।
२ निजमत सिद्धांत मध्यसान खण्ड।
३ साखी ३।

अरे कारे बदरा ताही मे स्याम हिरान ।
ताही त तू अतरग स्यौ विरहिन पीर न जान ।
परसि दुकूल थामिनी अति चमकति सत मुख सागर तान ।
मद मद मुरली धुनि गावत बाजत मदन निसान ।
रग रग मिलि सुख उपजत आन रग क्यौ बान ।
श्री नरहरिदास जे अतर कारे कारे सो रति मान ।[1]

या इतनी अल्प रचना के आधार पर उनकी कवित्वशक्ति का मूल्यांकन क्या किया जाय ? पर जितना भी कुछ है उसस व समय कवि प्रवीन नहीं होते । भाव की सम्पदा तो सम्प्रदायानुकूल मन म अवश्य थी पर उसके पल्लवन क लिए जिस कल्पना शक्ति जिस अप्रस्तुत विधान योग्यता एव भाषा सामग्र की आवश्यकता है उसका उनम अभाव मिलता है। वह युग अलकरण का था पर नरहरिदास म इस अलकरण का भी बाहुल्य नहीं है। उत्प्रक्षाओं का अवश्य उन्होने कुशल प्रयोग किया है पर सब मिला कर उनकी रचना काव्य कला की दृष्टि से बहुत महत्व पूर्ण नहीं है। उनक अच्छ पदो म स एक निम्नलिखित है

प्रीया प्रीय सुरत सेज उठि जागे ।
घूमत नन अरुन अलसान मनहु समर सर लागे ।
सिथिल अ ग छूटी सिर अलक बदन स्वेद कन लागे ।
मानहु बिघ कुसम निकरि पूर्यो अ ग अ ग अनुरागे ।
चित परस्पर हो उत दोऊ काम केलि रस पागे ।
श्री नरहरिदास अ गछवि निरखति गड पीक सो पागे ।[2]

युगल केलि का यह चित्र रसिक साधना के अनुरूप है ।

स्वामी रसिक दास (रसिक देव)

स्वामी नरहरि देव जी क पश्चात् सम्प्रदाय का गद्दी उनक ज्यष्ठ शिष्य स्वामी रसिक देव जी को सवत् १७४१ म मिली । श्री अमोलक राम शास्त्री न लिखा है कि सवत १६६१ म बसन पचमी क दिन इन्होन दीक्षा ली ।' जन्म-सवत् क बार म कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता यहाँ तक कि निजमत सिद्धान्तकार जम पटु इतिहासज्ञ (?) न भी उनक जन्म-सवत् का उल्लेख नहीं किया। सहचरिशरण

१ रस क पद ४ ।
२ रस क पद २ ।
अमोलक राम शास्त्री आचार्य स्तव माला ८६ ।

ने जन्म तिथि बसंतपंचमी मानी है तथा इनके शिष्य पीताम्बर देव जी की बधाई से भी इसका समर्थन होता है

> प्रगटे श्री रसिक देव सुख सार।
> मंगल बसंत पंचमी सु पर छायो नित्य विहार।[1]

संभव है कि गुरु ने इनका जन्मदिन ही गुरु दीक्षा के लिए चुना हो। यदि संवत् १६९१ इनका दीक्षा संवत् है तो जन्म-संवत् १६७० से पूर्व ही मानना होगा। सहचरि शरण की गुरु प्रणालिका के अनुसार ये बुन्देलखण्ड निवासी सनाढ्य ब्राह्मण थे।

इनके बारे में यह प्रसिद्ध है कि प्रारम्भ में गुरु ने इनसे अप्रसन्न होकर निकाल दिया था। ये बाहर जाकर भी किसी न किसी बहाने अपने गुरु की सेवा करते रहे। अन्त में इनकी गुरु निष्ठा पर प्रसन्न होकर स्वा० नरहरिदास ने इन्हें पुनः बुला लिया और गद्दी का अधिकारी घोषित किया।

गद्दी पर बैठने के बाद डूंगरपुर से श्री रसिक बिहारी का विग्रह मँगा कर उन्होंने उसकी प्रतिष्ठा कराई यहां वर्तमान रसिक बिहारी का मन्दिर है। रसिक दास जी के ५२ प्रमुख शिष्य थे। इनमें तीन सबसे गोविन्द देव पीताम्बर देव एवं ललित किशोरी देव प्रधान थे। इन्हीं तीनों से क्रमशः गोरेलाल रसिक बिहारी एवं टट्टी स्थान की परम्पराएं प्रारम्भ हुई हैं।

अष्टाचार्यों की वाणी में संगृहीत उनकी रचनाओं का परिमाण भी अल्प ही है। उक्त संग्रह में रसिक दास जी की १६ साखियाँ ५ सिद्धान्त के पद एवं २० रस के पद प्राप्त होते हैं। उनके अतिरिक्त इनके लिखे हुए ८ छोटे छोटे ग्रंथ और भी प्राप्त हुए हैं जिनमें से ५ को भ्रमवश किशोरी शरण अलि जी ने अपनी साहित्य रत्नावली में राधा वल्लभीय रसिक दास की रचनाओं में सम्मिलित कर लिया है।[2] ये आठ रचनाएं निम्नलिखित हैं

(१) भक्ति सिद्धान्त मणि (२) रस सार, (३) रसाणव पत्र (४) गुरु मंगल (५) बाल लीला (६) पूजा विलास (७) कुंज कौतुक तथा (८) धारा मन्त्रिका।

इनके अतिरिक्त ध्यान लीला भी इनका एक ग्रंथ कहा जाता है जिसे निम्बार्क माधुरी में ब्रह्मचारी बिहारी शरण द्वारा संकलित किया गया है। साहित्य

१ सिद्धांत रत्नाकर स्वामी पीताम्बर देव कृत स्वामी रसिक देव जी की बधाई पृ० ११०।
२ किशोरी शरण अलि साहित्य रत्नावली पृ० २५ सं० २६०, २६१, २६४ २६५ एवं २६७।

रत्नावली में भी रसिकदास के नाम पर उसका उल्लेख ६ नम्बर पर हुआ है। डा गोपालदत्त शर्मा ने उनकी एक सम्कृत रचना गुरु परम्परा का भी उल्लेख किया है जो हमारे लिए अप्रासंगिक है। इन आठ ग्रन्थों में रस सार तथा राधा मलन भीय गो० रूपलाल के रस रत्नाकर में इतना अधिक साम्य है कि यह शंका होना है कि इनमें से कम से कम एक अप्रामाणिक होगा। या यह भी सम्भव है कि *किसी अन्य संस्कृत की सिद्धांत पुस्तिका को भाषा में लाना ही महानुभावों ने* उपस्थित किया हो। भक्ति सिद्धांत मणि एवं रस सार का प्रकाशन भी सिद्धान्त रत्नाकर के अन्तर्गत निम्बार्कीयों ने किया है।

स्वामी रसिक दास ने सखी सम्प्रदाय की वास्तविक आत्मा को मन से स्वीकार नहीं किया। ऐसा लगता है कि सम सामयिक ब्रजलीला के गायक अन्य सम्प्रदायों के प्रभाव में उन्होंने उस अनन्यता को खो दिया जो हरिदासी सम्प्रदाय की निधि था। फुटकर छन्दों के स्थान पर सम्प्रदाय में पहली बार व्यवस्थित ग्रन्थ रचना हो उन्होंने न की सैद्धान्तिक दृष्टि से भी वे व्यूह आवरण ब्रज लीला गोपीभाव सखीनामावली आदि के स्वीकरण एवं वर्णन में निरत हो गए थे। अष्टाचार्यों की वाणी में संगृहीत इनके पद शुद्ध सखी भाव के प्रतिष्ठापक हैं। उनका उपयोग हम सम्प्रदाय के सिद्धांत विवेचन में कर आये हैं।

काव्य की दृष्टि से रसिक दास जी इस सम्प्रदाय के महत्वपूर्ण कवि ठहरते हैं। ऐसा लगता है कि काव्य के अभिव्यंजना पक्ष के प्रति इनका सचेष्ट ध्यान था। इसी कारण छन्दों और अलंकारों का ही व्यवस्थित प्रयोग हुआ है भाषा भी अपेक्षाकृत परिमार्जित एवं समर्थ है। दोहा चौपाई उनके सबसे प्रिय छन्द हैं तथा पद रचना द्वारा भी उन्होंने प्रयोग किया है। उनका यह रूपक भी अपने चमत्कार के लिए द्रष्टव्य है

मन सीसी राधा अतर नखसिख भरी बनाइ।
ताहि ढलत मोह्यौ सावरो भँवर बासु लपटाइ ॥[1]

साम्प्रतिक काव्य में क्रियाशील बिम्बों का बहुत अधिक महत्त्व प्राप्त हुआ है। स्वा रसिक दास द्वारा चित्रित यह बिम्ब भी गतिशीलता की व्यंजना में अत्यन्त मार्मिक बन पड़ा है

जब पौढ़न को समयो भयो।
इत आई दुम की परछाई उत हरि चन्द गयो।
उमगि रहे दोउ सुरति सेज पर बाढ़यो रंग नयो।
श्री रसिक बिहारी बिहारिनि पौढ़े अति सुख दृगनि दयो।[2]

---

१ साखी ६।
२ डा नारायण दत्त शर्मा द्वारा स्वामी हरिदास जी का सम्प्रदाय और उसका वाणी साहित्य (अप्र० प्रब०) पृ० ४०२ पर उद्धत।

इस पद म उपमा द्वारे जहा क्रिया और गति का प्रकट करता है वहा दूसरी पक्ति प्रकृति के व्यापार का भी पूरी गतिशीलता म बिम्बित करन म समर्थ हुई है।

ऐसा लगता है कि स्वामी रसिकदास जी वास्तव म भीतर से कवि थ। सम्प्रदाय की अत्यन्त सीमित परिधि क भीतर उनकी सृजन शक्ति पूरी तरह स अभिव्यजित नहा हो पा रहा थी उस परिधि का तोड कर उन्होंन लीला का विस्तार किया पाना पर वह सम्प्रदाय म मान्य नहीं हुई—परिणाम स्वरूप वह विस्मृति उनक साथ ही समाप्त हो गयी। उनके शिष्य स्वा० ललित किशोरी देव न पुन सम्प्रदाय की वास्तविक प्रणाली का स्थापना की। आगे हम रसिकदास जी के ग्रथो का सक्षिप्त परिचय द रहे हैं —

रसिक देव जी के ग्रथों का परिचय

(१) भक्ति सिद्धात मणि – सम्प्रदायानुमोदित भक्ति सिद्धान्तो का निरूपण इस ग्रथ म है। भक्ति के मुख्य लक्षण साधन गुरु की मुख्य विशेषताएँ शिष्य के लक्षण धर्म विवेक पुण्य व धर्म पाप कर्मों के लक्षण और उनका मथा भक्ता की कार्यावली साधु लक्षण नवधा भक्ति और उपासना निष्कर्ष आदि विषयों की विवेचना सरल एव सहज रूप म इस ग्रथ म उपलब्ध होती है। ग्रथ के अत म नित्यविहारोपासना का मार्मिक निरूपण हुआ है। इस प्रकार की साधना के लिए कवि का कहना है कि शिष्य को गुरु म अत्यन्त निष्ठा रखत हुए गुरु देव का श्री राधास्वरूप मानना चाहिए और स्वय का मात्र सखी कल्पित करके श्रीकृष्ण चन्द्र जी का उपास्य एव परमात्मतत्त्व स्वीकार करना चाहिए। यह ब्रजभाषा म चौपाई छन्द म लिखा गया है। बीच-बीच म दोहे हैं। कुल छन्द सख्या १०० हैं। सिद्धान्त विवेचन की दृष्टि म ग्रथ म मौलिकता एव गहराई का अभाव है। लगता है कि इसका उद्देश्य मात्र प्रवचन का भक्त है।

(२) पूजा विलास—यह २० २५ पृष्ठो का छोटा-सा ग्रथ है। पूजा के विविध विधि विधानो का संक्षिप्त पर साङ्गोपाङ्ग चर्चा इसमें की गयी है। यह भी दोहा चौपाइयो म लिखा गया है जिनकी सख्या १ ८ है। पूजा विधि के अतिरिक्त भक्ति के अन्य अगो का भी चर्चा इसम आई है।

(३) सिद्धात के पद —इनम वृन्दावन ब्रजरज राधा कृष्ण-सौन्दर्य नित्य विहार मान-वर्णन समाज की प्रशंसा आदि पर फुटकर पद लिखे मालूम पड़ते है। पद अत्यधिक सरस एव मधुर बन प है। शृगार क वर्णन भी अमर्यादित नहीं हैं। उपासना एव स्वरूप-स्वरूप को इनम मुख्यत व्यक्त किया गया है।

(४) रस क पद —निकु ज रस और दाम्पत्य प्र म-लीला का मा़ वणन स्नम है।

(५) भक्ति सिद्धात की साखी इस ग्रथ का वर्णित विषय प्रथम ग्रथ जसा ही है। यह ग्रष्टाचार्यों की वाणी म सगृहीत है।

(६) कु ज कौतुक —स्मम निकु ज लीलाम्रा का गान है। विविध कु जा क माध्यम म ऋतुचर्या का भी नियाजन किया गया है। इसका छन्द रोला है और सख्या १११ है। स्मम सब मिलाकर ६० कु जा की सख्या बतायी गया है जहाँ विहार हाता रहता है।

(७) रस सार रसापासना का ग्रनरग ग्रथ स्म ग्रथ म व्यक्त हुआ है। राधाकृष्ण की सापभिक स्थिनि माग की कठिनाइया काम और प्रम का ग्रनर राधाकृष्ण का तात्त्विक स्वरूप सखी उपासना और उसके भेद निकु ज-लक्षण और शोभा स्म ग्रथ म ग्रत्यन्त सहज स्वाभाविक रूप म वर्णित हुए है। स्म ग्रथ म सब मिला कर केवल ४५ दाह एव चौपाइया है।

(८) गुरु मगल ग्रन—ग्रपन गुरु श्री नरहरि देव क प्रति यह उनकी श्रद्धाजलि है जिसम उन्ह ग्रगणित गुणा का ग्राकर माना गया है। यह चार चार चरणा की ८१ चौपाइया का सग्रह है।

(९) बाल लीला—वास्तव म बाल लीला म भी श्यामा श्याम क बीच क माधुयपरक भावा का ही चित्रण किया गया है। मधुर रस की प्र रक एव पुष्ट करन वाली ग्रनेक प्रवत्तिया मुद्राम्रा क्रीडाम्रा एव बालचयाम्रा का हा ग्रकन किया गया है। चौपाई एव दाहा म यह भी लिखी गयी है। कुल छन्द सख्या ४६ है।

(१०) ध्यान लीला—यह गुरु नरहरिदास वृन्दावन धाम राधा एव सहचरीगण तथा नित्यविहार क ध्यान सम्बन्धी छाटी सी पुस्तिका है।

(११) वाराह सहिता —उनकी महत्वपूण कृति है। इसम वृन्दावन रस नित्यविहार लीला वृहत् वृन्दावन (जनपद) ग्रादि का वणन किया गया है। वृन्दावन का पौराणिक एव समसामयिक वणन ग्रत्यधिक महत्त्वपूण है। मूल वाराह सहिता का भाषा म सक्षिप्त रूप म उपस्थित करना ही स्म ग्रथ का लक्ष्य ज्ञात हाता है। यह मात्र २१८ दोहा चौपाइया का छाटी-सा पुस्तक है।

(१२) रसाणव पम्ल—सखिया स घिर हुए वर्णितरूपस्थित युगल की नित्यविहार शाभा का चित्रित करन वाल स्म ग्रथ का ८४ राला छन्दा म समाप्त किया गया है।

पीताम्बरदास (पीताम्बर शरण देव)

स्वामी रसिक देव के तीन प्रमुख शिष्यों में से एक पीताम्बरदास जी गुरु की मृत्यु के पश्चात् संवत् १७५८ में रसिक बिहारी गद्दी के अधिकारी हुए। कहते हैं कि स्वामी ललित किशोरी देव एवं गोविन्द देव ने गुरु की साधना प्रणाली में असंतुष्ट होने के कारण यह गद्दी लेनी अस्वीकृत कर दी थी। इन्हीं पीताम्बर दास जी के शिष्य महन्त किशोरदास जी हुए जिन्होंने कि निजमत सिद्धान्त नामक ग्रंथ लिखा है। वास्तव में निम्बार्क एवं हरिदासी सम्प्रदाय के सम्बन्ध को लेकर जो वाद विवाद है उसके जन्मदाता यही गुरु शिष्य हैं। अपने पक्ष को प्रबल करने के लिए इन्होंने अपनी परम्परा निम्बार्क से जोड़ ली थी।

अस्तु निजमत सिद्धान्त के अनुसार नारनौल (शाहजहाँपुर) के रहने वाले चौबे लाल नामक गौड़ ब्राह्मण के पुत्र थे। इनका घर का नाम प्रयागदास था तथा भाद्रपद कृष्ण ८ को ये जन्मे थे। किसी व्यापारी मनोहरदास के माध्यम से ये स्वामी रसिकदास के सम्पर्क में आ गए थे।

हमारे देखने में श्री पीताम्बरदेव जी की वाणी नामक एक ग्रंथ आया है जिसमें निम्नलिखित रचनाएं संगृहीत हैं —(१) केलिमाल की टीका (२) समय प्रबन्ध (३) गुरु परम्परा नामावली (४) गुरु मंगल (५) सिद्धान्त और रस की साखी (६) सिद्धान्त और रस के पद (७) मांझ (८) बधाई। इनमें से काव्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण चौथे और पांचवें हैं। परन्तु सब मिलाकर पीताम्बर देव में काव्य का न तो अभिव्यंजनागत चमत्कार है और न गहरी भावात्मकता। परम्परा से प्राप्त लीलाओं या कथाओं को उन्होंने उपस्थित किया है। इनमें से काव्य के अभाव की दृष्टि से कुछ ही अंश महत्त्वपूर्ण हैं। एक उदाहरण लें

> रस रस को रसकेलि रसिकवा रस की बनी बसन्त।
> रसिक बनी रस की रस बेल्यो रसिक पीय रसवन्त।
> रस के रस अंग रसकोली रसिक आदि सब अन्त।
> रस को रसिक रसिकनी रस के रस कारण पीताम्बर सन्त।[1]

उन्होंने कवित्त सवैया दोहा चौपाई छप्पय पद सोरठा एवं मांझ आदि विभिन्न छन्दों का प्रयोग किया है। रचनाओं का मुख्य कथ्य गुरु-निष्ठा नित्य विहार वर्णन गुरु शिष्य का स्वरूप भक्ति का स्वरूप रूप-वर्णन प्रिया प्रियतम के अनुराग एवं केलि का चित्रण है।

पीताम्बरदास द्वारा लिखित केलिमाल की टीका अत्यन्त विशाल तथा

---

१ पीताम्बर देव की बानी बसन्त के पद ५।

नित्य विहार को समझने में अत्यधिक उपयोगी है। पीताम्बर देव जी के व्यक्तित्व पर चाहे कोई आरोप लगते भी हों पर उनकी रचनाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि साधना की दृष्टि से वे सखी सम्प्रदाय की मूल आत्मा के निकट रहे। अपने गुरु रसिकदास के समान उन्होंने सम्प्रदाय के प्रकृत पथ को छोड़ा नहीं है। ललित किशोरी देव जैसी साधनानुभूति की तीव्रता उनमें अवश्य नहीं है परन्तु निकुंज लीलाओं के गान में किसी प्रकार पीछे नहीं हैं। बल्कि कहना तो यह चाहिये कि लीला का वैविध्य उनमें ललित किशोरी देव की अपेक्षा अधिक है। नीचे हम जुगल के शरद् विहार सम्बन्धी कुछ दोहे को उद्धृत कर रहे हैं इनमें पीताम्बरदेवजी द्वारा चित्रित उज्ज्वल वर्ण की छटा दर्शनीय है

> स्वेत महल अति स्वच्छता स्वेत सेज पट स्वेत।
> पहिरे भूषन स्वेत छवि निरखत दृष्टि अचेत॥
> स्वेत चन्द्रमा चादनी ताको झलकति स्वेत।
> सीतलता व्यापी तनहि स्वेत विपन रसखेत॥
> स्वेत भई फूली तहा रजनी नवल नवेलि।
> हरषि निरखि तन्मय रगे अद्भुत उज्ज्वल केलि॥
> चन्द्रमनिन की कुंज मधि उज्ज्वल बसन बधारि।
> उज्ज्वल मुक्ताफलनि की माला पहिरि सम्भारि॥
> उज्ज्वल भूषन सब किये तन मन उज्ज्वल रूप।
> उज्ज्वल मण्डल सरद निसि अद्भुत सरस अनूप॥[1]

श्री ललित किशोरी देव

ललित किशोरीजी का स्थान सम्प्रदाय के इतिहास में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। वे श्रेष्ठ रचनाकार ही नहीं थे सम्प्रदाय की सैद्धान्तिक धारा के विपथगामी हो जाने पर उसे पुनः समुचित पीठिका पर प्रतिष्ठित करने वाले साधक थे। इस दृष्टि से सम्प्रदाय में उनका स्थान बिहारिणिदास के समकक्ष है। बिहारिणिदास सम्प्रदाय के रीति एवं सिद्धान्तों के प्रथम व्याख्याता थे तथा ललित किशोरी जी दूसरे। वास्तव में स्वामी रसिकदास के युग में (और उनकी रचनाओं में भी) सखी-सम्प्रदाय की निराली रीति विलुप्त होकर ब्रज रस के अन्य सम्प्रदायों के प्रभाव में आ गई थी। जैसा कि हम पीछे कह चुके हैं कि रसिकदासजी ने दान, मान, विवाह एवं विरह आदि का वल्लभ आदि सम्प्रदायों की भाँति ही वर्णन किया है जो कि सम्प्रदाय की आत्मा से मेल नहीं खाता। ललित किशोरी जी ने

---

1 पीताम्बर देव की वाणी दोहा सं ४, ५, ६, १२ एवं १३।

निधुवन हो नहीं छोड़ा इस विकृत होती हुई साम्प्रदायिक रीति को पुनः परिशुद्ध किया। सम्भवतः निधुवन को छोड़कर टट्टी स्थान में आने के पीछे उनका यह सैद्धान्तिक मत वैमित्य भी रहा होगा। उनके इस कृतित्व की ओर वधाई लिखने वालों ने ध्यान दिलाया है। सिद्धान्त रत्नाकर में संगृहीत एक ऐसी ही वधाई में कहा गया है कि वे न प्रकट होते तो नित्य विहार न प्रकट होता

साके वद नवमी प्रसिद्ध सुख केलि तर लीला अवतार।
कर्म धर्म की ग्रास ग्रास नित प्रति भ मौत बहत ससार।
लोभी लोल भोग के लालच पचि मरते विधा आचार।
जो न प्रकटतो ललित किशोरी तो न प्रगटतो नित्य विहार।

—सिद्धान्त रत्नाकर पृ० ११६

उनके एक शिष्य श्रीतन मंझौआ ने अपने आचार्य सगन में ललित किशोरीजी को स्वामी हरिदास का दूसरा रूप कहा है

श्री ललित किशोरी कृपा सरूप श्री स्वामी को दूजो रूप।
सब रसिकन को है यह भूप निर उपमा ये सहज अनूप।[1]

ललित किशोरीजी का जन्म-सम्वत् निश्चित नहीं हैं पर सहचरी शरण की 'आचार्योत्सव सूचनिका' के आधार पर मार्गशीर्ष कृष्ण अष्टमी संवत् १७३३ इनका जन्म-समय स्वीकार किया जाता है।

अपने गुरु रसिकदासजी के समय में ही वे अपना अधिकांश समय यमुना के किनारे बिताया करते थे। उनकी मृत्यु के पश्चात् वे स्वामी हरिदास का करुआ और गुदरी लेकर वन आये और एक पेड़ के नीचे रहने लगे। कुछ लोगों ने उस स्थान के चारों ओर टट्टियाँ लगा दी थीं एवं कालान्तर में उसी स्थान को टट्टी स्थान कहा जाने लगा। इनके शिष्य स्वामी ललित मोहिनी देव के काल में इस स्थान की सर्वाधिक उन्नति हुई। संवत् १७४८ में वे इस स्थान पर आये थे एवं संवत् १८२३ में उनकी यहीं पर मृत्यु हुई।

आपका पहला नाम गंगाराम था तथा ग्वालियर प्रदेश के हृयवाति गाँव में माथुर ब्राह्मणों के यहाँ उत्पन्न हुए थे। जगन्नाथ पुरी में स्वामी हरिदास की महिमा सुनकर वृन्दावन आ गये और यहाँ पर स्वामी रसिक देवजी के शिष्य हुए। इनका दीक्षा-नाम ललितकिशोरी रखा गया। ब्रज रज में ही वे सन्तुष्ट नहीं हुए और हरिदासी साधना का मर्म जानकर ही इन्हें सुख मिला। इस मर्म का उन्होंने प्राचीन वाणियों के अध्ययन से उपलब्ध किया था। वे बड़े ही त्यागी एवं भक्त थे। इसी त्यागवृत्ति के वशीभूत होकर वे निधुवन की पीठ को छोड़कर यमुना के किनारे आ गये थे। आपकी वाणी और वचनिका दो ग्रंथ हैं। तथा सम्प्रदाय के अनुरूप नित्य विहार की भावना को ही आपने अपनी रचनाओं में मुख्य रूप से

अपनाया है। इसी के अन्तर्गत आने वाले विविध विषय जैसे वृन्दावन महिमा सखीभाव, युगल स्वरूप की महत्ता, सिद्धान्त वर्णन, साम्प्रदायिक आचार, विधि निषेध एवं मर्यादा को उन्होंने अपनी कृतियों में स्पष्ट किया है। प्रारम्भ में स्वामी हरिदास की वन्दना है। फिर अन्य आचार्यों का स्मरण किया गया है। तदनन्तर अन्य विषयों का प्रतिपादन हुआ है।

अष्टाचार्यों की इस उपलब्ध वाणी में इनकी रचना का परिमाण विपुल है। उसमें २८ साखियाँ ४ कवित्त सवैया १०७ सिद्धान्त के पद १०८ रस के पद एवं बधाइयाँ संकलित हैं। साखियों में केवल दोहे ही नहीं हैं अपितु सवैया एवं चौबोला भी संगृहीत हैं। इनके अतिरिक्त भी उनका साहित्य उपलब्ध है। डाक्टर गोपालदत्तजी के अनुसार सब मिलाकर लगभग १२ साखियाँ ५० रस की चौपाइयाँ १३ सिद्धान्त के पद १४७ रस के पद तथा २५ बधाई के पद प्राप्त होते हैं।[1] वृन्दावन में एक स्थान पर हमें फारसी लिपि में उनकी साखियों का एक संग्रह देखने को मिला था परन्तु इस लिपि से अनभिज्ञ होने के कारण हम उस संग्रह का अधिक उपयोग नहीं कर सके तथा उसकी प्रामाणिकता का भी ठीक निश्चय नहीं हो सका। उनका वचनिका ग्रन्थ वास्तव में मौखिक उपदेशों का संग्रह है जिसे शिष्यों ने संग्रहीत किया था। उसे किन्हीं वनगोपाल ने दोहा चौपाइयों में परिवर्तित कर दिया। टट्टी स्थान से ब्रजभाषा गद्य में वचनिका सिद्धान्त का प्रकाशन हो चुका है। इस ग्रन्थ में उनकी १३३ सूक्तियों का संग्रह है इसी में अपने शिष्य ललित मोहिनीदेव को दिये जाने वाले ८ निर्देश भी अन्त में दिये गए हैं जो इस प्रकार हैं

(१) प्रसाद की प्रतीति (प्रसाद का महत्त्व)
(२) रज सों भक्ति (वृन्दावन रज का महत्त्व)
( ) कण्ठी तिलक को भाव (साम्प्रदायिक चिह्नों की महत्ता)
(४) जो वृन्दावन सों बाहर निकसिबे को मनोरथ न करें (वृन्दावन अनन्यता)
(५) काउ चाम पर्यन्त स्वाद ना (अहिंसा)
(६) स्वामी हरिदासजी की वाणी में प्रतीति (स्वामी हरिदास में निष्ठा)
(७) काउ सों मांगे नहीं (अयाचन)
(८) इष्ट सों रति (उपास्य के प्रति अनन्य प्रेम भावना)

श्री ललित किशोरीजी का काव्य उत्कृष्ट कोटि का है। वे सखी-सम्प्रदाय के अष्टतम कवियों में परिमाण एवं गुण दोनों ही दृष्टियों से परिगणनीय हैं।

---

१ डा० गोपालदत्त शर्मा स्वामी हरिदास का सम्प्रदाय और उसका वाणी साहित्य पृ० ४ ६।

सिद्धान्त कथन की अनन्यता एवं वास्तविकता ही उनमें नहीं है, सात्विक अनुभूति की तीव्रता एवं निष्ठा उनमें अत्यन्त संवेगात्मक स्तर पर प्रकट हुई है। राधा का रूप वर्णन सबने ही किया है पर ललित किशोरी देव का स्वर अपना ही है। यह रूपक द्रष्टव्य है

राधे रूप रसाल, क्षण क्षण उठत तरंग प्रति।
अद्भुत नव विशाल, ललित किशोरी प्राण हैं।

गुलाब की यह रंगारंग कली जिस भ्रमर के संकेत से विकसित होती है वह भ्रमर किसी विदग्ध कवि की ही सृष्टि हो सकता है। महत्त्व की बात रूपक अलंकार मात्र यह नहीं है बल्कि उन सारे अनुभवों का ध्यान में रखना है जो इस चित्र से मन में उठते हैं। भ्रमर के संकेत की संकेतात्मकता में छिपा गहन रतिभाव, क्षण क्षण खुलने और बन्द होने में सौन्दर्य की जिस चपलता एवं अनुराग की विह्वलता तथा विविध रंगों से रंगी जो चित्रात्मकता उपस्थित होती है वह अन्यत्र विरल है

विकसित कली गुलाब की श्याम भ्रमर संकेत।
छिन विकसित छिन बंध करि अरुण असित पित सेत।

निम्नांकित पद में कृतज्ञता की भावना द्रष्टव्य है

लड़ती तेरी कृपा कही नहिं जाई।
छिन छिन प्रति अति तोषति आनंद उर न समाई।
अपनी कहि कहि रंग बनावत हँसि हँसि कंठ लगाई।
श्री हरिदासी रसिक सिरोमनि ढ़के रहे महा माई।
—सिद्धान्त के पद, ८०

बनीठनी जी

किशनगढ़ के प्रसिद्ध भक्त नरेश महाराज सावन्त सिंह (नागरीदास) की उपपत्नी बनीठनी जी थीं। अपने प्रिय के साथ ही वे भी वृन्दावन आ गई थीं तथा हरिदासी सम्प्रदाय में स्वा० रसिकदास जी से उन्होंने वैष्णवी दीक्षा ले ली। यह भी यहाँ पर द्रष्टव्य है कि स्वयं नागरीदास जी वल्लभ कुल के शिष्य थे तथा निम्बार्क मत से अत्यधिक प्रभावित थे परन्तु बनीठनी जी ने रसिकदास जी से दीक्षा ली—यह उस समय की उदार मनोवृत्ति का भी द्योतक हो सकता है तथा रसिकदास की समन्वित ब्रजरस-पद्धति के कारण भी संभव है। उनके जीवन के सम्बन्ध में अन्य कोई प्रामाणिक विवरण प्राप्त नहीं है परन्तु उनकी समाधि पर जो छतरी बनी हुई है उसमें यह अंकित पाया जाता है कि आषाढ़ शुक्ला १५ सम्वत् १८[illegible] में उनका स्वर्गवास हुआ था। अपने पति एवं गुरु

के प्रभाव म लिखी गई उनकी जा रचनाए उपल ध हाती है उनम हरिदासी सम्प्रदाय का विशुद्ध नित्य विहार चित्रित नही हुआ वरि ब्रज लीलाग्रा एव गापीभाव का ही चित्रण हुआ है। उनक पदा की सख्या भी अधिक नहा है। रसिकविहारा छाप म उ होन जा थाडी रचना की है काव्य गुण का दृष्टि म वह बहुत समृद्ध न होन पर भी इसलिए महत्वपूण है कि म ययुग क वातावरण म एक निष्ठावान भक्त नारी क व उदगार है। उनकी रचना क दो उदाहरण हम द रहे हैं। रचना म ब्रजभाषा क साथ ही राजस्थानी श दा का भी प्रचर उपयाग हुआ है

रगि रह्या युगल रूप रग मोह्यो।
कु ज महल मे शयन सार्मे दिया रहे गलबाहीं
कदेक सभ्रम स्यामा र नीड स्याम छनाहीं।
कदेक रीभि रहे रसिक विहारी देखि देखि परछाहीं।[1]
ये बसुरिया वारे ऐसे जिन बतराय रे।
यों न बोलिये और घर बसे लाजनि दबि गई हाय रे।
हौं धाई या गलहिं सो रे नक चल्यौ धौ जाय रे।
रसिक बिहारी नाव पाय क क्यो इतनो इतराय रे।

रूप सखी जी

रूप सखी जी का लौकिक परिचय कुछ भी ज्ञात नहीं है। परन्तु उनके द्वारा रचित साहित्य का परिमाण विशाल है। सिद्धान्त क पदा म एसा प्रतीत हाना है कि व स्वामी रसिकदास जा क शिष्य थ। तथा ललित किशोरी दव जा का समकालीन माना जा सकता है। ललित किशोरी जी का समय सम्वत् १७५८ म १८२३ तक है अत विक्रम की १८वी शता क उत्तराध ही रूप सखी जी का समय भी माना जा सकता है। स्वामी रसिकदास क प्रति उनक मन म अत्यधिक श्रद्धा थी। उनकी अनक बार उ हान स्तुति मूलक चचा की है। एक स्थान पर उ ह श्री हरिदास स्वामी की वाणी प्रकट करने वाला बताया है। दूसरे

१ निम्बाक माधुरी पृ० ६०५
२ वही—पृ० ६०५।
३ गुरु श्री रसिकदास महाराज सिद्धान्त रत्नाकर कवित्त १२७ पृ० २६।
४ सेवा हरि गुरु सत की रसिक सिरोमनि पास।
वाणी श्री हरिदास की श्री रसिकदास प्रकास।—सिद्धान्त की वाणी ७१
(सिद्धा त रत्नाकर म सगृहीत)।

स्थान पर उन्ह रसिको म शिरोमणि एव भूप की सज्ञा दी है।[1] आगे उन्होने पुन सम्प्रदाय क अन्य आचार्यों की चर्चा करत हुए सुख की राशि कहा है।[2] य अश भी रसिकदास का शिष्य होना ही सूचित करत हैं। पर सम्भवत इसके बाद शीघ्र ही रसिकदास जी का गोलोकवास हो गया होगा तथा सम्प्रदाय के आचार्य पीठ पर ललित किशोरी जी विराजमान हुए होगे। सम्प्रदाय इस समय अनेक भागो म बट जाता है ललित किशोरी देव टट्टी स्थान की स्थापना करत है। बहुत सभव है कि रूप सखी जी टट्टी स्थान पर ललित किशोरी जी के साथ ही आ गय हो। एक दोह म उन्होन ललित किशोरी जी की ही कृपा से नित्य विहार प्राप्त करने की बात कही है।

रूपसखी जी की सिद्धात-सम्बन्धी वाणी निम्बार्क शोध मडल के सग्रह ग्रथ सिद्धात रत्नाकर म प्रकाशित हो गई है। इसम १४७ पद कवित्त सवय तथा ६२ साखियाँ सगृहीत हैं। इसके अतिरिक्त उनके लगभग ६०० रस क पद एव कवित्त-सवय निम्बार्क शोध मडल क सग्रहालय म प्राप्य है।

रूप सखी जी मध्यम कोटि क अच्छे कवियो म गिने जाते है। सीधी सादी एव सरल भाषा म उनके भक्तिपूर्ण हृदय की अभिव्यजना हुई है। कलागत परिपक्वता वाग्वैदग्ध्य अथवा चित्रात्मकता या अलकृत अभिव्यक्ति की ओर उनका अधिक ध्यान प्रतीत नही होता। परन्तु हृदय की सहज भावना उनम बहुधा तीव्र रूप स फूट पडी है। श्री हरिदासी की सखिका रूपसखी कु ज क द्वार पर खडी है श्याम उनस बार बार बात पूछत है उस समय वे जब अपना परिचय देत है वह उनकी निष्ठापूर्ण भावना का श्र ष्ठ निदर्शन है

रूप गुन भरी प्रिया चाइनि चलीदति हू'
उनही के नाते ए जू तुम तन हेरी हौ।
परम प्रवीन लवलीन होतो धीर धरो
अरज करोगी स्याम स्यामा सन नरी हौ।
अति अनुराग हाउ भाव निजुचाव चहौं,
नाना गति मति चाह चकरीसो फेरी हौ।

---

१ श्री विपुल विहारिनि सरसवर, नागरि नरहरि रूप।
श्री स्वामी सिर अवतरे रसिक सिरोमनि भूप।—सिद्धात की वाणी ७८

२ राजत शोठस विपुल प्रकासि। श्री गुरदेव विहारनि दासि।
सरसदास ज नरहरि दासि। श्री रसिक सिरोमनि सुख की रासि।
—वही, ८८

के प्रभाव म लिखी गई उनकी जो रचनाए उपल ध होती हैं उनम हरिदासी सम्प्रदाय का विशुद्ध नित्य विहार चित्रित नहा हुआ बल्कि ब्रज लीलाओ एव गोपीभाव का ही चित्रण हुआ है। उनके पदा की सख्या भी अधिक नहीं है। रसिकबिहारी छाप स उन्होने जो थोडी रचना की है काव्य गुण का दृष्टि स वह बहुत समृद्ध न होन पर भी इसलिए महत्त्वपूण है कि मध्यकाल क वातावरण म एक निष्ठावान भक्त नारी क व उदगार है। उनकी रचना क दो उदाहरण हम दे रहे है। रचना म ब्रजभाषा क साथ ही राजस्थानी शब्दा का भी प्रचर उपयोग हुआ है

> रगि रह्या युगल रूप रग मोहे।
> कु ज महल मे श्याम साम्हे दिया रहे गलबाहीं
> कदेक सभ्रम स्यामा र नोड स्याम छताहीं।
> कदेक रीभि रहे रसिक बिहारी देखि देखि परछाहीं।[1]
> ये बसुरिया वारे ऐसें जिन बतराय रे।
> यों न बोलिये और घर बसे लाजनि दबि गई हाय रे।
> हों धाई या गलहिं सो रे नक चल्यो धो जाय रे।
> रसिक बिहारी नाव पाय के क्यों इतनो इतराय रे।[2]

रूप सखी जी

रूप सखी जी का लौकिक परिचय कुछ भी ज्ञात नहा है। परन्तु उनके द्वारा रचित साहित्य का परिमाण विशाल है। सिद्धान्ता क पदा मे ऐसा प्रतीत होता है कि व स्वामी रसिकदास जी क शिष्य थ।[3] तथा ललित किशोरी देव जी का समकालीन माना जा सकता है। ललित किशोरी जी का समय सम्वत् १७४८ स १८२३ तक है अत विक्रम का १८वी शती क उत्तराध ही रूप सखी जी का समय भी माना जा सकता है। स्वामी रसिकदास क प्रति उनक मन म अत्यधिक श्रद्धा थी। उनकी अनेक बार उन्होंन स्तुति मूलक चचा की है। एक स्थान पर उन्ह श्री हरिदास स्वामी की गादी प्रकट करन वाला बताया है। दूसरे

---

१ निम्बार्क माधुरी पृ ६०४

२ वही—पृ० ६०५।

३ गुरु श्री रसिकदास महाराज सिद्धान्त रत्नाकर कवित्त १२७ पृ० २६।

४ सेवा हरि गुरु सत की रसिक सिरोमनि पास।
गादी श्री हरिदास की श्री रसिकदास प्रकास।—सिद्धान्त की वाणी ७३
(सिद्धान्त रत्नाकर म सगृहीत)।

स्थान पर उन्हें रसिकों में शिरोमणि एवं भूप की मान्यता दी है।[1] आगे उन्होंने पुनः सम्प्रदाय के अन्य आचार्यों की चर्चा करते हुए गुण की राशि कहा है।[2] ये अंश भी रसिकदास का शिष्य होना ही सूचित करते हैं। पर सम्भवतः इसके बाद शीघ्र ही रसिकदास जी का गोलोकवास हो गया होगा तथा सम्प्रदाय के आचार्य-पीठ पर ललित किशोरी जी विराजमान हुए होंगे। सम्प्रदाय इस समय अनेक भागों में बंट जाता है। ललित किशोरी इस टट्टी स्थान की स्थापना करते हैं। बहुत सम्भव है कि रूप सखी जी टट्टी स्थान पर ललित किशोरी जी के साथ हो आ गये हों। एक पद में उन्होंने ललित किशोरी जी की ही कृपा से नित्य विहार प्राप्त करने की बात कही है।

रूपसखी जी की सिद्धान्त-सम्बन्धी वाणी 'निम्बार्क माधुर्य-मंडन' के संग्रह ग्रंथ 'सिद्धान्त रत्नाकर' में प्रकाशित हो गई है। इसमें १४७ पद कवित्त सवैये तथा ६८ साखियाँ संगृहीत हैं। इसके अतिरिक्त उनके लगभग ९०० रस के पद एवं कवित्त-सवैये 'निम्बार्क माधुर्य-मंडन' के संग्रह-ग्रंथ में प्राप्य हैं।

रूप सखी जी मध्यम कोटि के ग्रच्छे कवियों में शान होते हैं। सीधी सादी एवं सरल भाषा में उनके भक्तिपूर्ण हृदय की अभिव्यंजना हुई है। कलागत परिपक्वता, वाग्वैदग्ध्य अथवा चित्रात्मकता या अलंकृत अभिव्यक्ति की ओर उनका अधिक ध्यान प्रदान नहीं गया। परन्तु हृदय की सहज भावना उनमें बहुधा तीव्र रूप में फूट पड़ी है। श्री हरिदासी की सखिका रूपसखी कुंज के द्वार पर खड़ी है श्याम उनसे बार-बार बात पूछते हैं उस समय वे जब अपना परिचय देती हैं वह उनकी निष्ठापूर्ण भावना का श्रेष्ठ निदर्शन है

रूप गुन भरी प्रिया प्यारीनि पलोटति हूं
उनही के नाते ए जू तुम तन हेरी हौं।
परम प्रवीन लवलीन होनो धीर धरो
सरस करोगी स्याम स्यामा तन नेरी हौं।
मति अकुलाउ होउ भाव निजुबाव चहौं
नाना गति मति चाह चकरी सो फेरी हौं।

---

१ श्री विपुल बिहारिनि सरसवर नागरि नरहरि रूप।
श्री स्वामी फिर प्रगतरे रसिक सिरोमनि भूप।—सिद्धांत की वाणी ७८

२ राजत सोभ्स विपुल प्रकासि। श्री गुरुदेव बिहारनि दासि।
सरसदास ज नरहरि दासि। श्री रसिक सिरोमनि गुन की रासि।
—वही ८८

बार बार कहा कुञ्ज द्वार बान पूछति हो
स्वामी हरिदास की खवासिन की चेरी हौ ।
—रूपसखी की वाणी कवित्त ११७ पृ० २४
(सिद्धात रत्नाकर)

या यत्र-तत्र उपमा रूपक उत्प्रेक्षा यमक एव अनुप्रासादि की योजना भी मिल जाती है पर उस ओर कवि सचष्ट नही है। अपनी इस प्रवृत्ति के कारण वे प्रवृत्त्या भक्तिकाल के अधिक निकट है न कि रीति काल की अलकृति के।

शील सखी

शील सखी जी का परिचय उपलब्ध नही है। सिद्धात रत्नाकर की भूमिका म श्री गोविन्द शर्मा ने उन्ह मायुर चौबे कहा है। पर इस बात का कोई प्रमाण नही है। आचाय मगन क अत म जो दो चार मिथ्यन क जम दिया हुआ है उसका अन्तिम दोहा स्यामदास क बार म है एव उससे यह प्रतीत होता है कि स्यामदास जी माथुर चौबे थ न कि शील सखी। दोहा यो हैं

माथुर कुल को मुकुट मणि जगमगात यह ओर
मानु ज्योति जिमि द्रगन मे उनुक अध भये चोर।[1]

सभवत इसी आधार पर उन्ह चौबे कहा गया है। पर इस सम्बन्ध म यह द्रष्टव्य है कि कोई भी लेखक अपने को अपने कुल का मुकुटमणि नही कहता दूसरे यह दोहा स्यामदास जी के प्रसग म ही आया है।

आचाय मगन ग्रथ स इतना सिद्ध होता है कि व ललित किशोरी जी क शिष्य थे। ग्रथ म सम्प्रदाय क आचार्यों का (स्वामी हरिदास स ललित किशोरी देव तक) तथा ललित किशोरी जी क दो चार प्रमुख शिष्यो क गुण शील साध नादि की स्तुत प्रशसा की गई है। सम्पूर्ण ग्रथ म गुरुभक्ति की अपूर्व निष्ठा प्राप्त होती है। शीलसखी जी का ध्यान काव्यकला की ओर भी तनिक भी न था। छन्द उनक लिए गुरुनिष्ठा व्यक्त करने का माध्यम मात्र है। शील सखी म भी भक्तिभाव का अनाविल स्रोत विद्यमान था

लाडिलो को विनोद कियो प्रीतम को प्र म नित्य
सरस सुन गव रस चाहन समेत हैं।
सेज को सुवास कियों रग को विलास
आली सुख को निवास मन आनद निकेत हैं।

---

१ सिद्धान्त रत्नाकर ग्रय परिचय (भूमिका भाग) पृ ५०।
२ शील सखी आचाय मगल दोहा १७ (सिद्धान्त रत्नाकर म सगृहीत)।

रूप की निकुंज सोभा फूली हाव भावन सौं,
चाव चित चातुरी की आतुर अचेत हैं
ललित किसोरी रूप प्रगटी कृपा अनूप,
रसिक अनन्यनि कें आनन्द के हेत हैं।[1]

चरणदासजी

स्वामी रसिकदेव के शिष्य चरणदास थे। स्वामी रसिकदेव की मृत्यु सम्वत् १७५८ में हुई थी अतः इससे पूर्व ही इन्होंने दीक्षा ले ली होगी। इस प्रकार चरणदासजी का जन्म-काल विक्रम की अठारहवीं शती का पूर्वार्द्ध स्वीकार किया जा सकता है। इनके रचे हुए चार ग्रंथ प्राप्त होते हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं

(१) निजा प्रकाश (२) भक्तिमाला ( ) रहस्य रूपण (४) रहस्य चर्चा। नागरी प्रचारिणी सभा की हस्तलिखित ग्रंथों की सन् १९०४ की खोज रिपोर्ट में सं० ७५० / ११ पर इनका उल्लेख हुआ है। रिपोर्ट के अनुसार इनका रचनाकाल संवत् १७४ से १७६१ के बीच रहा है जो अनुचित नहीं प्रतीत होता। उस रिपोर्ट के अनुसार ये ग्रंथ बाई रूपकुँवारी एवं बाई श्यामादासी के लिए लिखे गए थे।

चरणदास जी के ग्रंथों में सखी भावानुसार नित्य केलि का सहज और प्रवाहपूर्ण वर्णन हुआ है। अपने सम्प्रदाय की आचार्य सखी का संकेत करते हुए उन्होंने स्वयं लिखा है

श्री ललिता हरिदास नित सहचरि कुंजन केलि।
तिनकी कृपा मनाय कहूँ कछु दंपति रस केलि॥
यहु दम्पति रस केलि कहत ही कर विहार की।
विहरत कुसुमित कुंज सेय तित कोटि मार की।
तहाँ अखंडित बहत प्रेम पूरि सुख सरिता।
नेह-भाव सबक प्रवीन हरिदासी ललिता।

(रहस्य चन्द्रिका)

लिखा के आधार पर ग्रंथ लिखने की परिपाटी रीतिकाल का प्रभाव भी माना जा सकता है।

1 गीत सखी आचार्य मंगल कवित ९

१८वीं शती मे राधावल्लभ सम्प्रदाय का ब्रजभाषा-काव्य पृष्ठभूमि और संक्षिप्त रूप रेखा

काव्य के परिमाण की दृष्टि से राधावल्लभ सम्प्रदाय का महत्त्व अत्यधिक है। वल्लभ सम्प्रदाय को छोडकर अन्य किसी सगुणोपासक सम्प्रदाय में इतनी प्रभूत मात्रा में साहित्य नहीं लिखा गया। राधावल्लभ सम्प्रदाय यों तो निकुंज लीला का रसोपासक सम्प्रदाय है परन्तु प्रारम्भ में ब्रजलीला का भी किंचित समावेश उसमें रहा है। सेवक जी एवं ध्रुवदास जी ने उस पूरी तरह निकुंजोपासक विचारधारा में ढाल दिया। ध्रुवदास जी इस सम्प्रदाय के अत्यधिक समर्थ कवि हुए हैं। उनका समय सत्रहवीं शती का अंतिम चरण है। सम्वत् १७ के आसपास उनकी मृत्यु हो गयी थी।[1] इस प्रकार हमारे आलोच्य काल के प्रारम्भ में ध्रुवदास जी द्वारा स्थापित निकुंजलीला एवं प्रेम के उन्नत स्वरूप का सशक्त परम्परा प्राप्त होती है। परिणामत १८वीं शती के राधावल्लभीय सम्प्रदाय के भक्तों का साहित्य सखी भाव एवं वृन्दावन रस की शुद्ध भूमि पर बना रहता है। परन्तु रसिकदास जी गौडीय वैष्णव छाया ग्रहण करते प्रतीत होते हैं। उन्होंने गौडीय वैष्णवों के कतिपय ग्रंथों के भाषानुवाद भी किये थे। इसके पश्चात १८वीं शती के अंतिम हिस्से में प्रभाव-ग्रहण की यह प्रक्रिया और अधिक तीव्र हो जाती है। गो० रूपलाल जी में यह गौडीय प्रभाव और अधिक स्पष्ट हो जाता है तथा १६वीं शती के प्रारम्भ में चाचा हित वृन्दावनदास ब्रजलीलाओं का भी जमकर गान करते हैं। साथ ही यह भी उतना ही सत्य है कि हित हरिवंश हरिराम व्यास एवं ध्रुवदास ने अपने समसामयिक जनों को प्रभावित भी किया है। गौडीय वैष्णव प्रियादास (भक्तमाल के टीकाकार) ने अपने अनन्य मोदिनी ग्रंथ में हरिराम व्यास के ११ पद प्रमाण रूप में उद्धृत किये हैं।[2]

रसिकदास कवि-परिचय

राधावल्लभ सम्प्रदाय में पाँच व्यक्तियों का रसिकदास नाम से उल्लेख प्राप्त होता है। हमारे उल्लेख्य रूप रसिकदास का अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जन्म हुआ था। उनकी रचनाओं पर दिये हुए संवतों से ज्ञात होता है कि संवत्

---

१ डा० विजयेन्द्र स्नातक राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य पृ० ४८७।

२ प्रियादास ग्रंथावली पृ० १७ २१

१७४३ से १७८३ तक इनका रचनाकाल रहा है।[1] इनकी लिखी बीस लताएँ तथा रसाष्टक, रस कदम्ब चूड़ामणि तथा कुछ फुटकर पद हैं। गोस्वामी धाराधर देव के शिष्य थे तथा प्रेमानन्दता में उनका सश्रद्ध भाव से उल्लेख किया गया है। रसिकदास जी संस्कृत के भी विद्वान् थे तथा उन्होंने संस्कृत वर्णवृत्तों का संस्कृत पदावली के साथ उपयोग किया है।

रस कदम्ब चूड़ामणि में पौराणिक और तान्त्रिक ढंग पर वृन्दावन का चित्रण किया गया है। लता नाम से अभिहित ग्रन्थों में रूप चित्रण, युगल विहार, प्रेमाभिलाष प्राप्ति का वर्णन है। लताओं के नाम अपने प्रतिपाद्य का संकेत देते हैं जैसे सौन्दर्य लता में राधाकृष्ण की छवि का आकलन है। (रीतिकाल की छाया यहाँ भी देखी जा सकती है) यद्यपि उनमें वागीगत नवीनता का अभाव है पर अपने विषय और भावना का सरस चित्रण अवश्य किया गया है

कहा अनंगी धनुष सम भ्रू भंगी नव बाल।
जाकी भंगी में नचत नवल त्रिभंगीलाल।
भ्राँहि मन सरसान पै कुंडल कहौं न बैन।
तीछन अनियारे भये जिन सों लगि लगि नैन।

—सौन्दर्य लता

कौ सरवसर की रही छबि-सर लागत नैन।
वेधत मोहन मन मृगहिं समर खेत सुचि सैन।

—माधुर्य लता

प्रेम के विलास मांझ भूलि जाहि मोर सांझ
सोह गये वे संभार बसनन परिहर।
कहूँ चीर चोरा कहूँ अंगन्यास राजे कहूँ
मुक्ता हार रहे हियन पर करहर।
गजरा खुलि किंकनी नुरी चुरी नीलमनी
डरी परी अमल सेज कसु सरहर।
ललिता जू स बुलाय करि कर में देखमाह
सोभा मेरी देखैं गौमा को न सरवर।

—गो० रूपलाल के हस्तलिखित संग्रह से

नाथ रूप सिंगार वर नाना छवि उल्लास।
नाना गुन रस प्रेम बस पूरण आनन्द रास।

— रास कदम्ब चूड़ामणि

---

१ डा० विजयेन्द्र स्नातक : राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य पृ० ५००।

रसिकदास के ग्रथो की सूची —

(१) प्रसाद लता (२) मनोरथ लता (३) मनोरथ माला (४) अभिलाप लता (५) सौन्दय लता (६) माधुय लता (७) सौभाग्य लता (८) विनोद लता (९) तरग लता (१०) विलास लता (११) सुखसार लता (१२) अद्भुत लता (१३) कौतुक लता (१४) रहस्य लता (१५) रतन लता (१६) अतन लता (१७) रति रग लता (१८) हुलास लता (१९) आनन्द लता (२) चारलता (२१) सुक सारी लता (२२) रस कदम्ब चूडामणि (२) रस कदम्ब चूडामणि द्वितीय भाग।

दोहा कवित्त सवया आदि प्रचलित छन्दो क अतिरिक्त सस्कृत वणवृत्तो का भी आपने उपयोग किया है। मनोरथ लता म तो वणवृत्त ही नहीं भाषाशैली पर भी सस्कृत का गहरा रग है। रसिकदास म भक्त एव रीतिसिद्ध कवि का समन्वय मिलता है।

गो० गुलाबलाल जी

अठारहवी शती क मध्य भाग म विद्यमान गो गुलाब लाल जी द्वारा रचित ग्रथो की सख्या ७ बताई जाती है।[1] उनकी सम्पूण वाणी की प्रति गो० रूपलाल जी क यहाँ विद्यमान है। गुलाब लाल जी १८वी शती क राधा वल्लभीयो म प्रमुख हैं। यद्यपि उनकी वाणी म रीतिकाल के प्रभावान्तगत चमत्कार एव कौशल का अतिरक नही हुआ है पर वराग्य उपासना एव नित्य विहार का साफ सुथरा ब्रजभाषा म चित्रण खूब उपलब्ध होता है। काव्य की दृष्टि स उनकी वाणी म सिद्धान्त एव रस दोनो ही प्राप्त होते हैं। उनकी वराग्य भावना का सूचक निम्न कवित्त इस कथन को प्रमाणित करन क लिए पर्याप्त है

कमन की कहैं ते तो मन सब परिवे को
एक एकान्ती सोप्रसाद सौं सदा अरं।
तीरथ मैं वासना उपासना न नित्य कहू
अहो अब जीव या प्रवाह मे सो क्यों तरे।
यह और अहिनो सुन बघ मित्र दुष्ट जान
ज्यों ज्यों मेरो क त्यों नरक में जा परं।
एहो हरिवश एक करुणा विचारिये जू
हित सौं गुलाब मन त छवि ना टरं।

१ किशोरीशरण अलि साहित्य रत्नावली पृ० २० २२।

२ हस्तलिखित सग्रह ग्रन्थ १।

उनके ग्रथा की सूची इस प्रकार है

(१) प्राथनाष्टक (२) अन [redacted] सभा मडल (३) मगन आरती (४) लाडिली वणन (५) श्याम वणन (६) जुगल वणन (७) प्यारी भावना (८) वर्षोत्सव क पद (९) पत्री (१०) पचाध्यायी (११) अनयाष्टक (१२) हिंडोना (१३) पत्री सवक प्रभु (१४) अनन्य रीति (१५) गुरु प्रताप (१६) मात पिता सुख (१७) प्रसाद निष्ठा (१८) आचाय ग्रथ (१९) अनन्य सभा मिलन (२०) इष्ट निश्चय (२१) सनेह सिद्धात (२२) साधु लक्षण (२३) सिद्धात सुख (२४) आनन्द सेवक चेतावनी (२५) वद चतावनी (२६) रेखता (२७) स्फुट पद (२८) भक्त दुख मोचन (२९) हृदय सिद्धात (३०) श्री हित प्रताप (३१) श्री वृन्दावन प्रताप (३२) यमुना प्रताप (३३) नाम प्रताप (३४) श्री गुरु प्रणाली (३५) इतिहास नाटय की (३६) इतिहास वेदन की (३७) सम्प्रदा याय।

इनम स प्रथम १३ रस ग्रय हैं शप सिद्धात ग्रथ या सम्प्रदाय क इतिहास से सम्बन्धित है। अधिकाश ग्रथ कतिपय पन्नो के सकलन मात्र है।

अनन्य अली

उन्होने अपने 'स्वप्न विलास' नामक ग्रथ म अपने बारे म जो कहा है उसस जन्म सवत् का तो पता नहा चलता पर यह ज्ञात होता है कि किसी राधा वल्लभीय कुल म उनका जन्म हुआ था। ८ वष की अवस्था म ही उन्होने सम्प्रदाय की दीक्षा ल ली थी तथा सवत् १७५६ म अपने गुरु गोविन्द लाल जी के साथ वृन्दावन चले आय थे। इनका घर का नाम भगवानदास था तथा जाति म धन्य प्रतीत होते है। बीस वष की आयु म वृन्दावन आय थ अत १७३८ उनका जन्म-सवत् ठहरता है। आपके लिखे ७९ ग्रथ कहे जाते हैं।[1] य ग्रथ अनन्य अनी की वाणी क नाम से सकलित हैं। इनका रचनाकाल सवत् १७५६ म १७९० तक है। १७९० वि० क आसपास उनकी मृत्यु हुई। ग्रथा की एक हस्तलिखित प्रति गो० मनोहरलाल जी अहमदाबाद क पास सुरक्षित है। डा० विजयेन्द्र स्नातक क अनुसार इनक पदा की सख्या ६००० के लगभग होगी।[2] सिद्धात प्रतिपादन और रसभक्ति का शृगारपरक शली म आपकी वाणी म विवेचन किया गया है। छन्द रचना म अत्यधिक प्रवीण हैं। प्रसाद और माधुर्य गुण उनकी रचनाओ

---

१ डा० विजयेन्द्र स्नातक राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धात और साहित्य, पृ० ४६१।

२ वही, वही पृ० ४६२।

म प्रचुर मात्रा म है। व्यापाम सम्ब धी रूपक उपमाए उत्प्रक्षाए रचनाओ म खूब मिलती है।

चित डाडी पलरा नयन प्र म डोरि सों बांनि
दियो तराजू लेहु कर तोल रूप मन सानि।

—आशा अष्टक

उनके ऋतु वणन नखशिख वणन (सहस्राधिक दोहे) पर रीतिकालीन शृ गार परम्पराओ का गहरा प्रभाव है।

परसन को कर तरसहीं दरसन हग चपलाइ।
होड़ परी भुज मन सों लपट अति तरलाइ।[1]

युगल प्र म विहार के अतिरिक्त आपकी रचनाओ म वृन्दावन महिमा गुरु महिमा नाम प्रताप सखी स्वरूप आदि पर भी सामग्री प्राप्त होती है।

उनके ग्रथो की सूची इस प्रकार है —

(१) स्वप्न विलास (२) जाव प्रकार (३) मन विनता लीला (४) आशा अष्टक (५) श्री हरिवशाष्टक (६) श्री वृन्दावनदास की प्रथम अवस्था द्वितीय अवस्था तृतीय अवस्था चतुथ अवलोकन अवस्था (७) चरणप्रताप लीला (८) श्री वीणा सरस लीला (९) प्रतिबिम्ब लीला (१०) श्री लाडिली जू की नामावली (११) श्री लाल जू की नामावली (१२) श्री हित हरिवश जू की नामावली (१) वृन्दावन रजधानी लीला (१४) बनी विलास लीला (१५) परिचर्या विलास लीला (१६) षट ऋतु लीला (१७) स्वप्न लीला (१८) रहसि बचन विलास लीला (१९) सुरतान्त विलासलीला (२०) मयन विनोद लीला (२१) कुज विलास लीला (२२) स्नान विलास लीला (२३) सिंगार विलास लीला (२४) जुगल सभा विलास लीला (२५) राजभोग लीला (२६) उत्थापन समय विलास (२७) सध्या समय विलास (२८) शयन समय विलास (२९) सज्जा समय विलास (३०) बसन्त ऋतु लीला (३१) ग्रीष्म ऋतु लीला (३२) पावस ऋतु लीला (३३) शरद ऋतु लीला (३४) शिशिर ऋतु लीला (३५) हिम ऋतु लीला (३६) फूल रचना विलास (३७) मीने बार शोभा विलास (३८) चन्द्र चित्र (३९) मनभावन विलास विलास (४०) बाग सैल विलास (४१) जल नौका विलास लीला (४२) जल विहार लीला (४३) चरन अष्टक (४४) नवल जुगल विलास लीला (४५) ब्याह विलास लीला (४६) चौपर खेल लीला (४७) नारज खेल विलास (४८) मन नौका खेल लीला (४९) गेन्द खेल लीला (५०) मन्द खेल विलास लीला (५१) श्राख मिचौनी खेल अपूर्ण (५२) बचन विलास

1 राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धात और साहित्य ४६३।

(५३) हास विलास (५४) विरह विलास (५५) मगन विलास लीला (५६) छवि चन्द्रावलि लीला (५७) सजोग विलास (५८) लज्जा विलास (५९) मान विलास (६०) दान विनोद लीला (६१) रूप विलास (६२) सेवा विलास (६३) छवि लता (६४) ललिता लता विलास लीला (६५) माधुरी लता विलास लीला (६६) रवमा लता विलास लीला (६७) लावण्य प्रभा विलास लीला (६८) चन्द्रवदना विलास लीला (६९) चन्द्रलता लीला (७०) मृदुता विलास लीला (७१) सुकुमारिता की सीमा (७२) माधुरता की सीमा (७३) नवल विलास लीला (७४) विमल विलास लीला (७५) सौरभ विलास लीला (७६) चातुर्य विलास लीला (७७) भक्ति विलास लीला (७८) नेत्र विलास लीला (७९) दरस विलास लीला (८०) फुटकर दोहे।

हित अनूपजी एवं वंशीधरजी

अठारहवीं शती के आरम्भ में अनूपजी का जन्म सहसवान जिला बदायूं में हुआ था। वे किशोरावस्था में ही कुटुम्ब के साथ वृन्दावन चले गए थे। माधुर्य विलास नामक एक अपूर्ण ग्रंथ इनका प्राप्त होता है जिसे इनकी मृत्यु के उपरान्त उनके मित्र वंशीधर जी ने १७७३ में पूरा किया। गो० कमल नयन जी के शिष्य यह भी थे। इसके पूर्वार्ध २६१ दोहा चौपाइयों में भगवान् के माधुर्य विलास का विवेचन किया गया है। इस विलास के वपु सौन्दर्य सजाति और मन सम्बन्ध के आधार पर चार भेद होते हैं जिनसे क्रमशः आत्मता रस रूप रस सख्य रस एवं शृंगार रस निष्पन्न होते हैं। शृंगार रस के प्रसंग में अनूप जी ने स्वकीया परकीया नायिकाओं के विविध भेदों का वर्णन किया है। (इस वर्णन में काव्य शास्त्र एवं रूप गोस्वामी का प्रभाव द्रष्टव्य है)। पूर्वार्द्ध में ही ब्रज वृन्दावन का मनोरम चित्रण भी हुआ है तथा रसिक उपासकों की तीन अवस्थाओं आदि मध्य और अवसान का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विवेचन भी किया गया है। सिद्धान्त निरूपण की दृष्टि से यह ग्रन्थ गहन और मौलिक है तथा ब्रजभाषा में हुए सिद्धान्त विवेचनों में श्रेष्ठ निरूपणों में से एक माना जा सकता है।

उत्तरार्द्ध में वंशीधर जी ने इन स्थापनाओं के (हित अनूप जी के विचारानुसार) उदाहरण दिये हैं जो अनूप जी की अपेक्षा कम शक्तिपूर्ण हैं। यहाँ पर लक्षण एवं उदाहरण वाली काव्यशास्त्रीय परिपाटी हमें उपलब्ध होती है।

६ चौपाइयों के बाद एक दोहा वाला क्रम भी स्वीकार हुआ है। इस दिशा में सूफियों एवं तुलसी के स्पष्ट प्रभाव हैं। ग्राम प्रभाव का दिग्दर्शक एक दोहा देखें

घाम घाम मुख उच्चरत हित अनूप सुनि बात ।
नख सिख ॥ सब गात के अंग अंग घिरि जात ।

माधुर्य विलास की यह परिभाषा भी लक्षिये

ईश्वरता ब्रह्मत्व जहा नहीं लदले कोऊ भास ।
केवल लीलका लोकवत सो माधुर्य विलास ।

इस कथन पर ब्रह्मसूत्रों के लीला लोकवत्तु कैवल्यम का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है ।

चन्द्रसखी

विक्रम की अठारहवीं शती के आरम्भ में विद्यमान थे ।[1] राधावल्लभ सम्प्रदाय के बालकृष्ण के शिष्य थे। उनके पदों में बालकृष्ण की छाप भी मिलती है। उनकी फुटकर रचनाएं ही प्राप्त होती हैं उनमें कुछ लोकगीत हैं और कुछ भक्त कवियों जैसे पद हैं। पदों में वृन्दावन महिमा बसत होरी राम आदि लीलाएं युगल छवि और प्रेमासक्ति का ही सरस वर्णन हुआ है। लोकगीतकार और भजनकार के रूप में उनके नाम से प्रचलित रचनाओं की संख्या अत्यन्त अधिक है। उनकी ये रचनाएं बहुत बड़े भूभाग में मालवा से लेकर ब्रज तक प्रचलित हैं। प्रादेशिक वातावरण के अनुसार इनमें संयोग वियोग अनुराग उपालम्भ मर्यादित प्रेम और गृहस्थ जीवन के विविध प्रसंगों का उल्लेख हुआ है नारी भावों की सहज अभिव्यक्ति भी उनमें हुई है। पुरुष होकर भी मीरा जैसी तल्लीनता उनमें मिलती है यह भक्ति की गम्भीर भावना के कारण हुआ है।

सं० १७०० के कुछ पूर्व अनुमानतः उनका जन्म आच्छा में हुआ था। वे पन्द्रह सोलह वर्ष घर पर रहे थे बाद में वैराग्य वृत्ति के वशीभूत होकर वृन्दावन चले आये और बालकृष्ण स्वामी के शिष्य हो गये। राधावल्लभ सम्प्रदाय के प्रचारार्थ साधुओं की जमात सहित उन्होंने देशाटन भी किया था। उस यात्रा में प्रचारार्थ उन्होंने अनेक भजनों और लोकगीतों की भी रचना की जो उन राज्यों में प्रचलित हो गये। संवत १७५८ के लगभग उनकी मृत्यु आच्छे में ही हो गया था। वृन्दावन में समाधि पर उनकी बनवायी हुई चन्द्रसखी की कुंज अभी भी विद्यमान है।

श्री राधा रानी ! दे डारो न बांसुरी मोरी ।
जा बंसी में मेरे प्रान बसत हैं सो बंसी गई चोरी ।
सोने की नाहीं काहा ! रूपे की नाहीं हरे बांस की पोरी ।

---

[1] चन्द्रसखी के भजन और लोकगीत प्रभुदयाल मीतल भूमिका पृ० ६ घ ।

काहे से गाऊं राधे ! काहे से बजाऊं, काहे से लाऊं गया घेरी ।
मुख से गाओ कान्ह ! ताल सों बजाओ
लकुटी से लाओ गया घेरी ।
'चन्द्र सखी' भज बालकृष्ण छवि हरि चरनन की चेरी ।'[1]

वे हमारे आलोच्य युग के एक प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण कवि हैं। उनके सम्पूर्ण रचना के संग्रह एवं सम्पादन का प्रयास श्री प्रभुदयाल मीतल एवं श्रीमती पद्मावती 'शबनम' कर रहे हैं। भक्तकवि का रूप लोककवि का उस युग में भी समाप्त नहीं हुआ था इसका प्रमाण चन्द्रसखी का काव्य है।

चन्द्रसखी जी यद्यपि राधावल्लभ सम्प्रदाय के नित्य विहार के अनुयायी थे परन्तु उनकी उपलब्ध रचनाएँ ब्रजलीलागान की परम्परा में हैं। वास्तव में इन्हें वल्लभ सम्प्रदाय की भावना का अनुयायी मानना चाहिए।

श्रीकृष्णदास भावुक

ये अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में विद्यमान थे। सं० १७९१ में हित चतुरासी की प्रेमदास विरचित टीका में इनका सादर उल्लेख प्राप्त होता है – कृष्णदास जू हैं मम प्राणधन। इनके द्वारा लिखित चार ग्रन्थ का पता प्राप्त होने पर बधाई उत्सवों के पद तथा राधावल्लभाष्टक एवं शिखनखाष्टक प्राप्त होते हैं। एक उदाहरण लीजिए

झूले झूलत राधिका नागरी ।
भुजनि हिलोरनि मे उर लगत स्याम अंक भरत री ।
मधुर-मधुर मृदु बचनि कहत मन रस पाग री ।
चितवत बिलोकि सुजनि भरि प्रीतम हरषि हरत अनुराग री ।
अंग अनंग उमंग सुरगनि झेलत खेलत फाग री ।
कृष्णदास हित निपट निकट ह्वै गावत गीत सुहाग री ।

ऊपर के पद में झूले की झकोरों की गति का चित्रण बड़ा सजीव बन पड़ा है। एक एक झकोरे के साथ ही जो विवश होकर एक दूसरे को देखना एवं भुजाओं में भर लेना है वह भी गति चित्र ही है। भावुक जी सचमुच ही भावुक कवि थे।

सहचरि सुख (सुख सखी)

गोस्वामी कमलनयन जी के शिष्य थे। कमलनयन जी का समय १६६८ में

---

१ चन्द्रसखी के भजन और लोकगीत, पृ० २३।

१७५४ तक है। अतः १८ वीं शती के पूर्वार्द्ध में ही सहचरि सुख का भी जन्म मानना उचित होगा। रचनाकाल इनका १८वीं शती का उत्तरार्द्ध रहा होगा। इनकी साधना का नाम सुख सखी भी था। इनका अब तक कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं हो सका है। नागरी प्र० सभा की १६११ की खोज रिपोर्ट में बनारस के किन्हीं सज्जन के पास रंगमाला नामक ग्रंथ की सूचना अवश्य उपलब्ध होती है पर उससे अधिक कुछ ज्ञात नहीं है। वर्षोत्सव में इनके द्वारा रचित कुछ पद अवश्य उपलब्ध होते हैं जो काव्य दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। घनश्याम जी की साधना प्रणाली का इन पर यथेष्ट प्रभाव है। इनके पदों में लक्षणा का सुन्दर उपयोग हुआ है

भुज सिंगार विपट माधविका छाँह छल हिय छाव ।
उकसनि देत न मान धूप सनमानहिं अधिक बढाव ।

× × ×

कुसम बसती दबि गये जब प्रगटी सहज सुबास ।
रीझि छके उपमान सों याते फिय फिरत उदास ।

शृंगारी प्रेम के मधुर अनुभावों का बड़ा स्वाभाविक वर्णन इन्होंने किया है

इकटक निहारत बदन पल सहि सकत पलक न भीर ।
तिय परसि पुलकत पीत पट पिय रसि सुंदर चीर ।
हुलसि लपटति मिलत सकुचति परकि होत अधीर ।
लड़कानि ललना की सम्हारत लाल गहि गहि धीर ।

रूप का प्रभाव

चक चौंधति लखि कुंवर कौं ही गनि जोतति जे याम ।
धारत डिग कीरति सता तब ही हरि दीसत स्याम ।[1]

महचरि सुख का काव्य सम्प्रदाय की सरणि के अनुसार निश्चित विचार नाना वर्णन ही था। इस सीमित क्षेत्र का अधिक से अधिक उपयोग कवि करते थे इसलिये अतः कथा का मौलिकता उनमें बहुत कम प्राप्त होती। परन्तु अप्रस्तुत उक्ति सौन्दर्य तथा लाक्षणिक प्रयोगों के कारण एक अतिरिक्त चमक उनके काव्य में अवश्य आ गया है। कहते हैं कि इन्होंने पंजाबी के मांझ एवं कवित्त-सवैया छन्दों का भी

---

१ उपर्युक्त उद्धरण ललिता चरण गोस्वामी के संग्रह से लिये गये हैं। इनमें से कुछ अंश उन्होंने अपने ग्रंथ श्री हितहरि वंश गोस्वामी सम्प्रदाय और साहित्य के पृ० ४६८ ४७३ में सङ्कलित किये हैं।

प्रयोग पन्न एवं दोहों के साथ किया है। अपनी शब्द साधना रुचिर और नम्र उक्तियों एवं वाग्वदग्ध्य के कारण रीतिकाल के कवियों के समकक्ष उन्हें रखा जा सकता है।

रानी बखत कुवरि 'प्रिया सखी'

मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ नामक ग्रन्थ में लेखिका ने इन्हें दतिया राज्य की रानी माना गया है।[1] किसी राधावल्लभीय गुरु की ये शिष्या थीं। 'प्रिया सखी' इनका साधनागत उपनाम था। इनकी लिखी एक रचना 'प्रिया सखी की बानी' उपलब्ध होती है। उसमें रचनाकाल सं० १७३४ वि० दिया हुआ है।

राधावल्लभीय परम्पराओं के अनुसार वे सखी भाव की उपासिका थीं। एक श्याम और राधा के विहार का इन्होंने ललित वर्णन किया है

सखी मे दोई होरी खेल।
रंग महल मे राधावल्लभ रूप परस्पर भेल।
रूप परस्पर खेलत होरी, खेलत खेल नवेल।
प्रेम पिचक पिय भर भरे तिय रूप गुलाल समेल।
कुच घन तन पर केसरि फीकी स्याम गौर भये मेल।
समर समर के सुर लरत दोई टूटत हार हमेल।
सम्मुख सख मुसकयाति भ्रमकि झुकि लाडिली लालहि पेल।
प्रिया सखी हित यह छवि निरखत सख की रासि सकेल।[2]

रूपक, यमक का चमत्कार तो है ही साथ ही सौन्दर्य के प्रतियोगी पारस्परिक वैभव एवं उसका प्रभाव पद में भली प्रकार अभिव्यक्त हो गया है।

परन्तु यहीं पर एक बात याद रखनी होगी कि स्त्री होने के नाते सखी भाव की मन साधना स्त्रियों के लिए उतनी प्रयत्नसाध्य नहीं होती परिणामतः साधनागत अनुभूति का आवेश इस सखी भाव की रचयित्री में प्राप्त नहीं होता। परन्तु जिस समय अपना जविक स्थिति के कारण वे यहाँ का प्रियतम रूप में भावित करती है उस समय उनका भावात्मक आवेश दृष्टव्य हो जाता है। ऊपर के पद में चमत्कार अवश्य अधिक है पर अनुभूति की जैसी गहरी व्यंजना निम्न पद में हुई है वैसी प्रथम पद में प्राप्त नहीं होती

---

१ डा० सावित्री सिन्हा मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ पृ० १७१।
२ वही पृ० १७२।

प्रीतम हरि हिय बसत हमारे।
जोर्ई कछू सोइ करत रैन दिन, छिन पल होत न जिय तें न्यारे।
जित तित तन मन रोम रोम मे व्है रहे मेरे नैननि तारे।
अति सुन्दर वर अन्तर्यामी प्रियासखी हित प्रानहि प्यारे।[1]

श्री हित रूपलाल

गो हितरूप लाल के ध्र वनाम की निकु ज-लीला का वर्णन कर पुन ब्रज लीला को भी रस भक्ति के अन्तर्गत ले लिया। उनका जन्म वैसाख कृष्णा सप्तमी स० १७३८ का हुआ था। किशोरावस्था से ही कविताए लिखनी उन्होने प्रारंभ कर दी थी। उन्होने ब्रजलीला ही नहीं मानना जैसे लोक प्रचलित अन्य उत्सवो को भी राधाकृष्ण की लीलाओ से युक्त करके क्षेत्र का ही विस्तार नही किया उसे लोक जीवन के निकट भी पहुँचाया। राजा जयसिंह ने राधावल्लभ सम्प्रदाय का अवैदिक घोषित करके उसकी जड़ें हिला दी थी परन्तु रूपलाल अत्यंत शान्त भाव से स्वय एव अपने शिष्यो द्वारा राधावल्लभीय प्र म पद्धति का व्याख्यान करते हुए उसे वर्णातीत या वेदसम्मत सिद्ध करने का निरंतर प्रयास करते रहे। इसके लिए उन्होंने अनेक छोटे छोटे पद्यबद्ध ग्रन्थो का निर्माण किया। प्र म की अवस्था रूप का मार्मिक प्रभाव सौन्दर्य और विलास के मनोहारी दृश्य उन्होने अत्यन्त सहज सरल और सीधे ढंग से उपस्थित कर दिए हैं। इनके ८४ ८४ पदो के दो सग्रह प्रथम विजय चौरासी द्वितीय विजय चौरासी हैं तथा वर्षोत्सव सग्रहो म अन्य अनेक पद मिल जाते हैं। दोहो म लिखे अन्य अनेक ग्रन्थ भी प्राप्त होते हैं। चाचा हित वृन्दावनदास के अनुसार स० १८ १ म इनकी मृत्यु हो गई थी। सवत् विगत अग्रहन म इन्होने श्याम कुज मे गमन किया [2] उनके दो पद हम नीचे दे रहे हैं इनमे प्रथम रस का पद है और दूसरा सिद्धान्त निरूपक है

सोधे भरी कमोरी गोरी लावहीं
कुम कुम मैलि फुलेलि मुख लपटावहीं।
लियो कपूर पराग भोरि भरि भरि तब
उड़त अबीर गुलाल कहत हो हों सब।
झुमक द द गावत बर्षत लाडिले
नेह भरे सिलवार पर्क चित्त चाडिले।

---

1 डा० सावित्री सिन्हा मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ पृ १७२।
2 हित रूप अन्तर्धानवेली।

नील पीत पट गांठ जोरि ललिता दई
निरखि हसत मुख मोरि रूप हित अलि गई

—गो० ललिता चरण के संग्रह से

सखी चित्त लाइ रसिक रस रीति
दुर्लभ मानुष देह न है हरि साधु संग में प्रीति।
जनम सहस्रनि जो करि हारे तप व्रत ध्यान समाधि।
छीन पाप अति शुद्ध हृदय भयि उपजै भक्ति अगाधि।
साधन भक्ति करत बहु जनमनि होय जु ब्रज अनुराग।
ताहू को फल विपिन उपासन प्रेम प्रीति बड़ भाग।
याहू ते निज तत्व जुगल रस नित्य निकुंज विहार।
हित अलि रूप अनूप हृदय दृढ़ कुंवरि कृपा कौ सार।

—गो० रूपलाल (वर्तमान) के संग्रह।

दूसरे पद में नित्य निकुंज विहार की महत्ता स्थापित करने का सफल प्रयत्न है। गो० हित रूपलाल जी के ग्रंथों का परिमाण विशाल है। श्री किशोरी शरण अलि ने उनके निम्नलिखित ७४ ग्रंथों का उल्लेख किया है[3]। पर यह सूची नितान्त प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती। बहुत कुछ खोज करने के बाद भी इनमें से अधिकांश ग्रंथ हमारे देखने में नहीं आ सके। तथा जो ग्रंथ देखने को मिले भी उन पर पं० रामचन्द्र शुक्ल की नागरीदास संबंधी टिप्पणी पूरी तरह लागू होती है। कुछ ग्रंथ तो थोड़े से पदों के संग्रह मात्र हैं। बहुधा पुनरुक्तियाँ भी प्राप्त होती हैं। उनके 'रस रत्नाकर' नामक ग्रंथ की जो हस्तलिखित प्रति गोस्वामी ललिता चरण जी के पास हमारे देखने में आई उसमें तथा हरिदासी संप्रदाय के स्वा० रसिकदास के 'रस सार' (निम्बार्क शोध मण्डल द्वारा प्रकाशित 'सिद्धान्त रत्नाकर' में संगृहीत) में आद्यन्त इतना साम्य है कि यह कहना कठिन है कि यह रचना किसकी है। कुछ शब्दों के हेर फेर के अतिरिक्त पूरे ग्रंथ का क्रम एवं वर्ण्य सब एक सा है। रूपलाल जी का वास्तविक महत्त्व कवि के रूप में उतना नहीं है जितना कि विपत्ति के समय संप्रदाय को सुदृढ़ बनाये रखने वाले आचार्य के रूप में है। राधावल्लभ संप्रदाय के प्रसिद्ध कवि चाचा हित वृन्दावनदास इन्हीं के शिष्य थे। अस्तु रूपलाल जी के ग्रंथों की सूची (अलि जी द्वारा प्रकाशित) निम्न है

(१) साधु लक्षण (२) सम्बन्ध सिद्धान्त भाषा सार (३) आचार्य गुरु सिद्धान्त (४) रूप सनातन वल्लभाचार्य भक्ति स्वकीया परकीया चर्चा (५) नित्य ध्यान (६) शिष्य रत्नमाला (७) सिद्धान्त के पद (८) समय प्रबन्ध (९) गुरु

शिक्षा (१०) गूढ़ ध्यान (११) मन शिक्षा वत्तीसी (१२) सिद्धांत का सार (१३) सवतत्त्व सिद्धांत (१४) भक्तिभाव विवेक रत्नावली (१५) साधक लीला विलास (१६) नित्य वंशी स्वरूप प्रागट्य (१७) श्री राधावल्लभीय सम्प्रदाय निर्णय (१८) हित रत्न माला (१९) सिद्धांत पद (२०) चर्चा निवारण (२१) श्री हित प्रागट्य (२२) वंशावलि (२३) सेवाधिकार (२४) वंशी अवतार कृति प्रगट विलास (२५) रंगीलाल प्रागट्य वर्णन (२६) रघुपति वर प्रसाद (२७) रुक्मिणी वर प्रसाद (२८) कृष्णदासी मनोहारा प्रसाद (२९) राधिका वर मन्त्र प्राप्ति (३०) श्री राधा वल्लभ तथा चतुरासी प्रागट्य (३१) गादी सेवा प्राकट्य (३२) श्री राधावल्लभ अभिषेक (३३) श्री नरवाहन परिचय (३४) हरिवंशके महाप्रसाद श्री कृष्णानुसार (३५) रूप सनातन भट्ट त्रय प्रति युगल दर्शन प्राप्ति (३६) व्यास परिचय (३६) कोष प्राप्ति (३७) हित प्रताप परिचय (३८) हित प्रागट्य प्रमाण (कृष्णयामल) (३९) हरिवंश नामावलि (४) राधा स्तोत्र (४१) गौतमीय तंत्र मंत्र पचासन पटल (४२) विजय चतुरासी (४३) खिचरी शृंखला (४४) वर्षोत्सव (४५) वृन्दावन रस रहस्यादगार (४६) मान सिंह सेवा समय प्रबन्धोल्लास (४७) रस रत्नाकर (४८) वंशीयुक्त (४९) वंशीयुक्त युगल ध्यान (५) साखी (५१) व्रजभक्ति भाव प्रकाश (५२) प्रेम वर्धक पत्रिका (५३) बाणी विलास (५४) मांझ हिंडोरा (५५) भावना पचीसी (५६) शृंगार समयोल्लास (५७) जलक्रीड़ा प्रबन्धोल्लास (५८) राजभोग क्रीड़ा (५९) सन्ध्या समय आरती (६) शयन क्रीड़ा (६१) प्रिया ध्यान (६२) नित्य विहार जुगल ध्यान (६२) पद्यावलि वसंत धमार (६४) वर्षोत्सव के पद (६५) मानमोचन स्तोत्र (६६) मुरली सखी वर्णन (६७) रस वाणी (६८) दान वनी (६९) राम नवमी (७०) नृसिंह चतुर्दशी (७१) प्रेम वचित्र्या लीला (७२) मुरली गान लीला (७) वन लीला (७४) निकुंज केलि लीला (७५) पचाध्यायी ।

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य ग्रन्थ भी श्री किशोरी शरण अलि ने साहित्य रत्नावलि में गिनाए हैं पर उनका या तो प्रामाण्य नितान्त संदिग्ध है अथवा वे पूर्व-कथित ग्रन्थों में ही इधर उधर हैं। इस युग के कतिपय अन्य प्रमुख रचनाकारों के नाम और उनके द्वारा रचित कही जाने वाली रचनाएं भी हम नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं। इन रचनाओं की कृतियाँ खोजने पर भी हमें उपलब्ध नहीं हो सकी हैं। इसी कारण उनका विस्तृत परिचय देने में हम असमर्थ हैं। यों श्री किशोरी शरण अलि ने १८वीं शताब्दी में ६ कवियों एवं ५१ ग्रन्थों के नाम गिनाए हैं।[1]

---

१ किशोरी शरण अलि साहित्य रत्नावली पृ० १३ से ४३ तक।

परन्तु यह सूची बहुत प्रामाणिक नहीं है। इसमें से बहुत से कवि या रचनाएँ अन्य सम्प्रदायों में भी मर्दाधित हैं —जैसा कि हरिदासी सम्प्रदाय के साहित्य की चर्चा करते हुए हमने स्वामी रसिकदेव के सम्बन्ध में बताया है कि हरिदासी रसिकदेव के कई ग्रंथ राधावल्लभीय रसिकदास के नाम में इस सूची में डाल दिए गए हैं। वास्तव में यह पूरा साहित्य स्वतंत्र अनुसंधान की अपेक्षा रखता है।

गो० प्रतिवल्लभ जी

प्रति वल्लभ जी के समय का निर्णय करना कठिन है। परन्तु सम्प्रदाय की मान्यताओं के अनुसार उनका समय वि० की १८वीं शती का उत्तरार्द्ध प्रतीत होता है। वृन्दावन रस की लीलाओं के अतिरिक्त उन्होंने सैद्धांतिक एवं ऐतिहासिक साहित्य की भी रचना की है। वृन्दावनाष्टक में वृन्दावन की अलौकिक महिमा का गान हुआ है। उनका वार्ता साहित्य संबंधी एक ग्रंथ अप्राप्य है। समय प्रबंध में उन्होंने युगल माधुरी एवं भक्ति का वर्णन किया है। हित पद्धति एवं मंत्र ध्यान-पद्धति साम्प्रदायिक सिद्धांतों एवं मान्यताओं को स्पष्ट करने वाली रचनाएँ हैं तथा हित वंशावली एवं गुरु प्रणाली नामक कृतियों में राधावल्लभीय वंशावली एवं गुरु परम्परा क्रमशः दी हुई हैं। कवित्व की दृष्टि से प्रतिवल्लभ जी कोई महत्त्वपूर्ण कवि नहीं हैं। वे राधावल्लभियों की नाद परिवार की परम्परा के कवि थे।

गो० रसिकलाल

गो० रसिकलाल जी का रचनाकाल सं० १८७४ से १८ ४ तक उनके ग्रंथों के निर्देश के आधार पर अनुमानित है। युगल लीला रस का गान करने वाले उनके फुटकर पद ही उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने हित चतुरासी वर्णानंद एवं गीत गोविन्द की टीकाएँ भी लिखी हैं।

गो० व्रजलाल

गो० व्रजलाल जी मुख्यतः संस्कृत के रचनाकार थे पर उनके फुटकर पद एवं वर्षोत्सव संबंधी कतिपय फुटकर कविताएँ भी संग्रहों में उपलब्ध हो जाती हैं।

सोमनाथ

राधा गुणनिधि तथा हित चौरासी टीका के अतिरिक्त वृन्दावन स्वरूप एवं निज मन्त्र उनकी रस संबंधिनी कृतियाँ हैं। अन्तिम ग्रंथ में रसिक के स्वरूप का सैद्धांतिक निरूपण किया गया है।

गो० कमल नयन जी

गो० कमलनयन का समय संवत् १६९७ से १७४५ वि० तक सम्प्रदाय में माना है। कमलनयन जी बड़े ही त्यागी एवं उदार भक्त थे। इनके जीवन का परिमाण बहुत नहीं है। अष्टयाम पदावली तथा दशों सवैया कवित्त मुक्तकों के संग्रह भी प्राप्त होते हैं। इनके भी अष्टयाम की प्रति हमारे देखने में नहीं आई। ज्ञात हुआ है कि श्री [illegible] जी के मन्दिर में इनकी प्रतिलिपि सी गई है। परन्तु बाबा [illegible] के पास उनके पदों की प्रति [illegible] है।

निम्बार्क सम्प्रदाय की १८वीं शताब्दी की ब्रजभाषा काव्य पृष्ठभूमि और संक्षिप्त रूप रेखा

पीछे हम कह चुके हैं कि निम्बार्क सम्प्रदाय प्रारम्भ में वैधी भक्ति का अनुयायी था।[1] १६वीं शती में भक्ति के प्रभाववाद का प्रभाव इस सम्प्रदाय पर भी होने लगा। श्री भट्ट ने युगलशतक में राधा कृष्ण की लीला गान की परम्परा को सब से पहले इस सम्प्रदाय में प्रतिष्ठित किया। परन्तु 'युगल शतक' के प्रामाणिक पाठ के अभाव में इस लीला गान का वास्तविक रूप निर्धारित करना कठिन प्रतीत होता है। सत्रहवीं शती में परशुराम देवाचार्य की रचनाएँ सगुण निर्गुण दोनों परम्पराओं का [illegible] करने का प्रयास करती प्रतीत होती हैं। १८वीं शती में निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य वृन्दावन देवाचार्य की रचनाएँ नित्य विहार के अन्तर्गत किसी प्रकार भी परिगणनीय नहीं हैं। इनके गीतामृत गंगा की परम्परा भाषा भाव एवं ब्रजभाषा की है। प्रसिद्ध कवि घनानन्द भी निम्बार्क सम्प्रदाय के ही अनुयायी थे पर उनका काव्य भी भाव [illegible] का हो गया है। लेकिन १८वीं शती विक्रमी के अन्तिम भाग तक [illegible] रसिक देव जी ने इस सम्प्रदाय में विशुद्ध रूप से निकुंज-लीला गान की परम्परा स्थापित कर दी।

इस प्रकार आलोच्य युग में काव्य-रचना की दृष्टि से निम्बार्क-सम्प्रदाय यथेष्ट समृद्ध प्रतीत होता है। एक मात्र घनानन्द ही किसी भी सम्प्रदाय के लिए गौरव के विषय हो सकते हैं। यों तो वृन्दावन देव जी एवं रूप रसिक जी की वाणी भी [illegible] दृष्टि से [illegible] है।

---

1 चतुर्थ अध्याय में निम्बार्क सम्प्रदाय में इसकी संक्षिप्त विस्तार से चर्चा की है। —पृ. २४६—२५३

निम्बार्क सम्प्रदाय के कवि

श्री वृन्दावन देवाचार्य जी

वृन्दावन देव जी निम्बार्क-सम्प्रदाय की सलेमाबाद गद्दी पर (परशुराम जी का द्वार) संवत् १७५८ विक्रमी में आरूढ़ हुए थे। इनके गुरु का नाम नारायण देव था। वृन्दावन देव जी अपने समय के प्रभावशाली महापुरुषों में से थे। साम्प्रदायिक परंपरा के अनुसार वे गौड ब्राह्मण थे तथा सं० १७०० के लगभग निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे।[1] उनका स्वर्गवास सं० १७९७ में हुआ था।[2]

आमेर के राजा जयसिंह द्वितीय बीकानेर नरेश राजसिंह तथा कृष्णगढ़ का राजकुल इनके प्रभाव में था। कृष्णगढ़ राजकुल के अनेक व्यक्ति इनके शिष्य एवम् भक्त हुए हैं। व्रजभाषा के कवि घनानन्द भी उनके शिष्य थे। घनानन्द ने उनकी प्रशंसा में भी लिखा है जो इस प्रकार है

सदा कृष्ण गुन-कथन रत मत मण्डन-जय रूप।
विमुखन खण्डनि बचन वर रचना सु ह अनूप।
दीन सरन दायक करुन हरन अखिल दुख दोष।
अब तिन पाट प्रसिद्ध जग करन जीव परितोष।
बीस बिसे महिमा तिन्हैं ताहि कोस है बीस
सदा बसो नीके लसौ कृपा ईस भो सीस॥[3]

रीतिकाल के प्रसिद्ध कवि मण्डन ने इनका अत्यन्त श्रद्धापूर्वक उल्लेख किया है। कृष्णगढ़ राज्य के चित्रागार में उनका एक चित्र प्राप्त हुआ है जिस पर अंकित निम्न पंक्तियाँ उनके महिमाशाली व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करती हैं

दिनकर सों जगमग प्रताप जगजस्त अखंडित।
रस भाषा कविराज महा दिग्विजयी पंडित।
अति निमयो ऐश्वर्य भूप भये आज्ञाकारी।
भक्त समय सों परमधर्म मर्यादा रखी।
श्री निम्बादित्य पद्धति वहे हरिव्यास देव गादी स्थिति
श्री वृन्दावन देव महान्त से दिग्गज भये न होहिं छिति।

वृन्दावन देव जी में मण्डन की भी भरपूर सामर्थ्य थी। कहते हैं कि एक बार साधुओं

---

१ ब्रह्मचारी बिहारी शरण निम्बार्क माधुरी पृ० १४३।
२ श्री सर्वेश्वर वृन्दावन धामांक पृ० २२३
३ घनानन्द ग्रंथावली पृ० ६१०।
४ निम्बार्क शोध मण्डल वृन्दावन में संगृहीत चित्र।

से वैष्णवों की रक्षा करने के लिए रामानन्द सम्प्रदायानुगामी स्वामी बालानन्द द्वारा जो सम्मेलन जयपुर में बुलाया गया था उसके संयोजकों में से एक आप भी थे एवं सम्वत् १७६१ में गलताश्रम में बुलाये गए दूसरे सम्मेलन के वे अध्यक्ष भी थे।

रचनाएं

वृन्दावन जी की उपलब्ध रचना इस समय केवल गीतामृत गंगा नाम का एक ग्रन्थ है। प्रसिद्ध है कि इन्होंने अन्य रचनाएं भी लिखी थीं परन्तु इस समय वे उपलब्ध नहीं हैं। गीतामृत गंगा का मुख्य प्रतिपाद्य कृष्ण राधा एवं गोपियों की व्रजलीलाओं का वर्णन है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही कवि ने बता दिया है कि सच्चिदानन्द भगवान रसरूप है तथा राधा उसी ब्रह्म की आह्लादिनी शक्ति हैं। वे एकाकी नहीं रहते, रमण करना ही उनका नित्य धर्म है। अपनी रस पोषक शक्ति के साथ भगवान शृंगार रस के साक्षात विग्रह है। इस रस में घर प्रचर समस्त ब्रह्माण्ड को मोहित करने की शक्ति है। भागवत गीत गोविन्द एवं अन्य रस शास्त्रों से मथ करके इस गीतामृत रसगंगा का सृजन हुआ है।[1] सम्पूर्ण ग्रन्थ चौदह अध्यायों में विभाजित है जिन्हें लेखक ने घाट कहा है। राधाकृष्ण जन्मोत्सव पौगण्ड लीला गोरसदान लीला श्रृंगार नाना रास विलास मान लीला दम्पति रति शाला खण्डिता वचन बसन्त होली वर्णन कृष्ण के नाम चरित्र गुण कीर्तन कंसवध तीर्थवर्णन क्रमशः प्रथम द्वादश घाटों में वर्णित हुए हैं। त्रयोदश घाट में भक्ति सम्बन्धी प्रकीर्णक पद हैं एवं चतुर्दश घाट में संगीत की राग रागनियों के नाम गिनाये गए हैं। कृष्ण से सम्बन्धित इन लीलाओं का चित्रण होने पर भी ग्रन्थ में कथा-काव्य की प्रबन्धात्मकता नहीं है। ग्रन्थ पूर्णतः मुक्तक काव्य है। रचना प्रधानतः पदों में हुई है परन्तु ग्रन्थ छन्दों का भी उपयोग हुआ है। दोहे और सवैये प्रचुर मात्रा में प्रयुक्त हुए हैं। वात्सल्य सख्य एवं शृंगार तीन मुख्य रसों का चित्रण हुआ है। व्रजभाषा में होते हुए भी राजस्थानी पंजाबी मराठी एवं मैथिली शब्द भी मिल जाते हैं।

भाषा में जनप्रचलित मुहावरों का प्रयोग अच्छा तरह हुआ है। 'बूलहरि में गुड़ फोरना' 'माया तो दवने आते का लव' 'आलिन गूंद छयाजू' ऐसे ही सुन्दर मुहावरे हैं। सम्पूर्ण रचना में समतामूलक अलंकारों का प्राधान्य है। संगीत की दृष्टि से समस्त पद ८ राग रागिनियों में विभक्त है। उनकी रचना के कतिपय उदाहरण निम्न हैं। प्रेम मार्ग के बारे में गोपियाँ कह रही हैं —

---

१ गीतामृत गंगा प्रथम घाट पृ० १।

यह निगोड़े को पड़ो ही न्यारो
जो कोइ होय के भागी चले
मु लहै प्रियवस्तु चहूधा उजारो।
सो तो इत उत भूल्यो फिरैं न लहै कछु गो कोउ होय अन्यारो।
बृन्दावन सोइ याको पथिक है
जा प कृपा करे कान्ह प्यारो।[1]

उपर्युक्त छन्द को पढ़कर घनानन्द का प्रसिद्ध छन्द याद आ जाता है जिसमें उन्होंने कहा है 'अति सूधो सनेह को मारग है जहं नेकु सयानप बाँक नहीं'। कृष्ण का रूप सौन्दर्य ऐसा है। गोपियों को अफसोस होता है कि आँखों को पंख क्यों नहीं मिले अन्यथा वे कृष्ण के कमलमुख के मकरन्द को भ्रमर के समान पान करतीं

अँखियन पाँखि दई न दई विधि
प्रीतम नलिन बदन मकरन्दहि मधुप ज्यों पीती धावति प्रतिदिन
क्यों हू घन पर दिन रैन सु मन रहै तन कों छिन हो छिन।
बृन्दावन प्रभु विरह कसाई माँहि करी जकरी बकरी ज्यों।
(गीतामृत गंगा चतुर्थ घाट ७४)

गीतामृतगंगा में रीतिकालीन रचना पद्धति का भी अच्छी तरह प्रयोग हुआ है।

ब्रजदासी

बृजदासी का वास्तविक नाम बाँकावती था। कौमार्यावस्था का इनका एक नाम ब्रज कुँवरि भी कहा जाता है। ये किशनगढ़ नरेश बाँकावत राजसिंह की पुत्री थी। रूपनगढ़ नरेश महाराजा राजसिंह से संवत १७७६ में इनका विवाह हुआ था। श्रीमद्भागवत का सरल एवं मधुर भाषा में इन्होंने पद्यबद्ध अनुवाद किया है। यह अनुवाद 'ब्रजदासी भागवत' के नाम से प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ की एक प्रति गीताप्रेस गोरखपुर में भी सुरक्षित है। उसमें भागवत के ग्यारहवें स्कंध का अनुवाद नहीं है। शेष स्कंधों का अनुवाद उसमें उपलब्ध होता है। यह प्रति सम्वत १८८४ विक्रमी की है। सम्पूर्ण ग्रन्थ दोहा एवं चौपाई छन्दों में लिखा गया है कहीं-कहीं अन्य छन्द—कवित्त सवैया तथा छप्पय—भी प्रयुक्त हुए हैं। अनुवाद एकदम शाब्दिक न होकर भावपरक भी है। मूलग्रंथ की उलझन वाली गुत्थियों को भी अपने ढंग से सुलझाने का प्रयास किया है। मूल

1 गीतामृत गंगा ४।३०।

ग्रन्थ के एकाधिक शब्द संकेत को पकड़ कर उन्होंने जिस प्रकार कलात्मक ढंग से चित्रित किया है वह उनकी रचना क्षमता तथा कल्पना शक्ति का द्योतक है। उदाहरणार्थ भागवत में रासपंचाध्यायी के अन्तर्गत कहा गया है

निशम्य गीतं तदनङ्गवर्द्धनं
व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः ।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः
स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः ॥

पर यहाँ एक समस्या रह जाती है कि व्रज स्त्रियाँ ही क्यों कृष्ण के पास दौड़कर गई थीं। व्रजपुरुष क्यों नहीं ? व्रजदासी जी ने अपने अनुवाद में इस गुत्थी को सुलझाना चाहा था। इस अंश का अनुवाद करते हुए उन्होंने लिखा है

सो मुरली को सबद सुन्दर सुनति भई गोपीं ता बार।
सबद सुन्यो नहिं ग्वालेन वाही सुतें न रहते वे गृह माहीं ॥
चले आवते प्रभु के पास तौ मिट जातो रस विलास ॥

इस प्रकार व्रजदासी जी का उत्तर है कि गोपों ने इस ध्वनि को सुना ही नहीं था। सुना इसलिए न था कि वे भी दौड़े आते और फिर रासरंग में विघ्न पड़ जाता।

इसके बाद इन गृहीत मानस गोपियों के कृष्ण के पास आने का हृदय ग्राही चित्रण हमारे सम्मुख एक बिम्ब उपस्थित कर देता है

सुनि मोहित ह्वै जब व्रजबाला छिप छिप इक इक चली सुचाला।
दौरत उछरत अंबर हारा किंकिनि नूपुर बजत सुन्दारा ॥
श्रवनत (श्रवनन) कुंडल हलत सुहाई अलक कपोलन पै घरि छाई।
जिन मन कृष्ण कमर हरि ली हौं गोपिन हृद ध्यान निज दीनों ॥

तथा

ज्यों सरिता सावन उमहाही किहू सों रोकी रहति जनाही।
कहु क कहूं आभरन पहरें तिन्ह की सुधि न कछु चित धरें ॥
पौंहचो प्रभु के निकटहिं जाय गोपी महामोद मन पाय।
तब जोग-माया सब भूपन अंग जोग किय ठौर सु तन तन।

दूसरा अंश मूल भागवत के व्यस्तसमस्तानरण का कहीं अधिक विशद

एवं मनोहर व्याख्या है। इस प्रकार अवसर पाते ही ब्रजदासी जी की रचना शक्ति जाग्रत हो उठती है। वे अनुवाद की अपेक्षा सूरदास एवं नन्ददास की परम्परा में मौलिक सृजन करने वाली प्रतीत होती हैं। इस प्रकार का मुक्त अनुवाद (Free Translation) अपने आप में रचना है और आज के बहुत से अनुवादकों के लिए सिद्धान्त भी है और चुनौती भी।

घनानन्द

नवीन खोजों के आधार पर घनानन्द का जन्म सम्वत् १७४० एवं मृत्यु सम्वत् १८१७ के आसपास स्वीकार किया गया है।[1] ये जाति के भटनागर कायस्थ थे तथा मोहम्मद शाह के दरबार में मीर मुन्शी के पद पर आसीन थे। संगीत पर इनका अच्छा अधिकार था। कहते हैं कि एक बार स्वयं बादशाह के कहने पर इन्होंने गाना अस्वीकार कर दिया था परन्तु अपनी प्रेमिका सुजान नामक दरबार की कन्या के अनुरोध पर तत्काल अपनी कला का प्रदर्शन कर दिया था। बादशाह ने इसे अपना अपमान समझकर उन्हें दिल्ली से निष्कासन का दण्ड दे दिया। प्रेमी घनानन्द ने चाहा कि सुजान भी साथ चले परन्तु उसने अस्वीकार कर दिया। निराश प्रेमी घनानन्द विरक्त होकर वृन्दावन चले आये और निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायी हो गये। लौकिक प्रेम की उनकी रचना शक्ति ने उदात्त बनाकर अलौकिकता की ओर मोड़ दिया। सुजान वेश्या के स्थान पर वे सुजान प्रिया प्रियतम के मुरीद हो गये।

भक्तिमार्ग में निम्बार्क सम्प्रदाय के अन्तर्गत सलेमाबाद पीठ के आचार्य वृन्दावन देव के ये शिष्य थे।

रचनाएँ

घनानन्द की ४० रचनाओं का संग्रह घनानन्द ग्रन्थावली के नाम से सम्वत् २००९ में पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हुआ है। इन रचनाओं में रचना स्तर के दो स्पष्ट अन्तर देखे जा सकते हैं। रचनाओं का प्रथम स्तर वह है जिसमें कि इन्होंने या तो वैयक्तिक स्वच्छन्दतावादी (रोमण्टिक) प्रेम की भावात्मक व्यंजनाएँ की हैं अथवा राधाकृष्ण की मधुर लीलाओं का रस निर्भर गान किया है। रचना का दूसरा स्तर अपेक्षाकृत उन निबंध रचनाओं का है जिनमें इन्होंने भक्ति सिद्धान्तों एवं सम्प्रदाय के नियमों का पद्यबद्ध वर्णन किया है। घनानन्द ग्रन्थावली में निम्नलिखित ४० ग्रन्थों का संग्रह

---

१ डॉ० मनोहर लाल गौड़ घनानन्द और स्वच्छन्द काव्यधारा पृष्ठ २१-२७।

किया गया है

(१) सुजान हित (२) कृपाकंद (३) वियोगिबेलि (४) इश्क लता (५) यमुनायश (६) प्रीति पावस (७) प्रेम पत्रिका (८) प्रेम सरोवर (९) व्रज विलास (१०) सरस बसन्त (११) अनुभव चन्द्रिका (१२) रंग बधाई (१३) प्रेम पद्धति (१४) व्रजभानु पुर सुषमा वर्णन (१५) गोकुल गीत (१६) नाम माधुरी (१७) गिरि पूजन (१८) विचार सार (१९) दान घटा (२०) भावना प्रकाश (२१) कृष्ण कौमुदी (२२) धाम चमत्कार (२३) प्रिया प्रसाद (२४) वृन्दावन मुद्रा (२५) व्रज स्वरूप (२६) गोकुल चरित्र (२७) प्रेम पहेली (२८) रसनायश (२९) गोकुल विनोद (३०) व्रज प्रसाद (३१) मुरलिका मोद (३२) मनोरथ मंजरी (३३) व्रज व्योहार (३४) गिरिगाथा (३५) पदावली (३६) परिशिष्ट (३७) त्रिभंगी छंद (३८) छन्दाष्टक (३९) प्रकीर्णक (४०)परम हंस वंशावली।

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि घनानन्द व्रजभाषा के श्रेष्ठतम कवियों में हैं। अपनी लाक्षणिक एवं व्यंजना हुई व्रजभाषा छन्दों की चमक अलंकारों के वैशिष्ट्यपूर्ण एवं उपयुक्त प्रयोग प्रेम भाव की स्वच्छन्द व्यंजना आदि के कारण वे हिन्दी के प्रमुख कवि गिने जाते हैं। साहित्यिक मूल्यांकन वाले अध्याय में हम उनकी रचनाओं का उपयोग करेंगे। दो एक उदाहरण केवल बानगी के तौर पर लें

रूप के भारनि होति है सौहीं लजौं हिय दीठि सुजान यों भूली।
लागिय जाति न लागी कहू निसि पागी तहीं पलकौंमति भूली।
बठिय जू हिय पठति आज कहा उपमा कहिय समतूली।
आय हौ भोर भय घन आनंद आंखित माझ सो साझ सी फूली।
—सुजान हित २

विरहिणी का यह मार्मिक कथन भी द्रष्टव्य है

इत बाट परी सुधि रावरे भूलनि कैसें उराहनों दीजिय जू।
अब तो सब सीस चढ़ाय लई जु कछू मन भाई सु कीजिय जू।
घन आनंद जीवन प्रान सुजान तिहारिय बातनि जीजिय जू।
नित नीके रहौ तुम्हें चाड कहा प असीस हमारियो लीजिय जू।

रूप रसिक देव

निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायियों के अनुसार रूप रसिक देव का समय १६ वीं शती का उत्तरार्द्ध है। परन्तु अन्य जन इन्हें १८ वीं शती के उत्तरार्द्ध में मानते हैं। लीला विंशति की रचना-काल बताने वाला संवत् पन्द्रह में मता

सिया एवं संवत् सत्तरा से सत्तासिया[1] का द्वन्द्व ही उस मत वभिन्य के मूल म है। इधर हम जो प्राचीन पोथियो के पूर्वग्रहरहित प्रमाण मिले हैं व यह सूचित करते हैं कि रूप रसिक देव १८ वी शती के अंतिम भाग एवं १६ वी शती के पूर्वार्द्ध म विद्यमान थे। यही नही उन्हें महावाणी प्रकट करने वाला भी कहा गया है।

ललित सम्प्रदाय के महात्मा वंशी अलि के शिष्य किशोरी अलि की वानी की एक प्रति हमें वृन्दावन म अनायास ही उपलब्ध हो गई है। प्रति खंडित है उसके अन्त का हा नही बीच बीच के पृष्ठ भी खो गये है पर कागज लिखावट एव प्रति की जर्जर स्थिति उसे १६ वी शती (विक्रमीय) से बाद का नही सिद्ध करती। इस सम्बन्ध म यह भी ध्यान म रखना है कि प्रस्तुत वाणी किसी साम्प्रदायिक विवाद से सम्बन्धित नही है। किशोरी अलि जी वि० की १६ वी शती के पूर्वार्द्ध के प्रसिद्ध महात्मा थ। वे वृन्दावन के तत्कालीन सतो म समादृत थे। प्रस्तुत प्रति म उनकी रचनाए (वानी) तो सकलित हैं ही उनके बारे म लिखे गए समकालीनो के प्रशसामूलक छन्द भी सकलित हैं तथा प्रसिद्ध राधावल्लभीय गोस्वामी चन्दलाल (संवत् १८२५ के लगभग) के साथ उनके पत्र व्यवहार का भी संग्रह किया गया है। इस प्रकार ग्रन्थ साम्प्रदायिक विवाद से सम्बन्धित न होकर एक प्रसिद्ध महात्मा के महत्त्व स्थापन का प्रयास है जो मध्यकाल म विरल नही है। इस प्रति म २०८ अन्तिम पृष्ठ है पर बीच बीच म कुछ अन्य पृष्ठ खो गये हैं। इनम एक स्थान पर हरिदास हरिराम व्यास ललित किशोरी आदि की प्रशसा करते हुए रूप रसिक जी के बारे म कहा गया है

रूप रसिक से रूप रसिकवर
दिव्य महावानी रस सानी प्रकट करन प्रकटे अवनी पर।
अति रहस्य रस की परिपाटी लखिबे इनकी कोउ न सरवर।
उमडि घुमडि हिय भाव घटा सों बरसत नित प्रति आनंद को झर।
गौर स्याम के रंग झकोरे कोरे जो आवे मारी भर।
मननि की सननि सों अलि कों दरसायो नवरलि कुंज घर।

इस पद की अंतिम पंक्ति से ऐसा लगता है कि किशोरी अलि को रसरहस्य का कुछ सकेत भी रूप रसिक जी ने दिया था।

इसी प्रकार पृ० १६१ पर गो० चन्दलाल जी के पत्र म भी उन्हें याद किया गया है

---

1 पदरा स सत्यासिया मासोत्तम आसोज।
यह प्रबध पूरन भयो शुक्ला शुभ दिन चोज॥
—लीला विंशति अग्रावन माधुरी, ८२।

रूप रसिक जन कृपा सों होत सकल मन काज।
प्रीति सहित बंदित रहौं तिनकों भरी लाज।

इस पत्र के उत्तर में श्री जगन्नाथ भट्ट (किशोरी अलि) ने जो उत्तर लिखा (पृ० १८३) उसमें भी रूप रसिक जी तक संदेश पहुंचाने एवं उत्तर में उनकी प्रणति लिखी है

रूप रसिक जी सों कहौं श्री राधावल्लभलाल।
उनहू सुनि हिय हुलसि कै प्रणति करी तिहि काल।

ऐसा लगता है कि गो० चन्दलाल जी एवं रूप रसिक जी में प्रत्यक्ष पत्र व्यवहार का घनिष्ठता नहीं था पर पारस्परिक समादर का भाव विद्यमान था एवं किशोरी अलि के माध्यम से ही एक दूसरे को प्रीति पहुंचाते थे। पृ० १८४ पर इसका स्पष्ट संकेत है। गो० चन्द लाल जी के पत्र में कहा गया है

रूप रसिक जू सों यहां कहियो अमित प्रणाम।
उनकौं पत्री आप ही करिहौ सब विधि काम।

इसी प्रकार पृ० १८६ पर की गद्य की पत्री में कहा है— श्री रूप रसिक जी की बांची पत्री आप ही।

इन सभी पत्रों पर तिथियां तो नहीं पड़ी पर पृ० १९० पर चन्दलाल जी के शिष्य रतन लाल ने जगन्नाथ भट्ट को जो पत्र लिखा है उसमें तिथि एवं सम्वत का इस प्रकार उल्लेख हुआ है — मिती असाढ़ सुदि पक्ष ७ सप्तमी सम्वत १८२१ में लिखा। इस प्रकार अधिकांश पत्र में १८ ५ के आसपास के मान जा सकते हैं। इन पत्रों आदि के आधार पर इस समय तक रूप रसिक जी का विद्यमान होना सिद्ध होता है। इस काल तक उन्हें महावाणीकार एवं रस रहस्य के ज्ञाता के रूप में पर्याप्त प्रसिद्धि भी मिल चुकी थी। अतः सम्वत १७८७ के लगभग रचना नितान्त सम्भव है।

इस हस्तलिखित प्रति से रूप रसिक जी के पुत्र एवं कृपापात्रों का भी परिचय मिलता है। किशोरी अलि जी की प्रशंसा में जिनके स्तुतिपूर्ण प्रशंसा परक छन्द एकत्र किये गये हैं उनमें रूप रसिक जी के पुत्र हरिजन दास जी द्वारा लिखित बधाई के पद पृ० १४ एवं १६४ पर संगृहीत हैं एवं रूप रसिक जी के कृपा पात्र गोपाल दास के पद पृ० १६५ १४६ में संकलित हैं। इससे भी उनका समय वि० की १८वीं शती का उत्तरार्ध ही सूचित होता है।

अस्तु इस प्रति के आधार पर भी हमारा पूर्व अनुमान सत्य ही सिद्ध

होता है कि रूप रसिक जी का रचना काल १८ वीं शताब्दी है एवं इस बात को स्वीकार कर लेने के बाद हरिव्यास देव का समय १७ वीं शताब्दी के मध्य भाग से पहले नहीं खींचा जा सकता।

रचनाएं

निम्बार्क सम्प्रदाय में रूप रसिक देव जी का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस सम्प्रदाय में रसोपासना की व्यवस्थित परिपाटी यहीं से प्रारम्भ होती है। कहते हैं कि हरि व्यास देव जी ने उन्हें स्वप्न में महावानी प्रदान की थी तथा श्री भट्ट जी के युगल शतक का सम्पादन भी उन्होंने किया था। इन दो ग्रन्थों के अतिरिक्त उनके लिखे चार ग्रन्थ और बताये जाते हैं।

(१) हरि व्यास यशामृत सागर
(२) नित्यविहार पदावली
(३) लीला विंशति
(४) बृहत्उत्सव मणिमाल

(१) हरिव्यास यशामृत सागर

यह रूप रसिक देव जी की प्रारम्भिक कृति माना जाता है।[1] हमारा मत है कि महावाणी उनकी प्रथम रचना है। यशामृत सागर में महावाणी की अलौकिक अवतारणा का प्रसंग २१ बार आया है।[2] यह बात ही हमारे मत को पुष्ट करने के लिए पर्याप्त है। अस्तु हरिव्यास यशामृत सागर में हरिव्यासदेव जी की कीर्ति का विशद गान हुआ है। सम्पूर्ण ग्रन्थ चौबीस लहरियों में पूरा हुआ है। हरिव्यासदेव जी के चरित्र के अतिरिक्त रसिक साधना के सैद्धान्तिक पक्ष की भी पर्याप्त चर्चा हुई है। जीवन के नैतिक-व्यावहारिक पक्ष का भी निरूपण किया गया है। ग्रन्थ का प्रकाशन वृन्दावन से हो चुका है।

(२) लीला विंशति

इनका दूसरा मुख्य ग्रन्थ है। इसे रूप रसिक देव जी की बानी भी कहा जाता है। सम्पूर्ण ग्रन्थ मंजरी विलास माधुरी एवं सुख इन चार विभागों में विभक्त है एवं प्रत्येक विभाग में पाँच-पाँच उपविभाग हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ रचना एवं सिद्धान्त दोनों ही दृष्टियों से अत्यधिक प्रौढ़ ग्रन्थ है। प्रौढ़ता परिपक्वता की दृष्टि से इसे कवि का अंतिम ग्रन्थ मानने में संकोच न होना चाहिए। बीसों लीलाओं के नाम विभागानुसार इस प्रकार हैं

१ डॉ० नारायणदत्त शर्मा नि० स० द्० भ० हि० क० पृ० ३ ५।
२ वही पृ० ३२६।

१ शिक्षामंजरी २ रसमंजरी ३ रसिक मंजरी ४ तरंग मंजरी ५ प्रेम रस ६ नव विलास ७ भावना विलास ८ नित्य विलास ९ रास रति विलास १० फूल विलास ११ नामावलि माधुरी १२ माधुर्य माधुरी १३ वृंदावन माधुरी १४ सिद्धांत माधुरी १५ हरिभक्ति मांवरी १६ सार सुख १७ सनेह सुख १८ सरूप सुख १९ सुहाग सुख २० होरी सुख

लीला विंशति में निकुंज लीला और उसकी विधायक साधना-पद्धति का सांगोपांग विशद एवं मनोहर वर्णन उपस्थित किया गया है। निम्बार्क-सम्प्रदाय की नित्य विहार उपासना का यह श्रेष्ठ ग्रन्थ है। ग्रन्थ का प्रकाशन बाबा माधुरी दास ने वृन्दावन से सं० २०१५ में कर दिया है।

(३) बृहदोत्सव मणिमाल

सम्प्रदाय के विविध उत्सवों में गाये जाने वाले पदों का संग्रह है। वसन्त होली फूल डोल राम नवमी अक्षय तृतीया जानकी नवमी नरसिंह जन्मोत्सव जलयात्रा हिंडोलोत्सव वामन द्वादशी रास महोत्सव दीप मालिका गोवर्द्धन पूजा राधाकृष्ण विवाहोत्सव आदि के अवसरों पर गाने के लिए इसमें पद संकलित हैं। यह ग्रन्थ अभी अप्रकाशित ही है।

(४) नित्य विहारपदावली

निकुंज रस के पुष्कर पदों का संकलन है। निम्बार्क शोध मंडल वृन्दावन की प्रति में ७२ पद हैं। श्यामा श्याम की एकान्त रसात्मक लीलाओं का भावपूर्ण चित्रण इन पदों में किया गया है। लीला विंशति के साथ ही इन पदों का भी प्रकाशन हो गया है।

रूप रसिक देव अच्छे कवियों में हैं। भाषा उनकी सरल सहज एवं प्रसाद गुण पूर्ण ब्रजभाषा है जिसमें यत्र-तत्र राजस्थानी एवं पंजाबी शब्दों का भी मिश्रण प्राप्त हो जाता है। परन्तु कथन के ढंग में वक्रता कभी-कभी रीतिकालीन अभिव्यंजना का स्वाद दिलाता है। दोहा उनका सबसे प्रिय छंद है साथ ही प्रचलित सवैया एवं अनुष्टुप छंदों के साथ भक्तिकाल की पद शैली एवं पंजाबी मांझ भी उन्होंने अपनाए हैं। पदों आदि पर राग रागिनियों का संकेत भी मिलता है। यह कहना कठिन है कि ये संकेत स्वयं उनके द्वारा दिए गए हैं या परवर्ती हैं। नायिका के सात्विक भाव की यह झलक देखिये

> अनोखी बेनी गूंथनहार।
> लाग गौर घुचान पुलक तन नीठि सुधाये बार।[1]

---

१ नित्य विहार पदावली पृ० ८२ संख्या ४०।

बिहारी का ठीक इसी भाव को व्यक्त करने वाला दोहा इसे पढ़कर सहज ही याद हो आता है। प्रिया की यह लीला भी द्रष्टव्य है

रमकि रमकि रस मे सनी झमकि झमकि झमकाति।
चमकि चमकि चपलानि सी, दमकि दमकि दमकाति।[1]

यह रूपक भी उनकी काव्यकला का नमूना है

सहज दोउ सुख के सिन्धु सरीर।
स्यामा स्याम स्वरूप उजागर नागर गुन गभीर।
अंग अंग उठत तरंग रुचि उमंग नेह नव तीर।
रूप रसिक जन अंचवत है नित सुरस सुधा को सीर।[2]

नेत्रो का यह प्रेमसाना सौन्दर्य भी देखिये

उनींदे मन मन रंग भीनें सलज हसोहीं सैन।
रतनारे कारे सु ढरारे अति अनियारे ऐंन।
झपकौंहे दोनेंरस कसे सहज सलौने मन हरि लैन।
रूप रसिक रंग रंगे सुहागे अनुराग नैन॥

—नि० वि० पदावली १७

श्री गोविन्द देव

आप श्री वृन्दावन देवाचार्य के शिष्य थे और जयराम शर्मा के साथ हुए शास्त्रार्थ झगडे के अनन्तर संवत् १८०० में सलेमाबाद पीठ पर आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए थे। आपका गोलोकवास संवत् १८१८ में हो गया था।

ऐसा लगता है कि गोविन्द देव जी में राजनैतिक कुशलता अधिक थी इसी कारण जयराम शर्मा जैसे विद्वान को भी आचार्य पद से हटा सकने में समर्थ हो सके थे। उनकी रचनाकुशलता का प्रमाण हमें विशेष रूप से उपलब्ध नहीं होता। उनकी रचना जयति चतुष्क में विभिन्न पूज्य एवं सेव्य जनों का गुणगान किया गया है। यह रचना साम्प्रदायिक गर्व से भरपूर है। गुरु परम्परा जयति में चैतन्य महाप्रभु एवं नित्यानन्द स्वामी को केशव काश्मीरी भट्ट का शिष्य गिना दिया गया है। ब्रह्मचारी बिहारी शरण ने इनका रचनाकाल १०० वर्ष पहले खींच कर संवत् १६७० के आसपास बताया है[3] जबकि संवत् १७७०

---

१ लीला विनति माधुर्य माधुरी स० २०, पृ० २५।
२ नित्य विहार पदावली १२।
३ ब्रह्मचारी बिहारीशरण निम्बार्क माधुरी, पृ० १६६।

इनके अतिरिक्त १०४ मे ऊपर संस्कृत के छोटे-बडे ग्रन्थ या टीकाओ वृत्तियो आदि का उल्लेख कंठमणिशास्त्री ने वल्लभीय सुधा (वर्ष ६ अंक २ पृ० १८ १९) म किया है। उनके कुछ पद कीर्तन सग्रहो म बिखरे पडे हैं। कीर्तन संग्रहों स ही हम उनके दो पद नीचे उदधृत कर रहे है। ये पद अधिकांशत सिद्धात सबधी हैं। गो० हरिराय जी का स्थान सम्प्रदाय के इतिहास म सिद्धांत निरूपण की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। उन्होने वल्लभाचार्य आदि पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रन्थो की पुनर्व्याख्या की है। इस व्याख्या म उन्होंने वल्लभ सम्प्रदाय का युगलोपासना की ओर मोडने का भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। यो तो युगल उपासना के पद हम अष्टछाप के कवियो म ही मिल जाते हैं पर सखी भाव की पूरी प्रतिष्ठा गो० हरिराय जी न ही दी है। पर इसका तात्पर्य यह नही है कि गोपी भाव का उत्थान तिरस्कार किया है। निम्न पद म उन्होंने गदगद कंठ स गोपियो के सौभाग्य का ही गुणगान किया है

परम रस पायो ब्रज की नारि।
जो रस ब्रह्मादिक को दुलभ सो रस दियो मुरारि।
दरसन सुख नैनन को दीनों रसना को गुन गान।
बचन सुमन श्रवनन को दीनों बदन अधर रसपान।
आलिंगन दीनों सब अंगन भुजन दियो भुजबंध।
दीनो परम विविध गति रस की नासा को सुख गंध।
दियो काम सुख भोग परम फल रवका रोम आनंद।
निग बठिबो नित बन लै उछग नद नद।
मन को दियो सदा रस भावन सख समूह की खान।
रसिक चरन ब्रज जुवतिन हो अति दुलभ जिय जान।

—कीर्तन संग्रह भाग ५ पृ० १५० १५१।

हमारे साहित्य को हरिराय जी की सर्वोत्तम देन वार्ता साहित्य है। चौरासी वैष्णवन की वार्ता एवं दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता का संकलन सम्पादन उन्हीं का किया हुआ है तथा उन पर भाव प्रकाश टिप्पणी भी गो० हरिराय जी की ही है।

हम ज्ञात हुआ है कि इधर गो० हरिराय जी के पद बडी संख्या म उप लब्ध हुए हैं पर दुर्भाग्यवश वे हम देखने को न मिल सके। उनके प्रकाशित उपलब्ध पदों के आधार पर हम यह विश्वास है कि इन पदों का समुचित विवेचन एवं मूल्यांकन भविष्य म कवि की दृष्टि म भी उन्हें महत्त्वपूर्ण सिद्ध करेगा।

श्री जगन्नाथ कविराय

श्री गोस्वामी विट्ठलनाथ के दौहित्र थे। इनकी माँ यमुना जी विट्ठलनाथ जी की चौथी पुत्री थी। इस प्रकार इनका उपस्थिति काल १७ वीं शती का अंतिम एवं १८ वीं शती का प्रथम चरण माना जा सकता है। संस्कृत में इनका गंगालहरी ग्रंथ प्रसिद्ध है। ब्रजभाषा के कुछ पद कीर्तन संग्रहों में उपलब्ध हो जाते हैं। उदाहरणार्थ एक पद यह है

> कान्ह रस भीनी ग्वालिनी श्रौर गोरस तजि कुल कान।
> ना घर मे मा अगना वाको मन जो लाज के पान।
> जोवन रूप रिझोते नननि में वाकी परी चितवन की बान।
> इक मुरली सुनि गई कोर तजि पानी के उत्तर ठान।
> खेलत मोहन नहिं काजर दै हँसी पीत पट तान।
> जगन्नाथ कविराय के प्रभु सों फाग खेलत खिलरान।
>
> —कीर्तन संग्रह भाग २ पृ० १३४ १३५।

कवित्व की दृष्टि से यह पद अष्टछाप की परम्परा में होने के साथ ही रसात्मक भी है।

श्री गिरधर जी (तृतीय घर)

सम्वत् १६६२ जन्म संवत् है। इनके ६ ग्रन्थ कहे जाते हैं जिनमें से तीन गद्य में हैं।

(१) सर्वोत्तम बधाई (२) सर्वोत्तम के पद (३) स्फुट कीर्तन (पद्य) (४) तृतीय गृह का उत्सव मालिका (५) नरगमंत्र व्याख्या (६) समानपद का ख्याल (गद्य)।

जीवन के विषय में विशेष कुछ ज्ञात नहीं है। तीनों काव्य ग्रन्थ भी वस्तुतः स्फुट पद ही हैं। यत्र-तत्र कीर्तन संग्रहों में इन पदों को देखा जा सकता है। प्रत्यक्ष से कोई ग्रन्थ हमारे देखने में नहीं आया है। एक उदाहरण लें

> एक सखी भुज गह एक पटका झकझोरे।
> एक धरे हरी दस एक मुख सों मुख जोरे।
> एक कहे री ढाढ़िये कहिये परम दुभाय।
> एकन बातन लाय सात की मुरली लई छिनाय।
> ढूँढन पाओ सबै देवी पगुआ मनमान्यो।
> रंगरंग बसन मंगाय दियो जाहि जैसो हो भान्यो।

बालकेलि देखा श्राई रोम रोम सचु पाई।
वल्लभ हरख निरख लेत हैं बलाई ॥[1]

उपयुक्त पद म अनुप्रास की आतरिक स्थापना छन्द को अतिरिक्त सागीतिक गुण से मडित कर देती है।

कृष्ण जीवन लछी राम

य गोकुलनाथ जी क शिष्य थ । १८ वी शती के पूव भाग म इनकी उपस्थिति अनुमानित है—क्योकि सवत १६६८ तक गोकुलनाथ जी ही जीवित रहे थे। इनका लिखा करुणा भरण नाटक प्रसिद्ध है। कीतन सग्रहो म प्रायः कुछ फुटकर पद भी प्राप्त होते हैं। एक उदाहरण यह है

चलो सखी बाग तमासे प्यारो मोहन खलत होरी।
सगरी सखी मिलि देखन निकसी पातरी कुवारी गोरी भोरी।
काहू प गुलाब काहू प केसर श्रबीर लिये भरि भरि झोरी।
कृष्ण जीवन लछीराम के प्रभ बने किशोर किशोरी।
(कीतन सग्रह भाग २ पृ० १४२)

भरे ढोटा भर देई यमुनजल भरी सौं तु मो तन चित चोरे।
भरे सग की दूर निकसि गई मोहि ठाढ़ी कीनी।
भरिये गागर जिन हित बोरे।
बाट घाट मे रोकत भगरत रहो रस वितयो रे।
कृष्ण जीवन लछीराम क प्रभु माई अकेलो जन जिन निरखोरे।
कीतन सग्रह भाग ३ पृ० १७६।

आली री मद मद मुरली धुनि बाजत नरयत क वर कन्हैया।
तसीये शरद की चादनी निरमल तसी बनी कुन्हैया
चदन की खार कीये और बनमाल हियेक चनकी बेलीमाना बनी बल्हैया
कृष्ण जीवन लछीराम के प्रभ प्यारे दौडकर लेत बलया।
(कीतन सग्रह भाग ३ पृ० १७६)

नागरीदास

नागरीदास का वास्तविक नाम सावतसिंह था। नागरीदास उनका भक्ति

---

१ कीतन सग्रह भाग ३ पृ० १७।

क्षत्र का नाम है। ये किशनगढ़ के राजा महाराजसिंह के पुत्र थे। संवत १७५६ में इनका जन्म हुआ था। मध्यकाल में हिन्दी में अनेक नागरीदास हो गये हैं परन्तु उनमें सबसे अधिक प्रमुख, महत्त्वपूर्ण एवं उत्कृष्ट प्रस्तुत नागरीदास ही हैं।

बाल्यावस्था से ही सावंतसिंह बड़े वीर एवं साहसी थे। पिता की मृत्यु के पश्चात इन्हें राज्य का उत्तराधिकार प्राप्त होता था। परन्तु छोटे भाई बहादुरसिंह ने जिस समय वे दिल्ली में ही थे गद्दी पर अधिकार कर लिया। कुछ दिनों तक सिंहासन प्राप्त करने के लिए राजनैतिक कुचक्रों में व फँसे रहे। परन्तु उसे प्राप्त करने में कृतकार्य नहीं हो सके। एक बार मराठों से सहायता लेने के लिए दक्षिण जा रहे थे रास्ते में वृन्दावन में किसी वैष्णव ने इनसे कहा कि राज्याधिकार प्राप्त करने का योग आपका नहीं आपके पुत्र को है। आपको तो भगवद्भजन करना चाहिए। उसके परामर्श को स्वीकार कर इन्होंने अपने पुत्र सरदार सिंह को बहादुर सिंह के विरुद्ध लड़ने के लिए भेजा और स्वयं वृन्दावन में रहकर भगवद्भजन करने लगे। इनके भाई ने इनके पुत्र से संधि कर ली और राज्य का एक भाग सरदार सिंह को दे दिया। संवत १८१४ में सावन्त सिंह ने वृन्दावन से आकर सरदार सिंह का राजतिलक किया और पुनः वृन्दावन चले गये। इनकी भगवद्भक्ति निष्ठा का सूचक सवैया हम नीचे उद्धृत कर रहे हैं जो कि उन्होंने जयपुर के राजा सवाई माधवसिंह के अनेक प्रश्नों के उत्तर में कहा था

> जाति के हम हैं तो ब्रजवासी जू ना रही औरहु जात की बाधा।
> देश है घोष न चाहत मोक्ष को तीरथ श्री जमुना सत साधा।
> संतन को सतसंग आजीविका कुंज बिहार अहार अगाधा।
> नागर के कुलदेव गोवर्धन मोहन मंत्र श्री इष्ट है राधा।

नागरीदास जी वल्लभ सम्प्रदाय के गोस्वामी रणछोड़ जी के शिष्य थे।[1] डॉ० फैयाज अली ने उन्हें परम पुष्टिमार्गीय माना है।[2] इसके अतिरिक्त मिश्रबन्धु, पं० रामचन्द्र शुक्ल एवं वियोगी हरि ने भी उन्हें वल्लभ मतानुयायी माना है। स्वर्ग डा० नारायण दत्त शर्मा ने निम्बार्क सम्प्रदाय के कृष्णभक्त हिन्दी कवियों पर लिखे अपने शोध प्रबन्ध में उन्हें निम्बार्क सम्प्रदाय का अनुयायी बताया

---

१ नागर समुच्चय पृ० ११ (भूमिका)।

२ डॉ० फैयाज अली खाँ : भक्त और नागरीदास—इनके काव्य विकास से सम्बन्धित प्रभावों और प्रतिक्रियाओं का एक अध्ययन पृ० ११६ (अप्रकाशित प्रबन्ध)।

है।[1] हमें ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में उन्होंने वष्णवीय दीक्षा किसी पुष्टि मार्गीय गुरु से ली है किन्तु बाद को वे अपने परिवार की परम्परा के अनुरूप ही निम्बार्क सम्प्रदाय की ओर आकृष्ट हो गये थे। इसी कारण उनके काव्य में पुष्टिमार्ग की व्रजलीला गोपीभाव की साधना तथा निम्बार्कीयों का निकुंजलीला गान तीनों ही उपलब्ध हो जाते हैं। पीछे जिस सवैये का हम उद्धृत कर चुके हैं उसमें राधा को इष्ट मानना इन्हें सखी सम्प्रदायों के निकट ले आता है। यों उनके काल तक पुष्टिमार्ग में सखी भावना का प्रवेश पर्याप्त मात्रा में हो चुका था।

नागरीदास का स्वर्गवास संवत १८२१ में वृन्दावन के कृष्णगढ़ राज्य की कुंज में हुआ था। वर्तमान समय में इसे नागरकुंज कहते हैं। वहाँ पर इनकी छतरी चरण चिह्न आदि विद्यमान हैं। समाधि पर उनकी प्रशस्ति में एक लेख भी लगा हुआ है तथा भादों सुदी ५ संवत १८२१ मृत्युतिथि भी दी हुई है।

नागरीदास बड़े कला प्रेमी और कवि थे। काव्यकला चित्रकला एवं संगीत के प्रेमी ही नहीं गहरे पारखी भी थे। कवियों के वे आश्रयदाता थे। कहते हैं कुछ कवि उनके साथ बराबर निवास करते रहे। ब्रजभाषा के विख्यात कवि घनानंद इनके परम मित्रों में थे। नागरीदास का साहित्य मात्रा में विशाल है। इनके ६९ ग्रंथों का संग्रह नागर समुच्चय के नाम से बहुत पहले बम्बई से प्रकाशित हुआ था। यह वैराग्य सागर सिंगार सागर और पद सागर नामक तीन खंडों में विभाजित है। उसमें संगृहीत ग्रंथों की सूची इस प्रकार है

१ वैराग्य सागर

(१) भक्तिमग दीपिका (२) देहदसा (३) वैराग्य बटी (४) रसिक रत्नावली (५) कलि वैराग्य बल्ली (६) अरिल्ल पच्चीसी (७) छूटक पद (८) छूटक दोहा (९) तीर्थानन्द (१०) रामचरित्रमाला (११) मनोरथ मंजरी (१२) पद प्रबोधमाला (१३) जुगल भक्त विनोद (१४) भक्ति सार और (१५) श्रीमद् भागवत पारायन विधि प्रकास।

२ शृंगार सागर

(१) व्रजलीला (२) गोपी प्रेम प्रकाश ( ) पद प्रसंगमाला (४) व्रज बैकुण्ठ तुला (५) व्रजसार (६) बिहार चन्द्रिका (७) भोर लीला (८) प्रातरस मंजरी (९) भोजनानन्द अष्टक (१) जगलरस माधुरी (११) फूलविलास (१२) गोधन आगम (१) दोहनानन्द अष्टक (१४) लगनाष्टक (१५) फागविलास (१६) ग्रीष्मविहार (१) पावस पचीसी (१८) गोपी बन विलास (१९) रास

[1] डॉ. फय्याज अली खाँ भक्त और नागरीदास पृ० ४७७।

रसलता (२०) रनरूप रस (२१) गीतसार (२२) इश्क चिमन (२३) छूटक दोहा मजलस मंडन (२४) रास अनुक्रम के दोहे (२५) अरिल्लाष्टक (२६) सदा की माझ (२७) वर्षा ऋतु की माझ (२८) होरी की माझ (२९) शरद की माझ (३०) श्री ठाकुर जी के जनम उच्छव के कवित्त (३१) श्री ठकुरानीजी के जनम उच्छव के कवित्त (३२) साझी के कवित्त (३३) साझी फूल बीननि समय सवाद अनुक्रम (३४) रास के कवित्त (३५) चादनी के कवित्त (३६) दिवारी के कवित्त (३७) गोवर्द्धन धारन के कवित्त (३८) होरी के कवित्त (३९) फाग गेन मर्दै अनुक्रम (४०) वसंत वर्णन के कवित्त (४१) फाग विहार (४२) फाग गोकुलाष्टक (४३) हिंडोरा के कवित्त (४४) वर्षा के कवित्त (४५) छूटक कवित्त (४६) वन विनोद (४७) बालविनोद (४८) सुजनानंद (४९) रास अनुक्रम के कवित्त (५०) निकुंज विलास और (५१) गोविन्द परचई।

३ पद सागर

(१) वन जन प्रशंसा (२) पद मुक्तावली और (३) उत्सवमाला।

उपर्युक्त ६९ ग्रन्थों के अतिरिक्त नागरीदास के बनाये तीन ग्रन्थ और कहे जाते हैं। उनके नाम ये हैं —

(१) छूटक विधि (२) निकुंजस्य (३) नखशिख (४) चरचरियाँ (५) रेखता (६) वन विलास (७) गुप्त रस प्रकाश (८) धमय धमय और (९) व्रज संबंधी नाममाला।

इस प्रकार नागरीदास के ग्रन्थों की कुल संख्या ७८ होती है। परन्तु जैसा कि पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है इन सभी को ग्रन्थ कहना देना उचित न होगा। क्योंकि इनमें कुछ तो ऐसे हैं जिनमें पाँच-पाँच दस-दस पद्य से अधिक नहीं हैं। वास्तव में ये ग्रन्थ न होकर वर्ण्य विषय के शीर्षक मात्र हैं।[1]

वर्ण्य विषय की दृष्टि से नागरीदास राधाकृष्ण की प्रेमलीलाओं के गायक थे। वल्लभ सम्प्रदाय में विरह को पर्याप्त मान मिला था पर जैसा कि हम पीछे कह चुके हैं राधावल्लभ में मिलन ही मान्य है विरह एवं मान वहाँ पर गौण हैं। १८वीं शताब्दी तक आते आते राधावल्लभ द्वारा निर्मित वातावरण ही अधिक मुखर हो उठा था। इसी प्रभाव के अन्तर्गत नागरीदास की सम्प्रयोग परक रचनाएं अधिक भास्वर एवं प्रभविष्णु प्रतीत होती हैं। परन्तु सब मिलाकर उनका काव्य व्रजलीलागान की परम्परा के भीतर आता है और इसी कारण पूर्व राग मान विरह आदि के भी मार्मिक चित्र उनमें उपलब्ध होते हैं।

भक्ति रस के कवियों की अभिव्यंजना के मुख्य काव्यरूप गेयपद थे। पर

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० ३२१।

नागरीदास एवं उनके अन्य सहयोगी कवित्त सवैया छप्पय दोहा आदि अन्य छंदों का सुष्ठु प्रयोग करते प्राप्त होते हैं। काव्यगत भावभूमि के संकुचन की क्षतिपूर्ति इन लोगों ने छन्दों के नक्काशीदार प्रयोगों अलंकार वैचित्र्य चित्रात्मकता एवं वाग्वैदग्ध्य से करनी चाही है। नागरीदास प्रारंभ से ही चित्रकला के शौकीन थे उनके संरक्षण में किशनगढ़ शैली के कितने ही मनोहर चित्र लिखे गए थे। चित्रकला की इस रंग एवं रेखा योजना का प्रभाव नागरीदास की कविता पर भी पड़ा था। इस चित्रता का एक उदाहरण देखिये —

> भादों की कारी अँध्यारी निसा, झुकि बादर मंद फुही बरसावै।
> स्यामा जू आपनी ऊँची अटा पै छकी रसरीति मलारहिं गावै।
> ता समै मोहन की दृग दूरि ते आतुर रूप की भीख यों पावै।
> पौन मया करि घूंघट टारै दया करि दामिनी दीप दिखावै।
> —नागर समुच्चय से

वल्लभ सम्प्रदाय के कुछ अन्य कवियों के नाम और उनकी रचनाओं के शीर्षक हम दे रहे हैं। सम्प्रदाय में इन नामों के साथ इन ग्रंथों की स्वीकृति है परन्तु हम प्रयास करने पर भी इन लोगों की रचना के उदाहरण नहीं मिल सके इसी कारण केवल नाम उद्धृत कर रहे हैं। इनके रचनाकाल का निर्णय हमने वल्लभीय सुधा (वर्ष ६ अंक २) में प्रकाशित पुष्टिमार्गीय विद्वान द्वारकादास परीख के आधार पर किया है।

श्री व्रजभूषण जी

जन्म १७१५ वि० है। इससे अधिक कुछ ज्ञात नहीं है (१) ८४ व० का धोल (२) नवरत्न का धोल (३) सर्वोत्तम का धोल (४) स्फुट धोल (५) श्री हरिराय जी का धोल।

श्री सुन्दरवर्ता बहू जी

ये श्री हरिराय जी की बहू थीं। जन्म मृत्यु संवत का पता नहीं है पर इतना निश्चय है कि रचना काल १८वीं शती था। व्रजभाषा में इनकी कुछ स्फुट रचनाएं मात्र हैं तथा गुजराती में चिन्तन धोल नामक एक ग्रन्थ है। लगता है कि इनकी मातृभाषा गुजराती थी।

श्री व्रजराय जी (सूरत)

जन्म-संवत १६८२ माना जाता है। रचनाकाल १८वीं शती का प्रथम भाग। इनके द्वारा रचित तीन ग्रंथ प्राप्त हुए हैं

(१) नित्य सेवा विधि (२) स्फुट कीर्तन (३) सर्वोत्तम जी का घोल

ललित सम्प्रदाय का अठारहवीं शती का साहित्य संक्षिप्त रूपरेखा

ललित सम्प्रदाय का उद्भव १८ वी शती के अंतिम चरण में होता है। राधा प्राधान्य इस सम्प्रदाय में अपनी चरम सीमा को प्राप्त करता है। काव्य की दृष्टि से यह सम्प्रदाय १६ वी शती में अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान का अधिकारी बनता है जब किशोरी अलि एवं अलबेली अलि जैसे कवि इस सम्प्रदाय में उत्पन्न होते हैं। हमारे आलोच्य युग में केवल इस सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक महात्मा वंशी अलि जी ही आते हैं।

ललित सम्प्रदाय के कवि

वंशी अलि जी

ललित सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक थे। उनके पूर्वज नवला वंश के प्रसिद्ध नारायण मिश्र थे। नारायण मिश्र भी भक्त रूप में प्रख्यात थे। नाभादास ने अपने भक्तमाल में उनके ऊपर भी एक छप्पय लिखा है।[1] श्री नारायण मिश्र जी सारस्वत ब्राह्मण थे एवं लाहौर से आकर मथुरा रहने लगे थे। उन्हीं के वंश में नवी पीढ़ी में वंशी अलि का जन्म आश्विन शुक्ल ? संवत् १७६४ में हुआ। उनके घर का नाम वंशीधर था। उनके पिता प्रद्युम्न मिश्र का दिल्ली के बादशाह बहादुरशाह के दरबार में अच्छा सम्मान था। वे भागवत के नाना पंडित थे। भक्ति और भागवत की परम्परा वाले इस वंश में बालक वंशीधर को प्रारम्भ से ही भक्ति साधना का वातावरण मिला और शीघ्र ही उनके हृदय में उपस्थित भक्ति का अंकुर लहलहा उठा।

उनके बारे में प्रसिद्ध है कि वे राधिका जी की वंशी के अवतार थे तथा श्री राधा के नाम में उन्हें शैशव से ही रुचि था। बिना राधा नाम सुने वे मां का दुग्धपान भी नहीं करते थे। १५ वर्ष की आयु में उनका विवाह हो गया था एवं बीस वर्ष की आयु में वे एक पुत्र के पिता भी हो गये। संवत १७६४ में वे वृन्दावन आ गये एवं १७६८ में तो उन्होंने वैराग्य ही ले लिया। उनका गोलोकवास संवत १८२२ में आश्विन शुक्ल एक को वृन्दावन के गोविन्द घाट के ललित कुंज में हुआ।

भागवत कथा के वे भी ममज्ञ व्याख्याता थे। तथा राधा नाम का दान निज पूर्णता तक उन्होंने पहुंचा दिया। राधा परतत्त्व सिद्ध कर दी गयीं। सिद्धांतो

1 भक्तमाल, छ० सं० १३४।

की चर्चा हम प्रयत्न कर चुके हैं अत यहा हम उस विवेचित नहीं करेंगे। वंशी अलि उनका सखी भाव का साधनागत नाम है।

उन्होंने राधा-तत्त्वप्रकाश तथा राधा सिद्धांत नामक ग्रंथों की संस्कृत में रचना की। इसके अतिरिक्त मोक्षवाद भक्ति स्वातन्त्र्य परामर्श एवं राधोपनिषत की टीकाएं भी उन्होंने लिखी है। परन्तु वे ब्रजभाषा के मर्म के भी पूर्ण जानकार थे। उन्होंने रासपंचाध्यायी एवं हृदय सर्वस्व के अतिरिक्त गीता के तमाम पदों का भी रचना की है। उनकी वाणी में सिद्धांत के ४१ पद वात्सल्य के ४६ पद माधुर्य रस के १२४ पद तथा अन्य उत्सव सम्बन्धी पद भी प्राप्य हैं। विभिन्न बधाइयाँ वंशावली हृदय सर्वस्व एवं महाराम आदि इस वाणी में संगृहीत हैं। इसके अतिरिक्त भी उनके पद यत्र तत्र मिल जाते हैं। प्रस्तुत लेखक को इस सम्प्रदाय का एक महत्त्वपूर्ण वाणी प्रति मिली है उसमें यद्यपि मुख्य रूप से किशोरी अलि जी की रचनाएं संग्रहीत हैं पर कुछ पद एवं उनका राधाष्टक भी उसमें सम्मिलित है।

वंशी अलि जी अत्यंत मधुर एवं सरस कवि हैं। सहज अकृत्रिम ब्रजभाषा में अत्यंत स्वाभाविक शैली में उन्होंने अपनी राधानिष्ठा एवं कुंजविहार को प्रकट किया है। अलंकारों की चमक दमक उनमें नहीं है लक्षणा व्यंजना के मार्मिक प्रयोग भी वंशी अलि जी की रचनाओं में प्राप्त नहीं होते परन्तु उनके सिद्धांत कथन एवं लीला गान अपनी सादगी एवं अकृत्रिमता में तथा भाव सवेदना में मन को सहज ही आकर्षित कर लेते हैं। उनके हृदय सर्वस्व के कुछ दोहे हैं

सेव्य सदा श्री राधिका सेवक नन्द कुमार।
कुंज सेवक सहचरी सदा विपुन विहार॥
नयनन से श्रृंगार सब होत है श्रृंगन माझ।
विहिरन में बूड रहें नहीं जानत दिन सांझ॥
नयन नासिका राधिका राधा मन विच प्रान।
बिछुरन नाहीं राधिका मो को परास समाय।३०
राधा श्रृंगार सिंगार हो जावक देहुं पाँव।
राधा ही सो भ्रमर हों मोंहि नहीं कहि ठांव।३८

वंशी अलि जी के किशोरी अलि एवं अलबेली अलि नामक दो समर्थ शिष्य थे जिन्होंने प्रचुर साहित्य की रचना की। यह साहित्य मात्रा की दृष्टि से नहीं काव्य गरिमा की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। परन्तु इन दोनों महानुभावों का रचनाकाल १६ वीं शती का प्रारंभिक अंश है इसी कारण हम उनका विस्तृत चर्चा नहीं कर रहे हैं।

१८वीं शती का राम भक्तो का ब्रजभाषा साहित्य पृष्ठभूमि और संक्षिप्त रूपरेखा

रामभक्ति काव्य एव गोस्वामी तुलसीदास के नाम बहुत दिनो तक हिन्दी म पर्यायवाची से बने रहे। कुछ अन्य परवर्ती लोगो के नाम सामने आये भी पर आचार्य शुक्ल जी ने उनकी ऐसी तीखी आलोचना[१] की कि बहुत दिनो तक उन के कृतियो के बारे म गभीरतापूर्वक सोचा ही नही गया। पर इधर पिछले कुछ वर्षो म आचार्य हजारी प्रसाद द्विवदी डा० भगवती प्रसाद सिंह श्री भुवनेश्वरनाथ मिश्र माधव एव डा० कामिल बुल्के आदि के सदप्रयत्नो म गो० तुलसीदास परवर्ती रामभक्ति का प्रभूत साहित्य सामने आया है। इस साहित्य के विश्लेषण से ज्ञान होता है कि शृंगारी उपासना इसम प्रमुख है। यद्यपि शान्त दास्य सख्य वात्सल्य भावो की भी स्वीकृति इस साहित्य म है परन्तु इन सभी भावो को सीता राम के विहार म ही सतत नियोजित किया गया है। कृष्ण की शृंगारी उपासना का इस सम्प्रदाय के साहित्य पर गहरा प्रभाव है। लीला गान की दृष्टि से राम के राजा रूप का ऐश्वय एव उपासना का माधुर्य दोनो ही इसम स्वीकृत रहे। १७ वी शती म अग्रदास के साथ यह परम्परा प्रारम्भ होती है १८ वी शती म बाल अली राम सखे मधुराचाय आदि इस प्रकट करते हैं। परन्तु अपने चरम वैभव पर यह साधना और साहित्य १९ वी शताब्दी म पहुचती है। रीतिकालीन शृंगार की छाया भी इस साहित्य पर बहुत स्पष्ट है।

इस सम्प्रदाय का अधिकाश साहित्य अवधी म लिखा गया है यद्यपि ब्रजभाषा म भी यथेष्ट साहित्य की रचना हुई है।

रामोपासक कवि

बालानद

डा० भगवती प्रसाद सिंह ने इनका जन्म साम्प्रदायिक ग्रन्थो के अनुसार स० १७१० निर्धारित किया है।[२] ये राजस्थान के किसी गाव म पैदा हुए थ एव बाल्यावस्था के प्रथम चरण म ही विरक्त हो गये थ।

बालानन्द जी का स्थान वैष्णव सम्प्रदायो म अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। १७ १८ वी शताब्दियो म जब शैव साधुओ के अत्याचार बहुत बढ़ गये थ तब जयपुर म वैष्णवो ने अपनी रक्षा के उपाय सोचने के लिए सवत १७७० के आस पास एक सम्मेलन बुलाया था। इस सम्मेलन म वैष्णवो को भी फौजी ढग पर

१ प० रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० १४० १४२।
२ डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय पृ० ८९।

निश्चित करने का निश्चय हुआ था। इस वष्णव अनी एवं अखाडो के संगठन का भार बालानन्द जी को ही दिया गया था। अपनी संगठन शक्ति प्रतिभा एवं शौय से उन्होंने शीघ्र ही वष्णवों की एक व्यवस्थित सेना खडी कर दी इस व्यवस्था ने शवों के आतंक को समाप्त कर दिया।

बालानंद जी राम के बलरूप के उपासक थे यो कि ऐश्वय एवं माधुय रूपो के प्रति भी उनके मन में आदर का भाव कम न था। काव्य रचना की ओर उनकी अधिक प्रवृत्ति नहीं प्रतीत होती केवल कुछ पद प्रकीर्ण रूप से यत्र-तत्र मिल जाते हैं। उनकी रचना का एक उदाहरण देखिए

कमल मली कमला मल हू रें प्रम प्रीति रस भीज।
मन क्रम बचन तुम्हें प्रभु सेव चपला अचल करीज।
मद मद मुसकात छबीले बोलत बचन रसीले।
बालानंद को देहु किंकरी श्रीपति ऐसे सुसीले।

बालकृष्ण नायक बाल अली

बालअली का रचनाकाल विक्रम की अठारहवी शती का पूर्वार्द्ध है। उनका ग्रन्थ ध्यान मजरी स० १७२६[1] में लिखा गया था तथा नेह प्रकाश का सृजनकाल स० १७४६ है। प्रारम्भ में व रामानुजाचाय की वयी भक्ति वाले सम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे। पर उस युग के व्यापक प्रभाव के अन्तगत उन्होंने आचार प्रधान इस साधना को छोडकर रवासा जाकर अग्रदास की परम्परा के पाँचवें आचाय चरणदास से रसिक साधना की दीक्षा ले ली। चरणदास जी के बाद वे रवासा गद्दी पर आचाय रूप में अधिष्ठित हुए थे।

उनके पदों में बाल अली की छाप मिलती है। उनके बनाए हुए आठ ग्रन्थों का पता लगता है। (१) ध्यान मजरी (२) नेह प्रकाश ( ) सिद्धान्त तत्त्व दीपिका (४) दशान मजरी (५) ख्याल पहेली (६) प्रेम

---

१ सत्रह से षटविंस बरस मास पुनि फालगुनि।
शुक्ल पक्ष पचमी अमल सुभवार लग्न दिन॥
तहि अवसर यह ध्यान मजरी प्रगट भई है।
परम सुमगल करनि बरनि बर मोदमई है॥
—ध्यान मजरी पृ० ५४।

२ प्रगटो नव षट सिन्धु शशि गनित समय सभलोय।
—नेह प्रकाश की पुष्पिका (सभा खोज रिपोट १६१७ भाग २ स० स० १६ ब)।

पहेली (७) प्रेम परीक्षा (८) परतीत परीक्षा। इन आठों ग्रन्थों में से ये एव सिद्धात की दृष्टि से प्रथम तीन ध्यान मजरी नेह प्रकाश एव सिद्धात तत्त्व दीपिका अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। नेह प्रकाश के १४८ दोहा मे सम्प्रदाय की मान्य ताओं के अनुसार आह्लादिनी शक्ति का विचार सखियों का नामावली एव उनकी सेवाओं का विवरण प्रारम्भ मे ही उपस्थित किया गया है। राम का सीता से प्रणय निवेदन भी है एव रस प्रेम तथा रूप के विलास हैं। सखियों के राम और जानकी के प्रति प्रीतिवचन तथा सीता की छवि का भव्य वर्णन भी इस ग्रन्थ मे उपलब्ध होता है। सीता की छवि का एक प्रभावशाली वर्णन देखिए

अरुण वरण सब वरण मय हैं कि तरुणि गिर मौर।
अनुरागो दृग लाल के बसे आय इहि ठौर।
सब दिशि कचन मय करत तन तन जोति अनूप।
मनु झर झरि मगन पर प्रगट रमाव रूप।
सिय सब रूप अपार पिय पियतन तन अघाय।
भये चहत सुर राज से निपरे अति अकुलाय।

ये दोहे अपने बनाव एव अभिव्यक्ति मुद्रा मे रीतिकालीन कवियों के दोहों के समान ही हैं। यह ध्यान रहे कि बिहारी हमारे प्रस्तुत कवि के समकालीन थे। यह बात सूचित करती है कि दोहों के द्वारा शृगारी अभिव्यक्ति की एक व्यापक परम्परा थी जिसमे मूधन्य बिहारी सिद्ध हुए पर उनके आसपास के स्तर पर ही अन्य कवि भी अभिव्यक्तियाँ प्रकाशित करते रहे। बान अली जी ऐसे ही श्रेष्ठ कवियों मे थे।

उन पर सूफी प्रबधपद्धति का भी गहरा प्रभाव मिलता है। सिद्धात तत्त्व दीपिका मे सूफी-पद्धति के प्रभाव मे समासाश्रित एव अन्योक्ति के आधार पर परम तत्त्व की रसिकजनसम्मत व्याख्या उपस्थित की गयी है। सूफी प्रभाव की दृष्टि से यह ग्रन्थ बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इसकी भाषा अवधी है। ६ अर्धालियों के बाद दोहे का क्रम इसमे भी स्वीकार किया गया है। इसमें प्रभावती साधन है सप्रेमा माया है कृपावती गुरु है भगवत्प्राप्ति इष्ट मिलन है और रसिक-साधना के अनुसार मधुरा भक्ति का संकेत दिया गया है। इस ग्रन्थ मे ६ प्रकाश हैं। व्रजभाषा का न होने के कारण हम यहाँ उसकी विस्तृत विवेचना नहीं करेंगे। ध्यान मजरी मे भी रसोपासना का ही निरूपण किया गया है। भाषा अत्यन्त सुगठित और, भावना तीव्र एव रस साधना का सूक्ष्म विवेचन इसमे उपलब्ध है।

सुनि सिय चरित सुमुखि मन हरष्यो उर आनन्द जलद क्यों बरष्यो।
सिय पद प्रेम बढ़े नित वाके और न सुधि आव उर ताके ।
उलही किधों सिंगार बेलि यह मदन सुहाई।
नाभि कूप के सलिल सो सींचि बढ़ाई।

राम प्रिया शरण प्रेम कली

जनकपुर की गद्दी पर ये महन्त थे तथा संवत् १७६ के लगभग विद्यमान थे। रामायण के अनुकरण पर लगभग ६३४ पृष्ठों के सीतायन नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की उन्होंने रचना की थी। इस ग्रन्थ में सीता चरित्र का अत्यंत उन्मत्त एवं महिमामण्डित चित्रण हुआ है। बालकाण्ड मधुरमाल काण्ड जयमाल काण्ड रसमान काण्ड सुख मान काण्ड रसान काण्ड और चन्द्रिका काण्ड इन सात काण्डों में पूरा ग्रन्थ विभाजित है। पर जैसा कि इनके शीर्षकों से ही अनुमानित है इस ग्रन्थ में सीता चरित्र का परिपाटी विहित परम्परा से प्राप्त चित्रण नहीं है। इसमें रसिक भावना के अनुरूप केवल बाल एवं यौवन की अवस्थाओं की विहार-लीलाओं का ही वर्णन किया गया है। इनमें से बालकाण्ड और मधुरमाल काण्ड प्रकाशित हो चुके हैं। रहस्य प्रमोदवन जानकी घाट अयोध्या एवं छतरपुर राज्य पुस्तकालय में ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रतियाँ सुरक्षित हैं। रसिक-साधना की दृष्टि से वास्तव में यह बड़ा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। मधुरमाल काण्ड में कवि ने अपना परिचय भी इस प्रकार दिया है

प्रिया शरण गुरु भावना अरु निज भाव समेत।
युगल नायका करि कहौ प्राप्ति भाव के हेत।
नेह कली आचार्य मम प्रेम लली मम रूप।
युगल सनयना की सखा अदभुत युगल स्वरूप।
वय सन्धिनी मधुराननी परम मनोहर अंग।
गौर वरण सिय के अंग, रहत सदा सिय संग।
मधुर भावना युगल की अरु शृंगार रस रीति।
सो सब वर्णन करत हों अति प्रसन्न अति प्रीति।

इस प्रकार इन्होंने अपने गुरु का नाम अपना साधनागत स्वरूप सेवा और स्थान तथा उपासना भाव एवं ग्रन्थ अभिव्यंजित भावना को स्पष्ट कर दिया है।

सीतायन की भाषा टकसाली अवधी है पर बीच-बीच में ब्रजभाषा का भी पुट उन्होंने दिया है।

जानकी रसिक शरण 'रसमाला'

जिस प्रकार सीतायन की रचना सम्वत १७६० में ही हुई थी वैसे ही रसमाल जी का अवधी सागर भी संवत १७६० में ही सम्पूर्ण हुआ था। रसमाला उनका साधनागत नाम है एवं माधुर्यभावपरक सीताराम की विहार आख्या का वर्णन अवधी सागर में हुआ है। अवधी सागर की रचना भी अवधी में ही हुई है इसी कारण हम विस्तार से उसकी चर्चा नहीं कर रहे हैं। पर उन्होंने कुछ फुटकर पद एवं भजन आदि भी लिखे हैं और इनमें अवधी के साथ ही ब्रजभाषा का भी प्रयोग हुआ है। इनके छन्दों में रस माला के अतिरिक्त रस मालिनि रस मालिका आदि अन्य छापें भी मिलती हैं। उनकी रचना का एक उदाहरण हम नीचे दे रहे हैं

> झूल सिय पिय संग हिंडोरे।
> प्रीतम के संग रमक बढ़ावत साँवरी सखिया चहु ओर।
> घन गरजत बिजुली अति चमकत बरसत रिमझिम पवन झकोर।
> रस मालिनि प्रीतम मनमोहन बोलत सगरव मोर चकोर।

रूपलाल 'रूप सखी'

काल अली के शिष्य थे। होरी नामक रचना प्राप्त है इनका समय १८वीं शती का मध्यभाग है।

> फागुन आगम भरि चढ़ यो अनिन बढ़ यो अनुराग।
> अब हिलमिल हम खेलिबो सखी लाल संग फाग।
> लालन लालन की जरी भरी रंग पिचकारि।
> अंस छोड़ छवि सो दिसि सिय उर ओर निहारि।
> दरि विमला तब दौरि के उठी हिलिमिलि नवल किशोर।

प्रेम सखी

विक्रम की १८वीं शती के अन्तिम भाग में प्रेम सखी जी विद्यमान थे। ये महात्मा रामप्रसाद बिन्दुकाचार्य के समकालीन थे। कहते हैं कि प्रयाग के निकट शृंगवेरपुर में एक ब्राह्मण के घर इनका जन्म हुआ था। बाल्यावस्था में ही वैराग्य ग्रहण करके ये महात्मा रामदास गूदर के शिष्य हो गये थे। मिथिला अयोध्या आदि में घूमते घामते एवं रसिक साधना की दीक्षा लेते हुए ये चित्रकूट आ गये थे। एवं वहाँ पर रहकर राम सीता की दिव्य लीलाओं का चित्रण एवं चिन्तन वे करते रहे। कहा है कि रामप्रसाद बिन्दुकाचार्य से प्रेम के नाते

सम्रादत अली खाँ ने पूछा कि अपनी टक्कर के दूसरे भक्त का नाम लीजिए और उन्होंने प्रेम सखी का सादर उल्लेख किया। सीताराम नखशिख उनकी कीर्ति का आधार मुख्य ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त होली एवं कवित्तादि प्रबन्ध में उनकी फुटकर रचनाओं का संग्रह है। इन छन्दों में भी नित्य विहार का ही वर्णन हुआ है।

सीता राम के नख शिख का अत्यंत मोहक एवं बिम्ब उपस्थित करने वाला चित्रण उन्होंने किया है। इस चित्रण का रीतिकालीन कवियों के नख शिख चित्रणों की तुलना में सुविधापूर्वक रखा जा सकता है। भाषा एवं शब्द चयन की गराई, अनुप्रास एवं अलंकारों की सजावट तथा छन्द की सुघरता सभी दृष्टियों से प्रस्तुत ग्रन्थ साहित्यिक एवं रसात्मक है। सीता के शरीर की रोम राजि का यह वर्णन किसी भी रीतिसिद्ध कवि के लिए ईर्ष्या का विषय हो सकता है परम्परासिद्ध उपमानों का सघन चित्रण इसमें हुआ है

नीलम नीलो कसी ससी है मध्य कंचन के तन
जाति कधों सिंगार पाँति साजी है।
आई स्यामताई की निकाई सब सिमिट के
जाहि देखि देखि रोम रोम पिय राजी है।
झीनी दरसात हैं बिमात छवि सरसात रूप
सुधासर में सवार सी बिराजी है।
प्रेम सखी मेरी जान सुखमा समूह राजी मनमन
राजी धों सिया की रोम राजी है।

यह ग्रन्थ सम्वत १७८१ में लिखा गया था।

विलास शाखाओं के अन्तर्गत निम्न छन्द में राम को नव वधू बनाकर सीता के हुजूर में पेश किया जा रहा है

आवक लगायो जस जात ऐसे पायन में
बिछिया कलित ह्व अधिक छवि छाई है।
घमि रह यो घरवारो लहँगो सबजारग
नील जरतारी सारी कंचुकी सुहाई है।
प्रेम सखी अंग अंग भूषण विविध साजि
बहू-बहू कहत वधूटी गहि ल्याई है।
सभगा ससी सिवा जू के तुरत हजूर
कियो नवल वधूटी एक सामने ते आई है।

इस स्वरूपता को यदि रसिक साधना के सन्दर्भ में देखा जाए तो अनुचित ठहराने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

राम सखे

राम सखे का स्थान राममक्ति के रसिक सम्प्रदाय में अत्यधिक आदरणीय है। वे सख्य भाव के मुख्य प्रतिष्ठापक एवं प्रवर्तक थे। विक्रम की १८ वीं शती का अन्तिम चरण एवं १६ वीं शती का प्रारम्भिक चरण उनका मुख्य कार्यकाल रहा है। वे जयपुर राज्य के किसी ब्राह्मण के पुत्र थे। कुछ बड़े होने पर रामभक्ति में मग्न होकर तीर्थयात्रा करते हुए दक्षिण के प्रसिद्ध माध्व केन्द्र उडुपी जा पहुंचे। वहीं उन्होंने तत्कालीन माध्व आचार्य वशिष्ठ तीर्थ से दीक्षा ली। फिर अयोध्या चित्रकूट उचहरा आदि स्थानों पर काफी दिनों तक निवास कर बांधवत्र में मन्दिर बना गये और वहां उनकी मृत्यु हुई।

उनके साधनागत भाव के विषय में अष्टछाप के कवियों के समान ही प्रसिद्ध है कि दिन में वे सखा भाव से उपासना करते थे एवं रात को सखी भाव से दम्पति की रामलीला में सेवा करते थे। उनकी १० कृतियों का उल्लेख डा० भगवतीप्रसाद सिंह ने किया है जो इस प्रकार है — (१) द्वैत भूषण (२) दान लीला (३) पदावली (४) बानी (५) रूप रसामृत सिन्धु (६) मंगल शतक (७) राम माला (८) नृत्य राघव मिलन दोहावली (९) नृत्य राघव मिलन कवित्तावली (१०) रास्य पद्धति।[1] इनके अतिरिक्त जानकी सौ रतन माणिक्य नामक ग्रन्थ संवत् १८६६ में कानपुर के डायमंड जुबली प्रेस से प्रकाशित भी हो चुका है। वास्तव में डा० सिंह द्वारा गिनायी गई दान लीला जानकी सौरत्न माणिक्य की ही ग्रन्थ प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ में कृष्ण-लीला के अनुकरण पर दानलीला चित्रित हुई है। इसके अतिरिक्त राम द्वारा सीता का शृंगार कुंज विहार राम विलास याममलीला एवं नाम की उपासना का आकर्षक एवं भावित वर्णन हुआ है। दान लीला का एक छन्द इस प्रकार है —

> विपिन प्रमोद सों जोरि महा दै आओ यही से बड़ी अलबेली।
> मानत न डर काहू को नैन कहूँ पाई अचानक आजु अकेली।
> कीजौ हमें करि नेग तुम्हें भावती चित्त की चोर हो रूप नवेली।
> बात हमारी मनो सब कान दै हो तुम तो दय जोग सहेली।

नृत्य राघव मिलन उनका दूसरा प्रसिद्ध ग्रन्थ है जिसकी रचना संवत् १८०४ में हुई थी। दोहे चौपाई एवं कवित्त छन्दों में इसकी रचना हुई है। दोहे

१ रा० म० र० स०, पृ० ४०६।

एव चौपाइयो की भाषा अवधी है पर कवित्तो म ब्रजभाषा का प्रचुरता से उपयोग हुआ है। इस ग्र थ म सद्धान्तिक निरूपण की ओर प्रवृत्ति अधिक है लीला चित्रण की ओर अपेक्षाकृत कम ध्यान दिया गया है। इसकी भाषा अपेक्षाकृत सीधा सादा है।

राम को रूप अनूप समुद्र मे
आगरि नाव निवाह नहीं है।
आसिन्ह देखि जु जाति वही सब
डूबि अथाहन थाह नही है।
घरि फिरे न घिरावन हार को
फेरे रह सो उठाऊ वही है।
राम सल मति चाप करो
चित पु बक सोइ की लीक सही है।

बसन्टवर प्र स स सम्वत १७३६ म मुद्रित उनकी पदावली म एक पद हम उदधृत कर रह है जिसम कि राम मीता क हानी खेलन का गारी चित्रण हुआ है

अहो पिय राम पकरि लिय लीन्हो कटि पट सरिवयन छीनो।
होरी सम रास मडल मे मन भायो सो कीनो।
मुख सों मसलि मथिली अखियन अ जन दीनो।
राम सन नलि अवध लाल प्रभ प्यारी क रस भीनो।

राम प्रपन मधुराचाय

रसिक साधना क क्षत्र म मधुराचाय का नाम मधुर प्रिया कहा जाता है। व ग्नना गन्ना क आचाय थ और कील्ह स्वामा की पाचवी पीढी म थ। कहते हैं कि पडयन्त्रपूवक उनकी गद्दी छीन ली गयी था पर व निद्व द्व भाव स चित्रकूट चल आय और सारा जीवन रसिक सिद्धाता क विवचन निरूपण एव प्रचार म लगाया। वस्तुत अब तक प्राप्त साहित्य म मधुराचाय स बडा विद्वान एव तत्त्व चिन्तक रामभक्ति का रसिक शाखा म दूसरा व्यक्ति प्राप्त नहीं होता। दार्शनिक धार्मिक (विशिष्टाद्वैत विषयात्मक) दृष्टि स गौडीय वष्णव म जो स्थान जीव गोस्वामी का है वही स्थान रामशाखा म मधुराचाय जी का है। परन्तु इनका अधिकाश सृजन सस्कृत म है हिन्दी म कुछ पद मात्र मिलते हैं। सस्कृत म इनक लिख चार ग्रथ बताए जाते हैं

(१) भगवद् गुण दर्पण

जाव गास्वामी के भागवत सन्दर्भ की भांति यह भी छह सन्दर्भों में विभाजित था। पर अब केवल सुन्दर मणि सन्दर्भ एवं अधूरा वदिक मणि सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। सुन्दर मणि सन्दर्भ के प्रारम्भ में ही जीव गास्वामी की दस्य ग्रन्थों की भांति मगलाचरण में ही अपना मत स्पष्ट कर लिया है

प्रोद्यद्भानुसपत्नरत्ननिकरदद्दीप्यमान महा
मोद दिव्यतरालि मञ्जु वनिताव दे सदा सेविताम।
रामोल्लासमुखे च व्याहृततम दिव्ये महामण्डप
ऽयोध्यामध्यप्रमोद शुभ्रविपिन राम ससीत भज।

(अयोध्या के मध्य में स्थित सूर्य के समान प्रभा विस्तार करने वाले रत्न समूहों से प्रकाशित शुभ्र प्रमादवन में मजु वनिता वृन्द से सेवित रामोल्लास के प्रारम्भ में दिव्य महामण्डप में आसीन सीता सहित राम की वन्दना करता हूँ।

(२) माधुर्य केलि कादंबिनी

इसमें राम सीता की केलि का अत्यन्त ललित वर्णन है।

(३) वाल्मीकि रामायण की टीका (शृङ्गार परक)

यह अप्राप्त है।

(४) राम तत्त्व प्रकाश

इस ग्रन्थ में भी सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के अनुसार श्री राम की लीलाओं का दार्शनिक लीलापरक विवेचन किया गया है। रसिक सत्ता में इसका प्रमाण ग्रन्थ के समान ही आदर किया जाता है।

उनकी हिन्दी रचना उतनी महत्त्व नहीं है। नीचे हम एक उदाहरण दे रहे हैं

सखि मैं आज गई सिय कुंज।
केलि करति किशोर डोर घेरि पिचका पुंज।
सब कहीं मैं सुनहु लालन लाल कौनल्लजय।
प्राण मिसाका करें बोरा चलहु इयर मग।
मधर प्रालस पाउ तुमका ओतिहौ रसिक।

प० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'कल्पना' अप्रैल १९५५ के अंक में उनका समय वि० की ग्यारहवीं शताब्दी का मध्य माना गया है।

सिया सखी

विक्रम की १८ वीं शती के उत्तरार्ध में विद्यमान सियासखी का वास्त विक नाम गोपाल दास था। ये भी जयपुर राज्य के अन्तर्गत एक ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुए थे। कुछ दिनों तक ये जयपुर के सीताराम मंदिर में महन्त भी रहे पर उनके साधक चित्त को वहां शान्ति न मिली और ये चित्रकूट चले आये। बहुत दिनों तक चित्रकूट के कामद गिरि पर रस साधना के उपरान्त पुनः जयपुर लौट गये थे। प्राचीन संग्रहों में इनके कतिपय पद उपलब्ध होते हैं जिनमें कि ब्रजभाषा के साथ राजस्थानी का भी मिश्रण है

सिया बाई जू सुनियो अरज हमारी।
औरन के तो और भरोसो म्हारे आस तिहारी।
करनी को तुम और न देखो अपनी बिरद सम्हारी।
ऐसो होन नहीं या जग में लोग हंसदे तारी।
रंग महल मे जावन दीजो सुनो पिया अवध बिहारी।
सिया सखी के सरबस तुम हो और सब नहि सारी।

महाराज छत्रसाल

औरंगजेब एवं मुगल सेना से जीवन पर्यन्त युद्ध करने वाले एवं शिवाजी के साथ ही हिन्दू राष्ट्रीयता का ध्वज ऊंचा करने वाले छत्रसाल पन्ना के बुन्देला राजा चम्पतराय के पुत्र थे। इनका जन्म ज्येष्ठ शुक्ला ३ सं० १७०६ में हुआ था। सारे जीवन इन्होंने मुगलों और पठानों से युद्ध किया तथा संवत् १७८६ में उनकी मृत्यु पन्ना में हुई। प्रसिद्ध वीर रस के कवि भूषण को इन्होंने अपने यहां आश्रय दिया था। अपने वीरत्व के कारण और भूषण के आश्रयदाता के रूप में उनकी ख्याति बहुत फैली पर उनकी सृजनात्मक शक्ति का अधिक प्रसार नहीं हो सका। छत्रसाल का जीवन वास्तव में शौर्य एवं पराक्रम के क्षेत्र में एक मिशनरी भावना का जीवन था। अपने उद्देश्य की पूर्ति में उन्हें ईश्वर भक्ति से यथेष्ट प्रेरणा एवं शक्ति प्राप्त होती थी। इसी कारण रीतिकाल की अपेक्षा इनकी रचनाओं का टोन भक्तिकाल का है। वियोगी हरि द्वारा सम्पादित छत्रसाल ग्रंथावली में उनकी आठ रचनाओं का संग्रह किया गया है। वे रचनाएँ हैं (१) रामावतार के कवित्त (२) रामध्वजाष्टक (३) हनुमान पचासा (४) श्री राधाकृष्ण पचासा (५) कृष्णावतार के कवित्त (६) महाराज छत्रसाल प्रति प्राणनाथ के प्रश्न (७) दृष्टान्त और फुटकर कवित्त (८) दृष्टान्त तथा राजनीति राग समूह।

छत्रसाल में भक्ति का साम्प्रदायिक आग्रह नहीं था। यद्यपि वे मुख्यत रामभक्त थे पर कृष्ण के प्रति उनकी श्रद्धा कम नहीं थी। प्रणामी सम्प्रदाय के प्रवर्तक प्राणनाथ जी उनके गुरुतुल्य थे तथा पन्ना में ही रहते थे। उस सम्प्रदाय का एक मुख्य पीठ वहाँ पर आज भी है। प्राणनाथ जी सर्व धर्म-समन्वय में विश्वास रखते थे। संभवत उन्हीं के प्रभाव में छत्रसाल में धार्मिक सहिष्णुता एवं समन्वय वृत्ति आई होगी। इस वृत्ति का सुन्दर निदर्शन उनके निम्नांकित कवित्त में हुआ है

सीतानाथ सेतुनाथ, सत्यनाथ मधुनाथ
नाथ नाथ देव नाथ दीननाथ दीनगति।
रघुदेव जदुदेव जदुदेव, देव देव
विश्वदेव, वासुदेव व्यासदेव, देवरति।
रनवीर रघुवीर जदुवीर ब्रजवीर
बल्वीर धीर वीर सतवीर आत्मति।
रामापति, रनपति रमापति छमापति
राधापति, रसपति रसापति रासपति।

ऐसा लगता है कि इस एवं राम के श्यामा की रसिक साधना का इन पर पर्याप्त प्रभाव था। यह प्रभाव चित्रकूट की स्थानगत निकटता का भी हो सकता है एवं सखी सम्प्रदाय की रसिक भावना का भी परिणाम हो सकता है। छत्रसाल के हृदय में राम की मधुर लीला के प्रति पर्याप्त आकर्षण था तथा इनके द्वारा राम विहार संबंधी रचनाएँ पर्याप्त हैं। एक उदाहरण लें —

तीज पर्व पावनि सुहावनि है आई आजु,
पूजन को सोमवट गोठि बनितानि की।
माला घनश्याम को रिझाइबे अनेक वेष
आईं धाए चन्द्रमुखी सुख सरितान की।
कर्थों कांति दीपमालिका की चन्द्रमालिका की,
एक ओर है करोर एक ओर है जानकी।
जोरि जोरि पानि सीता कहें राम छत्रसाल,
राम कहें सीता से ओदर सतान की।

—छत्रसाल ग्रंथावली पृ० ८८।

कृष्ण की माधुर्य लीला का एक प्रसंग कवित्त हम नीचे उद्धृत कर रहे हैं जो अपने समय सौन्दर्य एवं भाव साम्य की दृष्टि से देव एवं पद्माकर के घनाक्षरियों की तुलना में सहज ही उपस्थित किया जा सकता है

स्याम स्याम रग एक ग्वाल ग्वालिनी अनेक
गोद स गुलाल लाल धाल मुरि मुरि क ।
बोलत धमार मजु फाग और क्वोलो राग
स्यामा बनी स्याम स्याम स्यामा नह घुरि क ।
कह छत्रसाल ऐसो चूकिब न दांव आज
कीज अनराग फाग वाही ठौर जरि कै ।
रूप रस रग की हिलोरनि मे बोरो अ म
जोरो नवनेह लाल रग म हिलुरि के ।

महात्मा सूर किशोर

१८ वी शती क मध्यभाग म ही कील्ह स्वामी क पौत्र शिष्य सूर किशोर जी हुए है । मधुराचाय जी क य समकालीन थ और उनके गलता छाड दन पर य भी गलता छाड कर सीकर रहन लग । सीता का य पुत्री क समान मानत थ अत वात्सल्य भाव स राम और सीता की भक्ति करत थ । कहत हैं कि राम को जामाता मानन क कारण य अयोध्या म जल भी ग्रहण नहीं करते थ । सीता की बालक्रीडाओं का यह चित्र दखिय

जनक लली मधुरे सुर गाव ।
कोइ सखि रन दिवस सुधि भूलीं कोइ सखि ब्याह की बात चलाव ।
कोई सखि रीझि रीझि गन गावें कोइ सखि मलयर भयर उडाव ।
कोइ सखि मधर मधुर सुर गावें बाजन ललित अलिबीनि बजाव ।
सूर किशोर बनयो नहीं बिन सखिपा कोउ जान न पाव ।

ब्रजभाषा म इनका मिथिला विलास नामक ग्रन्थ उपलब्ध है । शष फुटकर पद उनक मिलत हैं । कवि क रूप म उन्ह उतनी प्रसिद्धि नहा मिल सका है जितनी कि अपनी वात्सल्य निष्ठापूण भक्ति भावना क लिए प्राप्त हुई है । मिथिला म रहन का यह निश्चय दखिए । अवधी एव ब्रज दोनों ही भाषाओं का रग इस म मिला हुआ ।

नप क गह बाल विहार करें सिय की पद रज जहाँ लहिय ।
मनिमुद्ग उपामक राम विवाह सोई निजठौर हिय गहिय ।
कह सूर किशोर विचार यहा हिम का तप का बरखो सहिय ।
बिउरो चवि क पलिको भाव क मिथिल मह बाँधि कुटी रहिय ।

ऊपर उद्धृत दोनों छद मिथिला विलास स लिय गए हैं ।

हर्याचार्य 'हरि सहचरी'

राम भक्ति की रसिक शाखा के प्रमुख व्याख्याता मधुराचार्य के शिष्य थे। तथा उनके बाद गलता गद्दी की आचार्य पीठिका पर प्रतिष्ठित हुए थे। राम की रास लीला ये बड़े धूम धाम से मनाया करते थे। हिन्दी में इनका एक अष्टयाम तथा कुछ स्फुट पद मात्र मिलते हैं। संस्कृत में गीत गोविन्द के अनुकरण पर 'जानकी गीत' नामक एक ललित ग्रंथ की रचना की थी। उनकी व्रजभाषा के कृतित्व का एक उदाहरण निम्नलिखित है

माई री रास रच्यो सरजू तट साम श्यवन वट छाहीं।
नाचत राम गोपाल कुंज में वैदेही गर बाहीं।
रागिनि मे अनुराग लता लिली वन प्रमोद के माहीं।
हरि सहचरि सुख चहल पहल में लोक वेद सुधि नाहीं।

१८ वीं शती का उत्तरार्ध एवं १६ वीं शती का प्रथम चरण इनका रचना काल है। इनके बारे में निश्चित तिथियों को जानने का कोई साधन उपलब्ध नहीं है।

गुरु गोविन्द सिंह

सिक्खों के प्रसिद्ध दसवें गुरु गोविन्द सिंह जो केवल लड़ाकू वीर योद्धा ही नहीं थे वे भावुक भक्त भी थे। यद्यपि सिक्ख सिद्धान्तों के अनुसार वे निर्गुणोपासक थे परन्तु वास्तव में उनका झुकाव पूरी तरह सगुणोपासना की ओर था। सम्भवत देवी देवताओं की श्रद्धा उनके भीतर उस मानसिक शक्ति को स्फुरित करती थी जिसकी उस संकट के समय में उन्हें परमपिता आवश्यकता थी। उनका जन्म संवत् १७२३ में हुआ था और संवत् १७६५ में मृत्यु हो गई थी। वे स्वयं तो कवि थे ही कवियों का आदर भी बहुत देते थे। उनके दरबार में बावन रस के छन्द कहने वाले अनेक कवि सम्मान प्राप्त करते रहते थे।

अपने ग्रन्थ गोविन्द रामायण में रामकथा का सुन्दर और प्रभावशाली चित्रण उन्होंने किया है। सम्भवत राम का प्रतापी ऐश्वर्यशाली चतुर दमनकारी एवं मर्यादा पुरुषोत्तम रूप उनकी आत्म भावना के अधिक निकट था। इनकी रचना शुद्ध रूप से रसिक भावना के अन्तर्गत नहीं आती। वास्तव में वे तुलसी की परम्परा के कवि थे। उनका एक कवित्त हम उद्धृत कर रहे हैं

निर्जन निरूप हो, कि सुन्दर स्वरूप हो
कि भूपन के भूप हो कि दानी महादान हो?
प्रान के बचया दूध पूत के दवया
रोग सोग के मिटया किधौं मानी महामान हो?

> विद्या के विचार हो कि अद्वैत अवतार हो
>
> कि सुद्धता की मूर्ति हो कि सिद्धता की सान हो ?
>
> जोबन के जाल हो कि कालहू के गाल हो
>
> कि सत्रुन के साल हो कि मित्रन के प्राण हो ?

इसी प्रकार निम्नलिखित सवैये में उन्होंने प्रभु प्राप्ति में प्रेम का महत्त्व बताया है

> ब्याह भयो दृग लोचन भूपि के बठि रह्यो बक ध्यान लगायो ।
>
> न्हात फिरयो लियो सात समुद्रन लोक गयो परलोक गवायो ।
>
> वासु कियो विखियान सो बठि के ऐसिहि ऐस सु बस बितायो ।
>
> साचु कहौं सुनि लहु सब जिन प्रेम कियो तिन ही प्रभु पायो ।

रामप्रसाद बिन्दुकाचार्य

आपका जन्म संवत् १७६० में अवध प्रदेश के मनिहारपुर नामक स्थान में एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण कुल में हुआ था। तरुणावस्था के प्रारम्भ में ही ये विरक्त होकर अयोध्या चले आये। कहते हैं कि एक बार जानकी नवमी के दिन सम्वत १७८७ में स्वयं जानकी जी ने अपने हाथ से इनके तिलक लगा दिया था। मृत्यु इनकी सम्वत १८६१ में मानी जाती है। इनके नाम से शिक्षा पत्री और गीता तात्पर्य निर्णय दो रचनाएं कही जाती हैं। परन्तु इनका महत्त्व कवि के नाते न होकर साधना एवं प्रभाव की दृष्टि से बहुत अधिक है। अपने समय के ये अत्यन्त प्रसिद्ध एवं प्रभावशाली संत थे।

मामा प्रयागदास

साधना एवं निष्ठा की दृष्टि से इस युग के एक अन्य प्रसिद्ध महात्मा हो गये हैं।

१८वीं शती का निर्गुणमार्गीय ब्रजभाषा काव्य पृष्ठभूमि तथा संक्षिप्त रूपरेखा

निर्गुण भक्ति-मार्ग प्रेम प्रधान नादयोग के आधार पर विकसित हुआ है। सगुण साकार भगवान की परम्परा एवं अवतारवाद की अस्वीकृति के

कारण रागानुगा पद्धति के व्यवहार की आवश्यकता निर्गुण मार्ग में नहीं थी। राधा गोपी सखा नन्द सुबल या हनुमान अथवा वशिष्ठ के भाव की कल्पना करके उस हृदय भाव या काव्य की योजना का स्वीकरण निर्गुणियों की पद्धति में अनुकूल नहीं था। इसी कारण उनके सारे सम्बोधन एवं अभिव्यक्तियाँ सामाजिक सम्बन्धों के प्रतीकों पर आधारित हैं। इस दृष्टि से वे सूफी सिद्धान्तों के अधिक निकट हैं। ईश्वर को सामान्यतः इन लोगों ने स्वामी, पिता, माता अथवा पति के रूप में देखा है। यह परम्परा १८ वीं सदी के निर्गुणिया कवियों में पूर्ण तथा सुरक्षित रही है। यारी, बुल्ला, मलूकदास, सुन्दरदास, रज्जब सभी कवियों ने भगवान को इन्हीं रूपों में भावित किया है।

इस समय के निर्गुणमार्गी कवियों में एक सामंजस्य की वृत्ति और भी मिलती है। सगुणोपासना एवं अवतार तत्त्व का ऐसा तीखा विरोध इनमें नहीं रहा है जैसा कि हमें कबीर में प्राप्त होता है। चरणदास एवं प्राणनाथ के बारे में तो यह कहना ही कठिन है कि वे सगुणोपासक थे या निर्गुणोपासक।

निर्गुणी कवियों के बारे में एक तथ्य और भी द्रष्टव्य है कि वे या तो पूर्वीय प्रदेशों में केन्द्रित रहे या फिर राजस्थान उनका मुख्य केन्द्र रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि शुद्ध ब्रजभाषा में काव्य रचना निर्गुणमार्गियों द्वारा कम ही हुई है। पूर्वीय प्रदेशों के सन्तों की भाषा या तो भोजपुरी रही या फिर ब्रज भाषा में भी पूर्वीय प्रयोगों का यथेष्ट उपयोग किया गया। राजस्थान में राजस्थानी शब्दों का भी अत्यधिक मिश्रण ब्रजभाषा में किया गया। रज्जबदास जैसे कवियों में यह राजस्थानी छाया अच्छी तरह देखी जा सकती है। सुन्दरदास की भाषा अवश्य स्वच्छ एवं प्रवाहपूर्ण ब्रजभाषा बनी रही है। सम्भवतः मतों में सर्वाधिक प्रधान व्यक्ति भी वही थे। प्राणनाथ जैसे सन्त जहाँ तथ्य के क्षेत्र में समन्वयवादी हैं वहीं भाषा में भी तरह-तरह के मिश्रण उपस्थित किये हैं। गुजराती, सिंधी, फारसी, तुर्की, ब्रजभाषा, बुन्देली, राजस्थानी आदि अनेक भाषाओं की विशेषता उनमें उपलब्ध हो जाती है। कभी कभी तो उनको समझना भी कठिन हो जाता है।

इस युग की एक अन्य विशेषता है कि सन्त मत अनेक छोटे छोटे सम्प्रदायों में बटता है। यह विघटन की प्रवृत्ति थी और एक प्रकार का धार्मिक पुनरुत्थान भी। इस प्रवृत्ति का समानान्तर स्थितियाँ राजनैतिक जीवन में भी देखी जा सकती हैं।

दादूपंथ के कवि

रज्जब जी—सन्त सम्प्रदायों में कबीरपंथ के बाद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सम्प्रदायों में से एक दादू-पंथ है। दादू का व्यक्तित्व एवं महत्त्व लगभग कबीर

जैसा ही है। दादू के सैकड़ों शिष्य थे, उनमें से तीन—रज्जब जी, सुन्दरदास एवं जगन्नाथ प्रमुख हैं। इनमें से प्रथम दो का कार्यकाल विक्रम की १८वीं सदी के पूर्वार्ध तक रहा है।

रज्जब जी का जन्म सांगानेर के एक प्रतिष्ठित पठान वंश में सं. १६२४ में हुआ था। रज्जब अली खाँ इनका वास्तविक नाम था। रज्जब जी के विरक्त हो जाने के बारे में एक बड़ी विचित्र किंवदंती है। इस किंवदन्ती के अनुसार २० वर्ष की वय में तरुण रज्जब अली खाँ अपना विवाह करने के वर वेश में सांगानेर से आमेर जा रहे थे। रास्ते में दादू जी से साक्षात्कार हो गया। दादू ने उनके मन को इतना प्रभावित किया कि तत्काल विवाह का विचार छोड़ कर उन्होंने उनका शिष्यत्व ग्रहण कर लिया तथा दादू के साथ ही रहने लगे। रज्जब जी के बारे में यह भी प्रसिद्ध है कि आजीवन वे दूल्हे के वेश में ही रहे। वे कहा करते थे कि जिस वेश ने सद्गुरु के दर्शन कराकर उचित राह पर लगा दिया, उसे छोड़ना उचित नहीं है। मध्यकाल के सभी कवियों में हमें गुरु के प्रति आदर का भाव प्राप्त होता है, परन्तु रज्जब जी जैसी निष्ठा के दर्शन कम ही होते हैं। दादू दयाल जी की मृत्यु का इन्हें बहुत कष्ट हुआ था। उनकी मृत्यु के पश्चात कहा हुआ रज्जब का यह वाक्य प्रसिद्ध है

दीन दयाल दियो दव दीनो, दादू सो दौलत हाथ सो लीनी।
रोप अनीतन सो जु कियो हरि, रोजी जु रज्जब की जग छीनी।[1]

रज्जब जी की बानी ज्ञान सागर प्रेस बम्बई में सम्वत १६७५ में प्रकाशित हो चुकी है। इसमें १९४ अंगों में विभाजित उनकी ५४२८ साखियाँ हैं।[2] तथा २१८ पद, ११६ सवैये, ८ अरिल्ल, ८६ छप्पय तथा कुछ मिश्रित छन्दों की फुटकर कविताएँ भी संगृहीत हैं। कुछ अन्य छोटी छोटी रचनाएँ भी इस ग्रन्थ में प्रकाशित हैं। इस बानी के अतिरिक्त उन्होंने दो अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थों का सम्पादन भी किया है। दादू जी की रचनाओं का संकलन सम्पादन 'अंगवधू' के नाम से एवं विभिन्न महात्माओं की रचनाओं का संकलन 'सर्वंगी' के नाम से रज्जब ने किया है। सर्वंगी अत्यधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इससे जहाँ उस समय के सन्तों की वाणियों का सामाजिक रूप से पता चलता है, वहाँ रज्जब जी की उदारता वाली विचारधारा भी प्रकट होती है।

रज्जब जी के साहित्यिक महत्व का आकलन करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है— "रज्जबदास निश्चय ही दादू के शिष्यों में सबसे

1. परशुराम चतुर्वेदी, उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा, पृ. ४२५।
2. वही, सन्त काव्य, पृ. २१४ पर दी गई संख्या के आधार पर।

अधिक कवित्व लेकर उत्पन्न हुए थे। उनकी भाषा में राजस्थानीपन और मुसल मानीपन अधिक है तथा यद्यपि नाम्प्रदायिक काव्य गुण का सम प्रभाव है फिर भी एक आश्चर्यजनक विचार प्रौढ़ता वक्तृत्व और स्वाभाविकता है। और नाम जिसका कई पन्थ में कहते हैं रज्जब उस तत्त्व को मध्य हो छोटे छोटे दोहों में कह जाते हैं। इनके वक्तव्य विषय भी वही हैं जो साधारणत निर्गुण भावा पन्न साधकों के होते हैं पर साफ और सहज अधिक।[1] ऐसा लगता है कि रज्जब जी कथा-वार्ता की शैली के ममज्ञ थे इसी कारण दृष्टान्तों के बड़े मार्मिक प्रयोगों द्वारा एक प्रकार की नाटकीयता की स्थापना उन्होंने अपने काव्य में की है।

थकित होत पाको सुमन ज्यू कण हांडी माहिं।
माया कूब ऊथल निहचल वठ नाहिं।

मुसलमान होने के कारण सम्भवत वे सूफी प्रभाव को अधिक स्वाभा विक रूप में ग्रहण कर सके थे, इसी कारण उनके काव्य में प्रेम का वर्ग अति रिक्त रूप में तीव्र एवं प्रवाहशील है। विरहिणी की मर्मान्तक वेदना को चित्रित करने वाला पद नीचे हम उद्धृत कर रहे हैं—भाषा का राजस्थानी रंग भी उल्लेख्य है

म्हारो मंदिर सूनो राम बिन बिरहिण नींद न आवे रे।
पर उपगारी नर मिले, कोई गोविन्द आन मिलावे रे।
घती बिरहिण चित में आज अविनासी नहिं पावे री।
बहु वियोग जाग निसबासर बिरहा बहुत सतावे री।
बिरह कियो बिरहिणी बौरी घर बन कछु न सुहावै रे।
दह दिसि व्याकुल भयो चित चकरित कौन दसा बरसावे रे।
ऐसा सोच पड़या मन माहीं समझि समझि घू घावे रे।
बिरहबान घटि अंतर लाग्या घायल ज्यूं घूमावे रे।
बिरह अगिनि तनपिंजर छीना पिव कू कौन सुनावे रे।
जन रज्जब जगदीस मिलन बिन पल पल बरस बिहावे रे।

विरह के महत्त्व को प्रतिपादित करने वाला निम्नलिखित दोहा तो उनकी सूफी भावना एवं भावना को ही व्यंजित करता है

---

१ हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य पृ० १६०।
२ संत काव्य पृ० ५८२।
३ कल्याण संतवाणी अंक, पृ० २५०।

दरद नहीं दीदार का, तालिब नाहीं जीव।
रज्जब विरह वियोग बिन कहा मिलै सो पीव।

रज्जब की मृत्यु सम्वत १७४६ में मानी जाती है। इस प्रकार उन्हें १२२ वर्ष की लम्बी आयु मिली थी।

सुन्दरदास

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने साहित्य के इतिहास में सुन्दरदास के महत्त्व का स्थापन करते हुए कहा है "निर्गुणपंथियों में ये ही ऐसे व्यक्ति हुए हैं जिन्हें समुचित शिक्षा मिली थी और जो काव्य कला की रीति आदि से परिचित थे। अतः इनकी साहित्य रचना साहित्यिक और सरस है। भाषा भी काव्य की मँजी हुई ब्रजभाषा है। उन्होंने सिद्धहस्त कवियों के समान बहुत से कवित्त और सवैये रचे हैं। संत तो ये थे ही पर कवि भी थे इससे समाज की रीति नीति और व्यवहार आदि पर भी पूरी दृष्टि रखते थे।"[1]

ऐसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति सुन्दरदास का जन्म वैश्य कुल में जयपुर राज्यान्तर्गत द्यौसा नामक कस्बे में सं० १६५३ चैत्र शुक्ल ९ को हुआ था। ६ वर्ष की आयु में ही इनके पिता ने दादू जी के चरणों में डालकर इनको दीक्षा दिला दी थी। उसके बाद से अधिकांशतः वे दादू जी के पास ही रहने लगे। जगजीवन जी इनके ज्येष्ठ गुरुभाई थे और वे स्नेहपूर्ण ढंग से सम्प्रदाय की साधना का मर्म उनके सम्मुख उद्घाटित करते चलते थे। दादू की मृत्यु के पश्चात् वे जगजीवन जी के प्रयत्नों से संवत् १६६३ में विद्याध्ययन के लिए काशी आये। काशी में विविध शास्त्रों का गंभीर अध्ययन करके सं० १६८२ में वे फतेहपुर (शेखावाटी) लौट आये। काशी से लौटने के बाद उन्होंने लगभग १२ वर्ष योगाभ्यास किया तथा फिर तमाम देशों का पर्यटन कर अनुभव प्राप्त करते रहे। योगाभ्यास एवं देशाटन से प्राप्त अनुभव उनके काव्य में स्पष्ट उपलब्ध हो जाते हैं। घूमघाम कर वे फिर सांगानेर (रज्जब जी की जन्मभूमि) चले आये। रज्जब जी के प्रति इनके मन में अत्यधिक स्नेह एवं आदर का भाव था। कहा जाता है कि संवत् १७४६ में रज्जब जी की मृत्यु की वेदना में ही इन्होंने अपने प्राण त्याग दिए। इस प्रकार सं० १७४६ ही उनका भी मृत्यु संवत् है।

सुन्दरदास द्वारा रचित साहित्य का परिमाण विशाल है। दो भागों में प्रयत्न सुरुचिपूर्ण ढंग से सम्पादित करके इनकी रचनाओं का संग्रह 'सुन्दर ग्रन्थावली' के नाम से पुरोहित हरिनारायण शर्मा ने प्रकाशित कराया है। उनमें

---

१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० ८१ ८२।

सकलित छोटे बडे ग्रन्थो की सख्या ४२ है परन्तु ज्ञान समुद्र एव सुन्दर विलास ही आकार एव महत्त्व दोनो ही मे बडे है। ज्ञान समुद्र मे पाँच उल्लास या अध्याय है जिनमे श्रवण गुरु नवधा भक्ति अष्टाग योग सश्वर साख्य मत एव अद्वैत ब्रह्म ज्ञान का पाण्डित्यपूर्ण निरूपण किया गया है। ग्रन्थ पूर्ण रूपेण सिद्धान्तपरक कहा जा सकता है। सुन्दर विलास मे सन्तो द्वारा निरूपित विषयो एव आत्मानुभूतियो का ललित एव काव्यात्मक शैली मे वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ को सवैया भी कहा गया है। इसमे कुल ५६३ छन्द है। प० परशुराम चतुर्वेदी जी ने उनके सम्बन्ध मे रज्जब जी से तुलना करते हुए एक टिप्पणी दी है। उसमे कहा है – अपनी विद्वत्ता मे ये अपने गुरुभाई रज्जब जी से भी बढ़े चढे थे और साहित्यिक प्रवीणता भी इनमे उनसे अधिक थी।' पण्डित हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार जब कभी वेदान्त का तत्त्वज्ञान छोड कर ये अन्य विषयो पर लिखते थे तब निस्सन्देह रचना उत्तम कोटि की होती थी।

सुन्दरदास की इन दार्शनिक योगपरक रचनाओ से हमारे आलोच्य विषय का सम्बन्ध नही है। प्रस्तुत प्रसग मे वे अनावश्यक ही कही जायगी। परन्तु जहाँ पर प्रेम और भक्ति की अनुभूतिप्रवण कलात्मक रचनाए उन्होने की हैं वे हमारे लिये अवश्य ही प्रासगिक एव विवेचनीय हैं। नीचे हम उनकी ऐसी ही कतिपय रचनाए उद्धृत कर रहे है। निम्न दोहे मे प्रेम एव अनन्यता के साथ ही व्याकुलता की भी अनुभूति छिपी हुई है

प्रीतम मेरा एक तू सुन्दर और न कोइ।
गुप्त भया किस कारने काहि न परगट होइ।

निम्नाकित सवैये मे उन्होने प्रेम का शरीर एव चित्तवृत्तियो पर पडने वाला प्रभाव स्पष्ट किया है। इस पराभक्ति की अवस्था मे उनके अनुसार नवधा भक्ति में भक्ति करने का भी अवकाश शेष नही रहता। प्रेमाभक्ति की यह परिभाषा भी है और उसका व्यावहारिक रूप भी

प्रेम लग्यो परमेसर सों तब भूलि गयो सब ही घरबारा।
ज्यों उनमत्त फिरै जित ही तित नेकु रही न सरीर सभारा।
सांस उसास उठै सब रोम चलै दृग नीर अखडित धारा।
सुन्दर कौन करै नवधा विधि छाकि परयो रस पी मतवारा।'

१ सन्त काव्य पृ० ,८५।
२ हिन्दी साहित्य पृ० १४६।
३ ज्ञान समुद्र भक्ति निरूपण, ,८।

न लाज कानि लोक को न वद को कह्यो कर ।
न सक भूत प्र त को न दव यस ते डरे ।
सुने न कोन ओर की द्रसे न ओर इच्छना ।
कह न कहू ओर बात भक्ति प्र म लच्छना ।[1]

गापी भाव ओर इस प्र मा भक्ति का समानता ओर एकता दिखात हुए भी उ होन कहा है कि

प्रम अधीनो क्यो डोल क्यो की क्यो ही बानी बोल ।
जसे गोपी भूली दहा ता कौं चाह जासो नेहा ।[2]

उनक समस्त पाण्डित्य कलात्मकता काव्यकारिता एव व्यापक अनुभव का स्वाकार करत हुए भी हम यह कहन म सकाच नहा है कि आत्मानुभूति की जिस तीव्रता क दशन हम दादू जक जा म हात है उसका सुन्दरदास म अपेक्षाकृत अभाव है । परन्तु फिर भी व हमार आलाच्य युग क कुछ अत्यधिक महत्वपूण एव श्र ष्ठ कवियो म स हैं ।

सतनामी सम्प्रदाय क कवि

जगजीवन दास

सतनामा सम्प्रदाय का कोटवा शाखा क पुन सगठनकर्ता जगजावन दास जा का जम स० १७२७ माना जाता है तथा इनका दहान्त स० १८१८ म हुआ था । व बाराबका जिल क सरदहा नामक गाव क रहन वाल थ जा कोटवा स ४ मोल दूर है । जगजावन दास जा यावतजीवन गृहस्थी म हा रह । इन्होंने परमात्मा का अधिकतर सत्त या सत्य कहा है उसा क प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित का है । शरणागति एव प्रभुकृपा का इस सम्प्रदाय म बहुत अधिक महत्त्व है । उनक काव्य की भाषा यद्यपि अवधा है पर कहीं-कहा ब्रज क भी प्रयाग उनम उपलब्ध हो जात हैं । यत्र-तत्र उनम सूफा भावना की झलक भी मिल जाता ह । उनका एक पद इस प्रकार है

पपिहै पीय पुकारेउ पछिन आग रोय ।
तीनि लोक फिरि आयउ बिन दस सब्यो न कोय ।
जोगिन ह्व जग ढूढ़उ पहिरयों कुडल कान ।
पिय को अन्त न पायउ खाजत जनम सिरान ।

---

१ ज्ञान समुद्र भक्ति निरूपण ८ ।
२ वही वही ४१ ।

जगजीवन दास के रचे हुए सात ग्रन्थ कहे जाते हैं जिनमें से ज्ञान सागर प्रकाशित हो चुका है। अन्य ग्रन्थों के नाम हैं —प्रथम ग्रन्थ ज्ञान प्रकाश आगम पद्धति भटटा प्रलय प्रेम पथ और अघ विनाश।

दूलनदास

सत्तनामी सम्प्रदाय की कोटवा शाखा के पुन सगठनकर्ता जगजीवन साहब के शिष्य दूलनदास का जन्म लखनऊ जिले के समसी ग्राम में स० १७१७ माना जाता है। मृत्यु आपकी सवत १८३८ में हुई थी। ये एक जमीदार कुटुम्ब में उत्पन्न हुए थे और जीवन का अधिकांश भाग गृहस्थ रूप में जमीदारी की व्यवस्था करते हुए बिताते रहे। इस सासारिक जीवन के बावजूद उन्होंने अपना जीवन बड़े सादे ढंग से बिताया एवं आध्यात्मिक चिन्तन में सदैव लीन रहे। जीवन के अन्तिम भाग में अपना साधनात्मक जीवन रायबरेली जिले में एक गाँव में बस कर व्यतीत करते रहे।

अवधी भाषी प्रदेश में उत्पन्न दूलनदास के लिए यह स्वाभाविक ही था कि वे अवधी में काव्य रचना करते। फिर भी व्रजभाषा में उनके कुछ-न-कुछ पद अवश्य प्राप्त हो जाते हैं यद्यपि इनमें भी पूर्वीय प्रयोगों की प्रचुरता रहती है। सन्त दूलनदास के सम्बन्ध में एक बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि वे निर्गुणमार्गी सत्तनामी सम्प्रदाय के अनुयायी थे पर उनकी अभिव्यक्तियाँ सगुण भाव के रंग में पूरी तरह रंगी हुई हैं। उन्होंने सगुण लीला के अनेक प्रसगों का बहुधा उल्लेख किया है। परन्तु वे उन घटनाओं या लीलाओं की ओर आकृष्ट हुए हैं जो प्रभु के रक्षक, शरणागत प्रतिपालक दीनबन्धु रूप को स्पष्ट करती हैं। गजेन्द्र मोक्ष द्रौपदी लाज रक्षा आदि प्रसगों का उन्होंने कृतज्ञ एवं आतुर भाव से उल्लेख किया है। इस प्रकार सगुण भक्तों का उन पर प्रभाव पड़ रहा था। उनका गजेन्द्र मोक्ष का पद इस प्रकार है

जब गज अरध नाम गुहरायो।
जब लगि आव दूसर अच्छर, तब लगि आपुहि धायो।
पाय पियादे में करुनामय गरुड़ासन बिसराय।
धाइ गजहि गोद प्रभु लीन्हों आपनि भक्ति दिढ़ाय।[1]

इस प्रकार उन्हें दास भाव का भक्त माना जा सकता है।

---

१ कल्याण सन्तवाणी अंक पृ० २२८।

शुक सम्प्रदाय के कवि

चरणदास

शुक सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक स्वामी श्यामचरण दास का प्रारम्भिक नाम रणजीत था। भाद्रपद शुक्ल ततीया स० १७६० को इनका जन्म भागर वश म हुआ था।[1] भागवत कथा के गायक शुकदेव मुनि को य अपना गुरु मानते थे तथा सरस माधुरी जी के अनुसार १९ वर्ष की अवस्था म ही उन्होंने गुरुदीक्षा ले ली थी। सभवत प्रारम्भ म वे योग साधना म लगे रहे परन्तु उसमे मन नही भरा और सम्वत १७६३ म ब्रज चले आये यहाँ पर प्रेमाभक्ति के नीरव जन ने उन्हे सन्तुष्ट किया। एक स्थल पर उन्होंने लिखा है

> चार बेद किये व्यास ने अर्थ विचार विचार।
> ता म निकसी भक्ति ही रामनाम तत सार।

यह बात सूचित करती है कि उनका मन भक्ति म ही सन्तुष्टि प्राप्त कर सका था। यद्यपि इस सम्बन्ध म यह कहना कठिन है कि पहले वे भक्ति के माग म गये हैं या योग के। परन्तु इतना निश्चित है कि उनकी रचनाओं म भक्ति योग ज्ञान का सम्मुख समयोग है। भक्ति के इस क्षेत्र म भी उन्होंने विविध विचार धाराओं का समन्वय अपनी रचनाओं म किया है। पीछे चतुर्थ अध्याय म हम इन सब बातों का विस्तृत विवेचन कर चुके हैं। साधनागत इन समन्वयों के अतिरिक्त नैतिक शुद्धता सदाचार आदि को भी उन्होंने पर्याप्त स्थान दिया है।

सन्त चरणदास के ग्रन्थों के बारे म कुछ विवाद है। कुछ लोग इनके १५ या १७ ग्रन्थ मानते हैं। १८ ग्रन्थों का एक संग्रह श्री वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई म प्रकाशित हो चुका है। लखनऊ के नवलकिशोर प्रेस म इनके ग्रन्थों का संग्रह भक्ति सागर के नाम से प्रकाशित हुआ है। उसम निम्नलिखित ग्रन्थ संगृहीत हैं —ब्रज चरित्र अमरलोक अखण्ड धामवर्णन धर्म जहाज ज्ञान स्वरोदय अष्टांग योग पंचोपनिषद् सन्देह सागर भक्ति पदारथ वर्णन मन विरक्त करन सार गुटका ब्रह्म ज्ञान सागर भक्ति सागर। इसके अतिरिक्त उदयपुर के सरस्वती भंडार पुस्तकालय म इनके हस्तलिखित ग्रन्थों की प्रामाणिक सूची उपलब्ध है।[2]

---

१ भक्ति-सागर म सरसमाधुरी द्वारा वर्णित चरणदासावतार पृ० ६ (नवलकिशोर प्रेस लखनऊ)।

२ डा० मोतीलाल मेनारिया राजस्थान का पिंगल साहित्य पृ० १८१।

इसमें संगृहीत ग्रन्थ लगभग वही हैं जो नवल किशोर प्रेस के संग्रह में हैं। अपने ग्रन्थ लेखन का रचना संग्रह सम्वत उन्होंने एक स्थान पर सम्वत १७८१ बताया है। निर्गुण और सगुण भक्ति दोनों को सूचित करने वाली हम इनकी दो रचनाओं को उद्धृत कर रहे हैं। प्रथम रचना निर्गुण प्रेमप्रतीक भावधारा के अन्तर्गत परिगणनीय है

> गदगद वाणी कंठ में आंसू टपकें नैन।
> वह तो विरहन राम की तड़फत है दिन रैन।
> हाय हाय हरि कब मिलें छाती फाटी जाय।
> ऐसा दिन कब होवगा दरसन करूं अघाय।
> पीव कहो के मत कहो वह तो पी की दास।
> पी के रंगराती रहे जग सूं होय उदास।
> आज्ञाकारी पीव की रहै पिया के संग।
> तन मन सों सेवा करै और न दूजो रंग।

चरणदास जी ने राधा और कृष्ण की तथा कृष्ण और गोपियों की अनेक लीलाओं का गान किया है। रास-नृत्य में निरत राधाकृष्ण का यह चित्र किसी भी युगलोपासक के लिए स्पृहणीय हो सकता है

> रास में निरत करत बनवारी।
> मुदित मनोहर रंग बढ़ावत संग वृषभानु दुलारी।
> मोर मुकुट छवि सीस विराजत नाक बुलाक सुढारी
> कर मुरली कटि काछनि काछे अलक घूंघरवारी।
> राधा जी के सीस चन्द्रिका नीलाम्बर जरतारी।
> गावें सखी स्याम स्यामा संग नवनित रूप उजारी।
> ताथिना ताथिना थेई बजत पखावज ताल बीन गति न्यारी।
> ठनन ठनन ठन नूपुर की धुनि झनन झनन झनकारी।
> चरणदास शुकदेव दया सूं पायो दरस मुरारी।[1]

चरणदास के अनुशीलन से ऐसा ज्ञात होता है कि वे बहुश्रुत और बहुपठित व्यक्ति थे। उनके काव्य में यद्यपि कृत्रिम भावकारिता का स्थान नहीं है परन्तु फिर भी अभिव्यंजनागत चमत्कारों का उनमें नितान्त अभाव नहीं है। दो

---

1 चरणदास भक्ति सागर पृ० २५६-२५७।

सीधी सादी सरल शैली में उन्होंने अपने कथ्य को उपस्थित किया है। ब्रज के अतिरिक्त उनकी भाषा में राजस्थानी पंजाबी एवं रेख्ता के भी प्रयोग हैं। प्रेम और भक्ति के प्रसगों में उनकी वाणी में एक अतिरिक्त भास्वरता आ जाती है।

सहजो बाई

सहजो बाई महात्मा चरणदास की शिष्या थी तथा संवत १८०० में वे वर्तमान थी।[1] उनका रचनाकाल १८वी शती का अन्तिम भाग एवं १९वी शती का प्रथम चरण माना जा सकता है। साधना एवं भावात्मकता की दृष्टि से सहजो बाई के काव्य में निष्ठा की एक दीप्ति प्राप्ति होती है। अपने गुरु के प्रति उनके मन में अगाध निष्ठा थी

निश्चय यह मन डूबता मोह लोभ की धार।
चरनदास सतगुरु मिला सहजो लाई उबार।[2]

सहजो बाई के काव्य में साधनानुभूति की तीव्रता और निष्ठा के साथ ही जीवन के अनुभव एवं काव्य की चामत्कारिकता भी सजायी हुई है। उन्होंने सांसारिक कष्टों के प्रभावशाली चित्र उपस्थित करते हुये प्रभु भक्ति का उपदेश दिया है। यह भी कवयित्री की काव्य कुशलता एवं कल्पनाशक्ति का प्रमाण है। यों तो संसार की असारता स्वीकार सभी संतों ने आध्यात्मिक पथ की ओर मन को मोड़ना चाहा है परन्तु उस असारता का काव्य की परिपाटी पर जो बिम्बग्रहण होना चाहिए उसे करने में यों तो अधिकांश सत असफल हुए हैं अथवा उनकी प्रवृत्ति उस ओर नहीं रही है। परन्तु सहजोबाई ने मनुष्य के जीवन में नरक मृत्यु तक के अनन्त कष्टों के मार्मिक चित्र उपस्थित किये हैं। अर्थ सम्बन्धी कष्ट का एक चित्र देखिए

द्रव्यहीन भटकत फिरे ज्यों सराय को स्वान।
भिड़कि दियो जेहि घर गया सहजो रह्यो न मान।

सहजोबाई ने प्रेम मार्ग के भी अनेक मार्मिक वर्णन किये हैं —

---

१ सहजोबाई की बानी बेल्वेडियर प्रेस प्रयाग में सहजोबाई का जीवन चरित्र।

२ वही पृ० ? ।
सहजोबाई की बानी पृ० २६ दोहा सं० ७८।

प्रेम दीवाने जो भये प्रीतम के रंग माँहि।
सहजो सुधि बुधि सब गई तन की सोधी नाँहि।
प्रेम दीवाने जो भये पलटि गयो सब रूप।
सहजो दृष्टि न आवई कहा रंक कहा भूप।
प्रेम दीवाने जो भये कहें बहकते बैन।
सहजो मुख हाँसी छुटै कबहूं टपकैं नैन।[1]

दया बाई

दयाबाई सहजो बाई की गुरु बहिन तथा महात्मा चरणदास की शिष्या थी। इसीलिए इनका भी समय १८ वीं शताब्दी का प्रथम भाग माना जा सकता है। दयाबाई में लगभग वही प्रवृत्तियाँ हमें मिलती हैं जिनकी चर्चा हम सहजोबाई के प्रसंग में कर चुके हैं। बल्कि उनमें अपेक्षाकृत भावावेग का प्राबल्य अधिक है। उनके कुछ उद्गार भावोद्गार रचयिता एवं मीरा के समकक्ष रखे जा सकते हैं। कतिपय उदाहरण निम्नलिखित हैं

जनम जनम के बीछुरे हरि ! अब रह्यो न जाय।
क्यों मन कूं दुख देत हो विरह तपाय तपाय।
काग उड़ावत थक कर नैन निहारत बाट।
प्रेम सिंधु में परयो मन, ना निकसन को घाट।
बौरी ह्वै चितवत फिरूँ हरि आवै केहि ओर।
छिन उठूं छिन गिरि परूँ राम दुखी मन मोर॥[2]

दयाबाई के काव्य में सहजता एवं स्वाभाविकता का गुण बड़ी मात्रा में है। विद्वत्ता एवं व्यापक जीवनानुभवों के स्थान पर सहज पारिवारिक चित्रों के माध्यम से उन्होंने अपनी बात कही है। उन्होंने भगवान् और भक्त के मध्य माता एवं पुत्र का संबंध भी उपमान के रूप में उपस्थित किया है

नहिं संजम नहिं साधना नहिं तीरथ व्रत दान।
मात भरोसे रहत है ज्यों बालक नादान।
लाख चूक सुत से परै सो कुछ तजि नहिं देह।
पोष चुचक ले गोद में दिन दिन दूनों नेह।[3]

---

१ सहजोबाई की बानी पृ० ६ दोहा सं० ३४४।
२ दयाबाई कल्याण संतवाणी अंक पृ० ३१।
३ वही वही पृ० ३१।

बावरी पंथ के कवि

यारी साहब

बावरी सम्प्रदाय के अनुयायी यारी साहब का पूरा नाम यार मुहम्मद था। अपने सांसारिक जीवन में वे संभवतः एक सम्पन्न थे तथा उस वैभव को छोड़कर उन्होंने फकीराना वेश अपनाया था। परशुराम चतुर्वेदी का अनुमान है कि वे प्रारंभ में सूफी थे परन्तु बाद को बावरी पंथ के बीरू साहब के सम्पर्क में आने पर संत मत में दाखिल हो गये थे।[1] यारी साहब की एक रचना रत्नावली नाम से बेलवेडियर प्रेस से प्रकाशित हो चुकी है उसके सम्पादक के अनुसार वे संवत १७२५ से १७८० के बीच वर्तमान रहे होंगे परन्तु परशुराम जी का अनुमान है कि अठारहवीं शती के मध्य भाग में उनका स्वर्गवास हो गया होगा।[2] उनकी समाधि दिल्ली नगर में अब भी वर्तमान है।

यारी साहब के काव्य के बारे में अपना मत प्रकट करते हुए परशुराम चतुर्वेदी ने कहा है कि उनकी पंक्तियों में तल्लीनता एवं निर्द्वन्द्वता के भाव विशेष रूप में लक्षित होते हैं और अनुमान होता है कि ये सदा किसी ऊँचे भाव स्तर पर रहा करते थे। यारी साहब चूँकि तम गुण के भी निकट सम्पर्क में रह चुके थे इसलिए उनके काव्य में प्रेम का एक मार्मिक सौष्ठव प्राप्त होती है। यह हम पहले भी कह चुके हैं कि निर्गुणिया एवं सूफियों की प्रेम पद्धति लगभग समान होती है। कहानी का आवरण हटा देने के बाद शुद्ध प्रेमानुभूति ही दोनों में अवशिष्ट रहता है। यारी साहब के निम्न पदों में हम प्रेम की यही मार्मिकता मिलती है। प्रथम छन्द विरहिणी आत्मा का उद्घाटन है एवं द्वितीय में प्रेमानुभूति में पगी आत्मा का अभिलाषा व्यक्त हुई है

> बिरहिनी मंदिर दियना बार।
> बिन बाती बिन तेल जुगति सों बिन दीपक उजियार।
> प्रान पिया मेरे घर आया रचि पचि सेज सवार।
> सुखमन सेज परमतत रहिया पिय निरगुन निरकार।
> गावहु री मिलि आनंद मंगल यारी मिलि कै यार।
>
> —रत्नावली शब्द सं० १

---

१ परशुराम चतुर्वेदी उत्तरी भारत की संत परम्परा पृ ७८।
२ वही पृ ३८।

हौं तो सखी पिया सग होरी।
दरस परस पतिबरता पियाकी छवि निरखत भई बौरी।
सोरह कला सपूरन देखौ रवि ससि भे इक ठौरी।
जब तें दृष्टि परो अविनासी लागो रूप ठगोरी।
रसना रटत रहत निसिवासर नन लगो यहि ठौरी।
बहू यारी भक्ती कर हरि को कोई कहै सो कहो री।

—रत्नावली ना म० २।

धनवदास

यारी साहब के पाँच प्रमुख शिष्यों में से एक धनवदास थे। उनकी एक छोटा सी पुस्तिका 'शब्द प्रकाश' के नाम से प्रकाशित हो चुकी है। इस पुस्तक की भूमिका में इन्हें सवत १७१० से १८२७ के मध्य में स्वीकार किया गया है।[1] परन्तु यदि परशुराम चतुर्वेदी का यह अनुमान ठीक है कि यारी साहब का रचना काल १८ वीं शती का पूर्वार्द्ध था तो फिर धनवदास का समय अधिक से अधिक १८ वीं शती का उत्तरार्द्ध माना जा सकता है। प्रेम एवं पति-पत्नी के प्रतीक का प्रयोग धनवदास जी ने भी किया है

अविनासी दूलह बने मन मोह्यो जा को निगम बतावे नेन।
निरकार निरअक निरजन निर्विकार निरलेस।
अगद अजोनि भवन भरि पायो सतगुरु के उपदेस।

मारवाड़ी राजस्थानी शब्दों के प्रयोग के समेत कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं

पिय प्यारे रूप भलाना हो।
प्रेम ठगौरी मन रह्यो चित धाम बिकानी हो।
नवर कमल रस चाखियया सुख स्वाद बखानी हो।
दीपक ज्ञान पतग सों मिलि जोति समानी हो।[2]

बुल्ला (बूला) साहब

यारी साहब के एक अन्य प्रमुख शिष्य बुल्ला साहब थे। इन्होंने बावरी पंथ का प्रचार पूर्वी क्षेत्रों में किया था। गाजीपुर जिले में भुरकुड़ा ग्राम इनका मुख्य केन्द्र था। इनके बारे में प्रसिद्ध है कि वे कुनबी या कुरमी जाति के थे तथ

1 शब्द प्रकाश (बेलवेडियर प्रेस प्रयाग) जीवनचरित्र पृ० ४।
2 वही पृ० ४।
3 वही ६।

यारा साहब क सम्पक म आकर वराग्य क क्षत्र म आ गय थ तथा शीघ्र ही पहुँचे हुए सन्तो म उनकी गिनती होन लगी थी। परशुराम चतुर्वेदी क अनुसार उनका जन्म सवत १६८६ म हुआ था तथा मत्यु १७६६ म। वल्ला साहब की रचना शब्द सार क नाम स बेलवडियर प्रस प्रयाग स प्रकाशित हुई है। इनकी रचनाओ म भी अपन गुरु क ही समान प्रम प्रधान प्रधान भक्ति भावना का प्रकाशन हुआ है। नीचे जो पद हम उद्धत कर रह हैं उसम स यदि कुछ भवन जस कुछ शब्द निकाल दिये जाय तो यह कहना कठिन हो जायगा कि यह किसी गोपी का वचन है अथवा निर्गुण मार्गी भक्त का उद्गार। पद इस प्रकार है

आली आज कि रग प्रीति मन भावे।
गाय बजावत हसत हसावत सब रस लेय मनावें।
जन बुल्ला हरि चरन मनाव निरखि सुरति गति आपु मैं पावें।
—शब्द सार पृ० १५।

हरि हम देख्यो ननिन बीच तहा बसत धमारि कीच।
आदि अन्त मधि बन्यो बनाय निरगन सरगुन दोनो भाय।
चौन्हेव तिन्ह को लियो लगाय अनबूझे रहिगो मुह बाय।
सुन्न भवन मन रह्यो समाय तह ऊठत लहरि अन त आय।
जगमग जगमग है अजोर जनबुल्ला है सबक तौर।
—शब्दसार पृ १८।

आठ पहर चौसठ घडी भरो पियाला प्रम।[1]
बुल्ला कहै विचारि क इहै हमारो नेम।

या अपन प्रियतम को उन्होन नित्य एक रस तथा सवगुणसम्पन्न बताया भी है।

ना वह टूट ना वह फूट ना कबहीं कुम्हिलाय।[2]
सबरसो गण आगरो मोप बरनि न जाय।
(तुलनाय शृंगार कृष्ण स।)

गुलाल साहब

बुल्ला साहब और गुलाल साहब क मध्य बडा विचित्र सम्ब ध रहा है। कहत है कि अपन लौकिक सामाजिक जीवन म गुलाल साहब मालिक

१ बुल्ला साहब का शब्द सार साखी २ पृ० ।
२ वही साखी पृ ।

थे और बूला साहब (बुलाकीराम) नौकर। परन्तु जब बुलाकी राम सत मत म दीक्षित होकर बूला साहब बन गये तब गुलाल साहब ने भी उनसे सत मत की दीक्षा ली और वे उनके प्रमुख शिष्यो म से गिने गये। गुलाल साहब की बानी भी बेलवेडियर प्रेस प्रयाग से प्रकाशित हो चुकी है। इसके अतिरिक्त ज्ञान गुष्टि और राम सहस्रनाम भी कहे जाते है। गुलाल साहब का समय भी स० १७५० से लेकर स० १८१७ तक माना जाता है। भुरकुडा की गद्दी पर वे स० १७९५ से लेकर स० १८१७ तक आसीन रहे।[1] इनकी रचनाओ म भाषा का स्वर पूर्वी रचनाओ का है। परन्तु ब्रजभाषा के प्रयोग भी उनकी रचनाओ म प्राप्त होते है। इनकी रचना एव प्रेमवृत्ति का प्रकाशन एक पद नीचे उद्धृत कर रहे है

> राम चरन चित अटको।
> सहज सरूप भेल जब की हेया प्रेम लगन हिय लटको।
> लागि लगन हिय निरखि निरखि छबि सुधि बुधि बिसरी उर के नयन।
> उठत गुंज नभ गरजि दसहु दिसि निरपट झरत रतन।
> भयो है मगन पूरन प्रभु पायो निमल निरगुन सत सटनो।
> कह गुलाल मेरे वही लगन है उलटि गयो जस नटनो।[2]

भोजपुरी अवधी मिश्रित ब्रजभाषा म प्रभु अनुग्रह पर विश्वास प्रकट करने वाली ये पक्तिया भी द्रष्टव्य हैं

> यह मन चचल चोर अन्याई
> भक्ति न आवत एक छिना।
> कृपा कियो प्रभु दृष्टि निहार या।
> सब कहि लागि रहल को ना।[3]

---

१ परशुराम चतुर्वेदी उत्तरी भारत की सत परम्परा पृ० ४८४।
२ सन्त काव्य सतबानी भाग २ पृ० २२२।
३ वही पृ० २२८।

१८वीं शती के कतिपय अ य ब्रजभाषा का य की रचना करने वाले सत कवि

मलूकदास

मलूकदास का ज म सवत १६२१ म इलाहाबा के क ा नामक ग्राम म हुआ था। जाति स ये खत्री तथा पेश म यवसायी थे। प्रारम्भ स ही य कोमल प्रकृति क थे। तथा बहुत कम आयु म हा य वराग्य की ओर आकर्षित हो गय थ। लड़कपन स ही य साधुओ का स्वागत और सत्सग किया करत थ। उ होन तीर्थाटन भी किया था तथा सबस अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि गुरु स दीक्षा लन क उपरान्त भी यावज्जीवन गृहस्थ ही बन र । इनकी मत्यु सवत १७२६ म हुई थी। मलूकदास क रचे हुए नौ ग्र थ परशुराम चतर्वेदी न बताए है जिनक नाम स प्रकार है [१]

(१) ज्ञान बोध (२) रतन खान (३) भक्त व छावली (४) भक्त विरुदावली (५) पुरुष विलास (६) राम अवतार लीला (७) ध्रुव चरित (८) बालक लीला (९) रामावतार लीला।

मलूकदास का एक दोहा ससार म प्रसिद्ध है

> अजगर कर न चाकरी पछी कर न काम।
> दास मलूका कह गये सबके दाता राम॥

परन्तु मलूकदास आलस्य का उपदेश कभी नही देना चाहत। वास्तव म उन्ह ई वर और उसक अस्तित्व पर बहुत अधिक विश्वास था। यद्यपि व सत मतानुयायी एव निगुण उपासक थ परन्तु भावना क आवेग म निगु ण क ब धनो का त्याग कर एव परमेश्वर स अपना निजी सम्बन्ध स्थापित कर लेत हैं। दय एव विनय क भाव की व्यजना करन वाला उनका य सवया स बात का स्पष्ट करने म समथ है

> दीन दयाल सुनी जब त तब त हिय म कुछ एसी बसी है।
> तरो कहाय क जाऊ कहाँ मैं तरे हित की तब कसी है।
> तरोई एक भरोसो मलूक को तरे समान न दूजो जसो है।
> एहो मुरारि पुकारि कह्यो अब मरो हसी नहि तेरी हसी है।

---

१ उत्तरी भारत की सत परम्परा पृ ८।
२ परशुराम चतुर्वेदी सतकाव्य पृ० ५८।

मलूकदास पूर्वी प्रदेश में जन्मे थे और वहीं उनका कार्यक्षेत्र रहा। इसलिए उनकी रचनाएँ पूर्वी भाषाओं के अंतर्गत आती हैं। ब्रजभाषा में उनकी रचनाएँ कम ही प्राप्त होती हैं। मलूकदास ने मलूकदासी पंथ का प्रवर्तन भी किया था।

संत तुलसीदास निरंजनी

आपका समय संवत् १७०० के आसपास है। वे राजस्थान के प्रसिद्ध निरंजनी सम्प्रदाय के अनुयायी थे तथा ऐसा प्रतीत होता है कि दर्शन तथा वेदान्त का उनका गहरा अध्ययन था। उनकी रचनाओं का एक बड़ा संग्रह डॉ० बड़थ्वाल के पास था। संत तुलसीदास ने नवधा भक्ति का वर्णन अपने सम्प्रदायानुसार किया है

तुलसी यह साधन भगति तरसौं सींची सोय।
तिन में आपत पाव्या प्रेम मुक्ति फल जोय॥[1]

परन्तु सब मिलाकर उनकी रचनाओं में भावात्मकता का अभाव मालूम पड़ता है। सिद्धान्त कथन, वैराग्य, निर्गुण उपासना आदि का ही इनमें आधिक्य है। भाषा भी मधुर एवं चामत्कारिक नहीं हो सकी है।

धरणीदास

बाबा धरणीदास का रचनाकाल १७वीं शती का अंतिम एवं १८वीं शती का प्रथम चरण था। इनके जीवन मृत्यु के संबंध का प्रामाणिक निर्णय नहीं हो सका है पर उनके ग्रन्थ प्रेम प्रगास से ज्ञात होता है कि सं० १७[illegible] में उन्होंने वैराग्य लिया था। वे छपरा के किसी कायस्थ के पुत्र थे। रामानन्द की शिष्य परंपरा में विनोदानन्द को उन्होंने अपना गुरु बनाया है। धरणीदास के शब्द प्रकाश, प्रेम प्रगास तथा रत्नावली नामक तीन ग्रन्थ कहे जाते हैं। इनमें से प्रेम प्रगास ग्रन्थ में एक प्रेम कहानी भी हुई है। इस कहानी की योजना यह बताती है कि उन पर सूफी प्रभाव की स्पष्ट छाया थी। इसके अतिरिक्त सगुण भक्तों की भाँति उन्होंने ईश्वर के दयालु दीनबंधु आदि रूप का वर्णन किया है। प्रिय एवं प्रिया (परमात्मा एवं आत्मा) के प्रकार के भाव ही रखकर प्रतिपादन आदि रूपों का भी उद्घाटन हुआ है

---

1 संतकाव्य साखी ६।

प्रभु जी अब जनि मोहि बिसारो।
असरन सरन अधम जन तारन जुग जुग विरद तिहारो।[1]

प्र म का प्रगाढ व्यजना उनक द्वारा रचित भाजपुरी क पदा म अधिक मु दर हा सकी है। ब्रजभाषा का ता प्रयाग ही उनम अत्यत विरल है।

प्रणामी सम्प्रदाय के कवि

प्राणनाथ

प्राणनाथ जी प्रणामी सम्प्रदाय क सस्थापक हैं। १८ वा शता की धम साधना क क्षत्र म उनका स्थान अत्यधिक महत्त्वपूण है। उन्होन सवधम सम वय का अपूव प्रयास उस युग म किया था। कहते है कि औरगजब की धर्मान्धता से क्षु ध होकर व उस समभान दिल्ली भी गय थे परन्तु वहा पर किसी न इनकी बाता पर ध्यान नहा दिया। वहाँ स निराश हाकर प्राणनाथ जी पन्ना चल गय एव छत्रसाल का हिंदू राष्ट्रीयता क पीछे भा उनका आशीवाद रहा है। इनक सम्प्रदाय का दो मुख्य गद्दिया म आज भी एक पन्ना म है और दूसरी सूरत म। १६७५ वि० क आसपास उनका जन्म हुआ था एव सम्वत १७५१ म वे स्वगवासी हुए थ। प्राणनाथ जा क गुरु का नाम दवचन्द्र था और सम्भवत वे कृष्णोपासक हरिदासी (सखी) सम्प्रदाय क शिष्य थ। राधाकृष्ण की युगल लीलाओं क गान की शि ा उन्ह सभवत अपन सखी भावापासक गुरु स ही मिली थी। पर प्राणनाथ जी का मनाप्राण व्यक्तित्व कवल गुरु द्वारा बनाई उपासना विधि म समा नहा सका। उन्ह और भी जिज्ञासा हुई और अनक धमग्रन्था का पारायण करक उन्होन अपन लिए जो रास्ता निकाल लिया है उसका समझना दूसरा क लिए भल ही कठिन हो पर स्वय प्राणनाथ जी अविचल वि वास क साथ अपन सामजस्यवादी माग पर चलत रह परन्तु कृष्णव प्र म माग का तिरस्कार उन्होंने कभी नहा किया। उनक अत्यन्त महत्त्वपूण ग्र थ तारतम सागर (स्वरूप सागर) स चुनकर प्र म-पाठ नामक पुस्तक प्रकाशित का गई है। अधिकारिया क हाथ म हा वितरित की जान वाली इस पुस्तक का एक प्रति हम प्राप्त हा गई है उसस ज्ञात हाता है कि राधाकृष्ण क लीलागान का उन्होन बाद का भी प्रत्याख्यान नहा किया। इस वाणी म यद्यपि निगु ण अथवा अन्य धम भावानुकूल रचनाए प्रभूत हैं पर लीला गान का अ ा भी कम नहा है।

---

१ प० रा चतुर्वेदी सतकाव्य पृ० ४००।
प्र मपाठ (प्राणनाथ का वानी) प्रकाशक अमर दास धनश्यामादास नमा दार्जिलिंग।

प्राणनाथ जी की रचनाओं के बारे में कुछ भी कहना इस समय कठिन है। १४ से लेकर २३ तक उनके ग्रन्थ माने जाते हैं। (१) रामग्रन्थ (२) प्रकाश ग्रन्थ, (३) षटऋतु (४) कलस (५) सबध (६) किरतन (७) खुलास (८) खलबात (९) प्रकरण इलाही दुलहन (१०) सागर सिंगार (११) बड़े सिंगार (१२) सिंधि भाषा (१३) मारफत सागर (१४) कयामत नामा। ये १४ ग्रन्थ ग्राउज ने अपने मथुरा ममायस में पृ० २०१ पर गिनाए हैं। परशुराम चतुर्वेदी ने (१) प्रगट बानी (२) ब्रह्म बानी (३) बीस गिरोहों की बाब (४) बीस गिरोहों की हकीकत (५) कीतन (६) प्र म पहेली (७) तारतम्य (८) राज विनोदा नामक इन ८ रचनाओं का उल्लेख डा० बडथ्वाल के आधार पर किया है।[1] चतुर्वेदी जी ने खोज रिपोर्ट के आधार पर विराट चरितामृत पदावली की भी चर्चा की है।[2] परन्तु जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि कुलजम शरीफ इनका सबसे महत्त्वपूर्ण एवं प्रामाणिक ग्रन्थ है। डा० शरण बिहारी गोस्वामी ने बताया है कि इस सम्प्रदाय के सखी भावोपासक 'तारतम सागर' को उनका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ मानते हैं।[3]

इन रचनाओं का न तो ठीक से प्रकाशन हुआ है एवं न व्यवस्थित अध्ययन ही। अतः उनके सबध में प्रामाणिक रूप से कुछ कहना कठिन है। प्राणनाथ जी में समन्वय का एक विचित्र खिचड़ी रूप मिलता है। उन्होंने विविध धर्मों से प्रभाव ग्रहण किये पर लगता है कि सबको पचाकर एक व्यवस्थित साँचे में ढाल नहीं सके एवं उसी प्रकार उन्होंने हिन्दी (ब्रज खड़ी मारवाड़ी) उर्दू गुजराती फारसी संस्कृत सिंधी आदि विविध भाषाओं का एक साथ प्रयोग किया है। इस कारण वे दुरूह हो गये हैं एवं काव्य की रसात्मकता भी खो दी है। प्राणनाथ जी अपने युग के अत्यधिक महत्त्वपूर्ण एवं विचित्र व्यक्ति हैं जो सबधर्म समन्वय भी करते हैं एवं छत्रसाल के हिन्दू राष्ट्रवाद को भी गति देते हैं। तथा सखी भाव से (इन्द्रावती उनकी सखी साधना का नाम था) श्याम श्यामा की लाड़ लड़ान की एकान्तिक रहस्य साधना भी करते हैं। उनकी ब्रजभाषा रचना का एक उदाहरण निम्नलिखित है

> निसदिन गहिरो प्रेम सो, युगल स्वरूप के चरन।
> निमल मन होना याही सो और धाम बरनन॥

---

१ उत्तरी भारत की सन्त परम्परा पृ० ५०२।

२ वही, पृ० ५ ३।

३ डा० शरण बिहारी गोस्वामी हिन्दी कृष्ण भक्ति काव्य में सखी भाव पृ० ३६०।

प्रभु जी अब जनि मोंहि बिसारो।
असरन सरन अधम जन तारन जुग जुग बिरद तिहारो।[1]

प्रेम की प्रगाढ़ व्यंजना उनके द्वारा रचित भोजपुरी के पदों में अधिक सुन्दर हो सकी है। व्रजभाषा का तो प्रयोग ही उनमें अत्यंत विरल है।

प्रणामी सम्प्रदाय के कवि

प्राणनाथ

प्राणनाथ जी प्रणामी सम्प्रदाय के संस्थापक हैं। १८वीं शती की धर्म साधना के क्षेत्र में उनका स्थान अत्यधिक महत्वपूर्ण है। उन्होंने सर्वधर्म समन्वय का अपूर्व प्रयास उस युग में किया था। कहते हैं कि औरंगज़ेब की धर्मान्धता से क्षुब्ध होकर वे उसे समझाने दिल्ली भी गये थे परन्तु वहाँ पर किसी ने इनकी बातों पर ध्यान नहीं दिया। वहाँ से निराश होकर प्राणनाथ जी पन्ना चले गये एवं छत्रसाल की हिन्दू राष्ट्रीयता के पीछे भी उनका आशीर्वाद रहा है। इनके सम्प्रदाय की दो मुख्य गद्दियाँ में आज भी एक पन्ना में है और दूसरी सूरत में। १६७५ वि० के आसपास उनका जन्म हुआ था एवं सम्वत् १७५१ में वे स्वर्गवासी हुए थे। प्राणनाथ जी के गुरु का नाम देवचन्द था और सम्भवतः वे कृष्णदासके हरिदासी (सखी) सम्प्रदाय के शिष्य थे। राधाकृष्ण की युगल लीलाओं के गान की शिक्षा उन्हें सम्भवतः अपने सखी भावापन्न गुरु से ही मिली थी। पर प्राणनाथ जी की महाप्राण व्यक्तित्व केवल गुरु द्वारा बनाई उपासना विधि में समा नहीं सका। उन्हें और भी जिज्ञासा हुई और अनेक धर्मग्रन्थों का पारायण करके उन्होंने अपने लिए जो रास्ता निकाल लिया है उसको समझना दूसरों के लिए भले ही कठिन हो पर स्वयं प्राणनाथ जी अविचल विश्वास के साथ अपने सामंजस्यवादी मार्ग पर चलते रहे परन्तु वैष्णव प्रेम मार्ग का तिरस्कार उन्होंने कभी नहीं किया। उनके अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ तारतम सागर (स्वरूप सागर) से चुनकर प्रेम पाठ नामक पुस्तक प्रकाशित की गई है। अधिकारियों के हाथ में ही वितरित की जाने वाली इस पुस्तक की एक प्रति हमें प्राप्त हो गई है उससे ज्ञात होता है कि राधाकृष्ण के लीलागान का उन्होंने बाद को भी प्रत्याख्यान नहीं किया। इस वाणी में दर्शन निर्गुण अथवा अन्य धर्म भावापन्न रचनाएं प्रभूत हैं पर लीला गान का प्रमाण भी कम नहीं है।

---

१ प० रा० चतुर्वेदी सन्तकाव्य पृ० ४००।
प्रेमपाठ (प्राणनाथ की वाणी) प्रकाशक अमरदास वनमालीदास श्यामा दार्जिलिंग।

प्राणनाथ जी की रचनाओं के बारे में कुछ भी कहना इस समय कठिन है। १४ से लेकर २० तक उनके ग्रन्थ माने जाते हैं। (१) रासग्रन्थ (२) प्रकाश ग्रन्थ (३) षटऋतु (४) कलस (५) सनंध (६) किरतन (७) खुलासा (८) खलवात (९) प्रकरण इलाही दुलहन (१०) सागर सिंगार, (११) बड़े सिंगार, (१२) सिंधि भाषा (१३) मारफत सागर, (१४) कयामत नामा। ये १४ ग्रन्थ ग्राउज ने अपने मथुरा मेमायस में पृ० २०१ पर गिनाए हैं। परशुराम चतुर्वेदी ने (१) प्रकट बानी (२) ब्रह्म बानी (३) बीस गिरोहों की बात (४) वास गिरोहों की हकीकत (५) कीर्तन (६) प्रेम पहेली, (७) तारतम्य (८) राज विनोद नामक इन ८ रचनाओं का उल्लेख डा० बड़थ्वाल के आधार पर किया है।[1] चतुर्वेदी जी ने खोज रिपोर्ट के आधार पर विराट चरितामृत पत्रावली की भी चर्चा की है।[1] परन्तु जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि 'कुलजम शरीफ' इनका सबसे महत्त्वपूर्ण एवं प्रामाणिक ग्रन्थ है। डा० शरण विहारी गोस्वामी ने बताया है कि इस सम्प्रदाय के सभी भावोपासक 'तारतम सागर' को उनका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ मानते हैं।[3]

इन रचनाओं का न तो ठीक से प्रकाशन हुआ है एवं न व्यवस्थित अध्ययन हो। अतः उनके संबंध में प्रामाणिक रूप में कुछ कहना कठिन है। प्राणनाथ जी में समन्वय का रूप विचित्र खिचड़ी रूप मिलता है। उन्होंने विविध धर्मों से प्रभाव ग्रहण किये पर लगता है कि सबको पचाकर एक व्यवस्थित साँचे में ढाल नहीं सके एवं उसी प्रकार उन्होंने हिन्दी (ब्रज खड़ी मारवाड़ी) उर्दू गुजराती फारसी संस्कृत सिंधी आदि विविध भाषाओं का एक साथ प्रयोग किया है। इस कारण वे दुरूह हो गई हैं काव्य की रसात्मकता भी खो दी है। प्राणनाथ जी अपने युग के अत्यधिक महत्त्वपूर्ण एवं विचित्र व्यक्ति हैं जो सर्वधर्म समन्वय भी करते हैं एवं छत्रसाल के हिन्दू राष्ट्रवाद की भी शक्ति रूप हैं। सखी सखा भाव से (इन्द्रावती उनकी सखी साधना का नाम था) श्याम श्यामा की लाड़ लड़ान की एकान्तिक रहस्य साधना भी करते हैं। उनकी ब्रजभाषा रचना का एक उदाहरण निम्नलिखित है

निसिदिन गहिरा प्रेम सों जुगल स्वरूप के चरन।
निर्मल मन होनायाही सों और धाम बरनन॥

१ उत्तरी भारत की सन्त परम्परा पृ० ५ ।

२ वही पृ० ५ ०।

३ डा० शरण बिहारी गोस्वामी हिन्दी कृष्ण भक्ति काव्य में सखी भाव पृ० ९६०।

प्राणनाथ जी की रचना का एक अन्य उदाहरण है

यह सब इच्छा सो जो मगाव, पर सखिया को सेवा भाव।
सया सेवा करन बेलि लाव लेव एक दूजी प छिनाव।
श्री राज बठ वार्ता कर श्री स्याम जी वित्त धर।
सखिया प्रस परस कर हास लेव धनीजी को विविध विलास।
सखिया दौरि दौरि क जाव प्रारोगन की वस्तु लाव।
हुआ सन्ध्या का अवसर श्री राज स्यामा जी बठ सिंगार कर।
—प्र म पाठ पृ० २८

निर्गुण प्र म पद्धति क अनुसार भी इनकी रचनाए मिल जाती है

मरे धनी धाम क दूलहा, म क्यू ना सकी पहिचान।
सो रोऊ म याद कर कर जो मारे हेत के बान।
—प्र म पाठ पृ० ११४

महात्मा मुकुन्द दास जी

य स्वामी प्राणनाथ क शिष्य थ। इनकी रचनाए अधिक उपलब्ध नही है। कवल कुछ पद मिलत हैं। नीच कुछ पक्तियाँ हम उद्ध त कर रह हैं

बैद रिचा तलफत ब्रज धोरी विरह दाह मे जारी।
कृष्ण द्वारिका काहे न बसाई गोकुल गोप कुमारी।
लीला त्रिविध भई नाना विधि, बाल तरुन भा वृध मारी।
कहत मुकुन्द सतगुरु समरथ कोई न सक निरवारी।
—हस्तलिखित पत्र (चरण विहारी गोस्वामी क सग्रह स)

नवल दास

प्रणामी धम क अनुयायी थ। इनका समय स० १७५८ क लगभग माना गया है।[1] वृत्तान्त मन्जावनी तथा बोध सागर उनक दो मुख्य ग्रन्थ है। दव चन्द्र जी (प्रणामी धम क सस्थापक) न गुरुत्व ता क्रम ग्रहण की। एव गुरु न उनको कौन सा माग बताया इसका प्रवाहपूर्ण वणन भूपणदास न किया है

१ श्री सर्वेश्वर वन्दावनाङ्क पृ० ४००।

अखण्ड नित्य वृन्दावन भाख्यो सो हरिदास चित्त में राख्यो।
ताकी चर्चा कर प्रेम सो सेव नित आचार नेम सो। १३
निज शिष्या गुरु और बताई सो देवचन्द चित्त में लाई।
अपनो सखी भाव करि लीज पुरुष भाव अपनो तजि तीज। ७७
श्री कृष्णचन्द्र जान गुरु आपन श्यामा निज उपासना थापन।
सखा बिना इन पुरुष न पहुँचें कोटि कष्ट करि जो मन सोचे। ७८
तातें सखी भाव करि लीज पुनिमह नाम मन्त्र रस पीज।
यहै शिष्य स्वामी विधि कीनी, इच्छा पुरुष भाव की फीकी।
—श्री सर्वेश्वर वृन्दावनांक पृ० १००।

अथवा

नित्य वृन्दावन का वर्णन करते हैं

जहाँ छहों ऋतु निशाकर युत विरह नाहिं वियोग।
जहाँ श्याम श्यामा सखिन सहित कटाक्ष प्रेम संयोग।
जहाँ हरष शोक न जरा मारति, सत्व रज तम नाहिं।
उद्वेग विछुरन जहाँ नहिं है सदा आनन्द माहिं।[1]

१८वीं शती का ब्रजभाषा सूफी प्रेमाख्यानक काव्य पृष्ठभूमि और संक्षिप्त रूपरेखा

प्रथम अध्याय में सूफी मत का ऐतिहासिक रूपरेखा स्पष्ट करते हुए हमने कहा था कि भारतवर्ष में हिन्दी का भक्तिकाल तमन्नुफ का स्वर्ण युग रहा है। वहाँ यह भी कहा गया है कि इश्कुल मरवी का वहदतुल वुजूद सिद्धान्त भक्तिकाल के सूफियों को प्रभावित कर रहा था। यह सिद्धान्त प्रेम प्रधान के प्रणव भाव तत्वान्वियों के निकट था—इसी कारण पारस्परिक सम्मिलन और प्रभाव की कल्पना में भावना ही सभी थी। परन्तु हमारे आलोच्य युग तक आते आते यह उपासनाधारा नि शेष हो चला। १७वीं १८वीं शताब्दी में धर्मान्धता अपना मस्तक उठाना प्रभात होता है। वहदतुल वुजूद के स्थान पर वहदतुल शुहूद की मान्यता बढ़ने लगता है। नक्शबन्दी सम्प्रदाय (वि० की १७वीं शती के मध्य भाग भारतवर्ष में प्रवेश का

1. श्री सर्वेश्वर वृन्दावनांक पृ० १०० १०१।

समय है) को केन्द्र बनाकर यह प्रेम मार्ग की अपेक्षा शरीअत को प्रधानता देने वाली प्रवृत्ति आगे बढ़ती है। इस रूढ़िवाद को औरंगजेब जैसा सशक्त एवं दुराग्रही शासक संरक्षक रूप में उपलब्ध भी हो जाता है। उदारतावाद के अन्तिम एवं सर्वोत्तम विचारक तथा संरक्षक दारा शिकोह के वध के साथ ही मानो उस विचार धारा की भी हत्या हो जाती है। हिन्दू मुसलमानों के मध्य की खाई चौड़ी होने लगती है। यह भी द्रष्टव्य है कि इसी काल में हिन्दू राष्ट्रवाद भी उभरता है। मराठा जाट गूजर सिक्ख एवं राजपूत शक्तियाँ मुगल शासन के विरुद्ध विद्रोह करती हैं। इसमें भी अन्तराल बढ़ता है। सूफी प्रेमाख्यानकों पर भी इसका प्रभाव पड़ता है। पूर्ववर्ती सूफी प्रेमाख्यानकों में भारतीय जन जीवन, कथा अभिप्रायों एवं प्रतीकों को जिस अकुंठित भाव से स्वीकार किया गया था उसका अब अभाव होने लगा। अपनी हिन्दुस्तानी परम्परा की पृष्ठभूमि के बावजूद जान कवि ने लैला मजनूं, तमीम अनसारी, खिजर खां देवल देवी आदि प्रेम कथाओं के कथानकों को अपनाया है। प्रेमाख्यानकों की जो विशुद्ध भारतीय परम्परा (जायसी आदि की) थी उसका प्रवाह समाप्तप्राय था। उसके स्थान पर दक्खनी (हिन्दी या उर्दू) खड़ी बोली में चलने वाली फारसी प्रभावित परम्परा से महत्त्वपूर्ण हो उठती है। जान कवि जैसे व्यक्ति प्रथम परम्परा से एकदम विलग तो नहीं हुए हैं पर दूसरी परम्परा के प्रभाव में आ अवश्य गये हैं।

प्रेमाख्यानक कवि

जान कवि

जान कवि उनका लेखन संबंधी उपनाम था। वास्तविक नाम न्यामतखाँ था। उनके पूर्वज मारवाड़ के चुहान चौहान वंशीय क्षत्रिय थे जो संवत १४४[illegible] में मुसलमान हो गये थे। अतः परम्परागत संस्कारों की दृष्टि से वे हिन्दू हृदय के निकट थे। वे संस्कृत, अरबी, फारसी तथा ब्रजभाषा आदि अनेक भाषाओं के अच्छे जानकार थे। कहते हैं कि जान कवि में आशुकवित्व भी था। उनके जन्म मृत्यु का ठीक निश्चय नहीं है पर ग्रन्थों पर जो रचनाकाल उल्लिखित है उससे ज्ञात होता है कि संवत १६७१ से १७२१ तक लगभग ५० वर्षों के विस्तृत अन्तराल में इनका रचनाकाल फैला हुआ है। उनके द्वारा रचित ७५ ग्रन्थों में से [illegible] ग्रन्थ तो सूफी परम्परा में शुद्ध रूप से प्रेमाख्यानक हैं। काव्य-वैभव की दृष्टि से जान कवि सर्वोत्तम सूफियों में नहीं ठहरते परन्तु एक मौलिकता उनकी द्रष्टव्य है। उन्होंने मसनवियों की दोहा चौपाई वाली शैली तो स्वीकार की पर माध्यम अवधी के स्थान पर ब्रजभाषा को अपनाया। माध्यम का यह परिवर्तन कथा की स्वाभाविकता और स्वच्छन्दता में भी [illegible] नहीं करता। कल्पना [illegible] की उनमें [illegible] एवं [illegible] प्रतिभा ज्ञात होती है। अतः

प्रचलित ब्रजभाषा में कहानी का प्रवाह नाककथा-गायक की सहज भाषा-शैली में निरन्तर चलता रहता है। ब्रजभाषा के कवियों ने भाषा के सम्बन्ध में बहुत अधिक स्वतन्त्रता ली है जान कवि की भाषा अत्यधिक अव्यवस्थित भी है और अप्रमाणित भी। एक उदाहरण लें

> पदमिनि कहै कहा भयो भोर। नन सजन तब आवत स्वेर।
> रतन कह्यो मों सीस पिरात। प्रगट न करत धर्म की बात।
> पद्मिनि कह्यो सुनहु रतनावलि। जौलों मरा पौरि न पावति।
> तौ लौं तौ पौरि न जाइ। मरी पौरि चढ़ै सिर आइ।
> रतन कह्यो सुनि पदमिनि रानी। हौं तो मोहन हाथ बिकानी।
> तै मुहि दोनों कुँवर दिखाइ। तियाँ दई तै बरज लाइ।
> पदमिनि जो भावे ये बन कह्यो चलहु दलहु भरि मन।
> रतन कह्यो मदिरा सब जागे। चल्यौ न जै देखत इन आगे।
> अरध निसा मदिरा गई सोइ। पदमिनि रतन चली ये दोइ।
> आगे बठो हो यहि मोहन। लग्यो दूरहू ते अति सोहन।

जान कवि द्वारा रचित ग्रन्थों की सूची निम्नलिखित है

(१) मदन विनोद (२) ज्ञानदीप (३) रस मंजरी (४) अलफ खाँ की पैड़ी (५) कायम रासा (६) पुहुप बरखा (७) कवला कली कथा (८) बरखा ग्रन्थ (९) छवि सागर (१०) कनावती कथा (११) छीता की कथा (१२) रूप मंजरी (१३) मोहनी (१४) चन्द्र सेन राजा सील निधान की कथा (१५) अरदसर पातिसाह की कथा (१६) काम रानी या पीतमदास की कथा (१७) पाहन परिच्छा (१८) शृंगार शतक (१९) भाव शतक (२०) विरह शतक (२१) बर्मुदिया विरही की कथा (२२) तमीम अनसारी की कथा (२) कथा कमलन्द की (२४) कथा निमल की (२५) सतवन्ती की कथा (२६) नीनवती की कथा (२७) कुनवती की कथा (२८) खिजर खाँ साहिजादा व देवलदे की (२९) मनदायना की कथा (०) कौतूहली की कथा (३१) कथा सुमनराय की (२) बुधिसागर (३) कामलता कथा (३४) चतुरनामा (५) सिख ग्रन्थ (६) सुपासिख ग्रन्थ (७) बुधिदायक (८) बधिदीप (९) धूपट नामा (४०) दरसनामा (४१) मनसनामा (४२) रसननामा (४) बारह मास (४४) गननामा (४५) वचनामा (४६) बाजनामा (४) वाजनामा (४८) कबूतर नामा (४९) गूढ़ ग्रन्थ (५०) दसनामा (५१) रस कोश (५) उत्तम शब्द (५) सिया सागर (५४) वहन सिरु सनद (५५) शृंगार तिलक (५६) प्रेम सागर (५) वियोग सागर (५८) षट्ऋतु बरनन छन्द (५९) बसन रागिनी (६०) रतन

मजरी (६१) नन न्मयन्ती (६२) पमुनामा (६) मान विनोद (६४) विरही व मनोरथ (६५) जफरनामा (६६) पदनामा (६७) भाव कल्लोल (६८) क्ष्य कल्लोल (६९) नाम माला अनेकार्थी (७०) रतनावली (७१) सुधा सागर (७) व्यास मग्रह (७) लैला मजनू (७४) कवि वल्लभ और (७५) वस्क मनि।[1]

जान कवि क काव्य म तसव्वुफ क आध्यात्मिक आवेग के स्थान पर परिपाटी विहित वणन का आग्रह अधिक प्रतीत होता है। यह भी एक प्रकार स प्र माख्यानको क क्षत्र म रीतिकाल का प्रभाव कहा जा सकता है।

दुख हरनदास

दुख हरनदास कायस्थ थ एव प्रसिद्ध सत मलूकदास क शिष्य थे। इन पर सूफी प्रम माग एव सिद्धान्तो का प्रचुर प्रभाव था। गाजीपुर जिले म इनका जन्म हुआ था। यद्यपि जन्म समय का ठीक निश्चय नहीं है पर इतना प्रामाणिक रूप म ज्ञात है कि सवत १७२६ म पुहुपावती नामक प्रेमा ख्यानक का इन्होंने रचना की। इस ग्रन्थ का आदश जायसी की प्रम कथा पदमावत है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि पदमावत के समान ही अवसर पाते ही लेखक न आध्यात्मिकता क सकेत दिय हैं एव प्रेम माग की कठिनाइयों या सिद्धान्तो की चर्चा की है। सम्पूर्ण ग्रन्थ अवधी म दोहा चौपाई की परम्परा प्राप्त शैली म लिखा गया है पर बीच बीच म घना क्षरी एव सवया म ब्रजभाषा का भी प्रयोग लेखक न किया है। ब्रजभाषा का एक कवित्त उदाहरण के लिए नीचे हम उद्धृत कर रहे हैं

बन भयो भवन गवन जब कीन्हो पीय
तन लाग सदन मदन साइ तापनी।
भूत भयो भूषन बा बूरी चुरइल भई
हार भयो नाहर करन मूंगी सांप की।
दु ख हरन पाव बिनु मरन की गति भई
कासों मैं बरनि कहों बिथा कहो आपनी।
फूल भयो सूल मूल कलो भई कांटा एमी
रान रात्रिनी भई सज भई सांपिनी।

[1] डॉ मोतीलाल मनारिया राजस्थान का पिंगल साहित्य पृ० ८२।
(हिन्दी दय रत्नाकर-बम्बई १९५८)

१८वीं शती में रीति प्रवृत्तियों की छाया में पलने वाला ब्रजभाषा काव्य एवं उसके अध्ययन की दिशा। प्रेमाभक्ति की अभिव्यक्ति पृष्ठभूमि और रूपरेखा

प्रस्तुत प्रबन्ध में समय की सीमा संवत् १७०० से संवत् १८०० तक है। रीतिकाल का पूर्वार्द्ध भी यही है। ब्रजभाषा का काव्य ही हमारा भी विवेच्य है तथा रीतिकाल की प्रवृत्तियों का ९० प्रतिशत काव्य भी ब्रजभाषा के माध्यम से ही अभिव्यक्त हुआ है। प्रेमाभक्ति के जिन विभिन्न सम्प्रदायों के सिद्धान्तों की विवेचना हमने पीछे की है उनमें हम देख चुके हैं कि कृष्ण राधा एवं कृष्ण गोपियों की मधुर लीला ही प्रमुख रही है। इन भक्ति सम्प्रदायों के १८वीं शती के जिन कवियों का विवरण पीछे प्रस्तुत किया गया है उनमें भी हमने यह ध्यान दिया था कि वर्ण्य का स्वरूप शृंगारिक था तथा अभिव्यक्ति की विधि आलंकारिक। इस तथ्य को अगले अध्याय में हम और अधिक विस्तार से देखेंगे। रीतिकाल में भी ठीक यही प्रवृत्ति है। शृंगार एवं आलंकारिकता दोनों ही रीति काव्य की प्रधान विशिष्टताएँ हैं। फिर कितने ही रीतिकवि भक्ति सम्प्रदायों के अनुयायी भी थे। इन कवियों के जीवन सम्बन्धी यदि सभी तथ्य सामने आ जायँ तो हमारा अनुमान है कि रीति काव्य के अधिकांश रचयिता किसी न किसी सम्प्रदाय (मुख्यतः वल्लभ सम्प्रदाय) से सम्बन्धित दिखायी देंगे। ऐसी स्थिति में प्रेमाभक्ति काव्य एवं रीतिकाव्य के मध्य एक सामान्य विभाजक रेखा खींचनी कठिन है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने रीति कवियों की कविताओं पर भक्ति का आवरण भी माना है[1] तथा उनकी ईमानदारी भी स्वीकार की है। इस ईमानदारी को स्वीकृति देते हुए भी डॉ० बच्चनसिंह ने उसे क्षणिक और अस्थिर कहा है।[3] भक्ति भावना की यह ईमानदारी स्वीकार कर लेने के बाद समालोचक के सामने समस्या उठ खड़ी होती है कि क्या इन क्षणस्थायी अस्थिर किन्तु भक्ति भावापन्न रचनाओं को रीति-काव्य से पृथक करके प्रेमाभक्ति काव्य के अन्तर्गत परिगणित किया जाय? हमारा विचार है कि इस विश्लेषण एवं पृथक्करण के द्वारा ही इन कवियों के एवं काव्य के प्रति न्याय किया जा सकेगा। अतः आवश्यकता इस बात की है कि रीति काव्य के प्रणेताओं की रचनाओं का सूक्ष्मता से विश्लेषण करके यह निश्चित किया जाय कि इनमें से कितना अंश शुद्ध भक्ति

---

१ हिन्दी साहित्य पृ० ३०३।

२ हिन्दी साहित्य की भूमिका पृ० ११६ (दूसरा संस्करण)।

३ डॉ० बच्चनसिंह रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना पृ० १०४।

भावापन्न है एवं कितना प्रश्न ऐहिक शृंगार का है जिसके साथ राधा कृष्ण के नाम भर जोड़ दिये गये हैं। वास्तव में सामाजिक कवच[1] दूसरे प्रकार वाला काव्य है। जहाँ तक आत्म-सन्तुष्टि या आत्मग्लानि के दबाव में भक्तिपरक काव्य रचना का प्रश्न है वह काव्य सृजन प्रक्रिया में किसी भी प्रकार उपेक्षणीय या कम मूल्यवान नहीं है। मनोवैज्ञानिक आवश्यकता तथा सामाजिक कवच वाली बात के सन्दर्भ में स्वयं धर्म के बारे में कहा गया कार्ल मार्क्स का यह कथन विचारणीय है— धार्मिक वेदना एक ओर वास्तविक वेदना की अभिव्यक्ति है एवं दूसरी ओर वास्तविक कष्ट के प्रति विरोध भी। धर्म-दलित व्यक्तियों की आह है हृदयहीन जगत का हृदय है एवं आत्मारहित परिस्थितियों की आत्मा है। यह जन का अफीम है।[2] रीतिकाव्य के भक्ति सम्बन्धी उद्गार ऐसे ही आह हृदय या आत्मा रूप हैं और उनकी किसी भी प्रकार अवहेलना न होनी चाहिए। आश्रयदाता की रुचि में अनुकूलित होने की बाध्य उनकी प्रवृत्ति ऐहिक शृंगार में प्रामुख्यिक प्रेम के क्षेत्र में प्रयाण कर वास्तव में वास्तविक कष्ट की अभिव्यक्ति ही करती होगी।

परन्तु यहाँ पर यह कह देना भी आवश्यक है कि इन कवियों के प्रेमा भक्ति सम्बन्धी उद्गारों में वह सहज अकुण्ठ वृत्ति नहीं मिलती जिसका कि भक्त कवियों में अभाव नहीं है।

रीति-कवियों ने सिद्धान्त कथन के क्षेत्र में भी नीति वैराग्य पराग बार माफिक बहुत से वचन कहे हैं जैसे कि पूर्व वर्णित कवियों में हम उपलब्ध हो जाते हैं।

परन्तु आगे हम जिन रीति कवियों को उपस्थित कर रहे हैं उनके नाम एवं रचनाएँ ध्यान में हमने उन्हीं को स्वीकार किया है जिनमें सचमुच ही भक्ति भाव को अन्तर प्राप्त होता है। स्थानाभाव में यह विवरण हम बहुत थोड़े में मात्रित करना पड़ता है—अन्यथा इस कसौटी पर रीति-काव्य की विस्तृत समीक्षा और मूल्यांकन सम्भव है।

---

१ डॉ० नगेन्द्र रीतिकाव्य की भूमिका पृ० १८ ।

तथा

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य पृ० ०१।

२ डॉ० नगेन्द्र इसे ही मनोवैज्ञानिक आवश्यकता कहते हैं।

—रीतिकाव्य की भूमिका पृ० ८ ।४।

३ आर यामसन के एन एम ऑन रलिजन में पृ० ४ पर उद्धृत।

प्रमुख रूप से रीति और गौणतः प्रेमाभक्ति कवि

सेनापति

सेनापति के बारे में कुछ विशेष विवरण ज्ञात नहीं है। अपने ग्रंथ कवित्त रत्नाकर में उन्होंने पिता का नाम गंगाधर तथा पितामह का नाम परशुराम दीक्षित बताया है। हीरामन दीक्षित के शिष्यत्व में उन्होंने विद्याध्ययन किया था।[1] सेनापति उनका कवि नाम था तथा किसी मुसलमान दरबार से भी वे सम्बन्धित रहे हैं।[2] उन्होंने अपना ग्रंथ कवित्त रत्नाकर किसी राजा को समर्पित किया था। सेनापति बड़े ही स्वाभिमानी कवि थे। उनका कवित्त रत्नाकर ग्रंथ संवत् १७०६ में लिखा गया था। काल की दृष्टि से वे भक्तिकाल और रीतिकाल की संधि में ज्ञात होते हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उन्हें अपने साहित्य के इतिहास में रीतिमुक्त काव्य धारा में रखा है।[3] आचार्य शुक्ल ने उन्हें भक्तिकाल की फुटकर रचनाओं में स्थान दिया है।[4] नागरी प्रचारिणी सभा वाले हिन्दी साहित्य के बृहत् इतिहास के रीतिकाल वाले खण्ड (छठा भाग) में भी उन्हें रीति-कवि न कहकर भक्ति काल का कवि कहा गया है।[5]

वास्तव में सेनापति में रीतिकाल एवं भक्तिकाल दोनों की प्रवृत्तियों का सुन्दर समन्वय है। कवित्त रत्नाकर ग्रंथ की पाँचों तरंगों का संक्षिप्त विश्लेषण भी इस तथ्य को प्रकट करने के लिए पर्याप्त होगा। इस ग्रंथ की पहली तरंग श्लेष वर्णन में प्रयुक्त हुई है। इस तरंग में प्रत्येक छन्द में सभंग या अभंग पद श्लेष का अत्यन्त कुशलता से निर्वाह किया गया है। श्लेष की छटा शोभा और आग्रह रीतिकाल के किसी भी अलंकार प्रेमी कवि के लिए ईर्ष्या का विषय है। दूसरी तरंग में शृंगार-वर्णन हुआ है। शृंगार वर्णन भी नायिका भेद नख शिख वर्णन आदि की भाँति रीतिकालीन पद्धति पर हुआ है। इतना अवश्य है कि शृंगार की अपेक्षा वियोग-वर्णन में उनका मन अधिक रमा है, परन्तु विरह-वर्णन में मानसिक स्थितियों का वैसा सूक्ष्म विश्लेषण और अभिव्यंजन सेनापति में नहीं प्राप्त होता जैसा कि घनानंद आदि स्वच्छन्द धारा के

---

१ कवित्त रत्नाकर पृ० १ ८।
२ वही, वही पृ० १ ५।
३ हिन्दी साहित्य, पृ० ३४२ ३४ ।
४ हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० २०६ २१०।
५ हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास षष्ठ भाग सम्पादक डॉ० नगेन्द्र पृ० २०५।

कवियों के काव्य हमें में उपलब्ध होता है। तीसरी तरंग प्रकृति वर्णन की है। यह उनकी प्रसिद्धि का मुख्य आधार है। प्रकृति के कुछ सन्निष्ट चित्र उपस्थित कर उन्होंने बहुत से सहृदयों की प्रशंसा प्राप्त की है। प्रकृति के उनके ये चित्र उन्हें अवश्य रीतिकालीन परिपाटी से अलग घोषित करते हैं क्योंकि सेनापति के ये प्रकृति चित्र स्वतन्त्र एवं निरपेक्ष रूप से प्रभाव उत्पन्न कर सकने में समर्थ हैं। परन्तु इस निरपेक्ष प्रकृति चित्रण के साथ ही ऐसे छन्दों का भी कमी नहीं है जिनमें प्रकृति पृष्ठभूमि के रूप में ही उपस्थित की गई है।[1] चौथी एवं पांचवीं तरंग में सेनापति की रामभक्ति भावना अभिव्यंजित हुई है। इनमें राम का चरित्र वर्णित है परन्तु राम के शृंगारी रूप की अपेक्षा पराक्रम और ऐश्वर्य से मंडित विग्रह के प्रति ही उन्होंने अपनी रुचि दिखाई है। भगवान के इस रूप के प्रति उनके मन में पूर्ण श्रद्धा थी। उनके भगवान भक्त-वत्सल थे विराट थे। उस भक्त वत्सलता तथा विराटता के सम्मुख उनका हृदय आत्मग्लानि तथा पश्चात्ताप से भर जाता है। वह सोचता है कि क्या हम सेवक का पद भगवान ने दिया है।

> आलस की निधि अधि बाल सु जगतिपति।
> सेनापति सेवक कहा धौं जानि कीनों है।

शरणागति में भक्त को अपनी रक्षा का पूरा विश्वास रहता है।[2] यह बात हम द्वितीय अध्याय में भक्ति विवेचन के प्रसंग में कह चुके हैं। सेनापति भी कहते हैं

> सोवै सुख सेनापति सीतापति के प्रताप।
> जाकी सब लाग पीर ताही रघुबीर ही।[3]

क्योंकि उसे विश्वास है कि

> अति अनियारे धन्वना से उभारे तई
> मर रखवारे नरसिंह जू के भग है।

---

१ कवित्त रत्नाकर ३।५६।५७।५८।५६।६१ आदि।
२ वही ५।२४।
३ वही ५।१६।
४ वही ५।३६।

पंचभक्ति भावा की दृष्टि से सेनापति गोस्वामी तुलसीदास की परम्परा में दास भाव के उपासक माने जावेंगे। तुलसी के समान ही उन्होंने अपने इष्टदेव के अतिरिक्त अन्य देवताओं के प्रति भी श्रद्धा व्यक्त की है। उनको निम्न पद किसी भी वृन्दावन रसोपासक कवि की रचना में रखा सकता है

महा मोह कंदनि में जगत जकंदनि में
दिन दुख दंदनि में जात है बिहाय कै।
सुख को न लेस है कलेस सब भाँतिन को
सेनापति याही तें कहत अकुलाय कै।
आवै मन ऐसी घर बार परिवार तजौं,
डारौं लोक लाज के समाज बिसराय कै।
हरिजन पुंजनि में वृन्दावन कुंजनि में
रहौं बठि कहू तरवर-तर जाय कै।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि सेनापति में भक्तिकाल एवं रीतिकाल दोनों की प्रवृत्तियाँ समान रूप में मिली हुई हैं। प० उमाशंकर शुक्ल का यह मत उचित ही मालूम पड़ता है कि यद्यपि सेनापति ने रीतिकालीन परिपाटी पर रचना नहीं की है परन्तु फिर भी रीति युग की प्रवृत्तियों की छाप उनकी रचनाओं में प्रचुरता से पाया जाता है।[2]

आगे हम रीतिकालीन कुछ कवियों का परिचय देते जा रहे हैं जिनमें कि प्रेमभक्ति की भावना अभिव्यंजित हुई है। सेनापति इन कवियों से इस अर्थ में भिन्न है कि जहाँ रीतिकालीन कवि लौकिक काव्य और भक्ति-परक दोनों ही रचनाओं में कृष्ण के शृंगारी स्वरूप का आश्रय ग्रहण करते हैं वहीं सेनापति अपनी भक्तिभावना में आलम्बन के पराक्रम और ओज को व्यंजित करते हैं एवं स्वयं दास भाव के भक्त हैं न कि माधुर्य भाव के। परन्तु अपने लौकिक काव्य में उन्होंने शृंगार एवं नायिका भेद आदि की परिपाटी को पूरी तरह से स्वीकार किया है। इस प्रकार उनके काव्य के दो पक्ष स्पष्ट रूप सामने आते हैं। एक आमुष्मिक और दूसरा ऐहिक।

सेनापति हमारे आलोच्य युग के बहुत समर्थ कवियों में से हैं। उनका पक्ष और उनकी अभिव्यंजना दोनों ही सशक्त हैं। इनके बारे में आचार्य शुक्ल जी

---

१ कवित्त रत्नाकर, परिशिष्ट ७ पृ० १२२।
२ कवित्त रत्नाकर भूमिका पृ० ४।

न लिखा है भाषा पर ऐसा अच्छा अधिकार कम कवियों का देखा जाता है।[1]

बनी

हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में तीन बनी नामधारी कवियों का उल्लेख हुआ है। एक तो बनी के भडौआ वाले बेनी तथा दूसरे लखनऊ के बेनी प्रवीन। ये दोनों ही परवर्ती कवि है। प्रस्तुत तीसरे बनी कवि प्रसनी के थे जिनके और संवत १७ के आसपास विद्यमान थे। उनका रचा हुआ कोई स्वतंत्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है परन्तु फुटकर कुछ छन्द मिल जाते है। भक्तिकाल के अन्तिम भाग में होने वाले बेनी में भक्ति का भाव पूरी तरह विद्यमान था। वे राधा कृष्ण युगल के नित्यविहार युग के उपासक थे। हमारा अनुमान है कि उनका काव्य वास्तविक रूप से मात्र शृंगारपरक न होकर युगल दम्पति के विहार में भी सम्बन्धित है। बनी कवि की निम्न अभिलाषा उनके भक्तिभाव को स्पष्ट करने में सहायक सिद्ध होती है

लहर सिर प छवि भोर पखा उनकी तय के मुकता थहर।
फहर पियरे पट बेनी इत उनकी चुनरी के भवा भहर।
रस रग निर भमिर है तमाल दोऊ रस ख्याल चहू लहर।
नित ऐसे सनेह सों राधिका स्याम हमारे हिये म सदा विहर।

चिन्तामणि

चिन्तामणि रीतिकाल के प्रारम्भिक रीति निरूपक आचार्यों म से हैं। आपका जन्म सवत निश्चित नहीं हो सका है। कानपुर जिले के तिकवांपुर ग्राम म ये रहने वाले थे। प्रसिद्ध है कि भूषण और मतिराम इनके छोटे भाई थे पर इधर इस सम्बन्ध म सन्देह प्रकट किया गया है। काव्य विवेक कविकुल कल्पतरु काव्य प्रकाश रस मजरी पिंगल और रामायण उनके पाच ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है। यद्यपि काव्य के विविध अंगों पर इन्होंने ग्रन्थ लिखे हैं पर उनके महत्व का कारण उनका काव्य है न कि काव्य निरूपण। भक्तिकाल एव रीतिकाल की सन्धि के स्थान के कारण इनमें भक्ति की स्पष्ट छाया मिलती है। निम्न दाम्पत्य वर्णन वाले छन्द उनका यह विश्वास का भाव द्रष्टव्य है

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास रामचन्द्र शुक्ल पृ० २०८।

२ हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास (षष्ठ भाग) पृ० (ना० प्र० सभा वाराणसी)।

राज रमा रमनी उपधान प्रभ वरदान रह जन मेरे।
है बल भार उदड मरे हरि के भुजदड सहायक मेरे।

बिहारीलाल

बिहारीलाल का जन्म काफी विवाद का विषय रहा है। परन्तु अब लगभग यह स्वीकार कर लिया गया है कि उनकी स्थिति सवत १६८२ से १७२० के मध्य रही है। सम्भवत उनके काव्य के सृजन का सर्वोत्तम युग सवत् १७०० के आसपास रहा होगा। अभिव्यक्ति का जो सयम और अनुशासन उनके काव्य म प्राप्त होता है वह सूचित करता है कि प्रथम तारुण्य का आवेग न होकर प्रौढ होते हुए व्यक्ति की यह अभिव्यक्ति है। उसम भी नीति उपदेश, जीवनानुभव एव तत्त्व दर्शन के जो अग हैं ऐसा हमारा अनुमान है कि वे सवत् १७०० के आसपास के ही होग।

बिहारीलाल धौम्य गोत्रीय सोती घरबारी माथुर चौबे थ। ग्वालियर के रहने वाले थ। किशोरावस्था म ही बिहारी अपने पिता के साथ वृन्दावन आ गए थे। इस प्रकार उनका बचपन बुन्देलखण्ड म बीता था किशोरावस्था म वे ब्रज म आ गये। वृन्दावन म हरिदासी सप्रदाय के स्वामी नरहरिदास का शिष्यत्व उन्होंने स्वीकार कर लिया था। युगल रूप की दीक्षा इस प्रकार उन्ह अपने जीवन के प्रथम चरण म ही मिल गई थी। उनके काव्य के शृगारी स्वरूप के नीचे यह दीक्षा यदि लगातार काम करती रही हो तो आश्चर्य न होना चाहिए।

> नित प्रति एक ही रहत बस बरन मन एक।
> चहियत जुगल किसोर लखि लोचन जुगल अनेक।[1]

जिसका स्वरूप स्वामी नरहरिदास ने उनके सम्मुख स्पष्ट किया होगा। उसी रूप का ही वर्णन अपनी कवि कल्पना तथा ग्रन्थों के दबाव एव आश्रयदाता की रुचि के अनुरूप उन्होंने किया है।

स्वामी नरहरिदास ने ही शाहजहाँ से बिहारी की काव्य कला की प्रशसा करते हुए उन्हें परिचित करा दिया था जिसके फलस्वरूप वे मुगल दरबार म आ गये थ। इस तथ्य म यह भी प्रकट होता है कि वृन्दावन निवास काल म

---

१ बिहारी रत्नाकर स० २३८।

उन्होंने अपने गुरु के समक्ष काव्यकला का प्रदर्शन अवश्य किया होगा। इसी तथ्य की तार्किक परिणति यह भी है कि यह काव्य श्याम श्यामा की लीलाओं से ही सम्बन्धित रहा होगा। विरक्त स्वामी नरहरि ने लौकिक नायक-नायिकाओं की काम चेष्टाओं पर क्या मुग्ध होने लगे ?

आगरे के मुगल दरबार की शान शौकत एवं फारसी प्रभाव लेकर ये जीविका की खोज में जयपुर के राजा जयसिंह के दरबार पहुंचे थे एवं अपनी प्रतिभा तथा वाग्वैदग्ध्य के बल पर सम्मान भी अर्जित किया। पतनोन्मुख सामन्ती व्यवस्था वाले राजपूती जीवन की विलास क्रीडाओं ने भी उनके काव्य को अनुकूलित (कण्डीशन) किया है। इस प्रकार धार्मिकता की प्रारम्भिक भाव भूमि पर फारसी परम्परा एवं सामन्ती विलासिता तथा लक्षण ग्रन्थों की रीति बद्धता का आश्रय लेकर उनके काव्य का शीशमहल खड़ा होता है।

बिहारी के काव्य में मधुरा भक्ति का पुट निश्चित रूप से प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में एक पुरानी किंवदन्ती हमें बड़ी महत्वपूर्ण लगी। असनी के प्रसिद्ध ठाकुर कवि ने अपने आश्रयदाता देवकीनन्दन के लिए सतसैया वर्णार्थ नामक बिहारी सतसई की टीका लिखी है। इसमें बिहारी का विस्तृत वृत्तान्त भी दिया है। उसकी वर्णित एक घटना की ओर हम विद्वानों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। उस वर्णन के अनुसार जयसिंह से अपनी सतसई पर पुरस्कृत होने के पश्चात बिहारी राजा छत्रसाल के दरबार में पहुँचे। छत्रसाल ने अपने गुरु प्राणनाथ जी (धामी सम्प्रदाय के संस्थापक) के पास परीक्षा के लिए उसे भेजा। प्राणनाथ जी ने उसकी शृंगारिकता की निन्दा करते हुए अस्वीकृत कर दिया। इस पर पन्ना के दरबार के अनुसार बिहारी ने परीक्षा के लिए एक दूसरी कसौटी सुझाई। इस कसौटी के अनुसार पन्ना के युगल किशोर मन्दिर में रात्रि को सतसई एवं प्राणनाथ जी की धर्म-पुस्तक कुल्जम रख कर दी गई। प्रात काल सतसई पर युगल किशोर जी के हस्ताक्षर प्राप्त हुए प्राणनाथ की वाणी पर नहीं। इस घटना की प्रामाणिकता का निर्णय हमारा कार्य नहीं है। इसके द्वारा हम इतना मात्र निवेदन करना चाहते हैं कि युगल रूप की माधुर्य भावना सतसई में है इस विचार का अस्तित्व काफी पुराने समय से भी पाया जाता है। ध्यान रहे कि यह टीका संवत १८६१ में लिखी गई थी।

इसी प्रसंग में यह भी स्पष्ट कर देना उचित होगा कि बिहारी विशुद्ध रूप में माधुर्यानुभूति को व्यक्त नहीं किया करते थे। इसी कारण लौकिकता की

१ हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास षष्ठ भाग पृ० ४१० ४११ पर दी गई कथा के आधार पर।

२ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ /०।

प्राधान्य ता है ही, साथ ही नित्य निकुञ्ज लीला का सीमित क्षेत्र भी उन्होंने नहीं स्वीकार किया। गुरु परम्परा उनको निकुञ्ज लीला की थी परन्तु कवि-कल्पना को अधिक मुक्त आकाश देने के लिए ब्रजलीलाओं का वैविध्य उन्होंने स्वीकार किया था। इसी कारण चीर हरण रास पूतना वध गोवर्धन धारण दावानल पान भ्रमरगीत आदि अनेक लीलाएं उनके काव्य में चित्रित हुई हैं। भक्ति सम्प्रदाय के कवियों के समान नैतिक (वैयक्तिक एवं सामाजिक दोनों प्रकार की नैतिकताएं) एवं दार्शनिक सिद्धान्त-कथन भी बिहारी में उपलब्ध होते हैं। सब मिलाकर सतसई में लगभग १०० दोहे प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से भक्ति एवं नीति से सम्बन्धित हैं।

जहाँ तक बिहारी की काव्यकला अनुभाव विधान हस्तलाघव कौशल भाषा की शक्ति चित्रमयता सांगीतिकता नाटकीयता एवं व्यंग्यात्मकता आदि का प्रश्न है बिहारी के महत्त्व की स्थापना पूरी तरह से हो चुकी है। ये रीति काल के सर्वश्रेष्ठ दो कवियों में तथा हिन्दी के सुन्दरतम व्यंजनाओं वाले कवियों में से एक गिने जाते हैं। नीचे हम उनके भक्ति सम्बन्धी कतिपय दोहे मात्र उद्धृत कर रहे हैं

मेरी भव बाधा हरौ राधा नागरि सोई।
जा तन की झाँई परे स्याम हरित दुति होई ॥[1]
स्याम सुरति करि राधिका तकति तरणिजा तीर।
अँसुवनि करत तरौंस कौ खिनकु खरौंहौं नीर ॥[2]
उर लागे अति चटपटी सुनि मुरली धनि धाइ।
हौं निकसी हुलसी मु तौ गौ हुलसी हिय नाइ ॥[3]
जस अपजसु देखत नहीं देखत साँवल गात।
कहा करौं लालच भरे चपल नैन चलि जात ॥
कहा लडैते दृग करे परे लाल बेहाल।
कहुँ मुरली कहुँ पीतपट कहूँ मुकुट बनमाल ॥[5]
गोपिनु सँग निसि सरद की रमत रसिकु रस रास।
लहाछेह अति गतिनु की सबनु लखे सब पास ॥[6]

---

१ बिहारी रत्नाकर १।
२ वही २६२।
३ वही, ५६०।
४ वही १५७।
५ वही १५४।
६ वही २६१।

जो न जुगुति पिय मिलन की धूरि मकुति मुह दीन।
जो लहिये सग सजन तौ धरक नरक हूं की न ।[1]
गिरि न ऊच रसिक मन बूड़े जहा हजार ।
वहे सदा पसुनरनु को प्रम पयोधि पगार ॥

आलोचकों ने यह बात नोट की है कि बिहारी का विरह वर्णन तो ऊहात्मक हो गया है पर मिलन के उनके चित्र अत्यन्त प्रसन्न एव उस उल्लास को सजीव करने वाले हैं। वस्तुत इस तथ्य के मूल में बिहारी के सम्प्रदाय की नित्यविहारोपासना विद्यमान है। हम पहले ही कह चुके हैं कि नित्यविहारोपासना में चिन्तन की ही स्वीकृति है विरह की नहीं। यह तथ्य बिहारी ही नहीं रीति काल के अन्य कवियों के सन्दर्भ में भी दूर तक काव्य सृजन को अनुशासित करता है।

मतिराम

मतिराम बिहारी के कुछ बाद के कवि हैं। उनका जन्म सवत् १६६१ के लगभग बनपुर जिला कानपुर में वत्सगोत्रीय त्रिपाठी कान्यकुब्ज ब्राह्मण के घर हुआ था। उनके पिता का नाम विश्वनाथ था। डा० महेन्द्र कुमार ने मतिराम की मृत्यु सवत की ऊहापोह के पश्चात् सवत १७४८ वि० के आसपास निर्धारित किया है।[3] मतिराम को देव की भाँति ही अनेक आश्रयदाताओं की खोज में भटकना पड़ा था। कहते हैं कि वे मुगल दरबार का भी चक्कर अपनी बढ़ती वय में लगा आये थे तथा अनेक राजपूतों की भी जीवनचर्या के समीप से देखने का अवसर उन्हें मिला था। इसी कारण उनके काव्य में यत्र नाना प्रभाव मिल जाते हैं।

१ बिहारी रत्नाकर ७५।
२ वही वही २५१।
३ (क) डॉ० महेन्द्र कुमार मतिराम कवि और आचार्य पृ० २३ ४।
(ख) आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी एव आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे विद्वानों ने उन्हें तिकवांपुर (जि० कानपुर) का निवासी माना है। सरोज ने अपने इतिहास में इनका जन्म सवत् १६७४ माना है (पृ०   )। डा० महेन्द्र कुमार ने अपने शोध प्रबन्ध में इन सभी मतों की परीक्षा करके उपयुक्त तथ्य निश्चित किये हैं।

उनके सात ग्रन्थ इस समय उपलब्ध हैं — फूल मंजरी, रस राज, ललित ललाम, सतसई, अलंकार पंचाशिका, छंद सार पिंगल और वृत्त कौमुदी। मतिराम द्वारा रचित साहित्य सार एवं लक्षण शृंगार नामक दो अन्य ग्रन्थों की भी चर्चा की जाती है। बरवै नायिका भेद नामक इनके द्वारा संपादित एक ग्रन्थ भी बताया गया है। वस्तुतः यह ग्रन्थ उनके द्वारा संपादित नहीं है तथा साहित्य सार एवं लक्षण शृंगार प्राप्त नहीं हैं। उनकी प्रसिद्धि का मुख्य आधार रस राज नामक उनका नायिका भेद का ग्रन्थ है। इसमें दोहों में लक्षण एवं कवित्त-सवैया आदि छंदों में उदाहरण दिये गये हैं। उनका दूसरा मुख्य ग्रन्थ ललित ललाम अलंकार सम्बन्धी है। उनकी सतसई के बारे में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है, इसके दोहे सरसता में बिहारी के दोहों के समान ही हैं।[1]

उपर्युक्त ग्रन्थों के वर्ण्य विषयों का अनुशीलन करने से ऐसा लगता है कि बिहारी रीतिबद्ध काव्य रचना करने वाले शृंगारी कवियों के अन्तर्गत परिगणनीय हैं। परन्तु जैसा कि रीतिकाल के बहुत से कवियों के लिए कहा जा सकता है, मतिराम को भी राधा और मोहन का नाम लेकर पवित्रता बोध जगाना पड़ा है। उनके धार्मिक सिद्धान्तों की चर्चा करते हुए डा० महेन्द्र कुमार ने उन्हें शुद्धाद्वैत से प्रभावित माना है।[2] हमारा विचार है कि इन कवियों को सदैव किसी न किसी धार्मिक-दार्शनिक मत से जोड़ने की आवश्यकता नहीं है। इसके अतिरिक्त जिन तत्वों के आधार पर उन्हें शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय का माना गया है उन्हीं तत्वों के आधार पर मध्यकालीन गोपी भाव के किसी भी सम्प्रदाय के अन्तर्गत उन्हें रखा जा सकता है। यों मूलतः रीतिकाल के कवियों का एक बड़ा भाग स्मार्तमतानुयायी प्रतीत होता है। स्वयं मतिराम ने गणेश,[3] शिव,[4] शक्ति,[5] सरस्वती,[6] रामचन्द्र[7] आदि विभिन्न देवी-देवताओं की स्तुतियाँ लिखी हैं परन्तु वातावरण (धार्मिक एवं सामाजिक) में जो शृंगार व्याप्त था उसने उन्हें माधुर्य भावपरक कथन में सहायता दी। इस स्थिति में किस समय वे भाव विभोर होकर राधा कृष्ण या गोपी की बात कह रहे हैं या सामान्य नायक

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० ५   ।
२ डॉ० महेन्द्र कुमार मतिराम कवि और आचार्य पृ० १४७ ।
३ ललित ललाम छंद १ ।
४ वही, ११६ ।
५ वही, ३७६ ।
६ रसराज मंगलाचरण का छंद ।
७ सतसई ७०३ ।

नायिका का यह कहना कठिन हो जाता है। नीचे हम एक सवैया दे रहे हैं इसे क्या न प्रेमविह्वला गोपी का वचन माना जाय ? मध्यकालीन समाज में नायक नायिका इस प्रकार के स्वच्छन्द मिलन की कामना तो कर नहीं सकते थे—ऐसी स्थिति में कृष्ण एवं गोपी की मधुर लीलाएं यदि उसे आकर्षित करें तो अनुचित न कहा जाना चाहिए। भक्ति का भावमूलक भक्ति का ही है—चाहे वह किसी मनोवैज्ञानिक आवश्यकता के वशीभूत हो या सामाजिक दबाव का परिणाम। अस्तु सवैया इस प्रकार है

> क्यों इन आँखिन सों निरसंक ह्वै मोहन को तन पानिप पीजै।
> नेकु निहारें कलंक लगै इहि गांव बसे कहो कैसे के जीजै।
> होत रहै मन यों मतिराम कहूं बन जाय बड़ो तप कीजै।
> ह्वै बनमाल हिये लगिये अरु ह्वै मुरली अधरा रस पीजै।[1]

इस सवैये की शृंगार समन्वित भक्ति के अन्तर्गत विवेचना करते हुए एक विद्वान ने कहा 'शुद्धभक्ति भावना में भक्त भगवान के चरणों का सान्निध्य चाहता है। भक्त की दृष्टि भगवान के चरणों पर ही रहती है। किन्तु प्रेमी प्रियतम के मुखारविन्द का मकरन्द पान करके ही जीवित रहना है। मतिराम की भक्ति भावना में शृंगार भाव का ही पुट है क्योंकि कवि की दृष्टि मोहन के चरणों पर नहीं अपितु उनके हृदय और अधरों पर है। इस शृंगार भाव की पूर्ति के लिए ही वह बनमाला और मुरली बनने की अभिलाषा कर रहा है।'[2] परन्तु यहीं पर समीक्षक महोदय यह भूल गये हैं कि पुष्टिमार्ग में ही गो. हरिराय जी ने शीतल और उष्ण भक्तियों के दो विभाजन किये थे। शीतल भक्ति का भक्त प्रभु के चरण सरोवर में निमज्जित होकर शीतलता चाहता है तथा उष्ण भक्ति का साधक प्रभु के अंगों का आलिंगन करना चाहता है।[3] वह सचमुच ही मुरली बनकर अधरों एवं बनमाल बनकर हिय में लगना चाहता है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि उष्ण भक्ति ही पुष्टिमार्ग के भक्त के लिए काम्य थी। उनके कवित्त अन्य मधुर भावात्मक दोहे नीचे उद्धृत हैं

> मों मन तम तोमहि हरौ राधा को मुखचन्द।
> बढ़ै जाहि लखि सिन्धु लौं नंदनंदन आनंद।[4]

---

१ रसराज ६०।
२ हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास षष्ठ भाग पृ० ३६२।
३ देखिए द्वितीय अध्याय भक्ति के प्रकार वार्ता सं० १३।
४ सतसई १

गुंज गुंज के हार उर मुकुट मोर पर पुंज।
कुंज बिहारी बिहरिये मेरे ई मन कुंज।[1]
राधा मोहन लाल को जाहि न भावत नेह।
परियो मठी हजार दस ताकी आँखिनि खेह।
मुरलीधर गिरिधरन प्रभु पीताम्बर घनस्याम।
बकी विदारन कंस अरि चीर हरन अभिराम।[2]

मतिराम का जैसा साफ सुथरी प्रकृत ब्रजभाषा लिखने वाले कवि रीति काल में भी कम मिलेंगे। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार मतिराम भाषा की नाड़ी पहचानते थे।[3] शुक्ल जी की सम्मति है कि भाषा के ही समान मतिराम के न तो भाव कृत्रिम हैं और न उनके व्यंजक व्यापार और चेष्टाएँ।[4] मतिराम में चित्र निर्माण की अद्भुत क्षमता थी। साथ ही पारिवारिक जीवन में उनकी गहरी रुचि भी थी। उनका अलंकार विधान इसीलिए अधिक मार्मिक एवं सहज हो सका है।

कुलपति

कुलपति मिश्र के बारे में यह प्रसिद्ध है कि वे महाकवि बिहारी के भागिनेय थे। वे आगरा के रहने वाले माथुर चतुर्वेदी ब्राह्मण थे। इनके पाँच ग्रंथों का उल्लेख साहित्य के इतिहासों में होता है—द्रोण पर्व, मुक्ति तरंगिणी, नखशिख, संग्राम सार और रस रहस्य। उनमें से अन्तिम ग्रंथ रस निरूपक ग्रंथ है। तृतीय एवं चतुर्थ भी शृंगार से ही संबंधित प्रतीत होते हैं। प्रथम महाभारत के द्रोण पर्व के आधार पर रचित काव्य प्रतीत होता है एवं दूसरे ग्रंथ मुक्ति तरंगिणी का शीर्षक इसे आध्यात्मिक अभिव्यंजना का काव्य सिद्ध करता है। उनका रचनाकाल १८वीं शती का पूर्वार्द्ध है। रस रहस्य उन्होंने संवत १७२७ में बनाया था। कुलपति मिश्र आचार्यत्व की दृष्टि से तो महत्त्वपूर्ण हैं ही साथ ही सुकवि भी थे। सीधी एवं सहज ब्रजभाषा में हृदय के स्वाभाविक उद्गार उन्होंने प्रकट किये हैं।

भक्ति भावना की उनमें अभाव न था। रस रहस्य के आरंभ में ही

---

१ सतसई २।
२ वही ४।
३ वही ७००।
४ हिंदी साहित्य पृष्ठ १८।
५ हिंदी साहित्य [redacted] इतिहास पृ० २ ४।

कृष्ण की वन्दना उन्हें वैष्णव सिद्ध करती है। कृष्ण को आराध्य मान लेने के बाद स्वाभाविक रूप से उनकी मधुर लीलाओं की ओर व्यक्ति का ध्यान आकृष्ट होता है। ऐसे ही एक विहार प्रसंग का उल्लेख निम्न छन्द में प्रतीत होता है

> ऐसिय कुंज बनी छवि पुंज रहे अलि गुंजत यों सुख लीज।
> नैन विसाल हिये बनमाल विलोकत रूप सुधा भरि पीज।
> जामिनि जाम की कौन कहे जुग जात न जानिय यो छिन छीज।
> आलस यों उमगोई रहे पिय मोहन को मुख देखिबो कीज।

वृन्द

नीतिकार के रूप में वृन्द कवि की हिन्दी में पर्याप्त ख्याति है। परन्तु वृन्द केवल नीतिकार ही नहीं थे वे एक अच्छे कवि भी थे। वृन्द कवि का जन्म संवत् १७०० के आसपास मेड़ता (जोधपुर) में हुआ था। ये जाति के सेवक या भोजक थे। काशी में साहित्य दर्शन तथा विभिन्न शास्त्रों का उन्होंने विधिवत अध्ययन किया था। काशी से लौटने पर अपने पाण्डित्य एवं प्रतिभा के कारण जोधपुर के महाराजा जसवन्त सिंह (प्रथम) से आपको सम्मान भी प्राप्त हुआ था। बाद में ये औरंगजेब के दरबार में भी पहुँच गये थे। औरंगजेब की काव्य संगीत आदि कलाओं संबंधी उदासीनता प्रसिद्ध है परन्तु कहते हैं कि वृन्द ने उसके मुख से भी प्रशंसा एवं हाथों से धन प्राप्त कर लिया था। औरंगजेब ने उन्हें दरबार में स्थान देने के साथ ही अपने पौत्र अजीमुश्शान का अध्यापक भी नियुक्त कर दिया। अजीमुश्शान जब बंगाल का सूबेदार हुआ तब वे उसके साथ ढाका चले गये। डा० मनोरिया का कथन है कि सं० १७६४ के आसपास किशनगढ़ के महाराज राजसिंह ने अजीमुश्शान से वृन्द को माँग लिया था और अच्छी भूमि देकर अपने यहाँ बसा लिया।[1] किशनगढ़ में ही वृन्द की मृत्यु सं० १७८० में हुई थी।

वृन्द कवि के रचे हुए ११ ग्रन्थों की सूची इस प्रकार है

(१) समेत सिखर छन्द (रचना १७२५) (२) भाव पचासिका (१७४) ( ) शृंगार शिक्षा (१७४८) (४) पवन पचीसी (५) हितोपदेश संधि (६) वृन्द सतसई (१७६१) इसका निर्माण ढाका में अजीमुश्शान के अनुरोध पर हुआ था (७) वचनिका (१७६२) (८) सत्य स्वरूप (१७ ४) (९) यमक सतसई (१) हितोपदेशाष्टक (११) भारत कथा।

इन रचनाओं में विषय का बड़ा वैविध्य है। वास्तव में वृन्द को देशाटन एवं अनुभवों का अर्जित करने का पर्याप्त अवसर मिला था। इन अन

---

1 डा० मोतीलाल मनोरिया राजस्थान का पिंगल साहित्य पृ० ९९।

भवों को उन्होंने अपने काव्य में रोचक अभिव्यक्ति दी है। उनके नीति-कवि के पीछे भी जीवन का यही विशाल अनुभव विद्यमान था।

रीतिकाल के कवियों जैसा शृंगार रस एवं नायिका भेद का वर्णन वृन्द ने भाव पचासिका एवं शृंगार शिक्षा में किया है। उनकी वृन्द सतसई अपने नीतिपरक दोहों के लिए प्रसिद्ध ही है पर उसके अतिरिक्त उनकी यमक सतसई भी है। यमक सतसई के अधिकांश दोहे शृंगार रस के हैं एवं प्रत्येक दोहे में यमक अलंकार की स्थापना हुई है। यह रचना भी आलंकारिकता की दृष्टि से रीति बद्धता ही सूचित करती है।

वृन्द अपने जीवन के प्रारम्भिक भाग में चाहे जैसे कवि रहे हों पर बाद की अवस्था में वे भक्ति की ओर उन्मुख हो गये थे। किशनगढ़ राज्य का पूरा कुटुम्ब ही भक्त और कवि था। राजपरिवार के प्रभाव में ही वृन्द भी निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य एवं कवि वृन्दावन देव के शिष्य हो गये थे। वृन्दावन देव ने स्वयं गीतामृत गंगा में आलंकारिक शैली में ब्रजलीलाओं का गान किया है। नीचे हम वृन्द कवि के कतिपय भक्तिभावपरक छन्द उद्धृत कर रहे हैं परन्तु इन पर भी रीतिकाल की चमत्कार योजना का प्रभाव देखा जा सकता है :

पटु पराग पट पीत सुखद सुन्दर तन सोहत
बसी बंस बजाय सुमन सुग मग मन मोहत।
करि विलास रस केलि लता ललिता पुंजन में।
सघन सदन सचरत फिरि विचरत कुंजन में।
जलहोत पदमिनीवास हर घटत सुविम्ब कदम्ब पर।
माधव स्वरूप माधव पवन बहत वृन्द आनंद कर।

—पवन पचीसी से।

कुंज बिहारी कुंज में छरी छरी दिखराइ।
बिन उनको चितवत चकी परतन परतन पाइ।
बनी माहिं राधे बनी बनी बनी की भांति।
भई दम्पति तिर उनमनी सब उनमनी कांति।

—यमक सतसई से।

देव

देव कवि का पूरा नाम देवदत्त था। देव उपनाम से वे कविताएं लिखते थे। डॉ० नगेन्द्र ने अनेक मत मतान्तरों के आधार पर उनका जन्म संवत् १७०

माना है[1] वे इटावा के रहने वाले कश्यप गोत्रीय कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे।[1] अपने जीवन निर्वाह के लिए देव को कई आश्रयदाताओं के पास भटकना पड़ा था। देव की मृत्यु संवत १८२४ २५ के आसपास हुई थी।[1] देव के उपलब्ध ग्रंथों की संख्या अट्ठाईस हैं। या ५२ या ७२ ग्रंथ भी बनाये जाते हैं। इनमें से काव्य शास्त्रीय ग्रंथ हैं एवं प्रेम चन्द्रिका राग रत्नाकर देव शतक एवं चरित और देव माया प्रपंच भक्ति मगीन एवं अध्यात्म से सम्बन्धित हैं। प्रेम चन्द्रिका में उन्होंने प्रेम का माहात्म्य प्रतिपादित किया है। इसमें साधारण प्रेम के अतिरिक्त भक्ति के प्रेम का भी महत्व प्रतिपादित किया गया है। देव शतक में प्रेम पच्चीसी के अन्तर्गत भी प्रेमतत्व का वर्णन करते हुए उन्होंने परमात्मा को सब प्राप्ति द्वारा प्राप्य बनाया है। देव चरित में कृष्णजीवन से सम्बन्धित विविध प्रसंगों एवं लीलाओं का संक्षिप्त वर्णन है।

देव हमारे आलोच्य काल के अत्यन्त समर्थ कवियों में से हैं। राधा और कृष्ण के युगल रूप के अनेक मार्मिक चित्र उनके काव्य में उपलब्ध होते हैं। मधुर भावापन्न जिन भक्ति सम्प्रदायों की चर्चा हम इस प्रबन्ध में कर चुके हैं उनमें राधा तथा कृष्ण और गोपियों के जो चित्र उपलब्ध होते हैं उनसे देव के चित्र भिन्न नहीं प्रतीत होते और ऐसी स्थिति में जबकि देव के काव्य में भक्ति तत्व की उपस्थिति निश्चित रूप से उनके ग्रन्थों में जान पड़ती है। जहाँ तक अन्तःकरण और अभिव्यक्ति की सब स्थितियों का प्रश्न है प्रमाण के रूप में साम्प्रदायिक कवियों में भी यह उपलब्ध हो जाती है तथा इतना ही नहीं भक्ति का भाव यदि कहा जाता है तो अभिव्यंजना का सचेष्टता एवं रीतिबद्धता तुलसीदास में भी प्राप्त होता है। अतः देव जैसे कवियों का सम्मान में किसी एक दृष्टि का अपमान की ओर न प्रस्तुत कर इस पर स्वतन्त्र रूप से विचार करना अधिक समीचीन होगा। उनके वनितय प्रमा ध्वनि सम्बन्धी छन्द नीचे उद्धृत है

बड़ दृग नहु दृग के रिस्थाव जिहैं हरि देव कहू वनितो सुतरी।
विधि ईस के सीस बसो बहु बारन कोमि कला रज सिंधु तरी।
अगमोहनि राय तू पाद परों बचमान के सोन प्रभ उतरी
मन बाय नवावनि तानिहै साक लिये कर ज्यों कर का पुतरी।

---

१ डा नगेन्द्र देव और उनकी कविता पृ० १०।
२ वही वही पृ० १८ ।
३ वही वही पृ० ।
४ निम्बार्क माधुरी पृ ८८२ के सग्रह में।

देव मैं सीस बसायौ सनेह क भाल मगम्मद बिंदु क भाख्यौ।
कचु की मे चुपरयो करि चोवा लगाय लियो उर सों अभिलाख्यौ।
क मखतूल गहे गहने रस मूरतिवत सिंगार क चाख्यौ।
सावरे लाल को सावरे रूप मैं नैननि म कजरा करि राख्यौ।[1]

कालिदास त्रिवेदी

कालिदास अन्तर्वेद के रहने वाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनका जन्म सवत् निश्चित नहीं है पर अनुमानत वे सवत १७२५ क पूव ही उत्पन्न हुए थ क्योकि १७४५ की गोलकुण्डा वाली चढाइ म व औरगजब की सना क साथ गय थ।[2] उस समय उनकी आयु कम स कम २० वष की तो रही ही होगी। इनक ग्रन्थ इस प्रकार हैं —वधू (बार वधू) विनोद राधा माधव बुध मिलन विनोद तथा सपादित ग्रन्थ कालिदास हजारा। वारवधू विनोद नखशिख एव नायिका भेद का प्रसिद्ध ग्रथ है। पर प्रस्तुत विवरण म हम उसस अधिक सबधित न होकर दूसरे ग्रन्थ स सबधित हैं। राधा माधव-बुध मिलन विनोद क छन्दो स एसा ज्ञात होता है कि कालिदास युगलोपासक किसी सम्प्रदाय म दीक्षित हो गय थ तथा उसी क अनुरूप व कविता (साधना) करत थ। रीतिकालीन कवियो न राधा कृष्ण क वियोग या सयोग की चेष्टाओ का वणन किया है पर नित्य विहार क वास्तविक रूप के दशन उनम कम होत हैं। कालिदास त्रिवेदी की रचनाए ब्रजलीला की अपक्षा इसी निकुञ्ज-लीला क अधिक निकट हैं। उदाहरणाथ इस छन्द में

एक ही सेज प राधिका माधव चाइ न सोइ सुभाइ सलोने।
भारे महाकवि कान्ह कों मढि प राधा कहै यह बात न होने।
द्वै हौं न साँवरी साँवरे त अनि बावरी बात सिखाई है कोने।
सोने को रूप कसौटी लग प कसौटी को रग लग नहि सोने।

निम्न छन्द म उन्होने अपनी भक्ति भावना एकदम स्पष्ट कर दी है

दाप रहे जु जहाँ चित जा घर प्रम अमोर जकरि क।
कालिदास राधा माधव क पूजौं पाइ पकरि क।

उदयनाथ कवीन्द्र

प्रसिद्ध कवि कालिदास त्रिवेदी क पुत्र कवीन्द्र का जन्म समय आचाय

---

1 डॉ० नगेन्द्र द्वारा देव और उनकी कविता पृ० १०९ पर उद्धृत।
2 आचाय रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २५१।

रामचन्द्र शुक्ल ने स० १७८६ के लगभग माना है।[1] इस प्रकार इनका कविता काल १८वीं शती का अंतिम चरण माना जा सकता है। रामचन्द्रोदय विनोद चन्द्रिका जोग लीला नामक ग्रंथों का उल्लेख भी शुक्ल जी ने किया है। रस चन्द्रोदय शृंगार रस का ग्रन्थ है और वही इनकी ख्याति का मुख्य आधार है। प्रेम की वेदना का अत्यन्त मार्मिक रूप इन्होंने उपस्थित किया है। इस प्रेम चित्रण पर सूफी प्रभाव भी देखा जा सकता है

कैसी हो सयन आमे लगन लगायी तुम
प्रेम की पगनि के परेसे हिय कसके।
कनिको छिपाय के उपाय उपजाय प्यारे।
तुम तें मिलाय के बनाये चोप चसके।
भनत कविन्द हमें कुंज में बसाय कर।
बसे कित जाय दुख देकर अबस के।
पगनि में छाले परे नांछिवे को नाले परे।
तऊ लाल लाले पर रावरे दरस के।

महाराज बुद्धसिंह

हाड़ा के राजपूत बून्दी नरेश अनिरुद्ध सिंह के पुत्र बुद्धसिंह का जन्म स० १७४२ में तथा मृत्यु स० १७९६ में हुई थी। संवत १७८२ में बून्दी की गद्दी पर आसीन हुए। यद्यपि उनका सारा जीवन युद्ध तथा राजनैतिक उथल पुथल में ही बीता पर फिर भी उनका कलाकार मन रचना के लिए अवसर निकालता ही रहा। बुधसिंह का नेह तरंग नामक १४ तरंगों वाला रीति निरूपक ग्रंथ है। ये एक सुकवि स्नान नाम है। भ्रमरगीत के प्रसंग पर लिखी हुई उनकी यह घना क्षरी द्रष्टव्य है

ऊधौ एक सुनिबे है अरज हमारी और
    एक पर उनहूं के मन में न आना है।
भौन भयो भामसा सो भामसो सो भिन्न भयो
    राकसा सा रैनि भई देख न सुहानो है।
कहियो जू एती दई मन में जो आय क्यों हू
    दरसन जो पाऊं कना कहिबे न आना है।
घड़ि घड़ि नेह निधि कड़ि-कड़ि लाज हम
    मन माना मसरा सों बढ़ि-बढ़ि आना है।

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० २५०।

राजसिंह

ये किशनगढ़ के महाराज मानसिंह के पुत्र थे। आपका जन्म संवत् १७२१ में हुआ था। देहावसान उनका सं० १८०५ में हुआ। वे निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायी थे। राजसिंह बड़े ही गुण ग्राही कलाप्रेमी एवं स्वयं कवि थे। अग्रेजी मुल्यांन में वृन्दावन के हा भाग नाये थे। राजसिंह से किशनगढ़ राज्य में एक काव्य परम्परा ही प्रारम्भ हो जाती है। राजसिंह स्वयं कवि थे। उनकी पत्नी ब्रजदासी जी के भागवत अनुवाद की चर्चा हम पीछे कर आये हैं। नागरीदास उनके पुत्र थे तथा सुन्दर कुंवरि जी उनकी पुत्री। उनकी पौत्री छत्र कुंवरि भी कवयित्री थीं। अस्तु राजसिंह के लिखे दो ग्रन्थ हैं—बाहु विलास एवं रसपाय। प्रथम ग्रन्थ में श्रीकृष्ण रुक्मिणी का विवाह वर्णित है एवं द्वितीय ग्रन्थ में रीतिकाल के प्रभाव के अन्तर्गत नायिका के गुणावगुण बताये गये हैं। आपके कतिपय फुटकर पद भी मिलते हैं

> ए अँखियाँ प्यारे जु छुम कर।
> यह महरेरी लाज लपेटी झुकि झुकि घूमें भूमि पर।
> नागर प्यारे होइ न न्यारे हा हा तो सौं कोटि कर।
> राजसिंह को स्वामी नागर बिनु देखे दिन कठिन पर।

सूरति मिश्र

हिन्दी साहित्य के बृहत् इतिहास में सूरति मिश्र के बारे में कहा गया है कि इनके सबंध में किसी प्रकार की सामग्री उपलब्ध नहीं है।[1] प० रामचन्द्र शुक्ल ने इनका रचनाकाल विक्रम की अठारहवीं शताब्दी का अंतिम चरण माना है। डॉ० मोतीलाल मेनारिया ने सूरति मिश्र का जन्म सं० १७५६ के आसपास अनुमानित किया है।[3] सभी इतिहासकार इन्हें कान्यकुब्ज ब्राह्मण तथा आगरे का निवासी मानते हैं। जहानाबाद जयपुर बीकानेर आदि राज्यों से ये सम्बन्धित रहे हैं। इनके लिखे ग्रन्थों की संख्या १५ से ऊपर है। रसिक प्रिया कवि प्रिया एवं बिहारी-सतसई की उन्होंने ब्रजभाषा गद्य में टीकाएँ भी की हैं तथा अनेक रीति ग्रन्थ (अलंकार माला नखशिख रस सरस रस ग्राहक चन्द्रिका रस रत्न माला काव्य सिद्धांत और शृंगार सार) हैं। संस्कृत के प्रबोध चन्द्रोदय नाटक तथा बैताल पंचविंशति के अनुवाद भी सूरति मिश्र ने किये

---

1 हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास षष्ठ भाग पृ० ४०।
2 हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० ३८।
3 राजस्थान का पिंगल साहित्य पृ० १०२।

थे। भक्ति विनोद राम चरित्र कृष्ण चरित्र रास लीला व दान लीला उनके भक्ति माग से सबधित ग्र थ हैं। भक्तिकाल की दृष्टि से उनकी रचनाए भी पर्याप्त मात्रा म प्राप्त होती है एव भक्ति काव्य का सरस रग भी उन पर मिलता है। प्रेमाभक्ति क वसिया का होली का उत्सव अत्यधिक प्रिय रहा है। नीचे उद्धृत छन्द भी होलिकोत्सव स ही सबधित है

> फागन क दिन बावरे ये इनमे न सयानपना निबहै हैं।
> काम बुहाई रहो घिरि क अब कोउन काउ की फूक लहै हु।
> भाय क रगनि सो भरि हु हरिह नहीं नागर सांचो कहै हु।
> चोरी नहीं बरजोरी नहीं होरी में कौन धौ केरि रहैं हु।
>
> —भक्ति विनोद

श्रीपति

श्रीपति कवि का अधिक प्रामाणिक विवरण उपलब्ध नही है।[1] वे कालपी क रहन वाल कान्यकुब्ज ब्राह्मण थ। उनक काव्य सरोज नामक ग्रन्थ का रचनाकाल स० १७७७ वि० है। अत विक्रम की अठारहवीं शती क अतिम चरण म व विद्यमान थ। उनक ७ ग्रन्थ कह जात हैं पर वे सभी रीति निरूपण या रीतिबद्ध काव्य क प्रतीत होते हैं।[2] काव्यशास्त्र क आचाय रूप म वे अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। यत्र-तत्र उनक कुछ फुटकर भक्ति परक भाव सबधी उद्गार भी मिल जाते हैं। एक उदाहरण निम्नलिखित है

> तातहू की जाति नीकी निगम प्रतीति नीकी।
> श्रीपति जू प्रीति नाकी लाग हरिनाम की।
> रेवा नीकी बानर सेन सु दरी सुवा की नीकी।
> मवा नीकी काबुल की सवा नीकी राम की।

मानसाथ

मानसाथ का आचायत्व एव प्रवन्ध कवि की दृष्टि म शुक्ल जी न रीति काल का सम्पूर्ण कवि माना है। उनका रसराय निधि नामक रीति का विस्तृत विवचन करन वाला ग्रन्थ सवत १७८४ म लिखा गया था। इस आधार पर शुक्ल जी न इनका रचनाकाल सवत १७८० म १८१० माना है। इनका

१ हिन्दी साहित्य का बहत इतिहास षष्ठ भाग पृ ८८।
२ हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० २६२ २६३।

'माधव विनोद' नामक नाटक संवत १८०७ में लिखा गया था।[1] ये माथुर ब्राह्मण थे तथा भरतपुर नरेश मदनसिंह के छोटे पुत्र के आश्रित थे। इनके पाँच ग्रन्थ उपलब्ध हैं—रस पीयूष निधि, शृंगार विलास, कृष्ण लीलावती, पंचाध्यायी, सुजान विलास। इनमें से प्रथम दो ग्रंथ काव्य शास्त्र से संबंधित हैं। कृष्ण लीलावती नाम ही कृष्णलीलाओं का सूचक है, पंचाध्यायी प्रकाशित हो गई है और भागवत की परम्परा में कृष्ण की रास लीला को चित्रित करती है। पंचाध्यायी का रचनाकाल सं० १८०० है। इस प्रकार यह रचना हमारे आलोच्य युग के अंतिम बिन्दु पर स्थित है। इनके अतिरिक्त सुजान विलास (सिंहासन बत्तीसी का अनुवाद) एवं 'माधव विनोद' नाटक दो ग्रंथ और कहे जाते हैं।[2]

उपर्युक्त चर्चा से यह स्पष्ट है कि सोमनाथ में प्रेमाभक्ति का गहरा संस्कार था। गोपियाँ रास के समय कृष्ण से तिरस्कृत होती हैं। उस समय गोपियों के मार्मिक वचन सोमनाथ जी ने इस छन्द में पूरी वेदना के साथ उपस्थित किए हैं

रावरी हाँसी विलोकन औ
अरु आंसुरी की सुन तान तरेरी।
जागि उठी मनमत्थ की आगि
छिनोछिन बाढ़ति भांति घनेरी।
सींचों हमें अधरामृत सें,
ससिनाथ कहौं जिन बात करेरी।
मानत या विरहानल में
जरिहोंयगी काह भअत की देरी।[3]

यह छन्द भागवत के निम्न श्लोक के भावावेग को पूरी तरह सुरक्षित रख सका है

सिञ्चाङ्ग नस्त्वदधरामृतपूरकेण
हासावलोककलगीतजहृच्छयाग्निम्।

१ सोमनाथ रत्नावली की भूमिका में उनके १० ग्रंथ गिनाये गए हैं। सोमनाथ रत्नावली (आलोक पुस्तक माला प्रयाग) पृ० ५६।
२ वही वही।
३ वही छन्द ६८ पृ० ७।

नो चद्वय विरहजान्युपयुक्त देहा
ध्यानेन याम पदयो पदवीं सख ते।[1]

सोमनाथ का एक और सुन्दर छन्द निम्न है। नायिका का स्वप्न दर्शन अत्यंत मनोहर एवं भावपरक बन पडा है

आय गपाल सखी सपने म समीप हमारे रतीक डर नहीं।
हौं कितनो समभा रही तऊ लाजतें मन उत ठहरे नहीं।
घान सो ममका कछू ललचाइ क सेतो घरीक टर नहीं।
मैं ही मयानप यो परस्यो जु निसक ह्व मोहन अक भर नहीं।[2]

आलम

आलम नाम स हिन्दी म दो कवियों की चर्चा होती है। मुअज्जम (बहादुरशाह) के आश्रित थे। बहादुरशाह का शासनकाल संवत् १७६४ से आरंभ होता है। अतः आलम को भी १८वीं शती के उत्तरार्द्ध [redacted] माना जा सकता है। आलम के संबंध म एक मनोहर प्रमकथा कही जाती है। कहते हैं कि वे ब्राह्मण थे पर शेख रगरजिन के प्रणय म उन्होंने अपना धर्म त्याग कर इस्लाम ग्रहण कर लिया था। उसस उन्होंने विवाह कर लिया। रगरजिन भी कवयित्री थी और कहते हैं कि आलम कवि म शेख की भणिति वाले छन्द उसी के हैं। पर इधर डा० मनोहरलाल गौड़ ने युक्तियुक्त प्रमाणों के आधार पर इस मत का खंडन किया है। उनके अनुसार शेख आलम कवि का पूरा नाम था और आलमकेलि के समस्त छन्द उन्हीं के हैं। शेख उनकी पत्नी का नाम नहीं था। रगरजिन वाली कथा सत्य हो सकती है पर उसका नाम या उसकी कविता निश्चित नहीं होता।[3]

आलम की दो रचनाएँ हैं—आलम केलि तथा सुदामा चरित्र। इन दोनों रचनाओं म ऐसा लगता है कि आलम के शाम हृदय हिन्दू का सा था। सुदामा चरित्र की भाषा म फारसी और अरबी का प्रयोग अवश्य हुआ है पर इस वयानक का चित्रण उनके हृदय की सूचना का सूचक है। आलम केलि म शृगार और विशेष कर विप्रलभ शृगार के अत्यत अनुभूति प्रवण चित्र उपलब्ध होते हैं। निम्न छन्द

---

१ श्रीमद्भागवत १०।२६।३८।
२ सोमनाथ रत्नावली स्फुट कविता छन्द ६।
३ डॉ मनोहरलाल गौड़ शेख आलम—हिन्दी अनुशीलन (डॉ धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक) पृ ६५ ६।

करती है । वेदना जन्य ऐसी अनुभूतियाँ रीति के स्थान पर भक्ति प्रवृत्ति को प्रकट करती हैं। दोनों (विरह मिलन) ही स्थितियों को एक दूसरे के परिपार्श्व में रखकर अपेक्षित विरह व्यथा की व्यंजना कवि की शक्ति का प्रमाण है

जा थल कीन्हें विहार अनेकन ता थल कांकरी बैठि चुन्यो कर ।
जा रसना सों करी बहु बात सु ता रसना सा चरित्र गन्यो कर ।
आलम जौन से कुंजन में करी केलि तहां अब सीस धुन्यो कर ।
नैनन मे जो सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यो कर ।

भिखारीदास

प्रतापगढ़ के टयोगा ग्राम के निवासी कायस्थ थे। वे विक्रम की १८ वीं शती के अन्तिम चरण एवं १६ वीं शती के प्रथम चरण में रचनाकार्य में अधिक क्रियाशील रहे हैं। उनके सात ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं—रस सारांश काव्य निर्णय शृंगार निर्णय छन्दोर्णव पिंगल नाम-नाम प्रकाश विष्णु-पुराण भाषा और शतरंज शतिका। भिखारीदास रीतिकाल के सर्वोत्तम आचार्य कवियों में से एक हैं। काव्य सौष्ठव की दृष्टि में भी दास जी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कवि हैं। रूप सौन्दर्य में ठगी राधा का यह चित्र देखिए जिसे विषम अलंकार के माध्यम से कवि ने उभारा है

जाहि मोहिबे काज सिंगार सज्यो तेहि देखत मोह में आइ गई।
न चितौनि चलाइ सकी उनहीं की चितौनि के भाय अघाय गई।
वृषभान लली की दसा यह दास जू देत ठगौरी ठगाय गई।
बरसाने गई दधि बेचन को तहं आपुहि आपु बिकाय गई।

भिखारीदास यद्यपि प्रमुखतः रीति ग्रन्थों के ही प्रणेता थे। पर दोहा करण में भक्ति की जो मधुरता और व्रजरस की जो प्राचुर्य था उसे अभिव्यक्ति करने में प्रयत्न की रास नहीं रहे। नीचे उद्धृत छन्द इसी भक्तिपरक अनुराग का व्यंजक है।

षष्ठ अध्याय

अठारहवीं शती के ब्रजभाषा प्रेमाभक्ति-काव्य का साहित्य विश्लेषण और मूल्यांकन

षष्ठ अध्याय

अठारहवीं शती के ब्रजभाषा प्रेमाभक्ति काव्य का साहित्य विश्लेषण और मूल्यांकन

१८वीं शती के प्रेमाभक्ति काव्य का साहित्यिक विश्लेषण और मूल्यांकन

प्रेमाभक्ति काव्य की तीन परम्पराएँ   संक्षिप्त परिचय

विक्रम की १८वीं शती के हमारे समीक्ष्य साहित्य में तीन परम्पराएँ अत्यंत स्पष्ट रूप से देखी जा सकती हैं। एक परम्परा निकुंज-लीला या सखी भावोपासकों की है। दूसरी परम्परा ब्रजलीला अथवा गोपी भाव के साधकों की है। ये दोनों परम्पराएं रागानुगा भक्ति के अन्तर्गत परिगणनीय हैं। तीसरी परम्परा सगुण लीलागान की न होकर निर्गुण के प्रति प्रेमाभाव की है—इसे हम प्रेम प्रतीक भाव धारा भी कह सकते हैं। निर्गुण सम्प्रदायों एवं सूफ़ियों की भक्ति इसी प्रेम प्रतीकवाद पर मुख्यतः आश्रित है। परन्तु यह ध्यान रहे कि ये प्रतीक प्रस्तुत युग तक प्रतीकात्मकता खोकर वास्तविकता ग्रहण कर लेते हैं। परन्तु इन तीनों परम्पराओं में दूसरी एवं तीसरी परम्पराएँ इस अर्थ में परस्पर अधिक निकट हैं कि उनमें वियोग-तत्व को ही मान्यता प्राप्त नहीं है बल्कि प्रिय को सीधे-सीधे कान्त या कान्ता भाव से प्राप्त करने की चेष्टा भी है। पहली और तीसरी परम्परा में निकटता एक दूसरे स्तर पर है। सूफ़ी भी किसी कथा के पात्र में अपने सौन्दर्य प्रेम आदि के आदर्शों को केन्द्रित करके अभिव्यक्त करते हैं एवं नित्यविहार के गायकों ने उन सारे सौन्दर्य, प्रेम आदि को राधा कृष्ण (या राम सीता) के युगल में राशिभूत करके देखा है। प्रथम एवं द्वितीय परम्पराओं के पारस्परिक नैकट्य या पार्थक्य की चर्चा हम चतुर्थ अध्याय में कर चुके हैं। द्वितीय परम्परा (गोपी भाव) के भावबोध का ही चरम विकास हमें प्रथम परम्परा के नित्यविहार एवं सखीभावपरक उपासना में प्राप्त होता है।

यहीं पर इतना संकेत कर देना ठीक रहेगा कि हमारे साहित्य में काव्य सृजन के स्तर पर इस विषय के लिए द्वितीय परम्परा का विकास मुख्य रूप से हुआ है यद्यपि अन्य धाराएँ भी इस परिणति में अपना योग दे रही थीं। इस समग्र विकास प्रक्रिया का विवेचन हम आगे विस्तार से करेंगे। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सखी भाव एवं प्रेम प्रतीक भाव की धाराएँ निष्प्रभ हो

१८वीं शती के प्रेमाभक्ति काव्य का साहित्यिक विश्लेषण और मूल्यांकन

प्रेमाभक्ति काव्य की तीन परम्पराएँ संक्षिप्त परिचय

विक्रम की १८ वीं शती के हमारे समीक्ष्य साहित्य में तीन परम्पराएँ अत्यन्त स्पष्ट रूप से देखी जा सकती हैं। एक परम्परा निकुंज-लीला या सखी भावोपासना की है। दूसरी परम्परा व्रजलीला अथवा गोपी भाव के साधना की है। ये दोनों परम्पराएं रागानुगा भक्ति के अन्तर्गत परिगणनीय हैं। तीसरी परम्परा सगुण लीलागान की न होकर निर्गुण के प्रति प्रेमभाव की है—इस हम प्रेम प्रतीक भाव धारा भी कह सकते हैं। निर्गुण-सम्प्रदाय एवं सूफियों की भक्ति इसी प्रेम प्रतीकवाद पर मुख्यतः आश्रित है। परन्तु यह ध्यान रहे कि वे प्रतीक प्रस्तुत युग तक प्रतीकात्मकता त्यागकर वास्तविकता ग्रहण कर लेते हैं। अस्तु इन तीनों परम्पराओं में दूसरी एवं तीसरी परम्पराएं इस अर्थ में परस्पर अधिक निकट हैं कि उनमें वियोग-तत्व की ही मान्यता प्राप्त नहीं है बल्कि प्रिय को सीधे-सीधे कान्ता या कान्ता भाव से प्राप्त करने की चेष्टा भी है। पहला और तीसरी परम्परा में निकटता एक दूसरे स्तर पर है। सूफी भी किसी कथा के पात्र में अनन्त सौन्दर्य प्रेम आदि के आदर्शों को केन्द्रित करके अभिव्यक्त करते हैं एवं नित्यविहार के साधक ने उन सारे सौन्दर्य प्रेम आदि को राधा-कृष्ण (या राम सीता) के युगल में रूपाभूत करके देखा है। प्रथम एवं द्वितीय परम्पराओं के पारस्परिक नैकट्य या पार्थक्य की चर्चा हम चतुर्थ अध्याय में कर चुके हैं। द्वितीय परम्परा (गोपी भाव) के भावबोध का ही चरम विकास हम प्रथम परम्परा के नित्यविहार एवं सखीभावपरक उपासना में प्राप्त होता है।

यहां पर इतना संकेत कर देना ठीक रहेगा कि हमारे साहित्य में काव्य सृजन के स्तर पर इस विषय के लिए द्वितीय परम्परा का विकास मुख्य रूप से होता है यद्यपि अन्य धाराएँ भी इस परिणति में अपना योग दे रही थीं। इस समग्र विकास प्रक्रिया का विवेचन हम आगे विस्तार से करेंगे। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सखी भाव एवं प्रेम प्रतीक भाव की धाराएं निष्प्रभ हो

गई थी। हमारे आलोच्य काल म ता वे अत्यधिक उन्नतो रही हैं एव १६ वा शती तक उनका वेग कम नहीं पड़ा। परन्तु ऐसा लगता है कि मुख्य काव्य धारा से कटकर व मात्र रहस्यानुभूति क सरोवर बन गयी था। वस्तुत य दोनो (प्रथम एव द्वितीय) परम्पराएं मुख्यत रहस्यानुभूति पर ही आधृत हैं। इस रहस्यानुभूति की ऐकान्तिकता क कारण ही उनको साहित्य-सरिता क मुख्य बहाव स अलग हो जाना पड़ा था। अस्तु आगे हम अपने आलोच्य काल की इन्ही तीनो परम्पराओ क मध्य एव शिल्प क विश्लेषण तथा मूल्यांकन का प्रयास करेंगे।

नित्य विहारोपासकों द्वारा सर्जित काव्य

निर्गुणियो एव सूफी प्रमाख्यानकारो का छोड़कर नित्यविहार की स्वल्पाधिक अभिव्यक्ति हम इस युग क प्रत्येक सम्प्रदाय म प्राप्त हो जाती है। यहा तक कि निर्गुण कहे जाने वाले प्रणामी (धामी)[1] एव चरणदासी (शुक)[1] सम्प्रदाय भी इस भावना स बच नहीं सक हैं। पीछे चतुर्थ अध्याय म हम कह चुक हैं कि गोपी भाव वाले सगुणोपासक गौडीय वष्णव तथा वल्लभ सम्प्रदाय एव मर्यादामार्गी रामभक्ति-सम्प्रदायो म भी राधावाद (सीतावाद) प्रमुखता प्राप्त कर लेता है एव नित्यविहारोपासना की भरपूर अभिव्यक्ति प्रस्तुत युग तक आते आते उन सम्प्रदायो म होने लगती है। पीछे के अध्यायो म विभिन्न सम्प्रदायो क कवियो की चर्चा करते हुए हम इस तथ्य की ओर इंगित कर चुके हैं कि नित्यविहार की भावना बराबर बल पकड़ती गयी है। राधा और कृष्ण (सीता राम) सौन्दर्य प्र म एव कलि क साक्षात रस विग्रह स्वीकार कर लिये गए थे। रीतिकाल की नायक नायिका सबधी कल्पनाओ म नित्य विहारोपासको की इन धारणाओ ने अत्यधिक बल दिया होगा।

चतुर्थ अध्याय म हम कह चुक है कि नित्यविहारोपासक सखी भाव क अनुग हैं। लाड़िली और लाल क अहर्निशि चलने वाले विहार म सेवा एव उसी विहार का दर्शन उनका एक मात्र काम्य लक्ष्य होता है। अत उनकी समस्त अभिव्यक्तियाँ इसी केन्द्र क चारो ओर सदैव रहती हैं। इस साहित्य में मुख्य रूप से जिन बातो इच्छा एव परिस्थितियो को अभिव्यजना मिली है उनकी विवेचना हम कर रहे है।

इन सम्प्रदायो म चूंकि परात्पर-तत्त्व की कल्पना मधुर एव सुन्दर क रूप म ही हुई है[3] अत परात्पर तत्त्व की अभिव्यक्ति जिन युगो (राधा कृष्ण एव

१ परशुराम चतुर्वेदी उत्तरी भारत की सत परम्परा, पृ० ५२८ ५३८।
२ वही वही ५६६ ६०६।
३ दे० प्रस्तुत प्रबन्ध का चतुर्थ अध्याय।

सीता राम) के रूप में हुई है वे भी निखिल सौन्दर्य की राशि एवं परम मधुर रूप में ही चित्रित हुए हैं। ऐश्वर्य, तेज, बल, प्रताप आदि गुण इस क्षेत्र में उपेक्षित ही हैं।[1] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने शील, शक्ति और सौन्दर्य की जिस वृहत्त्रयी को विष्णु में देखना चाहा है उसमें से केवल सौन्दर्य ही इन अभिव्यक्तियों में गृहीत है। इसी कारण इन कवियों ने अपने उपास्य युगल के रूप का अत्यंत विशद, मनोहारी एवं सर्वातिशायी प्रभावकर रूप में चित्रण किया है। इस रूप से सखियाँ एवं समस्त जड़-चेतन तो प्रभावित होते ही हैं वे दोनों परस्पर भी इस रूप की ठगौरी में एक दूसरे की ओर सतत आकर्षित रहते हैं। परस्पर का यह आकर्षण ही प्रेम है और यह रंगीला आकर्षण एवं चटकीला प्रेम उन्हें निरन्तर मिलनोन्मुख बनाए रखता है। मिलन की यह आकुलता पलकान्तर या अचल की ओट में भी तीव्र विरह को उत्पन्न करने में समर्थ होती है तथा विहार के उत्कट वाञ्छा ही क्षणिक-सी बाधा प्राप्त होते ही मान का रूप ग्रहण कर लेती है। परन्तु विरह और मान के वास्तविक कारणों का अभाव उन्हें छद्म ही बनाए रखता है। फिर अभिसार है, अभिसार की नाना चेष्टाएँ हैं। सुरत एवं सुरतान्त के मादक मदिर चित्र हैं, रासक्रीड़ा का उत्फुल्ल वैभव है तथा अन्य अनेक मिलन लीलाएँ हैं और इन सभी में सखियों की प्रसन्न परिचर्या एवं सेवाविधि है। इन सभी को युगलोपासक प्रस्तुत कवियों ने अपने सहस्रों छन्दों में सजाया है, प्रकाशित किया है। यह तो लीलागान हुआ, पर इस लीलागान को सही परिप्रेक्ष्य में समझा जा सके, वह भ्रमपूर्ण धारणाओं में न लिपटा जाय, इसके लिए उन्होंने सिद्धान्त-कथन भी प्रचुर मात्रा में किया है। रीतिकाल में लक्षण ग्रन्थ और प्रेमाभक्ति के सिद्धान्त एक ही मनोभूमि से उपजे जान पड़ते हैं—समझने की दृष्टि देना ही इनका लक्ष्य प्रतीत होता है। इस प्रकार इन कवियों के तथ्य की संक्षिप्त सप्तसूत्री रूपरेखा यों बनती है—(१) रूप चित्रण (२) आकर्षण और प्रेम (३) मिलनाकुलता (४) छद्म विरह और छद्म मान (५) विहार क्रीड़ा (६) सखियों की सेवा-परिचर्या (७) सिद्धान्त कथन। इस परम्परा में जैसा कि पूर्व ही कहा जा चुका है[2] राधा और कृष्ण ब्रज में नित्य किशोर, नित्य विहाररत माने गए हैं, इसी कारण न तो मानव के रूपचित्र हैं एवं न बालक्रीड़ाएँ। बहुवल्लभत्व की स्वीकृति न होने से नाना प्रकार के नायिका भेदों एवं नायक रूपों की कल्पना का भी अभाव है। स्थूल विरह और स्थूल मान का भी इस स्थिति में चित्रण संभव नहीं है। ब्रज

---

१ राम-सीता के रूप में ऐश्वर्य की भावना का मिश्रण अवश्य है पर यह मुख्य नहीं है। इसके अतिरिक्त ऐश्वर्य की इस समाविष्टि के कारण की चर्चा हम चतुर्थ अध्याय में कर चुके हैं।

२ दे० प्रथम अध्याय।

लीलाओं की स्वीकृति न होने के कारण लीला का वैविध्य भी नहीं है। रामचरित्र में भी वन गमन आदि की स्वीकृति न होने से लीला की अनेक रूपता में व्याघात पड़ा है। अस्तु आगे हम इस सप्त सूत्री को स्पष्ट करने का प्रयास कर रहे हैं।

(१) रूप चित्रण

इस संबंध में कुछ लिखने के पूर्व इतना याद दिला देना आवश्यक है कि प्रेम और माधुर्य की प्रधानता देने वाले इस काव्य में राधा या सीता का महत्त्व रूपचित्रण की दृष्टि से यहां अधिक है। श्यामके रूप का चित्रण करने वाले भक्त अपेक्षाकृत विरल भी हैं और कम कल्पनाशील भी। परन्तु प्रिया का वह रूप जो प्रिय को भी उन्मथित कर देता है प्रभूत मात्रा में अंकित हुआ है। यों सिद्धान्ततः रूप से दोनों एक ही हैं एवं विहार काल के जो शोभाचित्र हैं वे दोनों के मादक रूप को उपस्थित करते हैं। सिद्धान्ततः एकता की ओर भी यत्र तत्र संकेत मिल जाते हैं। सब मिलाकर विहार से तटस्थ युग्म के रूप का अंकन इस साहित्य में बहुत कम है। संभवतः इसका कारण यह है कि इन कवियों के मन में नित्य विहार से तटस्थ युग्म की धारणा का स्थान ही नहीं था। एक क्षण के लिए भी अलग हैं तो निश्चय ही विरह और मान की स्थिति है। इसी कारण युग्म के तटस्थ रूप सिद्धान्ततः अधिक एवं बिम्बात्मक कम है। बिहारी का प्रसिद्ध दोहा है

> नित प्रति एकत ही रहत बैस बरन मन एक।
> चहियत जुगल किशोर लखि लोचन जुगल अनेक।[१]

इस दोहे में सखी की उस भावात्मक स्थिति की ओर संकेत अधिक है जिसमें कि युगल की उस अनिंद्य रूपमाधुरी के ग्रहण के लिए दो नेत्र पर्याप्त नहीं होते। रामोपासक महात्मा बालअली ने सखी की मन स्थिति से भी असम्पृक्त होकर युगल का उल्लेख किया है।

> एक चित्त दोउ एक वय एक नेह इक प्राण।
> एक रूप इक वश है क्रीडत कुंवर सुजान।

एक दूसरे रामोपासक प्रेम सखी जी ने अवश्य ही दोनों के युग्म रूप का वर्णन एक साथ किया है। परन्तु यह चित्रण अत्यधिक परम्परामुक्त शैली में हुआ-

१ बिहारी सतसई २३८ (रत्नाकर)।
२ बालअली नेह प्रकाश (रामभक्ति साहित्य मे मधुर उपासना मे संगृहीत अंश से, पृ० २ ६)।

है। चन्द्रमा जैसा भाल कमान जैसी भृकुटी एवं कुंद से दांत कवि कल्पना की समृद्धि नहीं सूचित करते

गोरे श्याम रंग रति कोटिन अनंग संग
जाकी छवि देखि होत लज्जित विचारे हैं।
चंद कैसो भाग भाल भकुटी कमान ऐसी
नासिका सुहाई नैन जोर छोर वारे हैं।
ओठ अरुणारे तैसे कुंद से दसन प्यारे
ललित कपोलन पै कच घुंघरारे हैं।
अंस भुज धारे दोऊ नील पीत पट धारे
प्रेम सखी' राम सिया जीवन हमारे हैं।

यद्यपि इसी कवि ने इस प्रसंग के कुछ पूर्व सीता की छवि का कहीं अधिक कलात्मक एवं स्निग्ध अंकन किया है।

हरिदासी सम्प्रदाय के स्वामी पीताम्बर देव ने भी युगल के शृंगार का चित्रण किया है। यह शृंगार ऐसा है कि परस्पर एक दूसरे पर रीझ कर विहार करने लगते हैं

आज सिंगार हमारो भाई सब दिन भावते अधिकाई।
भूषन वसन कुसुम नहिं भावत श्री गुरुमहनि सन बताई।
सावधान सहचरि सब देखत चोरि सुगंध विविध विधि ल्याई।
रुचि गयो रंग अंग संगी सुख हंसत बना बनी सुखदाई।
धार बनाय अंग तन लेपन सिख ते नख लौं चित्र बनाई।
रहि गये रीझि परस्पर दोई तन सा तन मन मनहिं मिलाई।
यही मान समान भोग जल सरस सिंगार सेज सुखदाई।
रसिक सुगंध मई पीताम्बर हसत बनें कहो नहिं जाई॥

प्रस्तुत पद में रूप या शृंगार का वस्तुपरक स्वरूप नहीं उपस्थित किया गया है बल्कि कुछ वस्तुओं (रंग सुगन्ध आदि) के माध्यम से किये जाने वाले अपूर्व शृंगार का सेवन करके पुनः उस स्थिति के दर्शन के लिए कवि का मन प्रभावित हो गया है जहाँ वे एक दूसरे की शोभा देखकर बस रहि गये रीझि तथा मन से तन एवं मन से मन मिलन की क्रीड़ा प्रारम्भ हो जाती है। दोनों की एक समान स्थिति की ओर राधावल्लभ-सम्प्रदाय के अनुयायी अनन्य अलि जी ने

---

१ प्रेम सखी सीताराम नखशिख वर्णन (रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना के संग्रह पृ० ४०८ से)।

२ पीताम्बरदेव की बानी पृ० ६८ (ह० लि० प्रति)।

ङ्गित किया है। भोलापन (ब्लापन) के सौन्दर्य की बहुधा प्रशंसा की जाती है पर युगल भी कम नहीं है। इसीलिए इस भाले और बावले युगल का देख देख सखियाँ निहाल होती रहती हैं भोलापन पर रीझना प्रायः प्राण में निश्चयन्त राम ण्टिक धारणा है

ये भोरे ये बावरे दोऊ एक ह्याल।
निरखि निरखि निज सखी सब कहत निहाल निहाल।[1]

प्रिया एवं प्रियतम सारी रात अनुराग के रंग में रंगे जागत रहते हैं उस समय उनके उनींदे नेत्रों का सौन्दर्य रूप रसिक देव (निम्बार्कीय) का सहज ही प्र कर्षित करता है। मदन के रंग में भीने सलज्ज हसौंहा इंगित वाले लाल रा, लाल वर्णों से मर्मा हत करारे एवं अनियारे नेत्रों का सौन्दर्य द्रष्टव्य है

उनींदें नैन मैन रंग भीनें सलज हसौंही सैन।
रतनारे कारे करारे वर्ति अनियारे ऐन।।
भपकोंहें दैनि रस कस सहज सलोने मन हरि लैन।
रूप रसिक सगवगे सुहागे अनुरागें जाग रैन।।

इस छन्द में व्यंजित आँखों का सौन्दर्य मध्यकालीन साहित्य के नेत्रों के न प्ठतम् वर्णनों से टक्कर ले सकता है। करारे एवं अनियारे जहाँ उनके आकार को व्यंजित करते हैं वहीं रतनारे कारे नेत्र वर्ण योजना को तथा अनुराग को भी प्रकट करते है। सलज हसौंही सैन एवं उनींदे नेत्रों का झपकने का स्वाभा विक गुण क्रियाशीलता को भलीभांति व्यंजित करने में समर्थ हैं। मदन का रंग एवं रस के होने का उपमान आंतरिक रूप गुण लावण्य एवं प्रभावात्मकता को प्रकट करने के लिए लाये गये है। इसके अतिरिक्त अभिव्यंजना का जो सांचा और जो ताना-बाना (टेक्सचर) अपनाया गया है वह भी वक्तव्य को बिम्ब रूप में उपस्थित करने में नितान्त सक्षम है। छन्द के प्रथम दो शब्द हैं उनींदे नैन एवं अंतिम शब्द है अनुरागे जाग रैन। इन दोनों का कार्य कारण सम्बन्ध है। रात भर अनुराग में जागे हैं अतः नैन उनींदे हैं एवं इस सम्बन्ध के भीतर ही छन्द में चित्रित अन्य समस्त गुण एवं धर्म है। इसी कारण कवि ने इन दोनों के द्वारा छन्द का सम्पुटित किया है। फिर इस अनुराग के पीछे भी मदन का रंग है अतः अनुराग का लाल रंग एवं श्रृंगार का नील(काला) रंग अगली पंक्ति में कवि रंगबोध को स्पष्ट करते हैं। तो अभिप्रायगत रंग हुए पर स्वाभाविक रूप से भी उनींदे नयन लाल होते हैं एवं आँखों की पुतलियों को काला होना ही है। सुरतान्त में दम्पति में लज्जा का

१ अनन्य अली की वाणी भोरता लीला (ह० लि० प्र०)।

आगमन भी सहज एवं मनोवैज्ञानिक है पर साथ ही आनन्द लाभ की स्थिति भी है इसलिए मन (चितवनि) को सलज्ज एवं हमौंही बताया गया है। या हास्य का उद्रेक वरुण आभा की स्नेह भूमि को भी इंगित करता है। इशारे एवं भनि यार आकार के उस रूप की अत्यन्त शक्ति के साथ स्पष्ट कर देते हैं जो अनायास भाव से प्रिय की ओर ललक कर नुकीलेपन के साथ कटाक्ष करता है। तीसरी पंक्ति का प्रथम शब्द झपकनि पुन मारे मन्थ का उनींदे से जोड़ देता है। है। नींद से भरी आँखें मन भर पड़ती हैं तथा मन्न का रस भी आत्मा को भपका देता है। एक दूसरे को रूप मदिरा भी उन्हें झपकनि बना सकने में समर्थ है। झपकान शब्द वास्तव में कवि की शब्द चयन सामर्थ्य का प्रताप है। यह शब्द एक साथ अनेक व्यंजनाएं भी कर देता है एवं नेत्रों का एक क्रियाशील बिम्ब (functional image) भी खड़ा कर देता है। इसके पश्चात् कवि आँखों के लिए जिस उपमान को लाता है वह नेत्रों के उस गुण की ओर इंगित करता है जो मत्त पान्थ या दर्शक पर पड़ता है। उनींदे नैन क्या हैं—मानो रस के दान हैं। दान आकार की ओर भी सूक्ष्म संकेत कर जाते हैं तथा रसात्मकता तो स्पष्ट ही है। रस सामान्यतः मधुर होता है पर ये सहज सलोने भी हैं। यह लावण्य नेत्रों के आन्तरिक गुण रूप विशेषता को भी संकेतित करता है। ऐसे नेत्र यदि मन हर लेते हैं तो कोई विचित्र बात नहीं है यह तो सामान्य वृत्तान्त हुआ। पर अभी कुछ छूट गया था मन कवि ने अनुरागे नागे रन के पहले दो विशेषण और जोड़ दिये—सगबग और सुभाग। सगबग शब्द एक प्रकार की निर्बोधता गरमता एवं आश्चर्यपूर्ण चकित स्थिति की व्यंजना करता है। अंगरेजी शब्द इनोसेंस में जो ध्वनि है कुछ कुछ वैसी ही ध्वनि इस शब्द में भी है परन्तु सग बग होना कोई बुराई नहीं है दुर्भाग्य भी नहीं है इसी को सुभग शब्द स्पष्ट कर देता है सुभाग—सौभाग्यशील। इस प्रकार यह छन्द नेत्रों की सुषमा वर्णन करने वाले श्रेष्ठतम छन्दों में से एक है। आकार वर्ण गुण धर्म क्रिया आदि सभी बातों को—पूरी चित्रात्मकता के साथ इसमें उपस्थित किया जा सका है। यह ध्यान रहे कि इस छन्द का सौन्दर्य रूपक उपमा या अनुप्रास का नहीं है। पूरे छन्द के संघटन में ही इस सौन्दर्य को स्थापित किया जा सका है।

कृष्ण या राम का सौन्दर्य

जैसा कि पीछे अभी संकेत किया जा चुका है कि रूप सत्ता ने युगल के पुरुष-तत्त्व के रूपचित्रण की ओर कम ध्यान दिया है। चूंकि यहीं पर मुग्धा प्रिया के रूप की है मन प्रिय का रूप उन्हें बहुत आकर्षित नहीं कर सका। उसमें एक साधनात्मक रहस्य भी प्रतीत होता है। जब भक्त पुरुष भाव को छोड़कर सखी भाव का अनुगामी बनता है तब मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह उचित ही होगा कि

पुरुष रूप की ओर यह अधिक ध्यान न दे। यदि पुरुष के रूपसौन्दर्य पर ध्यान देगी (देगा) तो बहुत सभावना है कि उसके मन म भी काम भावना जाग्रत हो जाय। परन्तु जैसा कि चतुर्थ अध्याय म सिद्धान्त विवेचन के प्रसग म कहा जा चुका है सखी को निर्विकार होना चाहिये। सभवत इस साधनागत प्रवृत्ति के कारण इन सखि भावोपासक कवियो ने स्वतत्र रूप से लाल के रूप चित्रण की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया है। अधिकाशत वे या तो युगल रूप म दर्शनीय हैं अथवा उनका रूप प्रिया पर रीझने वाला प्रिया के लिए व्याकुल प्रिया के साथ विहाररत ही चित्रित हुआ है। फिर भी कतिपय स्वतत्र चित्र प्रकाश रूप म उपलब्ध हो जाते हैं।

हरिदासी सम्प्रदाय के स्वामी नरहरिदेव ने कृष्ण का परम्परा बद्ध शैली म चित्रण करते हुए कहा है

> सखी री आजु बनें पीय सांवरे।
> रूप अनूप अधिक छवि राजत कुटिल केस मनो भांवरे।
> टेढी पाग ग्रीवा कटि टेढो चितवनि की बलि जाव रे।
> श्री नरहरिदास पीय की छवि निरखति प्यारी रूप सभाव रे।[1]

इस पद की तृतीय पक्ति अवश्य कृष्ण की त्रिभगी मुद्रा का एक चित्र उपस्थित करती है अन्यथा समस्त पद से रूप और सौन्दर्य का बिम्ब न उपस्थित होकर कथन मात्र सम्मुख आता है। यहीं पर यह भी याद रखना उचित होगा कि स्वामी नरहरि देव के समय से सखी सप्रदाय (हरिदासी) म गाढ विहार के स्थान पर ब्रजलीला की भावना घर करने लगी थी। अष्टाचार्यो की वाणी मे सगृहीत हम उनका एक अन्य सिद्धात का पद उपस्थित कर रहे हैं वह भी कृष्ण के रूप को सखी नहीं मायी भाव से उपस्थित करता है। पद इस प्रकार है

> जाकी मनमोहन दृष्टि परे।
> सो तो भयो सावरे को अधो सुभतर रग हरे।
> जड चेतन कछु नहिं समभत जित देख्यो तित स्याम खरे।
> विह्वल विकल सभार न तन की घूमत नना रूप भरे।
> करनी अकरनी दोउ विधि भूली विधि निषध सब रहे धरे।
> श्री नरहरि दास जे भय बावरे ते प्रेम प्रवाह परे।[1]

कृष्ण सौन्दर्य के प्रभाव म विधि निषध का भूलना एव सावन के अध की हरियाली की भाँति सारे ससार का कृष्णमय देखना नित्यविहार की युगलो

---

१ अष्टाचार्यो की वाणी नरहरिदेव की बानी शृगार रस के पद ३।
१ वही वही सिद्धात के पद १।

पासना के अनुकूल नहीं है।

गौड़ीय वैष्णव मतानुयायी मनोहरदास के राधारमण रस सागर में कृष्ण का रूप चित्रण इस प्रकार हुआ है

केसर की भूमिका प जरी जिरकी की पाग
भूमिका कनक स्वच्छ मोर पच्छ लटक।
जगा बूटदार दोनामी ली कटि चार राखी
उपरैना पटुका मुनेलो चित्र चटक।
हुमावलि बाजूबंद पहुँचीया मतलम
भूखन नूपुर सुर पग चूरी मटक।
जगमग राधिका रमण सिंहासन ठाढ़े
मनोहर मन मुसकान मोही भटक।

कृष्ण के रूप का यह वस्तुपरक वर्णन प्रेम तो सौन्दर्य की उस भूमिका तक नहीं पहुँचता जिसकी कि अपेक्षा थी। यह विशुद्ध रीतिकालीन नायक की वेश भूषा का वर्णन प्रतीत होता है। दूसरे राधारमणरससागर में रस दृष्टि की भी अधिकता है जो नायक-नायिका भेद गाथा और रस ग्रन्थों का वर्णन करते हैं। अतः शुद्ध निम्बार्कमत की दृष्टि से लिखा गया चित्र इसे नहीं मानना चाहिए।[1]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन कवियों में शुद्ध शृंगार के स्तर पर कृष्ण या राम के रूप सौन्दर्य की स्वीकृति नहीं है।

प्रिया (राधा या सीता) रूप चित्रण

युगलोपासक वैष्णव कवि जिस समय प्रिया जी का रूप वर्णन करने लगता है उस समय लगता है कि उसका चित्त तरंगायित होकर निछावर हो उठता है। उसे उपमाएँ ढूँढ़े नहीं मिलतीं उत्प्रेक्षाएँ हीन प्रतीत होने लगती हैं और रूपक असमर्थ।[3] उसके मन में यह धारणा स्पष्ट रूप से विद्यमान है कि स्वयं परात्पर ब्रह्म नन्द जी (कृष्ण या राम) इनके इस रूप पर बलि-बलि जाते हैं।

१ मनोहरदास राधारमण रस सागर ११

२ रामोपासक राम सखे इत्यादि में यत्र-तत्र राम का रूप वर्णन मिल जाता है। पर राम सखे मधुर भक्ति के उपासक थे यह हम पिछले अध्याय में कह चुके हैं। अतः उन चित्रणों को निम्बार्कोपासकों के साथ मिलाना उचित न रहेगा।

३ थी कुच कंचन गिरि किय कंचन कनक अनूप।
उपमा सब लिखना पर मुनि से हुनका रूप ॥
—घनानन्द धनी की वाणी (इ० नि० प्र०)।

इस रूप को वे आँखों से पीते रहते हैं पर कभी तृप्त नहीं होते।[1] राधा के समान राधा ही हैं अन्य कोई उनकी समता नहीं कर सकता। इसीलिए युगलोपासक उनके रूप-वर्णन में अपनी सारी शक्ति लगा देना चाहता है।

इस नारी रूप-वर्णन में इन कवियों ने दोनों का वस्तुपरक अंकन भी किया है तथा इसके उस पक्ष का भी अंकन किया है जो मानसिक अनुभूति का विषय है।

वस्तुपरक सौंदर्यांकन

वस्तुपरक अंकन में इन कवियों ने रूढ़ उपमानों का अत्यधिक उपयोग किया है। उपमानों के इस चयन में सर्वदा यह ध्यान नहीं दिया गया कि रूप का वास्तविक बिम्ब हमारे सामने उपस्थित हो सके। परम्परा निर्वाह के ढंग पर अंगों के उपमानों को उपस्थित कर दिया गया है। परन्तु कभी कभी आकार या व्यापार का चित्र अधिक मार्मिक एवं चित्रात्मक हो सका है। उन्हीं के अन्तर्गत ये चित्र भी आते हैं जिनमें प्रिया के उपमानों का प्रिय के लिए क्या महत्त्व है इसे भी बताया गया है।

वस्तुपरक रूप के चित्रण में नखशिख वर्णन अनिवार्य रूप से आता विभिन्न अंगों के लिए अनेक प्रकार के उपमान भारतीय कवियों ने सदैव से जुटाए हैं। नीचे हम कतिपय वे अंश उपस्थित कर रहे हैं जिनमें नारी अंगों को चित्रित किया गया है।

---

१ (क) कुटिल लच्छ कल चीकने घने मिही महकान।
बार बार बर दत प्रिय बार बार निज प्रान।।

(ख) यहाँ अनंगी धनुष सम भृकुटी नव बाल।
जाकी भंगी मैं भवत नवल त्रिभंगीलाल।।

—रसिकदास सौंदर्यलता।

(ग) मंगल आरति करत किशोर
दीप दृगन करि चरन डंडवत चित्र जानकी रहिमन ठौर।

—पीताम्बर देव की बानी पद ४२

२ तोसी तही हरिदास दुलारी
तेरी सरिहू जौनहिं कोऊ तेरे रस बस कुंज बिहारी।
तेरो रूप कहत नहिं आवै तसीये तेरी प्रीति महारी।
तसी ये ललित केलि सुखरासी रसिक सिरोमनि प्रान अधारी।।

—ललित किशोर देव सिद्धांत के पद ६८।

नेत्र

> रघुवर मन रजन निपुण गजन मद रस मन।
> कजन प खजन किधो प्र जन प्र जित मन ॥[1]

सीता क नत्रा का प्रभाव भी यद्यपि इसमे दिखाने की चेष्टा हुई है पर वास्तव म दोहा काई अनुभूति जगा सकने म असमर्थ है। नत्र राम क मन रजन म चतुर हैं तथा कामदेव क मद का खडित करने वाल हैं—इतना ता सामान्य कथन मात्र है। दूसरी पक्ति म सन्देह अलकार के माध्यम से रूप व्यक्त करने की चेष्टा है। नत्रा का आकार कमल स व्यक्त हाता है एव अजन प्रजित होन का जो वणन है वह खजन की श्यामता से परिलक्षित होता है। इसक अतिरिक्त खजन की चचलता नत्र-व्यापार का प्रकाशित कर देती है। परन्तु यह सारी योजना रूढ उपमाना क चमत्कार पर है। सहृदय क मन म काई गहरी अनुभूति जगाने म यह समथ नही है।

सूरदास जस कवियो न परम्परा सिद्ध अप्रस्तुत विधान का कथन की भिन्न भिन्न भगिमाओ म रख कर जिस प्रकार रखा है वह उपमाना को नवीनता प्रदान कर देता है पर इन कवियो म कथन की वे नानावर्णी भगिमाएँ प्राप्त नही होती।

इसी प्रकार प्रेम सखी न भी सीता क नत्रा के लिए उपमाना का जो ढेर लगाया है वह चमत्कार प्रधान ही है अनुभूति प्रधान नही।[2] इस उपमान राशि क भीतर से नयना का यथाथ रूप मात्र निकालना बहुत कठिन है। इस प्रकार क वणना म रीतिकाल की चित्तवृत्तियो का समानान्तर रूप स्पष्ट ही देखा जा सकता है। निश्चय मन क प्रसिद्ध नित्यविहारोपासक रूप रसिक देव के निम्नाकित छन्द म नत्रा की निकाई का वणन हुआ है

---

१ वाल अली नेह प्रकाश।

२ नन अनियारे तारे पु डरीक पात सारे
पुतरनि पे द्विरेफगन वारे हैं।
मधु कजरारे सील सागर सुधा सुधारे
करुनो विलास धारे ओर डोरवारे हैं।
चीन प सनेह वारे प्रीतम क प्रान प्यारे
उपमा न पावत विरचि रचि हारे हैं।
मीन मग खजन बनाये विधि प्रम सखी
वारि बन व्योम बस लज्जित विचारे हैं।
—प्रेम सखी सीताराम नखशिख वणन।

सजन तें नीचे है ए कजन तें नीच है
करयन ते नीच है ए नन प्रति नीचे हैं।[1]

पर का य र रसिर नानते हैं रि मात्र य बनाना रि य वस्तु उम वस्तु म ग्रच्छा है राव्यचित्रण की परिपाटी नहीं है।

घनान न नत्रा म ग्रारो का वणन रिया है पर य भा परम्परा सिद्ध उपमाना क जाल म उनका विशपता बहुत उभर नहा सकी है यद्यपि उनक प्रभाव री ग्रोर व ग्रधि मार्मिर सकत र सर हैं

बक विसाल रगीन रसान छ्वोने कटाछ कलानि म पडित।
सांवल सत निरा ई निकेत हियो हरि लेत ह ग्रारस मडित।
बेधि के प्रान करें विरिदान सुजान खरे भरे नह ग्रखडित।
ग्रानद ग्रासन घूमरे नन मनोज के चाजनि ग्रोज प्रच डित।[2]

सीता की ग्राग्या की चितवनि का एर प्रभावशाला ग्रार ग्रपेक्षाकृत नया रूप प्रम सखा क निम्न छ म प्राप्त होता है। यद्यपि स नत्रा का भा का भावन नहीं होता पर तु उसक तीन गुणा के कथन म कवि की मौलिकता द्रष्टव्य है

या ग्रनियारी विलोकनि की छवि गाइबे को विधि की बुधि हीन है।
प्र म सखी मिथिलेश सुता की कटाछ के कोर भये गन तीन है।
मीचु समान दशानन की सुर धेनु समानि सु पानत दीन है।
रूप सुधा की तरगिनी सी निशद्यौस जहाँ हरि को मन मीन है।[3]

तान प्रकार क लोगा क लिए उसम तीन गुण हैं। रावण क लिए वह चितवनि सहारक है एव दीन जन क लिए कामधनु सी प्रतिपालक पर प्रियतम राम क लिए ता वह रूप सुधा का तरगिणि है जिसम उनका मन मीन बना निवास करता रहता है। इसम उपमाना का नयापन ग्रपेक्षाकृत वणन ग्रधिक प्रभावशाली बना सका है।

ग्रय नारी ग ग

नारी क ग्रग्रधान यौन ग्रगो म कुचो का ग्रत्यधिक महत्व है पर यह बात कुछ विचित्र सी लगती कि प्र माभक्ति क कवियो न स्तनो का वणन बहुत

---

१ रूप रसिक देव नित्य विहार पदावली ५६।
२ घनानद सुजान हित १८ (घनानद ग्रथावली पृ० ८)।
३ प्र म सखी सीताराम नखशिख वणन।

नहीं किया। रसिकदेव ने तो उनकी गोलाई ऊंचाई एवं कठोरता आदि का संकेत मात्र किया है।[1] व्रजपती ने उनका अलंकार के सहारे सुन्दर वर्णन किया है

हैं अति सुन्दर उरज युग रहे तब उर जु प्रकास।
नवलनेह के फन्द हू अति पिय सुख की रासि।

इस वर्णन की विशेषता यह है कि इस वर्णन में उद्दाम शृंगार की मांसलता नहीं आने पाई है।

प्रस्तुत कवि नासिका नयन माता भालपट्ट पीठ कटि उर द्वय नाभि आदि के वर्णन परम्परा प्राप्त नला पर ही प्रेषित हुए हैं पर साथ-साथ में अपनी मौलिकता के भी यथेष्ट दर्शन कराए हैं। उदाहरणार्थ राधावल्लभीय रसिकदास द्वारा मस्तक पर हुई पत्र रचना की शोभा देखिए

अति छबीलों स्वच्छ रचि पत्र लिलार बनाइ।
पियमन पक्षी लक्ष्यगति विहरत हित मदराय।।[2]

इसी प्रकार नासिका को नथ की मोती हिलता हुआ ऐसा प्रतीत होता है मानो हास और अनुराग की शोभा निहाल पर चली है।[3] मूल के लिए प्रसून उपमान उपस्थित करने की यह लाक्षणिक शैली घनानन्द जैसे कवियों में खूब मिलती है। इसी प्रकार दाँतों की उपमा प्रसन्नता के बीज कहा है।[4]

बालकृष्ण नायक अन्य भक्ति ने नासा की तन ज्योति का वर्णन मार्मिक वर्णन किया है। यह वर्णन वास्तव में उपमान परक उतना नहीं है जितना कि अनुभूति परक। मीना के शरीर की द्युति ज्योति दिखाती तो सब ओर चमकती ऐसा लगता है कि मानो यह स्वर्ण शरीर में भरे रंग ही और जिस किसी (धारा) अपने अंग में रमा रहा है

सब विधि कंचन मय करत तन तन जानि अनूप।
मनु भरि भरि भाजन परे अंग रमाय रूप।

राम माता के सौन्दर्य पर अपना अपनी भी जो राम्भूरा उदाहरण दिया है वह भी सौन्दर्य की अनुभूति परक वर्णन ही है

---

१ रूप रसिकदेव नित्य विहार पदावली ५० ५१ ५५।
२ रतिकदास सौंदर्य सता। २।
३ वही वही ५।
४ वही वही ६।

वारि अपनपो इयन ते उरि मनि कछू कछून।
रहत उतारत होय मांहि पियहू राई सून।[1]

राधा के रूप का व्यापक प्रभाव दर्शाने वाला यह रूप भी द्रष्टव्य है। राधा दुलहिन के वेश में कल्पतरु पूजने जा रही हैं। इस वधूवेश की छवि का वर्णन करते हुए हरिदासी सम्प्रदाय के स्वामी रसिकदेव कहते हैं कि जब अपने नूपुर की रुनुक झुनुक करती हुई पग रखती हैं तो पृथ्वी का उस छवि में छवि प्राप्त होती है

रुनुक झनुक पग धरति धरनि पर छवि पावति अवनी।
छिरकि सुगध मूल सव पूज्यो फूलनि मांग घनी।।[2]

श्याम पीताम्बरधारी प्रसिद्ध है परन्तु एक दिन राधा ने पीत-शृंगार किया इस रूप शृंगार के आगे कृष्ण चकित हुए कि अरे यह कौन पीताम्बर धारी आ गया ? पीले रंगो की यह सज्जा उपमान रहित निरलंकृत निम्न पद में दर्शनीय है

पीरी सारी पहिरें प्यारी।
अंगिया लहंगा तिहीं रंग की तापरि जरद किनारी।
पियरे ही भूषनि कुसमनि के कर गेंदुआ लिये फूल हजारी।
प्रीतम प्रेम प्रवाह परे ललि यहै कौन पीताम्बर धारी।।[3]

ऐसा ही एक उपमान (रति के उल्लेख द्वारा प्रतीप अलंकार आ गया है) रहित पुष्प शृंगार राम ने सीता का किया था। पर सौन्दर्य का कोई मानसिक प्रभाव उसमें उभर नहीं पाता केवल फूलों और उनसे बनाये जाने वाले वस्त्राभूषणों का परिगणन मात्र हुआ है

घूम घमारो गुलाब को घाघरो पीत चमेली की ओढ़नी झीनी।
कंज की लाल कसे कल कंचुकी लोल जहो की सजा पुंज दीनी।
चम्पे का हार कनरि की चन्द्रिका दखि के चित्त भई रति हीनी।
फटिक शिला प रामसख पिय फूल सिंगार सिया छवि कीनी।

---

१ बाल अली नेह प्रकाश।
२ रसिकदेव रस के पद २२ (अष्टाचार्यों की बानी ह० लि० प्रति)
३ पीताम्बरदेव की बानी पद ३३।
४ रामसखे जानकी नो रत्न माणिक्य (राम भक्ति साहित्य में मधुर उपासना में संगृहीत पृ० ३२३)।

ललित किशोरी देव जी के एक सोरठे के बाद इस ग्रन्थ को हम समाप्त करेंगे। इस दोहे में एक ओर तो चित्रात्मकता है एवं दूसरी ओर वह सूक्ष्मता है जो सम्पूर्ण चेतना पर व्याप्त हो जाती है

> राधे रूप रसाल छिन छिन उठत तरंग प्रति।
> अवधुत नैन विशाल ललित किशोरी प्राण हैं।[1]

(२) आकर्षण और प्रेम

रूप की यह अपार राशि प्रिय के मन में गहन आकर्षण और प्रेम को जन्म देती है। इस सम्बन्ध में यह द्रष्टव्य है कि चूँकि प्रेम की देवी एवं सौन्दर्य की राशि के रूप में प्रिया जी की कल्पना हुई है अतः आकर्षण एवं प्रेम का आधिक्य कृष्ण में दिखाया गया है। परन्तु सैद्धान्तिक रूप से प्रेम, रूप, आकर्षण आदि की एकता दम्पति में ही मानी गयी है। राधावल्लभीय रसिकदास जी ने बताया है कि प्रेम भी कहना सब चाहे है पर वास्तव में वह राधा और लाल के ही हृदय में पूर्णरूप में भरा हुआ है। संसार में तो उसकी लघु मात्रा ही दी है तथा रूप भी संसार में एक कण मात्र है वास्तविक असीमित सौन्दर्य तो दम्पति में ही है तथा दम्पति का रस लोक को दुलह दुलहिनिया में पाने वाले के लिए होता है पर यह दम्पति ऐसे हैं कि कल्प भी इनके लिए पल के समान बीत जाता है। लोक में जो शृंगार का गाढ़ा रस कहलाता है वह नित्य एवं एक रस राधा में ही है उन्हीं में उसे अपना महत्त्व प्राप्त होता है

> और दुलहिनी दूलह दिन दस ही जु कहाय
> ये दिन दूलह न्याइ कलप पल सम जु बिहाय।
> गाढ़ौ रस सिंगार लोक लोकनि नु कहाय
> नित्य एक रस थी राधा से यह कवि पाव।
> प्रेम प्रेम सब कहै कहू लघु बरसि पर यो है
> पूरन राधा लाल हिय नित रहत भर यो है।
> रूप रूप सब कहैं लोक मा इक इक कन हैं
> सत चित आनंदरूप अमादक दंपति तन है।
> ता रस रूप प्रेम आनंद भोगता दोऊ,
> भेदी बिरले रसिक और जान कहा कोऊ।[2]

कृष्ण और राधा के पारस्परिक एकत्र प्रेम आकर्षण प्राप्ति के लिए

---

१ ललित किशोरीदेव साखी।

२ रसिकदास श्री राधा विपिनन्दरी कोपरस्व (ह लि प्रति पृ० ६३)।

जल-तरग का अप्रस्तुत बहुधा न कवियों न उपस्थित किया है।[1] महावाणी म दोनों क पारस्परिक आकषण एव अन्योन्याश्रयत्व का बडा ही उत्कृष्ट वर्णन हुआ है।

प्यारी जू प्यारे की जीवन प्यारो प्यारी प्रान अधार।
प्यारी प्यारे क उर माला प्यारो प्यारी क उर हार।
प्यारी प्यारे रगमहल म रस भर दोऊ करत विहार।[2]

वास्तव म श्याम एव उसकी लाला का जैसा सहज प्रावतित सग होता है वही स्थिति इस दम्पति की है

ज्यों लाली सग हम कों सग निरतर दलि।
तसें नित्य विहार सल लाल लाडिली लेलि।[3]

गौडीय वैष्णव मतानुयायी ब्रह्मगोपाल जी न एक दूसर की इस प्रेमाधीनता का यो वर्णित किया है

श्री राधामाधव रग सरलि रग रस लीन।
प्यारी पिय क प्रेम बस पिय प्यारी आधीन॥[4]

इस प्रकार युगल क पारस्परिक आकषण को व्यक्त करने वाले पद्य तो बहुत स मिल जावेंगे परन्तु राधा की आकषणजन्य विह्वलता का प्रसंग म चित्रण इस उपासना पद्धति क बहुत अनुकूल नहीं है। युगलोपासक जिन कवियों म य चित्रण उपलब्ध हो जात ह उ ह हम गोपीभाव वाली ब्रजलीला की उपासना क अतगत विवेचित करेंगे। इस प्रसंग म हम कृष्ण की उत्सुकता वाले प्रसंगों की ही चर्चा करेंगे। पीताम्बरत्व एव रूपरसिकत्व न तो कृष्ण क नेत्रों को

---

१ (क) ज्यों जल और तरग है त्यों पिय प्यारी रूप।
पूरण प्रेम माधुर्य मय श्री वृन्दावन भूप॥
—गो० रूपलाल रस रत्नाकर (ह० लि० प्रति)।

(ख) तु सिय पिय के रग रगी रग पीव तव रग।
रह भली इक रूप ह्व जल मिल तरग॥
—वानप्रिया नेहप्रकाश।

२ महावाणी सेवासख पद सख्या ६ पृ० २६।

३ गो० रूपलाल रस रत्नाकर (ह० लि० प्रति)।

४ ब्रह्मगोपाल हरिलीला दोहा ४, पृ०३।

राधा रूप की आरती उतारने वाला कहा है।[1]

उनका मन राधा के रूप-नन्दन वन में रसिक बना मंडराया करता है।[2] प्रियादास के अनुसार घनश्याम कृष्ण चातक हैं एवं राधा गोरी घटा है।

> डिग विलास गण दान गढ़ और मान गढ़ नाम।
> गोर घटा उनयति इहाँ चात्रिक वह घनस्याम ॥[3]

राधा के मान लव सचिक्कण सुगन्धित कणों पर प्रिय बार-बार अपने प्राण निछावर करते रहते हैं। बालअली जी के राम स्वयं सीता से कहते हैं कि जैसा आनन्द तुम्हारे मुख कमल के मकरन्द पान में मुझे मिलता है वैसा आनन्द तो मुझे कोटि ब्रह्माण्ड मिलने पर भी नहीं प्राप्त होता है। ललित किशोरी देव ने राधा रूप का कृष्ण पर पड़ने वाला प्रभाव बड़े सरस शब्दों में प्रस्तुत किया है। कतिपय अनुभावों के माध्यम से मन की प्रसन्नता की व्यंजना में यह दोहा किशोरी या मनिराम मिश्र के भी सत्तात्मक शाह के साथ सुविधा से रखा जा सकता है

> हरष हरष मुसकात ए भरि भरि बलत नैन।
> पुलकि पुलकि अ गनि उठे बल बल भरि रति सैन।[4]

(३) मिलनाकुलता

इस स्पष्टरूपेण एवं प्रेम भावना का सहज विकास है कि मन में मिलन की तीव्र आकुलता उत्पन्न हो जाय। यह आकुलता प्रिय के प्रसंग में अत्यधिक भावावेश के साथ चित्रित की गई है। रामसखे के राम माता को स्वप्न में देखते हैं उनके उस स्वप्न वाले रूप का वर्णन करते हुए कहते हैं

---

१ (क) मंगल आरति करत किसोर
दीप दान करि चरन डंडवत चित्र जावक रहि मन ठौर।
—गदाधर भट्ट पद ४०।

(ख) करत कमनीय सिंगार कुंवर वर नीराजन करि मों।
—रूप रसिक देव नि० वि० पदावली ६६।

२ रूप रसिक देव नि० वि० पदावली ५४।

३ प्रियादास रसिक मोहनी दोहा २ ।

४ रसिकदास सौन्दर्यलता।

५ बालअली [illegible] रामजी के वचन सीताजी के प्रति।

६ ललितकिशोरी देव की वाणी माला।

कसे मिले प्रसिद्धि प्रिया यह करों सो जतन बताई।
रामसख कहि-कहि है सोते सुधि बुधि सब बिसराई ।।[1]

राधा के मोहन रूप म मोहित हुए मोहन राय उस रूप की प्राप्ति क लिए ललचाते रहते हैं।[2] वास्तव म मोहन का मन मधुप है जो प्यारी पदारविन्द के मकरन्द को चखत चखत इस फन्दे म फस गया है

मोहन को मन मधुप है पर यो प्रानि इहि फद।
प्यारी पद अरविंद को चाखि चाखि मकरद।

कृष्ण स्वय राधा स निवेदन करत हैं कि चलो प्यारी किसी एकान्त निभृत कुज म विहार करें जहा पर कि किसी पक्षी तक का खटका न हो और फिर ऋतु भी विहार की है

एक बात कहों श्रवन लगि चित द सुनहु पियारी।
सुभग फूल फूले बन्दावन तसी ये सरद उजियारी।
चलि राधे इन तर सुख लूट सखी रहे सब न्यारी।
मोहि तोहि जहाँ अपनुपौ भूले रह न सुरति सभारी।
जहाँ न परक्यौं होइ पछी को यों दुरि कहत बिहारी।
नरहरिदास पोय मन की जानी भाग सेज सवारी।

सिद्धान्तत दोनो नित्य एक रस विहार म निमग्न माने गये हैं ऐसी अवस्था म सहज ही यह प्रश्न उठ सकता है कि मिलन की यह आकुलता कसी? पर यही तो इस प्रेमी युगल की विशेषता है कि गौर श्याम तन मन से मिले रहते हैं पर फिर भी मिलन की चाह बनी ही रहती है।

छिन छिन उत्सव रसिक के महावेलि के भाव।
गौर स्याम तन मन मिले मिलन को चाइ।।[5]

प्रिया को तन मन से प्रियतम मिले रहते हैं और लाल को तन मन स प्यारी पर इस मिलन और नेह की बात कुछ अनोखी ही है इसके बारे म कुछ भी

---

१ राम सख पदावली (भुवनेश्वरनाथ मिश्र माधव रा० भ० म० उ० मे सगहीत पृ० ३२५)।
२ रूप रसिकदव नि० वि० पदावली पद ५ ।
३ यही लीला विंशति प्रम मजरी' ५।
४ स्वामी नरहरि दव रस के पद ६ (अष्टाचार्यों की बानी)।
५ ललित किशोरी दव साखी १३८।

यह पाने मे ललितकिशोरी देव अपने को असमर्थ पाते हैं । है भी तो यह अनिवच नीय मिलन और प्रेम

कहा कहौ या मिलन की जो मिलिवो जिय होइ ।
तन मन सो प्रीतम तऊ मिलन की खोइ ।[1]
परम नेह की बात यह मो प कही न जाय ।
तन मन सो प्यारी मिली तऊ लाल अकुलाय ।[2]

यही दशा राम की भी है । यद्यपि दम्पति सदा रसलीन रहते हैं पर प्रिय अपना अपनपौ त्याग कर अधिक अधीन हो गये हैं । वे सीता के नीलाम्बरा के पुण्य की सराहना करते हैं (कि उन्हीं के समान तन से लिपटे रहे) उनके नेत्र मे गराग हो जाना चाहते हैं [3]

यद्यपि दम्पति परस पर सदा प्रेम रस लीन ।
रहे अपन पौ हारि क प पिय अधिक अधीन ।
श्यामवरण अम्बरन की सुकृति सराहत लाल ।
छराहूरा म ग राग भो चाहत नैन विशाल ।।[1]

(४) विरह और मान

साहित्य शास्त्रियो ने विरह के चार अंग माने हैं —पूर्व राग मान प्रवास और करुण । इनमे से अजर अमर, अजन्मा नित्य विहार रत दम्पति के मध्य पूर्व राग प्रवास एव करुण का प्रसग ही नही उठता । ब्रजलीलाओ के अस्वीकरण के कारण इनमे से किसी भी अवस्था के स्वीकार करने का प्रश्न ही नही उठता था । इसी कारण विरह की केवल मान वाली स्थिति ही यहा पर स्वीकृत है । पर चतुर्थ अध्याय मे हम यह कह चुके हैं कि मान के वस्तु कोई स्थूल कारण यहाँ पर नही है जैसे कि ब्रजलीला गायको द्वारा स्वीकार किये गए हैं । साहित्य दर्पण मे मान के दो भेद किये गये हैं ।—प्रणय मान और ईर्ष्या मान ।[4] प्रणयमान के प्रसग मे विश्वनाथ कविराज ने कहा है कि प्रेम की कुटिलगति होने से अकारण ही कोप होता है । ईर्ष्यामान नायक का अन्य स्त्री पर अनुरक्ति

1 वही वही १३६ ।
2 ललित किशोरी देव सातो १४० ।
3 बालप्रसी नह प्रकाश ।
4 विश्वनाथ कविराज साहित्यदर्पण ततीयपरिच्छेद, श्लोक १८७ ।
5 वही वही ३।१६८ ।

जानकर होता है।[1] प्रथम नायक और नायिका दोनों में स्वीकार किया गया है।[1] इन रचनाओं में शास्त्रीय दृष्टि से प्रणय मान की न स्वीकृति है पर उभयपक्षीय न होकर यह नायिका में ही चित्रित किया गया है। संस्कृत में एक सूक्ति प्रसिद्ध है

नदीना च वधूना च भजगानां च सवदा।
प्रेम्णामपि गतिवक्रा कारण तत्र नेष्यते।

नदियां वधुएं सर्पों एवं प्रेम की गति अकारण ही वक्र होती है (साहित्य दर्पणकार ने प्रेम की वक्रता बनाई है।) प्रेम तथा वधूजन की यह अकारण वक्रता इन नित्य विहारी विहारिणि में मान के रूप में व्यक्त हुई है।

राधा अकारण ही मान कर बैठी एक सखी आकर उन्हें समझाती है और उनके इस वक्र स्वभाव के लिए कुछ डांटती भी है। उसके अनुसार श्यामा का तो स्वभाव ही मान का पड़ गया है कौन यह निर्णय करे कि अपराध किसका था—इनका या तुम्हारा? वास्तव में ये तो तुम्हारे रूप रस के लोभी हैं मुख देखते ही उनका दिन बीतता है। तुम तो क्षण मात्र में ही रस को विरस कर देती हो। राधे! जरा समझ बूझकर देखो तुम तो बिना पानी की नाव चला रही हो (बिना कारण ही मान किये जा रही हो।)

तुम्हारो तो परयो मान को सुभाव।
तुम्हारी खोट कइनकी कहिये कौन करे यह न्याव।
ये तो तिहारे रूप रस लोभी मुख जोवत दिन जाय।
छिन मे रस बेरस करि डारत कोप करे करवाय।
समझि देख राधे मन माहीं बिन पानी के नाव।
श्री रसिक बिहारी रस दरस दीने अपने अपने दाव।[3]

यहां पर यह याद दिला देना अनुचित न रहेगा कि सखियां यद्यपि प्रिया प्रियतम दोनों को समान प्रिय होती हैं पर मान के समय वे प्रिय का पक्ष लेकर प्रिय के मान मोचन का प्रयास करती हैं। उपरोक्त पद में सखी यही कार्य कर रही है—उसने श्याम का पक्ष लिया है। इस सखी ने कुछ शिकायत एवं आक्षेप के स्वर में मान मोचन करना चाहा था दूसरी सखी साम नीति का सहारा लेकर प्रिय की वकालत करती है और सफल भी हो जाती है

१ विश्वनाथ कविराज साहित्य दर्पण ३।१९९।
२ वही वही ३।१९८।
३ स्वामी रसिकदेव (हरिदासी सम्प्रदाय) सिंगार रस के पद सं० १३ (अष्टाचार्यों की वाणी)।

मान न कीजे रसीले स्याम सों।
तुम तो हो लालन की अंखियां बंधे तिहारे दाम सों।
बिन आगस जिय दोष धरति हो निरखि आयु सो बाम सों।
श्री रसिक बिहारी जानि अपुनपो विहंसि मिली पीय धाय सों।[1]

विश्वनाथ कविराज ने मान भंग के छह उपाय (साम भेद दान नति उपेक्षा और रसान्तर) साहित्य दर्पण में बताए हैं[2] उनमें से भेद और साम का उदाहरण ऊपर आ चुका है। स्वामी नरहरिदास ने नति का एक मनोहर उदाहरण दिया है। कई बार मनाने का प्रयास किया गया पर वह अपना हृदय और कठिन बनाकर मान गह रही। तब प्रिय ने पैर पकड़कर आधीनी करके विश्वास दिलाया कि मेरी प्रिया एक मात्र तू ही है जो कि मानिनी बन बैठी है। जब प्रिया ने (प्रिय के हृदय में) अपना ही रूप देखा और किसी स्त्री को वहां न पाया तब जाकर कहीं मन में मान की दरक गयी और मुख की वह रानि हंसकर प्रिय से बोली थी। छन्द या है

केहू बार पची मानित न मान गही
हियो कठिन कछु और ही ठईरी।
पाइ गहि मनाई आधीन कीये माई सु
तू एक प्यारी मानिनि भई री।
जब देख्यो आपनो रूप और न कोई ग्रीव
अनूप मान की दरक तें ही होय त गई री।
हंसि बोली मुख की रानि मन भाई
नरहरिदास बाढ़ प्रीति नई री।[3]

परन्तु सब मिलाकर मान सबंधी रचनाएँ १६वीं शती के नित्यविहारी पालकों में विरल ही हैं। उनका ध्यान विशेष युगल की नाना चेष्टाओं का चित्रित करने की ओर ही अधिक रहा है।

(४) विहार क्रीड़ाएं

इन कवियों की प्रतिभा और प्रेरणा का मुख्य क्षेत्र दम्पति की नाना विहार क्रीड़ाएं और आनन्द के लिए की गई निभृत सम्भोग गान हैं। विहार क्रीड़ाओं में भी उनका मन अधिकांशतः रसिया के ही आसपास मंडराता रहा है। सुरत एवं सुरतान्त के अत्यन्त मनोहर चित्र इस काव्य में सजाए हुए हैं। सब के बाद राग प्रसंगों के चित्रण में ही उनका मन रमा है। ...

---

१ स्वा० रसिकदेव सिंगार रस के पद १८ (अष्टाचार्यों की वाणी)।
२ साहित्य दर्पण ।२०१।
नरहरिदास पद ८ (अष्टाचार्यों की वाणी)

हिंडोल उनके सबसे प्रिय उत्सव हैं। अतः एव वर्षा के चित्रों का इसलिए इस काव्य में बाहुल्य है। दम्पति को लेकर ही अनेक प्रकार हास परिहास एवं क्रीड़ाएँ भी उपलब्ध हो जाती हैं। इस सारे साहित्य को आधुनिक नैतिक मानदण्डों से नापने पर बहुसंख्यक स्खलन के स्थल दिखाई पड़ेंगे। संभोग शृंगार के निरावरित ऐसे वर्णन बहुत से मिलेंगे जिन्हें 'शुद्धतावादी (प्यूरिटन)' अश्लील भी कहना चाहेंगे। पर इस संबंध में यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि इन कवियों की अनुभूति साधना की है। ये समस्त कवि साधना पथ के सखि परिकर के एवं प्रिया प्रियतम के इस नित्यविहार का आध्यात्मिक मानसिक स्तर पर अत्यंत उन्मत्त भाव से स्वीकार करते थे। वास्तव में यह सारी साधना एक प्रकार के प्रेम रहस्यवाद (Love Mysticism) की है। इसमें बौद्धिक उन्नयन नहीं भावात्मक संवेग की एक मन संस्कार (Mental Culture) जन्य स्थिति होती है। ये समस्त रचनाएँ किसी आराध्य सत्ता को रिझाने के लिये भी नहीं लिखी गयीं दम्पति के स्वरूप का भावन ही इनकी मुख्य प्रेरणा थी। अतः लौकिक नीति के मानदण्डों पर इन्हें परखना ठीक न रहेगा। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भले ही इनमें काम की अनुभूति मानी जाय पर साधना के क्षेत्र में इससे कामना के शून्य कहना ही उचित होगा।

आगे हम कतिपय इन क्रीड़ाओं के रूप को स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे।

अभिसार —

जैसा कि अभी हमने कहा है इन कवियों का मन सर्वाधिक प्रिया प्रियतम के अभिसार वर्णन ही में लगा है। अभिसार क्रीड़ाओं की अनेक रस निर्भर स्थितियों की चर्चा इन कवियों ने की है। विहार का ऐसा ही अनुभूतिपरक पर साथ ही ऐन्द्रिक चित्र रसिकदास (राधावल्लभीय) का है। रस के सिन्धु में झकोरे लग रहे हैं भाव की तरंगें उठ रही हैं एवं प्रेम में पगे हुए अभिलाषाओं की मरोड़ में प्रबल झकझोरते हैं पसीने की थोड़ी बूँदें वक्र झलक आई हैं। एक दूसरे पर नेत्र लगे हुए हैं सुख के रोर में बंधन छोरते हुये रात जगे हैं। ऐसी बुद्धि कहाँ जो इस सबका वर्णन किया जा सके

रस सिंधु झकोर भाव हिलोर चाव मरोर प्रेम पग
प्रबल झकझोर श्रमकन थोर पटलो ओर अंग लग।
दृग दहू ओर अति सुख रोर बंधन छोर रैन जग
सुखदायक मोर सादर जोर त्रिभुवन ओर ओर नग।[1]

कभी-कभी तो यह मिलन लीला मन ही मन हो जाती है। सखियाँ जान भी नहीं पाती। मन ही मन एक दूसरे को अंक में भरकर आनंद भी ले लेते हैं

१ रसिकदास अष्टक ७ (ह० लि० प्रति, पत्र २६)।

और चोरा चोरी कटाक्ष भी चला देते हैं। कह भी लेते हैं नट भी लेते हैं, रीझते भी हैं खीझने भी हैं एवं हिलमिल भी जाते हैं

> दोउजन नैनन ही बतराव।
> श्यामास्याम सखिन के सगहि भेद न कोउ पाव।
> रहसि रंग राते रसभाते खिजिभावत हिलत मिलन लगि जाव।
> मन ही मन हित प्रेम के भरत पुनि हिय आनंद बढ़ाव।
> चोरा चोरा चलत कटाछनि सबकी दीठि बचाव।[1]

अभिसार समय की अभिलाषा का अत्यंत मार्मिक दृश्य अनन्य अली जी ने प्रस्तुत किया है। दो अंगो की पारस्परिक प्रतिद्वंद्विता दिखाकर विहार की उत्कट लालसा और व्याकुलता इसमें प्रकट की गई है। स्पर्श करने के लिए हाथ तरसते हैं एवं देखने के लिए दृग ललचाते हैं इस प्रकार भुजाओं एवं नयनों के मध्य होड़ पड़ी है। इस दोहे में प्रेम की उस गहन अवस्था का संकेत है जब बिना देखे भी नहीं रहा जाता और देख लेने पर स्पर्श आलिंगनादि भी अनिवार्य हो जाते हैं।

काव्य की सर्वोत्तम सिद्धि होती है जब किसी एक सूक्ष्म संकेत के द्वारा किसी पूरे दृश्य का बिम्ब उपस्थित कर दिया जाता है। व्यंजना शक्ति की पूरी सामर्थ्य होने पर ही यह उपलब्धि कवि को मिलती है। रूप रसिक देव का निम्नांकित दोहा ऐसी ही व्यंजना शक्ति से भरपूर है। कवि सुरति का चित्रण करना चाहता है पर उसे स्पष्ट ऐन्द्रिय रूप में न करके एक संकेत दे देता है कि प्यारी जब प्रिय को अपने चरण कमलों की माला पहनाती है तब अनिर्वचनीय आनन्द मिलता है

> कहा कहौ तिहि समै को सुख आनंद रसाल।
> पहिरावति प्यारी जबहि पियहि पदभुज माल।[3]

परिरम्भन आदि की इसी क्रिया को ब्रह्मगोपाल अत्यंत स्थूल रूप में वर्णित कर देते हैं

---

१ रूप रसिकदेव नि० वि० पदा० २६।

२ परसन को कर तरसहीं दरसन दृग चपलाइ।
होड़ परी भुज नैन सो लपट अति तरसाइ॥
—अनन्य अली की वाणी (डॉ० विजयेन्द्र स्नातक द्वारा राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धांत और साहित्य में पृ० ४६० पर उद्धृत)।

३ रूप रसिकदेव लीला विंशति कुल विलास, ७।

प्रिया प्रिय पोढ़ि रहे पयक ।
■ सविवत्न लखे निज सारो अरि अरि निज निज अ क ।
परिरम्भन चुम्बन आलिगन करत सहज नि नक ॥[1]

अभिसार तथा मधुर युक्ति है कि प्रिय का कुण्डल प्रिया की अलक म तथा प्रिया का कंगन माला म एव मन म मन तथा नेत्र म नेत्र परस्पर उलझ गये हैं

पिय कुण्डल तिय अलक सो कर कंगन सो माल।
मन सो मनोहर मन सो रहे उरझि दोउलाल ॥

मिलन समय के हास परिहास एव पारस्परिक छेड छाड

राधन क साथ खीझना और रिझाना शृगार-रस के अनुपम पल हैं। यह खीझ एव छ छाड रति द्वारा पुष्ट होता है एव रति का और अधिक पुष्ट करता है। ऐसी अपेक्षाकृत सूक्ष्म एव आतरिक क्रीडाओं की ओर भी हन रसो पासका का ध्यान गया है। श्यामा श्याम रूप रस चख रहे है। कुज महल म अकेले है कोई झाकता भी नहा है। ऐसे एकात म राधा बैठी है लाल ठाड़े हैं एव रति के लिए बार बार कर पकडते है। पर राधा है कि रिझा रही है— मधुर स्वर म कहती है कि अभी खडे रहो एव कितनी सवारी यद्यपि एक दूसरे अग एक दूसरे के लिए ललचा रहे हैं हृदय म अभिलाषाए उमड रही हैं

स्यामा स्याम रूप रस चाख।
कुजमहल अकेले दोऊ तहा न कोऊ झाख।
बैठी आप ठाढ़े लाल पकरि पकरि कर राख।
ठाढ़े रहो कितनी सवारो मद मधुर सुर भाख।
अ ग अ ग ललचाइ रहे मन उमगी उर अभिलाख।

पर श्याम भी रिझान म पीछे नहीं है। प्रिया जो सोना चाहती है— नयन मूद लेता है पर प्रिय फिर देकर जगा देते हैं भन भी प्रिया भौंह तरेर। कभी कभी चुटकी भी बजाने लगते है। अतत प्यारी भी रतिवश होकर ललक कर प्रिय के कठ लग जाती है

---

१ ब्रह्मगोपाल हरिलीला ६।
२ बाल अली नेह प्रकाश प्रेम विलास।
३ स्वा० रसिकदेव सिंगार रस के पद ३।

पलक झपकति प्रिया जू की ज्यों ज्यों पिय दे फूंक जगावै ।
त्यों त्यों तरनि तरेरे त्योरे सों सौंहनि भौंह चढ़ावै ।
कबहुँ क कर पल्लवनि सों कोमल चट चटकी चटकावै ।
रूप रसिक जब प्यारी पिय के ललकि कंठ लपटावै ।[1]

प्रेम की यह खींचातानी भोजन के समय भी देखी जा सकती है । यमुना पुलिन पर कुंज में दोनों भोजन कर रहे हैं और एक दूसरे के कर से मुख झुक झुक कर कौर छीन लेते हैं । इस प्रकार हँसते हुए बहुत प्रकार से मनभाया करते हैं ।[2] जलक्रीड़ा में डुबकी लेकर पानी के भीतर ही भीतर प्रिया के अंगों का स्पर्श कर लेते हैं कोई इस भेद को जान ही नहीं पाता ।[3] संगीत और गान की गोष्ठियों का भी वर्णन इनमें मिल जाता है ।

अभिसार के चित्र बहुधा मांसल और ऐन्द्रिक हो जाते हैं पर नीचे हम नवागम्प्रदाय के स्वामी रसिकदेव का एक पद उद्धृत कर रहे हैं । इस पद में अभिसार का ऐन्द्रिक बिम्ब नहीं है पर उसमें ऐसी गहन अनुभूति का ऐसा सम्प्रेषण कराया गया है जो सारी चेतना पर अनायास ही छा जाता है

लेत परस्पर अंग सुवास ।
मन तरंग उठति मन मथ की और न कछु प्रकास ।
रोम रोम तन यह सुख विलसत भोजन भूख न प्यास ।
श्री रसिकबिहारी मगन रहत नित गहत न पटक उसास ।[4]

अंग की गंध लेने से मन में मन्मथ की तरंग उठती है और किसी बात के लिए अवकाश नहीं रहता । रोम रोम में यही आनन्द विलसता है न भोजन की भूख है और न प्यास । निरवधि समस्त नटक और चिन्ता से दूर इसी में वे मगन रहते हैं । समस्त चित्र गहन मानसिक अनुभूति को उपस्थित करता है ।

सुरतान्त एवं जागरण

सुरतान्त एवं जागरण-काल के प्रेम-सौन्दर्य का भी अत्यंत कुशल एवं बारीक रेखाओं में अंकन इन कवियों ने किया है । सुरति के सेज पर उठकर जागे हुए युगल का यह शारीरिक चित्र देखिए

१ रूप रसिकदेव नि० सि० पदावली ६७ ।
२ रसिकदास कामन मदूर भाग ३ प० २६१ ।
३ रूप रसिकदेव नि० सि० पदा० ५५ ।
४ स्वा० रसिकदेव सिंगार रस के पद ७ ।

प्रिया प्रीय सुरति सेज उठि जाग।
घूमत नैन भरन अलसाने मनहु समर सर लाग।
सिथिल अंग छूटी सिर अलक बदन स्वेद कन लाग।[1]

यह श्रृंगार वस्तु चित्रण रूप में हुआ है पर अधिक सूक्ष्म रूप में पीताम्बर देव ने इसे उपस्थित किया है। कठिन सुरति की ओर उन्मुख वाली छबीली की मूर्तिमती रागिनी (राग की नवरी) कहा है जिसके कि सौन्दर्य का नीराजन स्वयं किशोर करते हैं

तब छबीली तान सुनि कठिन सुरत की ओर।
उठी राग की सरवरी आरति करत किसोर।[2]

राघव भोर होने पर जागते हैं पर आँखों में नींद भरी है। मंद मंद घूम रहे हैं एवं आलस्य में सिया तन की ओर झुक झुक पड़ते हैं। सिया तन की ओर झुक झुक पड़ना जो नींद भरे होने का संकेत करता है वहाँ राम की गहरी अनुराग व्यंजना भी होती है। ऐन्द्रिक बिम्ब के साथ मानसिक पक्ष का मणि काचन संयोग स्पष्ट हो गया है

राघव भोर ही नींद भरी अंखियन मन भावन।
उठि उठ फूलन शय्या पर कोटिन काम लजावन।
मृदु मलयात जम्हात सिया तन झुकि झुकि परत सुहावन।
राम सखा या मधुर रूप लखि सो जिय अतिहिं जियावन।[3]

होली एवं हिंडोल आदि उत्सवों के भी प्रभूत वर्णन इन कवियों ने किये है। ऐसे छन्दों की संख्या सहस्रों में पहुंच सकती है जिनमें वसन्त होली वर्षा एवं झूलन की शोभा वर्णित हो। शरद ऋतु एवं रासलीला के भी पर्याप्त चित्र उपलब्ध होते है। विस्तार भय से हम इनके उदाहरण यहाँ पर नहीं दे रहे हैं।

(६) सहचरी सेवा

नित्य विहारोपासकों की साधना सखीभाव की होती है यह हम पहले भी कह चुके है। सखीभाव में सखियाँ युगल दम्पति की सुख सुविधा की सारी व्यवस्था करती हैं उनके नित्य विहार का दर्शन सुख लूटती है एवं इस सेवा तथा

---

१ स्वा० नरहरिदेव श्रृंगार रस के पद २।
२ पीताम्बरदेव परमोज्ज्वल श्रृंगार रस की साखी ५।
३ रामसखे पदावली (रा भ०सा में उ० पृ ३२५)।

इस दर्शन म ही व अपनी कृतार्थता मानती हैं। राधाप्रियवर की सखियाँ गाथा का छोड़कर अयत्र सवत्र वे तत्सुखी भाव से ही साधना करती हैं। अष्टयाम का सेवा विधियाँ इन्हीं की सेवा के लिए स्थापित हुई हैं। व उन्हें सवेरे गा गाकर जगाती हैं मुख धुलाती हैं भोजन कराती हैं शृगार कराती हैं उन्हें सिंहासन पर पधराती हैं पान खिलाती हैं विहार क लिए कुंज म चलन के लिए प्रेरित करती हैं सगीत नत्य का आयोजन करती है रास रचाती हैं शया विद्या दती हैं तथा शयन समय मान का अनुराध करती है।[1] मान क समय वे मान मोचन करती हैं विहार क समय सजा। श्याम दूल्हा है एव सखिया बराती बन जाती है

सखी बरात पिय स्याम कत।
अदण साज बन राज धाम पीत फूल तन पहिरि धाम।
अब मौरि ले सिर धारि मौरि द्रुम गुच्छप्रति पत्र मौरि।
फल प्रवाल तोरन बनाय छुवत पवन आसि परासि धाय।
पिय प्यारी बन तन सुवास सहचरि भ्रमरी सब आस पास।

सखियाँ साथ म सम्मुख आनाय भी करती ह। एक बार सखियाँ कृष्ण को अपन समान स्त्री बना पहना करी न ल आई जहाँ नर्तिता विलासिनी चतुरता एव शिक्षा प्राप्ति सखियाँ थी। व सब चकित हैं

लख्यों सखी सिरमौर रूप इह कौन वधू कित आई।
सबके मन को करत हरत बस निरखत सुधि बिसराई।

परन्तु एक चतुर सखी जान गई—वह खोजकर गई और प्रिया की प्रिय का रूप लेकर ले आई और उस वधू कृष्ण स कहा

---

1 सखियाँ सज रचना करके राधा से अनुरोध कर रही हैं
   निज कर सेज सवारी पचि पचि
      पौढ़िये जू प्यारी बलि जाऊ।
   सुमन सुमन बिबि रचि रचि पचि-पचि
      सुमन के सारा बलि जाऊ।
   सौरभ-सना घनी घन हित
      चित द अनुरागा बलि जाऊ।
   रूप रसिक सुख बिलसहु दुलसहु
      मैं बलि बलिहारी जाऊ।
         —रूप रसिक देव नि० वि० दशावली ६४।

2 राधासुधानिधि पद २१।

ये पतिनी ये पीव तिहारे मिलि विलसो सुखदाई[४]।

सब सखियां उत्साहपूर्वक विवाह का कम ठान देती हैं तब धूम धाम में दोनों का विवाह करा देती हैं।[१]

राम की सखियों तो और भी ढीठ मालूम पड़ती हैं। वे राम से कहती हैं कि तुम्हें स्त्रीवत में सजाकर हम लाल लाड़ली जी के हुजूर में नचावेंगी

कंचन की गुजरी बिछिया सुमरी लहंगो पगिया पहिराइहो।
कचकी साज सवाइ बिरी पहिराय चुरी अछतन दमाइहो।
माग सवारि कै प्रेम सखी सिर सेंदुर में फिरि अंक लगाइहो।
है तिय की छवि सुन्दर जू हम लाडिली जू के अजूरि नचाइहो।

वास्तव में पीताम्बर देव ने ठीक ही कहा है

तपत पीव सीतल प्रिया प्रेम प्रथम अधिकार।
सहचरि रस जल बरसहीं ग्रीष्म रति सुखसार॥[३]

(७) सिद्धांत-कथन

इस युग के समस्त कवियों की यह सामान्य विशेषता है कि उन्होंने सिद्धांत कथन अलग से किया है। गुरु निष्ठा परोपकार वैराग्य विषयों से अरुचि श्यामा श्याम की एकता मञ्जरी भाव प्राप्ति के सबध में उन्होंने खूब लिखा है। चतुर्थ अध्याय में हम उन ग्रन्थों को उद्धृत कर चुके हैं अतः यहां पर दोहराना ठीक न रहेगा। उदाहरण के लिए हम ललित किशोरी देव की कतिपय साखियां उद्धृत कर रहे हैं

१—ललित लाडले ललित वर ललित सुकेल उदार।
जै जै श्री हरिदास की अद्भुत नित्य विहार।
२—तन करि मन करि वचन करि कीजै पर उपकार।
ताही में हरि मिलत हैं निहचै करि उर धार।
३—भजन करो भोजन करों सोवों पाइ पसारि।
कुंज बिहारिनि लाडिली नेकु न भूल पारि।[४]

---

१ पीताम्बर देव पद ३६।
२ प्रेम सखी सीतारामनखशिखवर्णन (रा०भ० म०उ० पृ० ४ २)।
३ पीताम्बर देव परमोज्ज्वल श्रृंगार रस की साखी १ ।
४ ललित किशोरी देव साखी ८८ २२२ २७७।

२ ब्रज लीला-गायकों द्वारा सृजित काव्य

राधा और कृष्ण (सीता और राम) यद्यपि आलम्बन यहाँ भी रहते हैं पर उनके परिकर का विस्तार बढ़ जाता है। वल्लभाओं की संख्या बढ़ जाने के कारण भिन्नता की मात्रा बहुत बढ़ जाती है। नाना प्रकार की नायक एवं नायिका सम्बन्धी धारणाएं जन्म लेती हैं।[1] नायिकाओं के बढ़ने के साथ ही स्वकीया पर कीया विरह मान स्थापित की स्वीकृति अनिवार्य हो जाती है। दूती या सखी का दायित्व भी किंचित् भिन्न हो है। किशोर लीलाओं के अतिरिक्त ब्रजलीला की स्वीकृति के कारण बाल एवं पौगण्ड लीलाएँ भी इस साहित्य में चित्रणीय हैं। एवं उपास्य के साथ युगल तत्त्व पूरी तरह आरोपित नहीं होता। यहाँ राधा भी हैं तथा अन्य गोपियाँ भी हैं। राधा की स्थिति अधिक से अधिक प्रधान गोपी की रहती है। इस अन्तर के पड़ जाने के कारण विहार लीलाओं में भी बड़ा अन्तर पड़ जाता है। नित्य विहारोपासकों में हमने दो बातों को विशेष रूप से लक्षित किया था

(१) कृष्ण-सौन्दर्य का चित्रण अत्यन्त विरल है।

(२) राधा की आतुरता मिलनवाञ्छा आदि का चित्रण भी न्यूनतम हुआ है।

कृष्ण का रूप एवं राधा की अभिलाषाएं केवल युगल स्वरूप चित्रण के समय ही कवियों का ध्यान आकर्षित करता हैं अन्यथा रूपवती राधा हैं एवं अभिलाषमय कृष्ण। परन्तु इन लोगों में यह बात नहीं है। ब्रज-लीला (गोपीभावोपासक) गायकों ने राधा एवं गोपियों के रूप के विवरण भी दिये हैं पर मोहन के जिस भुवनमोहन रूप और रूप प्रभाव का उन्होंने चित्रित किया वह उन्हें पूर्व विवेचित गायकों और काव्य से नितान्त भिन्न कर देता है। इसी प्रकार यद्यपि मोहन की मिलन एवं अभिसार की आकांक्षा व्यक्त करने का भी यत्न की है परन्तु उनका अधिक ध्यान गोपिकाओं या राधा के तन मन की प्रवृत्ति का चित्रण करने की ओर अधिक रहा है। होरी झूलना आदि उत्सवों तथा समय बाते की आशाओं के अतिरिक्त विरह की विभिन्न स्थितियाँ कुब्जा के प्रति ईर्ष्या अथवा मुरली उपा लम्भ आदि के भी मार्मिक चित्र इन कवियों द्वारा उपस्थित किये जा गये हैं। हम

---

१ नीचे हमने ब्रजलीला-गायक लिया है पर इसके अन्तर्गत हम विवेचना के लिए राम भक्ति-साहित्य की भी वे रचनाएँ ले रहे हैं जो शुद्ध नित्यविहारोपासना या सखी शाखा से भिन्न हैं। इसे आवरण सीता भी कहा जा सकता है।

२ चतुर्थ अध्याय में इन बातों का हम विस्तार से विवेचन कर चुके हैं।

इन कवियों के काव्य के प्रधान प्रधान पक्षों के विश्लेषण एवं उद्घाटन की चेष्टा करेंगे।

(१) रूप चित्रण

जैसा कि अभी ऊपर संकेत किया जा चुका है स्त्री और पुरुष दोनों ही तत्त्वों के रूप का चित्रण करने का प्रयास इन कवियों ने किया है। परन्तु चित्रण की प्रणाली और अभिव्यंजना का ढंग वही है जिस कि पीछे हम विवेचित कर चुके हैं।

कृष्ण का रूप सौन्दर्य और उसका प्रभाव

परम्परा प्राप्त उपमानों के आधार पर कृष्ण के रूप के वस्तुगत चित्रण में ये कतिपय उदाहरण हम दे रहे हैं

इन्द्र नील इन्दीवर घन छवि छवित श्याम शरीर री।
भौंहें चाप सर कुंकुम टीको नासा राजत कीर री।
अधर बिंब मृदु हास चन्द्रिका दशन सिखर मनि पाति री।
चारु चिबुक अम्ब फलवारी ग्रीव कम्बु मणि कान्ति री।[1]

ऊपर की पंक्तियाँ विभिन्न अंगों के लिए उपमा जुटाती हैं परन्तु इनसे इन अंगों का कोई कल्पनाग्राह्य रूप हमारे नेत्रों के सामने नहीं आता। यद्यपि मनोनुयायी मनोहर दास ने भी कृष्ण के रूप का वर्णन करना चाहा है। परन्तु न तो उस रूप का कोई बिम्ब हमारे सामने उपस्थित हो पाता है और न उस रूप की अनुभूति ही हम भली प्रकार हो पाती है। उपमानों की मधुर कल्पना के स्थान पर इस छन्द में केवल वस्त्राभूषण ही गिनाये गये हैं

केसर की भूमिका प जरो खिरकी की पाग
झूमिका कनक स्वच्छ मोर पच्छ लटक।
झगा बूटेदार दोदामी को कष्ट बार रच्यो
उपरैना पटका सुनेनी चित्र चटक।
गुंजावलि बाजूबन्द पहुचीया अनलस
सूथन नूपुर सुर पग जूरी मटक।
जगमग राधिका रमण सिंहासन ठाढ़
मनोहर मुसकान माही अटक।[2]

देव का छन्द ठीक इसी परम्परा में है। यह बात दूसरी है कि उन्होंने अपने छन्द में वस्तुगत साधन का अधिक प्रयोग किया है तथा देव का छन्द उसके प्रभाव की ओर भी संकेत करता चलता है

---

१ वृन्दावन देव गीतामृत गंगा ४।६६
२ मनोहर दास राधारमण रस सागर स ११

पायन नूपुर मंजु बजै कटि किंकिन में धुनि की मधुराई।
सांवरे अंग लसै पटपीत, हिये हुलसै बनमाल सुहाई।
माथे किरीट बड़े दृग चंचल, मंद हंसी मुख चंद जुन्हाई।
जै जग मंदिर दीपक सुंदर श्री ब्रज दूलह देव सहाई।[1]

इस प्रकार के वस्तुगत अलंकार प्रधान रूपचित्रण में यत्र-तत्र कल्पना का भी रुचिर प्रयोग मिल जाता है। कृष्ण की पीली पगड़ी वाम भाग की ओर झुकी हुई है और उसके ऊपर मोर के चंद्रिका सुसज्जित है। ऐसा प्रतीत होता है कि सुमेरु पर्वत पर अखण्ड इन्द्रधनुष उगा हुआ है। रत्न जटित मणि कुण्डल मुख पर ऐसे प्रतीत होते हैं मानो नक्षत्रगण अपना राजा समझ कर चन्द्रमा की सेवा कर रहे हों

पीत पाग रही वाम भाग झुकि तापर सिखी सिखण्ड री
मानुहु मेरु शृंग पर ऊग्यो मघवा धनुक अखण्ड री।
रतन पेच मणि कुण्डल राजत छाजत उपमा अनूप री।
मनु उडुगण सेवत मुख चन्दहि जानि आपन भूप री।[2]

रूप का वह चित्रण सबसे अधिक मार्मिक होता है जिसमें वस्तुगत स्वरूप के स्थान पर प्रभाव की व्यंजना होती है। सोमनाथ का निम्नलिखित छन्द रूप का प्रभाव ही अधिक उत्पन्न करता है।

मोहन पंकज से दृग हैं इतने,
    पै तनकौं तिरछे मुसकाय कै।
कोटि मनम्मथ के मथि प्रान
    परी कल कानन मैं रट गराय कै।
त्यों नगिनाथ लसे अधरों जय
    कानन बांसुरी की धुनि छाय कै।
को वह नारि जु धीर धरै उर
    प्रेम की पीर गंभीर पचाय कै।[3]
        — रास पंचाध्यायी पृ० ४१ (छन्द ६५)

बिहारी का निम्नलिखित दोहा भी एक भिन्न प्रकार से रूप की व्यंजना करता है

---

१ देव सुख सागर तरंग पृ० १०२।
२ वृन्दावन देव गीतामृत गंगा ४।६६।
३ सोमनाथ रास पंचाध्यायी छन्द ६५ पृ० ४१।

भृकुटी मटकनि पीत पट चटक लटकती चाल।
चल चख चितवनि चोर चित लियो बिहारी लाल।[1]

सौन्दर्य का वस्तुपरक एवं अनुभूतिपरक रूप सम्मिलित रूप पर मतिराम के निम्नांकित सवैया में व्यक्त हुआ है। प्रारम्भिक पंक्ति में वाह्य शृंगार का चित्रण हुआ है। दूसरी पंक्ति में मुस्कान चेष्टा तथा कुण्डल के हिलने से उत्पन्न होने वाली सत्यात्मक शोभा चित्रित हुई है। तृतीय पंक्ति में शरीर के अंग विशेष नेत्र के आकार एवं नेत्रों के व्यापार का प्रभाव कवि ने चित्रित किया है और अन्त में इन सभी को समेट कर मन में जो अनुभूति जगती है उसके लिए नायिका विरोध मूलक उक्ति को अपनाती है। बहुधा जहाँ वाणी शिथिल और भ्रममय होने लगती है वहीं ये अलंकार उसकी सबसे अधिक सहायता करते हैं

मोरपखा मतिराम किरीट में कंठ बनी बनमाल सुहाई।
मोहन की मुसकानि मनोहर कुंडल डोलनि मैं छवि छाई।
लोचन लोल बिसाल बिलोकनि को न बिलोकि भयो बस माई।
वा मुख की मधुराई कहा कहौं मीठी लगै अंखियान लुनाई।[2]

समर्थ कवि कभी कभी रूप का वस्तुगत अंकन शैली का चमत्कार प्रभाव का व्यंजित करने वाला किसी सूक्ष्म रेखा से भी बहुत बड़ा काम ले सकता है। वृन्दावन देव ने निम्न पंक्तियों में यही किया है। कृष्ण के अंग शृंगार आदि के लिए उपमान का वर्णन न जुटा कर नायिका मात्र इतना कह देती है कि उस रूप राशि के एक अंग का अवलोकन संसार की किसी भी नारी का अपनपन में बाहर कर देने के लिए पर्याप्त है

आजु भली विधि देखि के माई सु आई गोवधननाथहि हौं री।
एक ही अंग निहारि जो नारि रहै अपनपन ताहि कहौं री।[3]

पतिव्रत के सारे अभिमान उस रूप का निहार तन के बाहर धर रह जाते हैं

सुरी किन्नरी नरी विश्व मे को है ऐसी नारि री
रहै आपनोपन पतिव्रत लिये एक ही अंग निहारि री।

बात बड़ी कह दी गया है। कोई कर क्या यह रूप ही ऐसा है—नायिका की

---

१ बिहारी लाल सतसई सं ३ २ (बिहारी रत्नाकर प्रथागार बनारस)।

२ मतिराम रसराज छन्द ४१०।

३ वृन्दावन देव गीतामृत गंगा २।२२।

४ वही वही ४।६६।

चुनौती है कि ब्रजकाव्य में रूपक प्रभाव से बाढ़ कर हो नहीं सकता फिर इसी के ऊपर शाप क्या ?

नायिका रूप चित्रण

नायिका का रूप चित्रण परम्परागत अलंकारिक शैली में ही इन कवियों ने भी किया है। नायिका के अंगों का यह अलंकारिक वर्णन रीतिकार के किसी भी वर्णन के समकक्ष है

सुकुमार सिवार से मखतूल तार से कज्जल सार से बार निवारि
सुकुमारति वाला।
मोर के जोर सिंगार के चौंर से एड़ी छिपे पुनि एम बिसाला।
स्याम घटा तें मनों निकस मुखचंद छिपे तन दामिनि माला।
वृन्दावन प्रभु आए भये लखि मोहित रोहन नन्द के लाला।[1]

सोमनाथ का निम्न वर्णन भी कचों की स्याम आभा का वर्णन करता है। तुलना भी मिलती जुलती है मात्र शृंगारसज्जा का अंग बन गया है

तिमिर के तार हैं कलाधर के हार हैं,
काम करतार हैं कि प्यारी तेरे बार हैं।[2]

इस आलंकारिकता के साथ ही सौन्दर्य की अन्तर्दृष्टि इन कवियों में मिल जाती है। वृन्दावन देव की ही निम्न पंक्ति है

तन जोवन यों जगमग ज्यों लख्यो रतन अमोल री।
रूप सुधानी सी पर ज्यों मुख रच्यो तम्बोल री।[3]

घनानन्द का सम्पूर्ण काव्य उनके सूक्ष्म एवं अनुभूतिपरक चित्रण के लिए प्रसिद्ध रहा है। निम्न सवैये में सौन्दर्य की आत्मिक शक्ति उपस्थित की गयी है

झलकै अति सुन्दर आनन गौर छके हग राजत कानन छ्वै।
हँसि बोलनि मैं छवि फूलन की बरषा उर ऊपर जाति है ह्वै।
लट लोल कपोल कलोल करैं, कल कंठ बनी जलजावलि द्वै।
अंग अंग तरंग उठै दुति की, परि है मनौ रूप अबै धर च्वै।[4]

1 वृन्दावन देव गीतामृत गंगा ४।८८।
2 सोमनाथ रत्नावली स्फुट छन्द सं० ५०।
3 वृन्दावन देव गीतामृत गंगा, ४।३१
4 घनानन्द प्रकीर्णक सं० ९।

(२) नायिका भेद

जैसा कि ऊपर हम संकेत कर चुके हैं ब्रजभाषा में बहु बल्लभाश्रय की धारणा के कारण इस साहित्य में भी नायिकाभेद के अनुरूप चित्रण पाये जा सकते हैं। परकीया प्रयाधिका नायिका के ये चित्र देखिये

(क) लई कन्हैया ने हौं घेरि।
खोरि साँकरी माँझ सभोक आइ गयौ कितहू तें हेरि।
कौरो भरी उर धरी औचका अकेली काहू गुनाऊ टेरि।
आनन्द घन घरि सराबोर करि पठई घर नौ निपट सघेरि।[1]

(ख) पाछे गोपाल आगे गुरुलोग रहो अति लाजनि सों दबि नीठ में।
ग्रीव फिरायन चाहि सकी मुरि सोक में आये वे मेरी ए दीठ में।
नागर प्यारे के देखनि की सखि यास में आनी यहै उर नीठ में।
आस भई मुख्य विहि काज या वैर बयो सास भई नहि पीठ में।[1]

(ग) कैसे जल लाऊ मैं पनिघट जाऊ?
होरी खेलत नन्दलाडिलो क्यों कर निबहन पाऊ।
वे तो निलज फाग मदमाते हौं कुलवधू कहाऊ।
जो छुव रसिक बिहारी अचर तो धरती फार समाऊ।[1]

इसी प्रकार मनोहर दास जी द्वारा चित्रित गुप्ताभिसारिका नायिका का यह चित्र है

सरद की रैनि उजियारी अभिसार प्रिया
प्रीतम पै सेत सारी खोर अंग कीने हैं।
मालती मुक्ता मल्ली माला अंग अंग सोहे
आभूषन हीरनि जटित रंग भीने हैं।
चांदनी में मिलि चली देखन न पावै आली
अंग की सुगंधि अनुसार कै हू चीने हे।
राधिका रमन मिले मनोहर भांति भांति
लिने मन भिले मानो शोभा जल मीने हैं।

---

१ घनानंद ग्रानंद पदावली १६७।
२ नागरी दास निम्बार्क माधुरी पृ ६२१ पर उद्धृत।
बणीठणी जी (रसिक बिहारी) निम्बार्क माधुरी पृ ६ ४ पर उद्धृत।
४ मनोहरदास राधारमण रस सागर छन्द सं १६।

वृन्दावन देव का निम्नांकित छन्द खंडिता के वचन उपस्थित करता है

> पतंग को रंग है नेह तिहारो।
> दिन चार तौ चटकीलो लागे बहुरि यों परि जाइ फीको फिकारो
> ऐसाये पाटी पढ़े धुरते तन मन सांवरो है मन तें सोई कारो।
> वृन्दावन प्रभु कारे पै रंग न दूजो चढ़ै तिहारो कहा चारो।[1]

गर्विता नायिका का उदाहरण मतिराम के निम्न दोहे में देखा जा सकता है

> सनरोहौं मोहन महौं, दुर दुरायो नेह।
> होत नाम नन्दलाल के नीपमाल सौ देह।[2]

वस्तुतः इस प्रकार के शृंगारी काव्य में नायिकाभेद के विभिन्न रूप ढूँढे जा सकते हैं। पर नायिकाभेद के शास्त्रीय आधार पर इस काव्य में नायिकाओं का चित्रण नहीं हुआ है।

आकर्षण एवं मिलनेच्छा।

इन कवियों ने नायक और नायिका के पारस्परिक आकर्षण एवं एक दूसरे के लिए व्याकुलता के अत्यन्त मनोरम चित्र उपस्थित किये हैं। नीचे हम नागरी दास का एक अत्यन्त ललित छन्द उपस्थित कर रहे हैं। नायिका (राधा) गा रही है अपनी अटा पर वर्षा ऋतु में सम्मिलन का मनोरम गान रही है इधर श्याम दूर से देखते यह आशा लगाये हैं कि कब एक ही साथ प्रकृति की दो शक्तियाँ उनकी सहायता करें। पवन कृपा करके उनका घूंघट उघाड़ दे और उसी समय दया करके विद्युत में दामिनी बन कर उस मुख के दर्शन करा दे—यह अनोखी सी और यह आतुरता अनुराग के गहन रंग को अत्यन्त सशक्त रेखाओं में उपस्थित करने में समर्थ है। यह चित्र स्वयं मिलाकर इतना अतिशय है कि विदग्धता की स्थिर रेखाएं खिंच उठी हैं। जो सकता इसके लिए भावों की सम्पूर्ण शक्ति की आवश्यकता पड़ती है

> भादौं की कारी अँध्यारी निसा झुकि बादर मंद फुही बरसावै।
> स्यामा जु आपनी ऊँची अटा पै छकी रस रीति मलारहिं गावै।
> ता समै मोहन के दृग दूरि ते आतुर रूप की भीख यों पावै।
> पौन मया करि घूँघट टारै दया करि दामिनि दीप दिखावै।

---

१ वृन्दावन देव गीतामृत गंगा ८१ ३।
२ मतिराम रसराज ७८।
३ नागरीदास निम्बार्क माधुरी पृ० ६२० पर उद्धृत।

रूप की उत्कृष्टता का यह दृश्य भी दृष्टव्य है। एक ही उपमा में राधा की अप्रस्तुता का सम्मिश्रणकवि की रचना शक्ति का भी प्रमाण है और अलंकार की सार्थकता का भी। अलंकार द्वारा ध्वनित दृश्य गोपिकाओं की मन स्थिति और शारीरिक अवस्था का पूर्णतया भावन कराने में समर्थ है और यही काव्य की सार्थकता होती है। प्यासा जिस प्रकार तीर के समान जल पर टूटता है वैसे ही अत्यन्त आतुरता से वे प्रिय से मिलती है। यह बिम्ब पुनः भावप्रवरण कल्पना द्वारा प्रसूत है एवं भाषा ही इसे सम्प्रेषित कर सकने का एकमात्र माध्यम है

> लालहि देखन बाल चली हैं।
> गृह गृह ते सजि भूषण अम्बर भूलस कामलता सी फली हैं।
> प्यासे ज्यों नीर पै तीर ज्यों टूटत यों अतिआतुर जाय मिली है।
> श्री वृदावन प्रभु को अवलोकत मानहु मन की सनफली हैं।[1]

इसी प्रकार मनिराम[2] देव घनानन्द[3] सोमनाथ[4] चरण दास[5] मनोहरदास[6] आदि में अभिलाषा एवं उत्कठा के प्रभूत चित्रण उपलब्ध हो जावेंगे। सीमित क्षेत्र एवं सीमित उपमानों के माध्यम से भी इन कवियों ने अभिलाष तथा उत्कंठा जैसी वृत्तियों के आकर्षक अनुभूतिप्रवरण बिम्ब उपस्थित किये हैं।

(३) मिलन और अभिसार की लीलाएं

इन कवियों ने मिलन एव अभिसार के वैसे रंगीन चित्र नहीं खींचे हैं जैसे कि विरह वर्णना के। इस वर्णना के घनीभूत प्रवाह को उन्होंने अपने काव्य में और उसके द्वारा उत्पन्न करना चाहा है। सयोगवर्णन के जो चित्र ये कवि उपस्थित करते हैं वे तत्त्वतः युगलोपासना के क्षेत्र में पहुंच जाते हैं परिणामतः पीछे विवेचित चित्रों से तनिक भी भिन्नता हम दृष्टिगोचर नहीं होती। पर अभिसारोन्मुख कुछ अन्य क्रीडाएं जिनका नित्य या तो नित्यविहारोपासना में अभाव है या फिर मात्र राधा और कृष्ण के मध्य वे छद्म क्रीडाएं है उनका सखियां रस के लिए आयोजन करती है। यह आयोजन कृत्रिम सा लगने के कारण उतना रस निर्भर नहीं हो पाता

---

१ वृदावन देव गीतामृत गगा २।१०।
२ रसराज ६०।
३ ब्रजमाधुरी सार पृ० ३१२ छंद ३२।
४ घनानद प्रकीर्णक १३।६।
५ सोमनाथ रत्नावली स्फुट, ३४।
६ भक्ति सागर पृ० ५००।
७ राधारमण रससागर छंद २५।

जितना कि व्रजलीला उपासकों में राधा कृष्ण के बीच होने पर भी प्रिय लगता है। इसका कारण है कि परकीया प्रसंग के भीतर ही दान लीला आदि मार्मिक हो जाता है। इसके अतिरिक्त वहाँ पर केवल राधा और कृष्ण ही भाग नहीं लेते कृष्ण अन्य गोपिकाओं के संग भी गोरस दानलीला का नाटक करते है।

वृन्दावन देव के गीतामृत गंगा में इस दानलीला का अत्यन्त नाटकीय ढंग से वर्णन हुआ है। व्रजांगनाओं का एक समूह गोरस बेचने निकलता है कृष्ण के सखा रास्ते में टोक कर पूछते हैं—तुम लोग जिसकी बहू और बेटियाँ हो बिना गोरस दान के जा नहीं सकोगी। गोपिकाएँ भी मुँह तोड़ उत्तर देती है कि तुम्हारी कौन सी थाती हमने रख ली है जो तुम ऐसी बातें करते हो। वे कहती हैं

अपने अपने घर ठाकुर हैं सब आँखि करत काप तुम रातीं।[1]

(अध्यात्म पक्ष में इसका अर्थ यों भी लग सकता है कि सभी ब्रह्म रूप ही है फिर ऊँच नीच का कोई प्रश्न ही नहीं है) और फिर यदि ठाकुर हो ही तो

मायो तो देव न भाँति को लेव कहा भयो जानि बडो जो भयो जू।[2]

लगता है कि तुम लोगों के दिमाग चढ़ गये हैं—आँखों में मद चढ़ गया है। गोपियों और सखाओं में और भी तमाम झड़प होती है आखिरकार चिढ़कर कृष्ण सखा कहते हैं

समझो कहा आखिर होई गवारि करी बहुत हम कानि तिहारी।
ज्यों ज्यों गहो नरमो हम त्यों ही त्यों मूड़ चढ़ी बढ़ि बोलत सारी।
बोहनी तो कर जाहु न बोलत आई बड़े घर की जु सकारी।
वृन्दावन प्रभु गोपति राव हैं नंद जु को घर छोनो कहा री।[3]

तुम गवारियों की मर्यादा का निवाह अब तक हमने बहुत किया हम नरमी में बोलते थे इसलिए सर पर चढ़कर आई हो पर बिना दान दिये जा नहीं सकती हो। गोपों के राव नन्द जू के पुत्र हमारे साथ हैं।

पर गोपियों पर इस झिड़की का कोई प्रभाव नहीं पड़ता वे मुँहतोड़ प्रत्युत्तर देने में मग्न हुआ उत्तर देती है कि हाँ जी हम तो गवारिनें हैं हो पर सत्कीर्तियों के राव तुम लोग तो हमारे ही बीच पले हो (और यही स्थान नहीं मिला) और हमारे ही समान गवारपन का काम रास्ता रोककर कर भी रहे

---

१ गीतामृत गंगा ३।५।
२ वही ३।७।
३ वही ३।१२।

हो प्रभ राह रोगे भावन ?

तुम तो जदुवंशिन राव हुते तउ श्राय गवारिन मांझ पले हो।
पूछ बड़ो सु उड़ाव द आपको लाम तुम्हें जु प्रवीन भल हो।
हमें तो सब जान गवारि हैं ये सब तो तुमहू हम मांझ रले हो।
वृंदाबन प्रभु बसे रहो तुम रोके गवारनि चाल चले हो।[1]

इस प्रकार य नाटकीय संवाद चलत रहत ह और फिर चतुराई पूर्वक कृष्ण दान ले ही लेते है। वृन्दावन देव का यह प्रसंग अत्यन्त नाटकीय एव संवादकौशल म भरा हुआ है उत्तर प्रत्युत्तर एव पुन उसका उत्तर अत्यन्त कुशल संवाद-कला के आधार पर है। कथन की छान्दस ऐसी सवाद रचना भक्ति-काल के कवियों म भी कम ही देखने को मिलती।

चरणदास द्वारा चित्रित दान लीला म भी नाटकीयता एव स्वाभाविकता का सुन्दर समाग हो गया है।[2] इस दान लीला के अन्तगत चित्रित एक प्रसंग लीजिए। श्याम की जबरदस्ती म खीझ (रीझ) कर एक गोपी कहती है कि अच्छा ! आओ बनाओ तो हम तुम्हें पेट भरकर गोरस पिलाती है। कृष्ण बठ जाते है तो वही की मटकी म उसका कर से अगूठा दिखा देता है और पूछती हैं कि जरा स्वाद तो बताइये मन भाया माठापन है न ?

उठ बोली एक ग्वारिनी भौंह मटक कर मुसकाय।
पीवो गोरस पेट भर तुम दोऊ कर ओक बनाय।
बठ जबहू चाव सों कीनो ओक बनाय।
पीवन की इच्छा करी मन मे अति ही ललचाय।
मटकी सो उहकाय के गुठा दियो दिखाय।
कहो स्वाद बतलाइये कछु मीठो है मन भाय।[3]

कृष्ण की इन दान लीलाओ के अनुकरण पर राम भक्त म रामसखजी ने भी दान लीला की ठीक ऐसी ही कल्पनाए की है। यहाँ पर सीताजी अकेली ही राम को मिल जाती हैं

विपिन प्रमोद से बोरि महा ह य आवो दही ल बड़ी अलबेली।
मानत ना डर काहू को नेकहू पाई अचानक आजु अकेली।

१ गीतामृत गगा ३।३३।
२ दानलीला वर्णन भक्ति सागर पृ० ४८६ ४८६।
३ चरणदास भक्ति सागर पृ० ४८८।

दीजौ हम करि नग तु है भावतो चित्त को चोर हो रूप नवेली।
बात हमारी सुनौ सब कान दै हो तुम तौ दय जोग सहेली।[१]

रास-लीला

अन्य लीलाओं के समान ही इन नाना प्रकार के सगुणोपासकों (निकुंज एवं प्रावरण लीला के गायक) में रासलीला में भी यह अन्तर है। हमारे प्रस्तुत समालोच्य काव्य की रासलीला भागवत की परम्परा में है। शरद की छिटकी हुई चाँदनी में गोपिकाएँ मुरली की ध्वनि सुनते ही अपने अपने घरों से कृष्ण की ओर दौड़ पड़ती हैं

जैसी रही जोइ सोइ चली है तमकि तसी,
काहू की न मान कोऊ आतुरता बढ़ी है।
अस्त व्यस्त भूषन बसन भन मन काज
मनमथ राज चटसार मानो पढ़ी है।
मनमुख नाद सुधी गति मन मई बाधा
आगे पूनी साधा प्रेम गजराज चढ़ी है।
रमण सों मिली राधा शोभा सिंधु ते अगाधा
मानो हर मूरति सनेह साँचे गढ़ी है॥[२]

गोपिकाएँ जैसे तैसे कृष्ण के पास पहुँचती हैं पर वे व्यंग्य रूप में पूछते हैं कि तुम सब यहाँ क्यों आई? उन्हें अपना अपना धर्म याद दिलाकर घर लौटने के लिए प्रेरित करते हैं। इस पर वे उत्तर देती हैं

रावरी हाँसी कि जोवन सो,
घर बाँसुरी की सुन तान तरेरी।
जाग उठी मनमथ की आगि
दिनोंदिन बाढ़ति मानि घनेरी।
सींची हम अधरामृत सों
'सोमनाथ' कही जिनि बान बरेरी।
नातरु या विरहानल में
जरि होयगी छार भभूति की ढेरी।[३]

---

१ रामसखे : जानकी नौरत्न मालिका (रा०भ०म०उ० पृ० ३२३ पर संगृहीत)।

२ मनोहरदास : राधारमण रस सागर, पृ २५।

सोमनाथ : रास पचाध्यायी पृ ३७।

बिहारी ने रासलीला के उस अंश का भी वर्णन किया है जिसमें गोपियाँ कृष्ण के साथ सम्मिलित होकर रास करती हैं तब प्रत्येक गोपी को यह अनुभव होता है कि कृष्ण उसी के पास है

गोपिनु संग निसि सरद की रमत रसिकु रसरास।
लहाछेह अति गतिनु की सबनु लखे सब पास।[1]

इस अद्भुत गति में होने वाले परम रमणीय रास को देखने के लिए देव वधुएँ भी व्याकुल हो रही हैं। नभमंडल के ऊपर सुरों के विमानों की भीड़ लग गई है

वृन्दावन कानन पै भीर है विमान की
देव बधू देखि देखि भई है मनचला।
बनी कल गान के वितान धुनिवाय बध्यो
रमालोक लोभित ह्वै मूलो उर अचला।
द्वै द्वै बिच गोपिन के ललित त्रिभंगी लाल
नागरिया पदन्यास बाजै छुनछुनला।
रास रंग मंडल अखंड नृत्य होन लाग्यो
संग ह्वै कै भ्रमत मानो मेघचय चचला।[2]

जल क्रीडा

रास के पश्चात् जलक्रीडा में थकावट दूर करने का प्रसंग भागवत में भी आता है।[3] वृन्दावन देव ने वहाँ से प्रेरणा लेकर अपने रासलीला वाले अंश में उसका वर्णन किया है। यह वर्णन निम्बार्क परम्परायुक्त एवं भावपूर्ण प्रतीत होता है। इस तरह के वर्णन एक प्रकार के संस्कार (Ritual) जैसे प्रतीत होते हैं।

क्रीडत कालिंदी तट गोपिन संग लीन।
सुन्दर विशाल नैन सुरत रंग भीन।
मनो मीन वाल उपय लोहित वपु कीन।
उरसि तिय नख प्रकार सोहत अति नीको।
जाहि देख द्वज चन्द लागत अति फीको।

१ बिहारी रत्नाकर दोहा २६१।
२ नागरीदास निम्बार्क माधुरी पृ ६२०।
३ श्रीमद भागवत १०।३३।२३–२५।
४ वृन्दावन देव गीतामृत गंगा ५।१६

होली

बसन्त ऋतु में होली का मदनमय उत्सव माधुर्य भाव के उपासक सभी कवियों के मन को आकर्षित कर सका था। आगे चलकर रीतिकाल में दरबारी कवियों ने होली के अनेक रंग भरे चित्र उपस्थित किये हैं। पद्माकर का 'लला फिर आइयो खेलन होरी' वाला छन्द प्रसिद्ध ही है। रीतिकाल के होली सम्बन्धी पदों के पीछे वस्तुतः इन कवियों का होली वर्णन विद्यमान था।

इन कवियों ने होली के खेल का ही वर्णन नहीं किया है, होली खेलने की अभिलाषा का भी परिचय दिया है। होली मनभाया वसन्त का त्योहार होता है, ऐसी स्थिति में नायिका यदि प्रारम्भ में ही उस दिन की प्रतीक्षा करती हुई होली खेलने की योजना बनाये तो वह नितान्त स्वाभाविक होगा। पुष्टिमार्गीय जगन्नाथ कविराय का पद इसी आकांक्षा को व्यक्त करता है

अहो हरि होरी में तब जो गये तुम भाजि।
गारी देहु अरु मराउ
मुख मार्डोंगी आज।
हौं अपनो मन भायो करि हौं
सुनि ब्रज राज कुमार।
जगन्नाथ कविराय के प्रभु
भाई सकल घोष सिरताज।[1]

अनीप्सा जी के पद में नायिका नायक को वर्जित कर रही है कि मेरे ऊपर रंग न डालो। धमकाती भी है कि यदि न मानोगे तो पिचकारी छीन लूंगी। पर कृष्ण नायक नहीं मानते तो कहती है कि अब तुम सुभग गारी सुनना चाहते हो। इस वर्जन एवं निषेध में अनुराग एवं स्वीकार की गहरी व्यंजना है जो रसिकों से छिपी नहीं है —

ए जु ! नीके तुम जाहु चले जिन डारो मेरी सारी।
सुनि श्याम सखि श्याम सों हैं निहारा नाहीं छिनाय लहु कर तें पिचकारी।
अब कछु मोपे सुन्यो चाहत हो गारी धरम मोते इत रसिक बिहारी।[2]

होली के चित्र नित्य विहारोपासकों में उतने सजीव नहीं बन पड़े हैं जैसे कि इन कवियों के हैं।

---

१ जगन्नाथ कविराय कीर्तन संग्रह भाग २ पृ० ४५।
२ बन ठनाजी (रसिक बिहारी) निम्बार्क माधुरी का संग्रह, पृ० ६०४

इसी प्रकार ग्रन्थ उत्सवों के पद भी कीर्तन ग्रन्थों आदि में बिखरे पड़े हैं। अष्टयाम सेवा विधि से सम्बन्धित पदों की संख्या भी विशाल है।

(४) विरह

नित्य विहारोपासकों एवं ब्रजभावापन्न गायकों के मध्य विरह संबंधी एक बड़ा अन्तर है। निकुंज लीलाओं में विरह अत्यन्त सूक्ष्म (मन की वृत्ति विशेष) स्वीकार किया गया है क्योंकि राधा और कृष्ण के मध्य वियोग की स्थिति युगलोपासना की आत्मा के विपरीत है। पर ब्रज लीला-गायकों ने न्यून विरह का जम कर गायन किया है। सूरदास का — ऊधो विरहो प्रेम करै — हम चतुर्थ अध्याय में उद्धृत कर चुके हैं। वहाँ पर हमने इस सम्भावना की ओर भी संकेत किया था कि विरह को मूल्यवान् मानने के पीछे सूफी प्रभाव भी हो सकता है। गोपियों के प्रत्युत भाव से प्रभु के प्रति सीधे विरह एवं प्रेम निवेदन तथा किसी लौकिक प्रेम कहानी के माध्यम से प्रेम एवं विरह की तीव्र अभिव्यंजना में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता।

अस्तु लौकिक विरह के विविध रूप इस इस साहित्य में उपलब्ध हो जाते हैं। घनानन्द ने निर्भ्रान्त शब्दों में घोषित किया था कि यदि मन में गोपियों की सिसक और कसक न आयी तो रसिक कहलाना व्यर्थ ही है। रसिकता कुछ और ही वस्तु है।[१] इसी कारण इस सिसक और कसक का वर्णन इन कवियों ने अत्यधिक मन लगाकर किया है।

काव्य शास्त्रियों ने विरह के पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण ये चार भेद किए हैं। रीतिकालीन कवियों ने इन सभी का चित्रण परिपाटी निर्वाह के लिए किया था। प्रमाभक्ति के इन कवियों में इनमें से प्रथम तीन स्थितियाँ मिल जाएँगी पर उदाहरण देने के लिए नहीं है। करुण विप्रलंभ को भगवान के परिकर में स्वीकृति नहीं है। पर शेष तीनों को उन्होंने यथार्थ के स्तर पर भावित किया है।

पूर्वराग

विरह का प्रथम प्रकार पूर्वराग माना गया है। साहित्य दर्पण में इसकी परिभाषा देते हुए कहा गया है कि इसमें अभिप्राय है रूप सौन्दर्य आदि के श्रवण अथवा दर्शन से परस्पर अनुरक्त नायक नायिका की उस दशा का जोकि उनके

१ गोपिन की ससक कसक जो न आई मन रसिक कहाए कहा रस कहू औरई। —प्रकीर्णक ३१।

समागम से पहले हुआ करती है।[1] घनानन्द द्वारा वर्णित यह विरह पूर्वराग ही है जो रूप दर्शन से उत्पन्न हुआ है

आनि हौ मेरी प चोरी भई लखि फेरी फिर न सुजान की घेरी।
रूप छकि तित ही बियकी अब ऐसी अनेरी पत्याति न बेरी।
प्रानन साथ परी परहाय विकानि की बानि प वानि बसेरी।
पायन पारि लई घन आनद चायनि बावरी प्रीति की बेरी।[2]

सोमनाथ का यह विरहिणी भी प्रिय के दर्शन से उन्मत्त बनी चली आयी है

सोमनाथ मोहिनि जिलाकि छवि छाको छकी,
डोही घ चि गांसो पचबान बतियान में।
गागरि गिराय बिसराइ कुल कानि ग्वालि,
ल्याई भरि माहन की नेह घ लियान में।

प्रवास

ब्रज नाना के अन्तर्गत कृष्ण का ब्रज छोड़कर मथुरा एव द्वारका चले जाना विरह-काव्य का प्रमुख स्थान रहा है। अपनी प्रीति बढ़ाकर कृष्ण चले जाते हैं। प्रान भी अवधि भी न जाते हैं पर प्रान नहीं। गोपियाँ इस कठिन वियोग में व्यग्र हो जाती रहती है। इस घटना ने अगणित कवियों के मानस को आन्दोलित किया है तब मन्दराग छन्दों में वियोग की यह गाथा फूटी है। वृन्दावन देव का छन्द उसी स्थिति का व्यक्त करता है

आयो है मास सावन न आये मन भावन जे लाये गुन गावन ए
चातक हू चहूँदिन।
दुख की निशानी इह ठानी विधि विरहिन को पीव पीव बानी
सुनिहोत मन महादिन।
ये तो महाज्ञानी वधु मन में न आनी प और नहीं प्रानी अब
जीव लागि कौन दिन।
वृन्दावन प्रभु पानी जात न बिरानी पीर मीन की कहानी इह
याहि तो अधिक तिन।

गिरधारी का यह छन्द भी प्रवास जन्य विरह की वेदना को अभिव्यक्त करता है।

---

१ विश्वनाथ कविराज साहित्य दर्पण ३।१८८।
२ घनानद सुजान हित २।
३ सोमनाथ रसपीयूषनिधि, स्फुट ३६।
४ गोवामृत गंगा ८।५८।

राधा यमुना के किनारे श्याम की याद करती हुई जो आंसू बहा रही है वे यमुना के जल को भी खारा बना देते हैं

स्याम सुरति करि राधिका तकति तरनिजा तीर।
अंसुवनि करत तरौंस को खिनकु खरौंहौं नीर।[1]

चन्द्रसखी के इन पदों में भी प्रवास जन्य विरह ताप प्रकट हुआ है

पलक न लगे स्याम बिन पलक न लागे मेरी।
हरि बिन मथुरा ऐसी लागत है चन्द्र बिन रैन अंधेरी।
इत मथुरा उत गोकुल नगरी बिच बिच जमुना गहरी।
सांवरे की खातिर जोगन हूंगी घर घर दूंगी फेरी।
चंद सखी भज बालकृष्ण छवि हरि चरनन की चेरी।[2]

मान

नित्य विहारोपासकों के काव्य विवेचन के प्रसंग में मान की चर्चा हम कर चुके हैं। प्रेम के क्षेत्र में मान का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान होता है। मान का इन कवियों ने बहुत चित्रण किया है। अन्तर इतना है कि अकारण मान के साथ ही सकारण मान भी इन कवियों ने चित्रित किया है। परन्तु एक समानता है — प्रिया का ही मान इन कवियों के लिए भी चित्रणीय रहा है। यह सम्भवतः काव्य परिपाटी का दबाव था। हिन्दी काव्य की परम्पराओं में प्रियतमा के मान की ही परिपाटी रही है।

प्रिया मान किए बैठी है दूती की सखी आकर समझाती है कि रात छोटी है यह मधु यामिनी यों ही बीत जाएगी इसलिए कुंज भवन चलकर रमण करो। यह सत्य है कि प्रिय के निकट अनाधिक कामिनियां हैं परन्तु सचाई यह है कि तुम्हारे बिना वे सारी सलोनी कामिनियां अलोनी लग रही हैं। उनके साथ तो तेरी ही शोभा होती है जैसे कि स्वर्ण के साथ माणिक्य या कि सांवल बादलों के साथ विद्युत छिटा ही शोभा पाती है। अतः हे मानिनी मान थोड़ी देर के लिए ही अच्छा है। वह उपमा देती है कि दूध के उफान के समान ही मान करना ठीक है (दूध का उफान पानी के छींटे पड़ते ही शान्त हो जाता है वैसी ही दूती वचन की शीतलता मान को समाप्त कर देने के लिए पर्याप्त होनी चाहिए) मान के लिए दूध के उफान की उपमा देना स्वतन्त्र निरीक्षण शक्ति का प्रमाण है

१ बिहारी रत्नाकर २६२।
२ चंदसखी के भजन और लोक गीत (प्रभु दयाल मित्तल) १२६ पृष्ठ ४५।

दूध को उफान ऐसो मान कीजै मानिनी,
रुठे कुंज सदन रमन गमन कीजै,
बीती जात बातन ही मधु यामिनी।
तो बिनु सलौनो सब लागत अलौनो,
जदपि निकट हैं अनेक नत कामिनी।
वृन्दावन प्रभु संग तूहीं यों विराजति है,
जैसे हेम मानिक और श्याम घन दामिनी।[1]

दूती मनाते मनाते थक जाती है पर वह प्यारी मानती नहीं है। कुशल वाक्पटु दूती अनेक कौशल करके हार जाती है। लौटकर वह स्पष्ट कह देती है कि तुम्हारी प्रिया रूपवती तो बहुत है ऐसा लगता है कि वह रूप का प्रकाश है स्वयं विधि के हाथ का वह सवारी हुई है परन्तु (मुझे क्षमा किया जाय) ऐसी अनखारी नारी मैंने नहीं देखी है। यह तो तुम्हीं जानते होगे कि तुमने अपनी प्रीति अन्यत्र कहाँ विस्तारित की है पर वह सुकुमारी आपका नाम लेते ही गाली देने लगती है। उसके (दूती के) अनुसार आज तो उसका रूप इतना निष्ठुर है कि पैर पड़ने पर भी वह मानने के लिए प्रस्तुत न होगी

हौं तो पचिहारी बिहारी मानति न प्यारी तिहारी।
रूप की उजारी नारी विधिना सवारी पै
ऐसी अनखारी नारि मैं न निहारी।
तुम जानो प्रीति प्यारी और कासों बिसतारी
लिंग की गये तें गारी देति सुकुमारी।
वृन्दावन प्रभु ऐसी देखी न निठुर आज
मानिहै न पाइ पर कहे हू हहा री।[2]

प्यार को मनाने जाना ही पड़ता है। वे नति का आश्रय लेकर मानवती प्रिया का चरण सेवा करते हैं। ऐसी स्थिति में मान को टूटना ही चाहिए वह टूटता है

मान कियो मानिनि मनायो हू न माने।
मैंव मानहूँ में सोय रही मानिनि न मान कै।
उर्भाक पिय देखे धाय चांपत चरण।
सखी सन द उठाई पिय बढे पगपान के।
पिय को परस जान जान के भई अजान।
चतुर बिहारी जु सों बोली पिय मान कै।

१ वृन्दावन देव गीतामृत गंगा ६।५।
२ वही वही ६।१६।

रहो रहो रसिक राय छिनहु न होहु न्यारे
हम तुम पौढ़े दोऊ एक पट तान के।[1]

प्रेम वचित्य

गौडीय वैष्णव आचार्यों ने करुण विप्रलम्भ के स्थान पर प्रेम वचित्य नामक एक नया प्रकार स्वीकार किया है। प्रमातिशय के कारण स्वामी विशेष रूप में ही प्रिय के निकट होने पर भी जब विरह जैसी अनुभूति होती है तब उसे प्रेम वचित्य कहा जाता है[2]। प्रेम-काव्य की अमूल्य निधि घनानन्द के काव्य में प्रेम वचित्य के हृदयस्पर्शी चित्रण हमें मिलते हैं। एक उदाहरण —

झिग बठे हू पठि रहें उर में धरक धरक दुख दोहतु है।
दृग आगे ते बरी कहू टर न जग जोहनि अन्तर जोहतु है।
घन आनंद मीत सुजान मिले बसि बीच तऊ मति मोहतु है।
यह कैसी सजोग न बूझि परै जु वियोग न क्यों हू विछोहतु है।[3]

(५) उपालम्भ

प्रेम और वियोग के क्षेत्र में उपालम्भ काव्य भी सहृदयों के मध्य सदा आदर पाता रहा है। भ्रमरगीत के नाम पर लिखा गया उपालम्भ काव्य हमारे साहित्य के सर्वोत्तम अंशों में से एक है। कुब्जा और मुरली के प्रति लिखे गए उलाहने भी कृष्ण काव्य में कम नहीं हैं।

अत्यन्त सहज स्त्रियोचित शब्दावली में वृन्दावन देव ने व्रजबालाओं से यह शिकायत कराई है। गोपियों को प्रिय के प्रेम पर कैसा विश्वास था— मथुरा कौन बहुत दूर है पर तनिक सा सन्देश भी उन्होंने नहीं दिया। हृदय एकदम निष्ठुर कर लिया उस प्रेम की बात उन्होंने साची ही नहीं। इसके ऊपर भी एक विनोद काम उन्होंने किया है—कुब्जा के प्रेम रंग में रंग गए हैं। कुब्जा के लिए उलाहना चन्द्रसखी ने भी दिलाया है।[5]

नागरीदास ने मुरली उपालम्भ सम्बन्धी अत्यन्त मार्मिक पद लिखे हैं।

---

१ गो० हरिराय (रसिकराय) कीर्तन संग्रह तीसरा भाग पृ २०८।
२ उ नी०म० पृ ५४८।
३ सुजान हित १ ४ (घन आनंद ग्रंथावली)।
४ वृन्दावन देव गीतामृत गंगा ८।४६।
५ चन्द्रसखी और उनका काव्य (सम्पादिका पद्मावती शबनम) पृ० ४ ४७।

गोपिकाएं मुरली से कहती हैं कि हम क्षमा कर हम तेरे परी पड़ती हैं तेरा स्वर लहरी और सबको प्रिय होगी पर हम नहीं। हम तो उससे और दुःखी होती हैं। गोपिकाएँ वंशी को अपने पक्ष में करने के लिए एक बड़ा मनोवैज्ञानिक प्रश्न फेंकती हैं। उनका कहना है कि हम दोनों ही व्रज की हैं अतः एक स्थान में रहने की बात तो सोचनी ही चाहिए। फिर वंशी और व्रजनारी दोनों की महिमा तो संसार में हैं यह नाता भी वंशी के लिए विचारणीय है

तुहू ब्रज की मुरलिया हमहू ब्रज की नारि।
एक बास की कानि करि पढ़ि पढ़ि मंत्र न मारि।
मत मार "र तानि क नातो इतो विचारि।
तीन लोक सब गाइये बनी अरु ब्रज नारि।[1]

पर वंशी मानती नहीं है। गोपिकाएं खीझकर कहती हैं कि जब से हमारी बुद्धि हरता है? यह मौन रहती ही नहीं —

हम हारी गारी जु द जड़ सौं कहा बसाय।
मौन गहत नहिं मुरलिया हाय हाय फिर हाय।[2]

परशुराम दास की गोपियों ने भी मुरली का उलाहना दिया है कि तनिक से बांस की बनी हुई यह बांसुरी गर्व से भरी गर्जना करती रहती है तथा उनका ... ... करती रहती है

तनक बांस की बनी बसुरिया गर्व भरी अति गाज री।
ते धन कियो गुरुदेव हमारो सतत ... बाझ री।[3]

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो गया है कि निम्बार्क-सम्प्रदाय का काव्य इस परम्परा में पर्याप्त समृद्ध है। हम अपने कथ्य को लगभग उपयुक्त शिखर में पा सकते हैं।

(६) बाललीलाएं

यह विवेचन माधुर्य भाव की दृष्टि से किया गया है पर व्रजलीला के अन्तर्गत वात्सल्य भक्ति-भावना का भी समावेश है। निम्बार्क-सम्प्रदाय की उपासना का प्रवर्तन यद्यपि नारद के अनुरूप हुआ था। ... कारण इस युग में भी वात्सल्य भाव सम्बन्धी कतिपय रचनाएं प्राप्त हो जाती हैं। नागरीदास ने निम्बार्क मतानुयायी ... उन्होंने कृष्ण की बाल-लीलाओं का भी चित्रण किया है। परन्तु बाल-लीला

1 ब्रजमाधुरी सार पृ० २ २।
2 श्री सर्वेश्वर में नागर समुच्चय से सकलित (वर्ष ३ अंक १२ सं० २ १२ वि०)।
3 परशुराम ... भक्ति सागर ग्रन्थ पृ० ३२८।

के चित्रण में इन कवियों का मन बहुत न । लगा है । नागरीदास निम्न पद में कृष्ण के बालरूप का वस्तुगत रूप पर चित्रण करते रह जाते हैं उस मानसिकता की स्थापना नहीं कर पाते जो सूर या परमानन्ददास के काव्य में हमें उपलब्ध होता है । पद इस प्रकार है

कबहु गहि फिरत पूछ बछियान की
किंकिनी कनक कटि मधुर बाज ।
गोप-गोपिन हगनि से खिलौना खिलत
मुख-कमल मुरि हसनि भ्राज ।
बदन दधि-छवि धूरि धूसरित भ ग
अबहि ते मदन-भति पगनि पेल ।
कठ बघना दिये पाय पजनि भनक
दास नागर हिये भ्रागन खेल ।[1]

हरिदासी सम्प्रदाय में यद्यपि बाल लीला की स्वीकृति नहीं है पर स्वामी रसिक देव ने बाल लीला नामक ४६ छन्दों की एक छोटी-सी पुस्तिका भी लिखी है जिसमें बाल लीला की अपेक्षा बालक कृष्ण एवं बालिका राधा के मिलन पर अधिक ध्यान दिया गया है । इसमें बाल भाव का माधुर्य भाव की ओर मोड़ने की चेष्टा की गई है ।

निम्बार्कीय वृन्दावन देव की रचना गीतामृत गगा का प्रथम घाट बाल लीलाओं का है तथा द्वितीय घाट पौगण्ड लीलाओं का । वृन्दावन देव का भी मन इन लीलाओं में अधिक नहीं रमा है । जन्म की बधाइयाँ गा देने अथवा सूचना रूप में कुछ कह कर वे आगे बढ़ जाते हैं मार्मिक चित्र कम ही उपलब्ध होते हैं। ऐसा ही एक पद निम्न कहा जा सकता है

ब्रजरानी की गोद विनोद कर हरि
मोद भरी यों लडावति मया ।
नये गावत गीत नचावति द चुटकी तिहि
जो तिहु लोक नचया ।
समात न नन्द आनन्द मे देखि सुत
स मनोरथ पूरयो है दया ।
कबहू दिन ह्वै वह मो लला स
वृन्दाबन ज हैं चरावन गया ।[2]

---

१ नागरीदास ब्रज माधुरी-सार पृ० २ २ ।
२ गीतामृत गगा १।२२।

इसी प्रथम दोहे में ही उन्होंने श्याम सगाई भी उपस्थित कर दी है।[1] चन्द्रसखी के भजनों में भी मान लीला के कतिपय पद उपलब्ध हो जाते हैं।

(७) सिद्धान्त कथन

पूर्व विवेचित नित्य विहारोपासकों के समान सिद्धान्त कथन-सम्बन्धी साहित्य इन भक्तों में भी उपलब्ध हो जाता है। परन्तु ध्यान से अनुशीलन करने पर एक तथ्य नितान्त उजागर हो उठता है कि नित्य विहारोपासकों में अनिवार्य रूप से सिद्धान्त-कथन किया है परन्तु इन कवियों में यह अनिवार्यता नहीं है। इसका परिणाम यह भी हुआ है कि परिमाण की दृष्टि से नित्य विहारोपासकों में सिद्धान्त-कथन की मात्रा कहीं अधिक है। इसका कारण हमें यह प्रतीत होता है कि जिस एकान्तिक (रहस्यात्मक) भक्ति-पद्धति को उन्होंने स्वीकार किया था उसके बारे में नैतिकता एवं अश्लीलता का भ्रम हो सकने का अवकाश था। इसी कारण वे सिद्धान्त-कथन के लिए विवश हो गए थे। इन लोगों का सिद्धान्त-कथन एक प्रकार से अपनी रचना की व्याख्या ही है। निकल्सन ने बताया है कि ईरानी सूफियों को भी इस भ्रम से बचने के लिए अपनी रचनाओं का अर्थ स्पष्ट करना पड़ा था।[3] परन्तु ब्रजबाला-नायकों के समक्ष ऐसी कोई समस्या नहीं थी। पुराण हमारे यहाँ धर्म-ग्रन्थों के रूप में मान्य थे तथा पुराणों में यह शृंगारादि की लीला भली भाँति चित्रित एवं व्याख्यात हो चुकी थी। सामान्य जन के हृदय में उसकी यथेष्ट प्रतिष्ठा हो चुकी थी। इस कारण सिद्धान्त-कथन द्वारा अपने युगल एवं उनकी भक्ति के मन्तव्य को स्पष्ट करने का प्रश्न इन कवियों के सामने नहीं उठा था। फिर भी यत्र-तत्र हमें सिद्धान्त-कथन के कुछ-न-कुछ पद उपलब्ध होते ही हैं। संसार से विराग[4] गुरु का महत्त्व-स्थापन[5] प्रेम धर्म का महत्त्व एवं गोपियों का महिमा-गान[6] आदि सिद्धान्त-सम्बन्धी अनेक बातें इनमें कही गई हैं। गोपियों के महत्त्व को स्वीकार करने वाला गो० हरिराम का निम्न पद द्रष्टव्य है जिसमें साथ ही साथ वल्लभाचार्य एवं विट्ठलनाथ जी की स्तुति भी है

हौं वारी इन वल्लभियन पर।
मेरे तन को करौं बिछौना सीस धरौं इनके चरनन तर।

---

१ गीतामृत गंगा १।२८।
२ पद्मावती शबनम् चन्द्रसखी और उनका काव्य पृ० १०।
३ आर० ए० निकल्सन दि मिस्टिक्स ऑफ इस्लाम पृ० १०२।
४ नागरीदास ब्रज माधुरी सार पृ० १६० १६१।
५ कीर्तन संग्रह भाग ३ पृ० २४७-२४८ आदि।
६ वही वही पृ० ४६।

> यह मेरी देखो मेरी अखियन मण्डन मध्य विराजत गिरिधर।
> यह तो मेरे प्राण जीवनधन दान दिये श्री वल्लभ वर।
> पुष्टि प्रकार प्रगट करिबे को फिर प्रकटे श्री विट्ठल वपु धर।
> रसिक सदा आस इनकी कर वल्लभियन की चरण रज अनुसर।[1]

गो० हरिराय जी ने एक अन्य पद में कहा है कि "मनुष्य तुझे लज्जा आनी चाहिए यदि तूने गोपाल-लाला का गान नहीं किया, श्याम लाला में मन नहीं लगाया, सुबोधिनी सुनी नहीं, घड़ी आध घड़ी हरि की सुस्वादु सेवा नहीं की तथा कृष्ण का नाम रटा नहीं, वल्लभ एवं विट्ठल प्रभु की शरण में जाकर तूने माथा नहीं झुकाया।"[2]

(४) संत परम्परा के अन्तर्गत रचा गया प्रेमाभक्ति-काव्य

चतुर्थ अध्याय में सगुणोपासक प्रेमा भक्ति-सम्प्रदायों में उपास्य, लीला, धाम एवं परिकर आदि की चर्चा करते हुए हमने देखा था कि ये सभी तत्त्व नित्य स्वीकार किए गये हैं। व्रज, वृन्दावन, साकेत आदि स्थान भी भगवान की स्वरूप शक्ति के ही विलास हैं—इस धारणा ने उन सम्प्रदायों में प्रतीक पद्धति की स्थापना नहीं होने दी। प्रतीक में मूल वस्तु का परिचय किसी अन्य वस्तु के द्वारा दिया जाता है। जब प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का अभेदारोप हो और प्रस्तुत स्वयं निगीर्ण रहे तब अप्रस्तुत ही प्रस्तुत का स्थानापन्न बन कर प्रतीक का काम देता है।[3] परन्तु राधा, कृष्ण, गो, गोप, गोपी, वृन्दावन, अयोध्या आदि किसी परोक्ष प्रस्तुत के लिए प्रयुक्त होने वाले प्रतीक नहीं हैं। वे स्वयं नित्य हैं। अतः प्रतीक सर्जन या अन्योक्ति पद्धति का इन सगुण भक्ति सम्प्रदायों में नितान्त अभाव है।

निर्गुणमार्गी धारा के भक्तों की स्थिति बदल जाती है। वहाँ पर ब्रह्म नित्य है परन्तु उसके आकार, रूप, धाम या परिकर अथवा लीला क्रमों की कोई धारणा प्रकल्पित नहीं हुई है। जब इस परोक्ष सत्ता की अनुभूति या उसके विषय में किसी विचार को वे अभिव्यक्त करते हैं तब उन्हें ऐसे अप्रस्तुतों की आवश्यकता पड़ती है जो उनकी पहुँच के भीतर भी हों तथा उस अनुभूति को अभिव्यक्त भी कर सकें। इस प्रकार अप्रस्तुत ही प्रस्तुत का स्थानापन्न बन जाता है। स्पष्ट है कि यह पद्धति प्रतीकवाद की है। भक्ति की प्रेम सम्बन्धी इसी विशेषता के कारण वे उपास्य को विविध सामाजिक सम्बन्धों के रूप में प्रत्यक्षतः भावित

---

१ कीर्तन संग्रह भाग ३ पृ० २५६।
२ वही वही पृ० २५७।
३ डा० संसारचन्द्र हिन्दी-काव्य में अन्योक्ति पृ० ६६।

करते हैं। प्रेम के आवेश में वह प्रिय बन जाता है, माहात्म्य-बोध के समय स्वामी बनता है, प्रभु अनुग्रह की भावना जब बल पकड़ती है तब उसे दातृत्व, दयालुता, मातृत्व, शरणागत रक्षक आदि गुणों से विभूषित कर दिया जाता है। अपनी साधना की अनुभूति वह नाना प्रकार के रूपकों, उपमाओं, दृष्टान्तों में कह देता है।

इस साहित्य का अनुशासन करने पर इस काव्य के दो स्पष्ट स्तर दिखाई देते हैं। एक स्तर वह है जहाँ वे संसार की असारता का कथन करके त्याग एवं वैराग्य पर जोर देते हैं, गुरु के प्रति अपनी श्रद्धा एवं निष्ठा चित्रित करते हैं एवं प्रभु से प्रेम करने का संदेश देते हैं। इन सभी बातों की चर्चा सगुण लीलावादी भक्त भी करते हैं। उनके सिद्धान्त-सम्बन्धी कथन इन्हीं बातों से सम्बन्धित हैं। परन्तु फिर भी इन दोनों प्रकार के कथनों में एक सूक्ष्म अन्तर है।

सगुण धारा के कवियों के ये कथन सिद्धान्त वाक्य हैं पर निर्गुण भक्ति के कवि के कथन ज्ञान भक्ति के अन्तर्गत परिगणनीय होने चाहिए। प्रभु से लगाव रखने के लिए इन सब बातों की स्वीकृति होती है।[1] सगुण भक्ति के कवि अपने प्रभु प्रेम की रुचि (या लगाव) को ही चित्रित नहीं करता वह प्रभु की लीला भी गाता है एवं उस लीला में प्रवेश करने के लिए विशेष प्रकार की भावनाओं का प्रवेशद्वार भी। निर्गुण मार्गी को चूँकि लीला धाम तक नहीं पहुँचना होता इसलिए वह भाव-सम्बन्धों की छानबीन में भी नहीं पड़ता। वह मात्र प्रभु प्रेम की बात करता है। कैसा प्रेम हो—इसका उसे चिन्ता नहीं है। अतः वैराग्य आदि के साथ प्रभु प्रेम की स्वीकृति उसे ज्ञानी भक्त सिद्ध करती है। इसी कारण ये सिद्धान्त कथन निर्गुण मार्गीय काव्य में अधिक महत्त्वपूर्ण भी हो उठे हैं और उनका परिमाण भी कहीं अधिक हो जाता है। सिद्धान्त-कथन सम्बन्धी कतिपय उदाहरण कथ्य के इस रूप को अधिक अच्छी तरह स्पष्ट कर सकेंगे। सुन्दर दास कहते हैं कि हे मनुष्य जब तुम इस देह, धन, परिवार, सबके छोड़ने आदि में मर पच के लगते हो। कुलीन बने का अभिमान करते हो और समझते हो कि अपना लड़का पोता के सुख प्यारे हैं वह

सुन्दर कहत मरी मरी कर जात सब
गर्व माहि जान मैं तो काम हो को धारो हौं।[2]

---

१ देखिये द्वितीय अध्याय ज्ञान भक्ति विवेचन पृ० १०४ १०७।
२ साखी सुन्दर विलास बाल विनानी को अंग छंद १५।

इसी कारण सहजा बाई भी कहती है

पानी का सा बुलबुला यह तन ऐसा होय।
पीव मिलन की ठानिये रहिये ना पड़ि सोय।[1]

ईश्वर की प्राप्ति के लिए अत्यन्त सहज साधन है—नाम जप। सन्त गुलाल साहब का कहना है कि दूसरे सारे व्यवहार छोड़कर केवल नाम जप को अपना ले

कह मन सहज नाम ब्योपार, छोड़ि सकल ब्योहार।
निसु बासर दिन रैन कहत हैं नेक न धरत करार।[2]

नाम जप के साथ अन्त शुद्धि का भी बड़ा महत्त्व बताया गया है। सन्त रज्जबदास का कहना है कि

रज्जब अज्जब राम हैं कहे सुने मे नाहि।
यह अशुद्ध अंतःकरण वह देख दिल माहि।

इस साधना में गुरु का अत्यधिक महत्त्व है। शिष्य वनराजि के समान है जिस पर गुरु ज्ञान का जल बरसाता है। जिसमें कि छोटे-बड़े विविध स्वादों वाले अकुर स्वाभाविक रूप से उग आते हैं

जन रज्जब गुरु ज्ञान जल सींचे सिख बनराय।
लघु दीरघ अरु स्वाद विधि ह्वै अंकूर स्वभाव।

इसी प्रकार नम्रता साधु संगति परोपकार आदि नैतिक वृत्तियों को इस काव्य मे बार-बार उपस्थित किया गया है।

उपास्य के सम्बन्ध में विचार करते समय या तत्सम्बन्धी स्वानुभूति की व्यंजना करते समय इन कवियों का काव्य एक विशेष भास्वरता से दीप्त हो उठता है। उपमा और रूपक प्रतीक और सकेत बार-बार उसे प्रकट करने का प्रयास करते है। रज्जब कहते है कि शरीर घट घटा के समान है जिसमे कि ब्रह्म रूपी विद्युत का निवास है पता नहीं कब वह अंतर में प्रकट हो जाय

रज्जब बूंद समद की कित सरक कहू जाय।
साभा सकल समद सो त्यू आतम राम समाय॥

चरणदास एकदम कबीर के स्वर को ही अपना कर कहते हैं न वह साभा के भीतर है न बाहर

---

१ सहजोबाई की बानी पृ० ४३।
२ गुलाल साहब कल्याण सतवाणी अक पृ० २२६।
३ सत काव्य पृ० ३७५।
४ वही पृ० ३७४।
५ वही पृ ३७६।

हद कहू ता है नहीं बेहद कहू तो नाहि।
हद बेहद दोनों नहीं चरणदास भी नाहि।[1]

अपने आत्मानुभव का स्पष्ट कथन हुए सुन्दरदास ने कहा कि आत्मानुभव का आनन्द अनिर्वचनीय है। जो अमृत पी लेता है वही उसका स्वाद बता सकता है बिना पिए तो बकवाद होता है

मुख तें कह्यो न जात है अनुभव को आनंद।
सुन्दर समझ आपको जहा न कोई द्वंद॥
सुन्दर जिनि अमृत पियौ सोई जान स्वाद।
बिन पीये करतो फिरै जहा तहा बकवाद।

इस ग्रन्थ के साथ अपने भाव सम्बन्धों का स्पष्ट कथन समय इन कवियों ने प्रिया प्रियतम के प्रतीक बहुत अपनाए हैं। कुछ उदाहरण हम नीचे दे रहे हैं

(१) अविनासी दूलह मन मोह्यो
जाको निगम बताव नेन।[3]

(२) काग उड़ावत कर थके, नैन निहारत बाट
प्रेम सिन्धु में पर्यो मन ना निकसन को घाट।

(३) पतिव्रता के पीव बिन पुरुष न जनम्यों कोई।
रूप रंग अरु रामहि रच, तिनके चित नहिं कोई।[4]

(४) जो हरि कौं तजि आन उपासत सो मतिमंद फजीतहि होई।
ज्यों अपने भरतारहि छाड़ि भई बिभचारिनि कामिनी कोई।
सुन्दर ताहि न आदर मान फिरै बिमुखी अपनी पति खोई।
बूडि मरै किनि कूप मझार कहा जग जीवत है सठ सोई।[6]

(५) अजहु मिलो मेरे प्रान पियारे।

परन्तु यहाँ पर यह कह देना आवश्यक होगा कि यह माधुर्यभाव का कथन नहीं है। प्रिया प्रियतम यहाँ उपमान भर हैं उपमेय तो कुछ परमतत्त्व है जिसके प्रति ये कवि प्रेम रखते हैं। यों सगुण भक्तिधारा के प्रभाव से सन्तगण कभी-कभी पिय

---

१ चरणदास ब्रह्मज्ञान सागर वर्णन (भक्तिसागर) पृ० ३११।
२ साखी आत्मानुभव को अंग १ और १०।
३ धर्मदास अमोपुट पृ० ४।
४ दयाबाई कल्याण सतवाणी अंक पृ० २७१।
५ सतकाव्य पृ० ३७७।
६ सुन्दर विलास पतिव्रत को अंग १।
७ परमोदास सत काव्य पृ ४०१।

से होती सेवन की भी योजना बनती है। यही कारण अरगनागर आदि कवियों ने होली मिलन की अभिलाषा प्रकट की है। पर वास्तव में उनका इन प्रसंगों में प्रवीराय का सा तन्ना समाधीन होगा।

ज्ञान भक्ति एवं प्रेमपरक इन प्रवीराय के अतिरिक्त दास भाव के भी यथेष्ट प्रसंग इन कवियों में उपलब्ध हो जाते हैं। मन भीखा साहब प्रार्थना करते हैं—

> प्रभु जी करहु अपनो चेर।
> मैं तो सदा जनम को रिनिया लेहु लिखि मोहिं केर।[1]

सामान्यत प्रभु की दासता या सख्य भाव में भजन की धारणा इन सम्प्रदायों में नहीं है।

इन निर्गुणिया प्रेममार्गी सन्तों का काव्य इस प्रकार पिछली दो प्रकार की रचनाओं से भिन्न है परन्तु जहाँ तक प्रेम की महत्ता का प्रश्न है वह समान भाव से विद्यमान है। एक दूसरी समानता यह भी है कि अभिव्यंजना कौशल का अपेक्षाकृत निखार निर्गुण प्रेममार्गी काव्य में भी उपलब्ध होने लगता है, हाँ कि उसकी मात्रा उतनी नहीं है जितनी कि सगुण परम्पराओं में दृष्टिगोचर होती है।

१८वीं शती के ब्रजभाषा प्रेमाभक्ति साहित्य का मूल्यांकन

आलोच्य युग के प्रेमा भक्ति साहित्य की भाव सम्पदा एवं वक्तव्य का विश्लेषण करते समय तथा कवियों का परिचय देते समय हम बीच बीच में अभिव्यंजनागत विशेषताओं का बराबर उल्लेख करते गये हैं। वास्तव में रचना में एक ऐसी अन्विति विशेष होती है जिसके कारण भावपक्ष एवं कलापक्ष का आत्यन्तिक विभाजन सम्भव ही नहीं होता। पीछे रूप रसिक देव द्वारा लिखे छन्दों की ऐसी ही स्थिति रचित मीमांसा हमने की है। अत यहाँ पर अभिव्यंजना कौशल पर विस्तृत विचार करना उचित न होगा। इसके अतिरिक्त यदि मात्र अलंकार छन्द मुहावरे गिना देने से ही काव्य सम्पदा का महत्त्व निर्धारित हो सकता है तो हम कहना चाहेंगे कि इस काव्य में अधिकांश अलंकार एवं बड़ी संख्या में छन्द रूप तथा भाषा सम्बन्धी विशेषताएँ उपलब्ध हो जायँगी। या इस साहित्य में काव्य के कुछ उत्तम अंश भी मिल जायँगे और एकदम हीन कोटि की तुक

---

[1] कल्याण संतवाणी अंक पृ० २३३

कविता की संख्या भी कम नहीं है। पर हम इस समय साहित्य का उसके पूर्ववर्ती एवं समसामयिक साहित्य के सन्दर्भों में मूल्यांकन करना चाहते हैं।

मूल्यांकन निकष

किसी भी कवि, रचना या युगविशेष के साहित्य का आकलन करते समय एक प्रकार की तुलनात्मक दृष्टि अनिवार्य हो जाती है। जिस समय हम यह खोजना चाहते हैं कि वह क्या है जो रचना को विशिष्ट तथा महत्त्वपूर्ण बनाता है उस समय हम स्वाभाविक रूप से उसे समकालीन ही नहीं बल्कि पिछली पीढ़ी या परम्परा के परिप्रेक्ष्य में देखने लगते हैं। प्रस्तुत काव्य का मूल्यांकन करते समय भी यह कसौटी हमें अनिवार्य लगती है। रचना का विश्लेषण करते समय उसे एक इकाई मान कर चला जा सकता है परन्तु जहाँ मूल्य आंकने का प्रश्न आ जाता है वहाँ अनिवार्य प्रक्रिया है कि हम उसे वैसी ही या मिलती जुलती वस्तुओं के साथ तुलना करें।

पूर्ववर्ती भक्ति-काव्य से १८वीं शती के प्रेमाभक्ति-काव्य की तुलना

(१) भक्ति काल के साहित्य के परिप्रेक्ष्य में देखने पर एक बात एकदम स्पष्ट रूप से सामने आती है कि १८वीं शती के प्रेमाभक्ति कवि अनुगामी हैं। भक्तिकाल के कवियों द्वारा जिन सख्य, रसलीलाओं, कथाओं, प्रसंगों, लीलाओं का वर्णन और चित्रण सम्पूर्ण रूप में हुआ है उन्हीं को ये कवि भी उपस्थित करते हैं। परिणाम स्पष्ट है कि यह साहित्य पिष्टपेषण जैसा प्रतीत होने लगता है।

(२) इस पिष्टपेषण का कारण अनुभूति पक्ष की अक्षमता या किसी प्रकार की सम्पन्नता नहीं है। कारण है भक्तों के प्रयत्न साधित क्षेत्र का स्वीकार करना। काव्यानुभूति के लिए कविता भाव रहे जिस क्षेत्र में मिलता था वह अपरिमित सीमित था। नित्यविहारोपासकों में भी एकदम सबसे अधिक क्षेत्र उपास्य रहा। राधा और कृष्ण का विहार जिसका हो अपूर्व एवं नित्य बताना ही मानवीय भावों और उत्स। परिष्कृतता क्षमता भी अनिवार्य है केवल पदनुग्रह ही। पदनुग्रह की नित्य सामने नहीं आता। उसके लिए नयी साधनाओं एवं नये विषयों की खोज करना पड़ता है। यद्यपि परम्परा कवियों ने हजारों पदों की रचना इस क्षेत्र में की है पर आश्चर्य होता है कि राधा-कृष्ण के रूप शृंगार एवं विहार में ही ये कवि लगे रहे। काव्य की दृष्टि से यह भक्ति की अखण्डता भी और इस साधना की दृष्टि से अपूर्व निष्ठा का उदाहरण।

(३) ग्पाने सीमित क्षेत्र म सीमित रहने व लिए काई स्थान हाना चाहिए ग्रौर हमारी समझ म यह स्थान सम्प्रदाय निष्ठा का था। शासन धर्म ग्रादि जब साहित्य का नियम करने लगते है ता निश्चित रूप से रचनाकार की क्षमता म हास होता है। यह स्थिति इस समय उत्पन्न हो गयी थी। इस युग तक ग्राते ग्राते सम्प्रदायो के बधन कडे होने लगे थे। ग्रव काव्य सृजन के प्राकृत विकास का माग ग्रवरुद्ध हाने लगा था। भक्ति यही पर यह याद रहे कि इन कवियो का मुख्य प्रयोजन था साधना काव्य सृजन नहीं। चिन्तन मनन की दृष्टि से जड बन गये देश म प्रत्येक धर्म म भी नये ग्रायामो का ग्रभाव हो गया था ग्रत धर्म फिर कर उन्ही बिन्दुग्रो के ग्रासपास उन्हें रहना पडता था। वस्तुत परिवतन के लिए ग्रावश्यकता थी कि पतनोन्मुख सामन्ती सामाजिक व्यवस्था बदले। उत्पादन वितरण विनिमय म साधनो का रूप बदले बिना सामाजिक सगठन म परिवतन सम्भव न था। स्वय समाज की विविध इकाइयाँ भी बदलने की बजाय ग्रधिकाधिक प्रस्तरीकृत (Fossilized) हो रही थी। बदलाव की प्रक्रिया इसी कारण उन्नीसवी शती म ग्राकर ग्रहण करती है जब नयी सामाजिक शक्तियाँ सामने ग्राती है ग्रौर तभी काव्य म नयी ग्रभिव्यजनाए भी रूप ग्रहण करती हैं।

(४) सम्प्रदाय निष्ठा के साथ ही यह भी स्मरण रखना होगा कि इस समय सखी भाव का क्षेत्र बढता जा रहा था। वल्लभ चैतन्य निम्बार्क ग्रादि विविध सम्प्रदायो म सखी भाव से युगलोपासना बढ रही थी। पतनशील सामन्ती व्यवस्था के हीनवीर्य प्रेम ग्रौर विलास म यह स्वाभाविक भी था तथा व्यभिचार के खुले वातावरण म ऐसा प्रेम एक ग्रादर्श भी था।

(५) भक्तिकाल के प्रारम्भिक के कवियो म सम्प्रदाय के सिद्धान्तो की विवेचना बहुत कम हुई थी परन्तु ग्रालोच्य युग तक ग्राते ग्राते सिद्धान्तकथन की मात्रा बढ गई। ऐसा लगता है कि इन कवियो के मन म यह शका उठने लगी थी कि शायद उनकी बात को सही परिदृश्य म नहीं समझा जा रहा है। शृगारिकता का जो भ्रम उनके काव्य म उत्पन्न हो सकता था सम्भवत उसी के निवारण के लिए यह प्रभूत सैद्धान्तिक साहित्य रचा गया है। इस साहित्य का पढ़ते समय बहुधा रीतिकाल के लक्षण ग्रन्थ याद ग्रा जाते है। दोनो ही प्रकार की रचनाए लक्षण ग्रन्थ है। कभी कभी तो प्रारम्भिक के सैद्धान्तिक विवेचन म शैली भी रीतिकाल की ही स्वीकार की गई है। रूप रसिक देव द्वारा सम्पादित युगल शतक तथा महावाणी म दोहा म लक्षण एव पदो म उसकी निवृत्ति की गई है। चैतन्य मतानुयायी ब्रह्मगोपाल की हरिलीला का भी क्रम यही है। जहाँ पर यह शैली नहीं भी स्वीकार की गई वहाँ सिद्धान्त कथन ग्रलग से किया गया है। इस तथ्य से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भक्ति का वह तीव्र ग्रावेग कम पडने लगा था जिसकी शक्ति के कारण भक्ति काल के कवि को सिद्धान्त कथन म

अपनी शक्ति नष्ट नहीं करनी पड़ी थी।

(६) भक्ति के आवेग की शिथिलता का एक और प्रमाण दिया जा सकता है। गुरु का महत्त्व भक्तिकाल में भी बहुत था। शास्त्रों से बड़ा गुरु को मान लिया गया था। परन्तु पूरी गुरु परम्परा का नाम लेकर सम्प्रदाय पदों में उसकी स्तुति प्रशंसा या बधाई गान की परम्परा भक्तिकाल में हमें उपलब्ध नहीं होती। १७वीं शती के प्रारम्भ में हरिराम व्यास इत्यादि ने जब अपने गुरु की प्रशंसा की थी तब बधाइयों का यह अतिरेक नहीं था। इसके अतिरिक्त हरिदास या हित हरिवंश अपने समय के श्रेष्ठतम महात्मा थे एवं उनके विराट व्यक्तित्व को श्रद्धा मिलना स्वाभाविक था। परन्तु १८वीं शती के कवियों में गुरु भगत आचार्यों अथवा बधाइयों का स्वर तेज हो जाता है। ऐसा भान होता है कि स्वयं की सामर्थ्य की अपेक्षा उन्हें पूर्वजों की गरिमा पर अधिक विश्वास था और वही उनका प्रेरणा स्थान था। इस प्रसंग में सूरदास के सम्बन्ध में कहा जाने वाला यह कथा याद हो आता है जिसमें कि मृत्यु समय उनसे कहा गया था कि तुमने तो बहुत गाया पर वल्लभाचार्य जी का गुणगान किसी पद में नहीं किया। सूरदास ने भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो पद बनाकर सुना तो दिया पर उनका उत्तर उनकी शक्ति का प्रमाण है। सूरदास ने कहा था कि इन सारे पदों में गुरु की ही स्तुति तो मैंने की है। वास्तव शिष्य की सबसे बड़ी श्रद्धा यही है कि गुरु का सन्देश अपनी रचना शक्ति से आगे बढ़ावे। परन्तु उत्तरकालीन युग में यह रचनाशक्तियाँ क्षीण होने लगती हैं और गुरुजनों या अपने ही गुरु के व्यक्तित्व का गान अधिक होने लगता है। आधुनिक भाषा में यह एक प्रकार का पतनशील लक्षण है।

(७) भक्तिकालीन काव्य एवं हमारे आलोच्य काव्य के मध्य धीरे धीरे एक अन्तराल और बढ़ता गया है। प्रस्तुत काव्य में अभिव्यंजना का अधिक प्रस्तुत करने का प्रयत्न हुआ है। वृन्दावन रस शाकिर रस मनोरस सार दानादिक रस रूप रसिक रस आदि अधिकांश कवि प्रवृत्ति के प्रति आकर्षित प्रतीत होते हैं। इसे हम समकालीन रीतियुग का प्रभाव मान सकते हैं। इसके अतिरिक्त यह प्रवृत्ति सूचित करती है कि अनुभूति का वेग मन्द पड़ता जा रहा था और इस अनुभूति की कमी को कला सज्जा के आवरण में छिपाया जाने लगा था। इस तमाम काल के मध्य हरिदास, चाचा हित किशोरी का काव्य अपनी अन्तःकरण-स्पर्शिता एवं भावना सरसता में बराबर मान होता है तथा घनानन्द का काव्य अनुभूति और अभिव्यंजना के मणिकांचन संयोग में अद्वितीय।

समसामयिक रीति काव्य से १८वीं शती के प्रेमाभक्ति-काव्य की तुलना

पूर्ववर्ती भक्तिकाव्य से तुलना करते समय इसके रीति-काव्य के साथ इसकी समानता इंगित की थी। वस्तुतः इन दोनों प्रकार की रचनाओं के मध्य इतनी समानता है कि तनिक भी असावधानी उनके इस मूल अंतर को मिटा देती है। इससे पूर्व कि हम इस सम्बन्ध में और कोई स्थापना करें इन दोनों काव्यों के कुछ समानता सूचक अंश उपस्थित कर देना उचित रहेगा

(१) प्यारी तू कमनता निज पनी।
बिन ही पनचि बंधि प्रिय उर मौंह रहन निज चढ़ी।
— रूप रसिक देव नि० वि० पदावली ३६

तुलनीय

निय चित कमनती पनी बिनु जिहि भौंह कमान।
चल चित बेझ चुकति नहिं बंक विलोकनि बान॥

—बिहारी सतसई ५६

(२) अनौखे वनी भूषन हार।
लागे नीर चुवान पुनक तन नीठि सुवाय वार।
— रूप रसिक देव नि० वि० पदावली ४२

तुलनीय

रहा गुह्यो बेनि लखे गुहिवे के त्यौनार।
लागे नीर चुवान जे नीठि सुखाए बार॥

— बिहारी सतसई (रत्नाकर) ४८

(३) लाल उर बसी उर बसी प्यारी।
मनि भूषन की धरत उतारी छ कबहू नहिं न्यारी।
रूप रसिक देव नि० वि० पदावली ८३।

तुलनीय

तो पर वारी उरवसी सुनि राधिके सुजान।
तू मोहन के उरबसी ह्वै उरबसी समान।

— बिहारी सतसई (रत्नाकर) २५

(४) सुकुमार सिंगार में मगन नार में कज्जल-मार में वार
निहारि सुहावति धाना ।
मार के जाल सिंगार के चौर में
मनो लिए पुनि गग त्रिगाना ।
श्यामघन ते मनों निकस
मुख चन्द लिए तन शोभित माना ।
वृन्दावन प्रभु आन मग नगि
पौनि परा गुन नन्द के नाना
—वृन्दावन देव गीतामृत गंगा ६/८८

तुलनीय

सुन्दर सुढार मुख मन के सिंगार रिघौ
राजन सिंगार के चमर निरधार हैं ।
मान्न मयूर पन्नवान कि जमुन चार
गन्ध प्रसार कि पनिन्द परवार हैं ।
गामनाथ मन्त्र सुगंध सुरवार छवि
नन्द के कुमार गा निगार रव यार हैं ।
निमिर के मार है मनोहर भार है
काम रन्नान है कि प्यारा मर यार है ।
—गामनाथ स्मृति कविता छन्द ५०

अथवा

भौंर चौंर मनोर गम जमुना का जन मन
मार पच्छ गम बरनित बमब मन्दिर मनन ।
—केशवदास कवि प्रिया

य प्रण पन्नुभिन्नण एव भावगत एकता के सूचक हैं । इसी प्रकार उपमाना के गन्न म पर्यापित समानता मिल जायगी । इन कवि ने सूप के उरान का व्यापार एक स्थान पर उपमान रूप म रखा है

पाया न गिरवन मनिर लिया लाग्न मा
सूप मा उनम बिन जान उनमाउगा ।
— देव (ब्रजमाधुरी सार पृ० ७६ पर उद्धृत)

अथवा

मानन मोहन सूप सो योवन नहि मा मन्दिर नमन नमा

प्र शावन देव ने इसी उपमान का प्रयोग एक दूसरे स्थल पर किया है। जो कि प्रसंगान्तर के कारण नाना स्थानों पर उपमान अलग अलग भावों का व्यंजनाम करता है। मानवती नायिका से दूती कहती है कि अधिक देर तक मान न करना चाहिए उसके अनुसार —

दूध को उफान ऐसो मान कीजे मामिनी
गीतामृत गंगा ६।५

ये कुछ साम्य अनायास ही कविताओं में उतर आये हैं परन्तु यदि प्रयासपूर्वक समान साम्य ढूँढे जाय तो भाव भाषा औपम्य विधान एवं शिल्प की प्रभूत समानताएं मिलेगी। केवल यदि छन्द को ही ले लिया जाय तो प्रेमाभक्त कवियों में पदों के साथ ही कवित्त सवैया रोला दोहा सोरठा चौपाई पद्धरी अरिल्ल छप्पय आदि छन्द प्रयुक्त हुए हैं। इनमें भी दोहा रीति कवियों का अत्यधिक प्रिय छन्द है। पीछे इसी अध्याय में हम देख चुके हैं कि प्रेमाभक्ति के कवियों के काव्य में नायक नायिकाभेद के उदाहरण भी मिल जाते हैं। यह नायिका भेद उज्ज्वल-नील मणि के अनुकरण पर न होकर काव्य शास्त्र के अनुकरण पर है। इतना अवश्य है कि यत्नपूर्वक इन भेदों प्रभेदों के उदाहरण उपस्थित नहीं करने चाहे है।

इतनी समानताओं के होते हुए भी एक बड़ा अन्तर भी मिल जायगा। हम इस अन्तर पर प्रकाश डालने के पूर्व कुछ अन्य तथ्य उपस्थित कर रहे हैं

(१) प्रस्तुत प्रबन्ध में ही शुद्ध प्रेमाभक्ति के अस्सी से अधिक कवियों का परिचय दिया गया है जब कि हिन्दी साहित्य के बृहत् इतिहास (षष्ठ भाग नागरी प्रचारिणी सभा) में रीति कवियों की संख्या केवल पचासी ही है। स्मरणीय यह है कि प्रबन्ध का आलोच्य काल केवल सौ वर्षों का ही है जब कि इतिहास में दो शताब्दियों के कवियों पर विचार किया गया है। इसके अतिरिक्त भक्त कवियों के साहित्य की साम्प्रदायिक गोपनीयता और हस्तलिखितता के कारण अनुपलब्ध एवं रीति कवियों के समान राज्याश्रय के अभाव के फलस्वरूप दरबारी पुस्तकालयों की सुरक्षा के अभाव में कृतित्व की विनष्टि न जाने कितने कवियों को प्रकाश में ही नहीं आने दिया। आश्चर्य बात है कि जहां प्रेमाभक्ति सम्बन्धी शोध कार्य अपनी प्रारम्भिक अवस्था में है एवं जिसकी सीमाओं में यह प्रबन्ध भी परिगणित है वहां यह इतिहास अद्यतन खोज की चरम परिणति और विश्वास के साथ सामने आता है।

(२) कवियों की संख्या ही नहीं कवियों की रचना का परिमाण भी रीतिकालीन कवियों की अपेक्षा कहीं अधिक है। पृथक् पृथक् भी कवियों ने प्रभूत साहित्य का सृजन किया है। अनन्यअली रसिकदास हित रूपलाल नागरीदास आनन्दघन रूपरसिकदेव जैसे कवियों की रचनाओं की संख्या काफी बड़ी है। सम्मिलित रूप में भी इस साहित्य का योग सम्पूर्ण रीतिकाल के कवियों से अधिक

ही सिद्ध होगा।

इन तथ्यों से दो निष्कर्ष बिना किसी विवाद के सामने आ जाते हैं— (१) अधिकांश भक्त जन कवि भी थे तथा (२) इन कवियों के सम्मुख अभिव्यक्ति संयम का कोई अनुशासन नहीं था। इन दोनों बातों की ही विवेचना उचित होगी

(१) अधिकांश भक्त कवि थे —भक्ति के क्षेत्र में लीला-गान चरम साध्य है। इसके लिए जिस साधना मार्ग को स्वीकार किया गया है उसमें लीला-गान अत्यन्त सहायक होता है। वल्लभ सखी चैतन्य राधावल्लभीय निम्बार्क आदि सभी सम्प्रदायों में कीर्तन एवं संगीत को पूजा विधि एवं सेवा प्रणाली में महत्त्वपूर्ण स्थान है। परिणामस्वरूप भक्त के चारों ओर एक ऐसा वातावरण बना रहता है जिसके कारण उसे भी काव्य रचना के लिए प्रेरणा और उत्साह रहता है। इसके अतिरिक्त काव्य सृजन प्रक्रिया में उसे युगलरूप या अन्य उपासना सम्बन्धी तथ्यों का मनन भी करना होता होगा। ऐसी स्थिति में भक्त-कवि को अपनी रहस्यानुभूति में सहायता भी मिलती होगी। काव्य रचना से लीलागान ही नहीं होता वरन् ध्यान भी हो जाता है। अतः काव्य साधन हो जाता है एवं रहस्यानुभूति साध्य। सूफियों के बारे में भी कहा गया है कि प्रत्येक सूफी विचारक कवि था।[1] यही बात ब्रजभाषा भक्त के लिए भी कही जा सकती है। परन्तु रीति कवि इसी स्थान पर एक भिन्न भूमि पर खड़ा दिखाई देता है। उसके सामने रचना करने का न तो ऐसा कोई तात्कालिक प्रेरणा हेतु था कि प्रतिभा हो या न हो पर कुछ पद लिखे ही जायें और न किसी आलौकिक साधना में ही उसे सहायता मिलती थी। परिणामस्वरूप रीति-कवि वे ही बन गए हैं जिनमें प्रतिभा का कुछ न कुछ विलास अवश्य था। इसके अतिरिक्त रीति-कवि के सामने अभिव्यक्ति के अनुशासन की समस्या था। उसे ऐसी बात कहनी थी जिसे समझदार सराहें एवं सुकवि रीझें। पर भक्त कवि के सम्मुख श्रोता-समाज या पाठक-समाज का ऐसा कोई नियंत्रण भी अपने नहीं था। वह मन चाहे ढंग से दूनी लय एवं विस्तृत पदों में भी अपनी बात कह सकता था। प्रायः उसे कवि रूप में अर्जित करना तथा था जीविका का साधन बनाना था नहीं। ऐसी स्थिति में अभिव्यक्ति में संवारने-सजाने का काम करने की उसे कोई आवश्यकता ही नहीं थी।

इन तथ्यों का परिणाम यह हुआ कि जहाँ रीति कवि एवं कवियों की संख्या कम है वहाँ काव्य रचना की दृष्टि से वे अधिक समृद्ध हैं। प्रेमासक्ति का एक साधारण कवि रीति काव्य के साधारण कवि की अपेक्षा इसी कारण काव्य रचना की कसौटी पर हीन उतरता है। ध्यान रखना होगा कि बात की प्रसंग

[1] हा० हे हसन स्कोट इन लिटरेचर ऑफ सूफिज्म पृ० १८।

ही रखना चाहिए।

ऐसी अवस्था में एक प्रश्न उठता है कि फिर रीतिकाल के अलंकरण आदि के प्रभाव कैसे आ गये ? इसका अन्य ही उत्तर है कि एक तो वे तत्व समस्त वातावरण में व्याप्त थे दूसरे प्रेमासक्ति के भी अच्छे कवि रीतिकाल के अच्छे कवियों के कुछ न कुछ सम्पर्क में आते रहते थे। किशनगढ़ जयपुर जोधपुर के दरबारों पर वृन्दावन देव का प्रभाव था। उधर सावंतसिंह ब्रजनागरी सुन्दरि कुंवरि जैसे कवि उनके निकट सम्पर्क में थे। बिहारी नरहरि दत्त के सम्पर्क में आये थे। घनानन्द एवं नागरीदास तो दरबारों में सम्बन्धित या दरबारों के स्वामी रहे हैं। फिर रीतिकाल के कवि स्वयं जब भक्तिपरक रचनाएँ करते थे तो उनकी कल्पनागत स्वच्छन्दता स्वभावतः आ जाती होगी। कभी कभी भक्तों ने एन्द्रिक काव्य को स्वयं पारमार्थिक अर्थ में भी ग्रहण किया (चैतन्य महाप्रभु विद्यापति एवं जयदेव की रचनाओं के गहरे समर्थक थे)। इस प्रकार के आदान प्रदानों ने पारस्परिक प्रभावों को गति दी होगी।

ऊपर विवेचित अन्तरों में दोनों प्रकार के काव्यों के मूल स्वरों का अन्तर समझना समझदार पाठक के लिए कठिन न होगा। एक के मूल में साधनानुभूति का स्वर है एवं दूसरे की जड़ में काव्यानुभूति। यह नकली सिक्कों की कमी होना हो क्षेत्रों में नहीं है उनमें सावधान रहने की आवश्यकता है। और व्युत्पन्न पाठक में ऐसी सावधानता की अपेक्षा की जाती है।

अभिव्यंजना के क्षेत्र में रीतिकाल ने इन कवियों को यदि प्रदान किया है तो ग्रहण भी कम नहीं किया है। लीलागान की दोनों परम्पराओं – ब्रज लीला एवं निकुंज लीला – की समस्त स्थितियाँ दृश्यों घटनाओं के ऊपरी स्वरूप को राधाकृष्ण के नाम के साथ ही रीतिकालीन कवियों ने प्रेमासक्ति के कवियों से ले लिया है। मूल दार्शनिक दृष्टि उन्होंने छोड़ दी थी एवं उन लीलाओं को अपने लौकिक शृंगार परक अर्थों की ओर उन्होंने मोड़ लिया था। इस परिणति का एक शुभ प्रभाव भी हुआ कि रीतिकाल का काव्य उन्हीं लीलाओं का चित्रण करते हुए भी भक्तिकाल से एक भिन्न रसात्मक स्तर पर प्रतिष्ठित दिखाई देता है जब कि प्रेमासक्ति का साहित्य उसी स्तर पर पूर्ववर्ती भक्ति की अपेक्षा नीचे स्तर पर उतर आता है।

परन्तु इससे इस प्रेमासक्ति-काव्य का महत्त्व तनिक भी कम नहीं होता। प्रारम्भिक भक्तों एवं रीति कवियों का मध्यवर्ती कड़ी ये कवि हैं। भक्तिकाल की परिणति रीतिकाल में होती है यह बात हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में बहुधा कही गई है। परन्तु इस विकास की प्रक्रिया क्या रही है इसे स्पष्ट करने के उपयुक्त प्रमाणों का कुछ अभाव सा दृष्टिगोचर होता है। इससे यह धारणा बन जाती है कि सूरदास तुलसीदास कबीर या मीरा का काव्य ही देव प्रताप साहि

या भिखारीदास में परिणत हो गया था। पर वास्तव में भक्तिकाल के पर्यायवाची समझे जाने वाले कवियों एवं रीति कवियों की मध्यवर्ती कड़ी प्रेमाभक्ति की माधुर्योपासना वाले ये विविध सम्प्रदाय हैं। इन्हीं सम्प्रदायों की विविध लीला परम्पराएँ आपस में टकरा कर घुलती मिलती रही हैं। और उन्हीं का समन्वित रूप १८वीं शती तक आते आते उभर भी नहीं आता जनप्रिय भी हो जाता है। प्रेमाभक्ति के सम्प्रदायों का प्रचार प्रसार होता है तथा इनकी आर युगल-लीलाओं अथवा ब्रज लीलाओं के तत्त्व-ज्ञान को प्रत्येक व्यक्ति न तो समझ पाता है और न वैसी मानसिक साधना ही कर पाता है जिसमें कि यह समस्त अभिव्यक्तियाँ लौकिक काम से ऊपर उठ जाती हैं।

इस स्थिति में राधा कृष्ण का स्थूल रूप एवं भक्ति भाव [illegible] हो [illegible] मानस में एक साथ चलते रहते हैं। लोक मानस ऐसे विरोधाभासों को लिए [illegible] आगे बढ़ता रहता है। इस प्रकार धर्म साधना एवं लीलागान एक विकास प्रक्रिया में होकर आगे बढ़ता है एवं इस प्रक्रिया का जब अन्य सामाजिक राजनैतिक परिस्थितियों से संयोग होता है तो अपने ढंग का एक अपूर्व कलात्मक रंगीन काव्य रीतिकालीन काव्य के रूप में प्रादुर्भूत होता है।

परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि यह साहित्य रीतिकाव्य की अपनी कतिपय विशेषताएँ समर्पित कर निःशेष हो जाता है। बल्कि जैसा कि ऊपर सकेत किया जा चुका है यह रीतिकाव्य में स्वयं भी प्रभाव ग्रहण कर समानान्तर गति से आगे बढ़ता है। १८वीं शती के उत्तरार्ध में भक्ति के ये विविध सम्प्रदाय एक बार पुनः संगठित होकर पुनरुत्थान का प्रयास करते हैं। [illegible] [illegible] विश्वनाथ चक्रवर्ती गो० हरिराय तथा भक्ति जो [illegible] आदि सन्त और कवि विघटित होती हुई भक्ति भावना एवं सम्प्रदायों के पुनः [illegible] का प्रयास करते हैं। यह पुनरुत्थान १९वीं शती के मध्यभाग तक [illegible] [illegible] है। राम-सम्प्रदाय की रसिक शाखा इसी काल में पनपती फूलती है— परन्तु १९वीं शती के उत्तरार्ध में नये युग की परिस्थितियों से टकरा कर यह पुनरुत्थान भी समाप्त हो जाता है। वस्तुतः मध्यकालीन धर्म भावना का यह अन्तिम दौर था और १९वीं शती में समाज की नई शक्तियाँ न सबको [illegible] [illegible] को समाप्त करने का [illegible] थीं। ब्रह्म समाज आर्य समाज आदि सामाजिक धार्मिक आन्दोलन प्रेमाभक्ति का मन माधुर्य के विकास में [illegible] [illegible] [illegible] में [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] प्रेमाभक्ति के [illegible] का [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] में दूर हट [illegible] था कि [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] आज भी इस परम्परा में साधना और [illegible] [illegible] [illegible] है पर [illegible] है कि यह [illegible] [illegible] [illegible] है।

उपसहार

अठारहवा नती के व्रजभाषा क प्र मामक्ति काव्य का अध्ययन करन क उपरान्त कतिपय बात हमारे सम्मुख अत्यन्त स्पष्ट रप म उभर कर आ जाती है। उन्ह सक्षेप म इस प्रकार उपस्थित किया जा सकता है

(१) भाव की दृष्टि स प्र मामक्ति का पाच प्रमुख भक्ति भावो शान्त दास्य सख्य वात्सल्य और मधुर म विभाजित किया जा सकता है। इनम मी अठारहवा नती के साहित्य म प्रधानता शान्त दास्य एव शृ गार का ही है।

(२) लीला की दृष्टि स अठारहवी शती क व्रजभाषा के प्र मामक्ति साहित्य म तीन परम्पराओ की स्पष्ट स्थिति देखी जा सकती है

(क) व्रजलीला (आवरणलीला)

इस लीला प्रकार म समस्त शास्त्रपुराणादि वर्णित कृष्ण चरित्र का घटनाए एव अभिव्यक्तियाँ स्वीकार की गई हैं। काव्य चित्रण की दृष्टि से इस लीला की प्रमुख विशेषताए निम्नलिखित है

(एक) इसम कृष्ण क रप चित्रण की ओर अधिक ध्यान दिया गया है।

(दो) इस परम्परा क काव्य चित्रा क अनुसार कृष्ण बहु-वल्लभा पति है।

(तीन) इस काव्य म भिन्न प्रसगा म आवश्यक रूप स राधा का ही वर्णन नहा किया जाता। जहा पर राधिका चित्रण की ओर ध्यान भी है वहा उनका रप परकीया नायिका का अधिक है – स्वकीया पत्नी का गृहस्थ रूप विरलता म ही उपलब्ध होता है।

(चार) व्रजलीला काव्य म परकीया भाव का बहुमान प्राप्त हुआ है।

(पाच) व्रजलीला म विरह पूर्वराग मान प्रवास एव प्र म वचित्य—इन सभी की स्वीकृति है। वास्तव म विरह तत्व का भूरान्त रूप व्रजलीलाओ म है।

(छह) व्रजलीला म प्र म का आधार गोपी प्र म है। इस प्रकार मधुर भाव क क्षेत्र म भी यह लीला गोपी भाव पर अधिक बल देती है। इसी कारण इस परम्परा के काव्य म गोपीभाव की अभिव्यक्ति नाना प्रकार स हुई है।

(सात) गोपी भाव में भगवान् के प्रति प्रत्येक कोटि का जैसा प्रेम निवेदित किया जाता है। रामोपासकों की रसिक शाखा का स्वसुखी भाव गोपी प्रेम का ही प्रतिरूप है। कृष्ण या राम को कान्ता रूप में पाने की अभिलाषा इस साहित्य में प्रचुर मात्रा में प्रकट हुई है।

(आठ) इन आवरण या व्रज-लीलाओं में उद्धव, हनुमान, सुबल, अर्जुन, नन्द-यशोदा, दशरथ-कौशल्या आदि के भावों का अनुगामी बनकर भी उपासना की जा सकती है। इसी कारण आवरण लीला परम्परा के काव्य में मधुर भाव के अतिरिक्त अन्य प्रेम भाव भी प्राप्त हो जाते हैं।

(नौ) कृष्ण की व्रज-लीला की एकरूप समानान्तर स्थितियाँ रामोपासकों में भी स्वीकृत हैं। साकेत लीला व्रजलीला का ही पर्याय है।

(दस) व्रजलीला एवं साकेत लीला का मुख्य अन्तर है कि साकेत लीला में ऐश्वर्य की अनिवार्य स्वीकृति है पर व्रजलीला में एकमात्र माधुर्य भाव ही मान्य है।

(ग्यारह) इन लीलाओं का यह अन्तर कृष्ण एवं राम सम्बन्धी पौराणिक आख्यानों के कारण हुआ है।

(बारह) अठारहवीं शती में वल्लभ, निम्बार्क एवं गौड़ मुख्यतः व्रज लीलाओं की अभिव्यक्ति देने वाले सम्प्रदाय हैं। इनके अतिरिक्त स्वामी नरहरि देव एवं स्वामी रसिक देव जैसे सखी सम्प्रदायानुयायी जन भी व्रजलीला को स्वीकार करते प्रतीत होते हैं। राधावल्लभीय गो० हितरूप लाल में भी गोपीभाव की स्वीकृति का अभाव नहीं है।

(तेरह) रीति काल की शृंगारिक प्रवृत्तियों एवं विलास कल्पनाओं में व्रजलीला की अन्तिम परिणति हुई है।

(चौदह) काव्यगुण की दृष्टि से इस लीला के गायकों का साहित्य अधिक सम्पन्न है।

(ग) निकुंज-लीला

निकुंज-लीला शास्त्र पुराणादि में वर्णित कृष्ण-लीला को एकदम अस्वीकृत करके विकसित होती है। लीला-गान की इस कोटि के मुख्य ग्रन्थ निम्नलिखित हैं

यहाँ पर नहीं उठाया जा सकता। परन्तु मानना न इस प्रेम प्रतीकवाद का आगे एक दूसरा प्रतीक पतिव्रता उपस्थित किया है। इससे प्रतीत होता है कि प्रेम का अनन्यता के क्षेत्र में व स्वकीया की नैतिक दृष्टि का स्वीकार करते थे।

(सात) विरहानुभूति इस परम्परा के काव्य की एक मुख्य विशेषता है। आवरण नीता (ब्रजलीला) के गायकों ने विरह भक्ति को जो मान दिया है सम्भवतः उसके मूल में यह विचारधारा विद्यमान थी।

(३) साधना की दृष्टि से यह काव्य प्रेम परक रहस्यवाद के अन्तर्गत परिगणित किया जाना चाहिए। बाह्य प्रतीकोपासना के साथ ही नित्यलीला की एक नितान्त मानसिक साधना इसमें अन्तर्निहित है। किन्तु लीला के गायक तो शुद्ध रूप से इस प्रेम रहस्यवाद के अन्तर्गत माने जा सकते हैं।

(४) अठारहवीं शती की ब्रज भाषा की प्रेमाभक्ति काव्य अपने तथ्य एवं शिल्प की दृष्टि से भक्ति काल एवं रीतिकाल का मध्यवर्ती है। इस सम्बन्ध में निम्न तथ्य ध्यान में रखने होंगे

(क) इस साहित्य में वर्णन लीलाओं का रूप एवं उनकी मूल विचार वस्तु भक्तिकाल की ठीक अनुसरण है। इसी कारण काव्य की दृष्टि से पढ़ने वाले व्यक्ति को यह काव्य पिष्टपेषण युक्त एवं एक सीमा के बाद उबाने वाला प्रतीत होता है। परन्तु यह ध्यान में रखा जाना चाहिए कि यह काव्य शुद्ध काव्य रचना की दृष्टि से न रचा जाकर साधना साधन के रूप में लिखा गया था।

(ख) मूल तत्व समान की समानता होते हुए भी १८वीं शती का यह साहित्य अनुभूति की भावगतमयता की दृष्टि से भक्तिकालीन प्रेमाभक्ति काव्य की अपेक्षा हीनतर है। ऐसा प्रतीत होता है कि वैयक्तिक साधना में पूर्ववर्ती तीव्रता एवं आत्म विश्वास का अभाव होने लगा था। इस काव्य में सम्प्रदायाचार्यों के गुणगान की बढ़ता हुआ स्वर इस आत्मविश्वास की हीनता का द्योतक है।

(ग) अलंकृति भाषा के परिष्करण एवं अभिव्यंजना के उपादानों प्रसाधना का अधिक सचेष्ट प्रयोग इस काव्य में है। इस दृष्टि से प्रस्तुत साहित्य के शिल्प विधान पर रीतिकालीन प्रवृत्तियों की स्पष्ट छाया है।

(घ) रीतिकालीन काव्य ने नायिका भेद नायक के रूप और रूप प्रभाव विरह की विविध दशाओं वत्सलताओं के साथ नाना कीड़ाओं आदि के प्रसंग एवं भाव प्रेमाभक्ति की ब्रजलीला (आवरण लीला)—परम्परा से प्राप्त किये हैं। संयोग एवं मिलन का घनीभूत सत्वगतमयता नायिका का सौन्दर्य एवं

सौन्दर्य का प्रभाव नायक की मिलनाकुलता आदि दशाएँ नित्य रास-लीला परम्परा से ग्रहण की गई हैं। बिहारी जैसे कवियों में आलोचकों ने भिन्न प्रसंगों का जो उल्लेख किया है उसके मूल में कवि का मानसिक भाव विद्यमान है।

(३) प्रेम प्रतीक वाली भावधारा ने रीति काव्य को बहुत प्रभावित भी नहीं किया एवं अपने शिल्प विधान में यह धारा रीति काव्य से कम से कम प्रभावित सी होती है। सुन्दरदास या नरोत्तमदास जैसे कवि कम ही मिलेंगे जिन पर रीति युग का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

(४) इस प्रकार भक्तिकाव्य की प्रवत्तियों का सम्मिलन प्रणामभक्ति की विविध स्थितियों से भी ग्रथम में रीतिकाव्य में होता है। १८वीं शती का यह साहित्य इन दोनों धारा की प्रवत्तियों की मध्यवर्ती कड़ी ही नहीं अपितु रीति काव्य की समकालीन समानान्तर प्रवहमान जीवन धारा भी है जो १९वीं शती तक अनवरुद्ध गति से संचरित होती रहती है। यदि इन दोनों प्रकार के साहित्यों का गम्भीर एवं तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो इस सम्बन्ध को दिशा एवं काव्य परम्परा के ऐतिहासिक क्रम को अधिक साफ रूप सामने आ सकता और बहुत सम्भव है कि रीतिकाल-सम्बन्धी कई मत विवादों का स्वयं परिशमन भी हो सके।

(क) शब्द सक्षेप सूची

(ख) सहायक ग्रन्थ-सूची

ग्रन्थ मे प्रयुक्त शब्द-संक्षेप-सूची

अ०	अध्याय
अप्र० प्रब०	अप्रकाशित प्रबन्ध
अ० का०	अरण्य-काण्ड
अहि० स०	अहिर्बुध्न्य-संहिता
आ०	आचार्य
उ० नी० म०	उज्ज्वल-नीलमणि
कि० का०	किष्किन्धा काण्ड
च० च०	चैतन्य चरितामृत
चौ०	चौपाई
जी० गो०	जीव गोस्वामी
डा०	डॉक्टर
त० दी० नि०	तत्त्वदीपनिबन्ध
द० वि०	दक्षिण विभाग
दी० द० गुप्त डा०	डॉक्टर दीनदयालु गुप्त
द०	दक्षिण
ना० प्र० स०	नागरी प्रचारिणी सभा
ना० भ० सू०	नारद भक्ति-सूत्र
ना० द० शर्मा डा०	डॉक्टर नारायण दत्त शर्मा
नि० वि०	[illegible]
नि० स० कृ० भ०	निम्बार्क-सम्प्रदाय [illegible]
[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]

पृ०	पृष्ठ
ब० ली०	बयालीस लीला
बा० का०	बाल-काण्ड
भ० र०	(भगवत) भक्ति रसायन
भ० प्र० सिंह डा०	डॉ० भगवती प्रसाद सिंह
(ह०) भ० र० सि०	(हरि) भक्ति रसामृत सिन्धु
म० ली०	मध्य लीला
रा० क्र० वि०	राधा का क्रमिक विकास
रा० च० मा०	रामचरित मानस
रा० त० प्र०	राम-तत्त्व प्रकाश
रा० भ० म० उ०	राम भक्ति में मधुर उपासना
रा० भ० र० स०	राम भक्ति में रसिक सम्प्रदाय
ली० वि०	लीला विंशति
वै०	वैष्णव
वै० ए० मा०	वैष्णविज्म शैविज्म एण्ड माइनर रिलिजस सिस्टिम्स
वै० फे० मू०	अर्ली हिस्ट्री ऑफ दि वैष्णव फेथ एण्ड मूवमेण्ट इन बेंगाल
श० भू० गुप्त डा०	डॉ० शशि भूषणदास गुप्त
शा० भ० सू०	शाण्डिल्य भक्ति-सूत्र
सि०	सिद्धान्त
सु० का०	सुन्दर काण्ड
सु० म० स०	सुन्दर मणि सदन
सू० सा०	सूर सागर
सं०	संख्या या सम्वत्
स्वा०	स्वामी
स्वा० ह० स० वा० सा०	स्वामी हरिदास का सम्प्रदाय और उसका वाणी-साहित्य
श्री कृ० स०	श्री कृष्ण सन्दर्भ
ह० प्र० द्विवेदी	हजारी प्रसाद द्विवेदी
ह० सं०	हनुमत्संहिता
ह० लि० प्र०	हस्तलिखित प्रति
नि० मा०	निम्बार्क माधुरी

सहायक ग्रन्थ-सूची

१ अनन्य-तरंगिणी	श्री रसिक अली
२ अनन्य निश्चयात्मक ग्रन्थ	श्री भगवतरसिक
३ अनन्य मालिनी	श्री प्रियादास
४ अमीघूंट—केशवदास	बेलवेडियर प्रेस प्रयाग
५ अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय (दो भाग ?)	डॉ० दीनदयालु गुप्त
६ अष्टछाप परिचय	श्री प्रभुदयाल मीतल
७ अष्टादश सिद्धान्त के पद	स्वामी हरिदास
८ अष्टादश सिद्धान्त के पदों की टीका	श्री अमानन्द राम
९ उत्तरी भारत की सन्त परम्परा	श्री परशुराम चतुर्वेदी
१० कन्हैयालाल पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ	सम्पादक डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल
११ कबीर ग्रन्थावली	डॉ० श्यामसुन्दर दास
१२ कर्णानन्द (बंगला-ग्रन्थ)	श्री यदुनन्दन
१३ कवित्त रत्नाकर	श्री सेनापति
१४ काव्य-संग्रह (भाग २ ३)	श्री नन्दुभाई छगनलाल देसाई अहमदाबाद
१५ केलिमाल	स्वामी हरिदास
१६ गीतामृत गंगा	श्री [illegible]
१७ गुजराती और ब्रजभाषा कृष्ण काव्य का तुलनात्मक अध्ययन	डॉ० जगदीश गुप्त
१८ गोस्वामी हितहरिवंश सिद्धान्त और साहित्य	श्री ललिताचरण गोस्वामी
१९ गौरांग भूषण मंजावली	गौरदास (बाबा कृष्णदास प्रकाशक)

२० घनानन्द (ग्रन्थावली) सम्पादक श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
२१ घनानन्द और स्वच्छन्द काव्यधारा डा मनोहर लाल गौड़
२२ चन्द्रसखी और उनका काव्य सम्पादिका सुश्री पद्मावती शबनम
२३ चन्द्रसखी के भजन और लोकगीत सम्पादक श्री प्रभुदयाल मीतल
२४ चिन्तामणि भाग १ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
२५ चैतन्य चरितामृत (बगला ग्रन्थ) श्री कृष्णदास कविराज
२६ चैतन्य चरितामृत (ब्रजभाषा) श्री सुबल श्याम (बाबा कृष्णदास)
२७ चौरासी वैष्णवन की वार्ता विद्या विभाग काकरौली
२८ जायसी ग्रन्थावली सम्पादक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
२९ तसव्वुफ और सूफीमत श्री चन्द्रबली पाण्डेय
३० तुलसी ग्रन्थावली भाग २ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
३१ देव और उनकी कविता डा नगेन्द्र
३२ दोहाकोश राहुल साकृत्यायन
३३ नागर समुच्चय नागरीदास
३४ निजमत सिद्धान्त किशोरदास
३५ नित्यविहार पदावली रसिक देव
३६ निम्बार्क माधुरी सम्पादक ब्रह्मचारी बिहारीशरण
३७ पद्मावत भाष्य डा० वासुदेवशरण अग्रवाल
३८ परमानन्द सागर सम्पादक डा गोवर्द्धनलाल शुक्ल
३९ प्रियादास ग्रन्थावली प्रकाशक बाबा कृष्णदास
४० प्रेमपाठ (प्राणनाथ वाणी) अमरवास बनमालीदास शर्मा (दार्जिलिंग)
४१ प्रेमभक्ति-चन्द्रिका श्री वृन्दावन दास
४२ प्रेमयोग स्वामी विवेकानन्द
४३ बयालीस लीला ध्रुवदास
४४ बिहारी रत्नाकर सम्पादक जगन्नाथदास रत्नाकर
४५ ब्रह्मसूत्र के वैष्णव भाष्यो का तुलनात्मक अध्ययन डा रामकृष्ण आचार्य
४६ भक्त कवि व्यास जी सम्पादक वासुदेव गोस्वामी
४७ भक्त नामावली श्री वृन्दावन दास
४८ भक्तमाल श्री नाभादास

४९ भक्ति का विकास	डा० मुंशीराम शर्मा
५० भक्ति-दर्शन	डा० सरनाम सिंह
५१ भक्ति योग	स्वामी विवेकानन्द
५२ भक्ति विलास	महाराज रघुराज सिंह
५३ भक्ति सागर	श्री चरणदास
५४ भक्ति सिद्धान्तमणि	श्री रसिक देव
५५ भागवत-सम्प्रदाय	श्री बलदेव उपाध्याय
५६ भारतीय-दर्शन	डॉ० उमेश मिश्र
५७ भारतीय-दर्शन	श्री बलदेव उपाध्याय
५८ भारतीय दर्शन का इतिहास	डा० देवराज
५९ हिन्दुत्व	श्री रामदास गौड़
६० भारतीय साधना और सूर साहित्य	डा० मुंशीराम शर्मा 'सोम'
६१ मतिराम और उनका काव्य	डा० महेन्द्र कुमार
६२ मध्यकालीन धर्म-साधना	डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
६३ मध्यकालीन प्रेम-साधना	श्री परशुराम चतुर्वेदी
६४ मध्यकालीन शृंगारिक प्रवृत्तियाँ	
६५ मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ	डॉ० सावित्री सिन्हा
६६ महाकवि जायसी	श्री जयदेव कुलश्रेष्ठ
६७ महावाणी	श्री हरिव्यास देव
६८ माधुरी वाणी	श्री माधुरी दास
६९ मुन्शी अभिनन्दन ग्रन्थ	सम्पादक श्री रमाकान्त दीक्षित
७० मुक्तक काव्य-परम्परा और बिहारी	डॉ० रामसागर त्रिपाठी
७१ युगल शतक (आदिवाणी)	श्री भट्ट (सं० ब्रजवल्लभ शरण)
७२ रस-सार	रसिक देव
७३ रसराज	श्री मतिराम
७४ राजस्थान का पिंगल-साहित्य	डॉ० मोतीलाल मेनारिया
७५ राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य	डॉ० विजयेन्द्र स्नातक
७६ राधारमण रस-सागर	श्री मनोहरदास (सं० बाबा कृष्ण दास)
७७ राधा सुधानिधि	श्री हितहरिवंश

७८ रामकथा उत्पत्ति और विकास	डा कामिल बुल्के
७९ रामचरित मानस	गोस्वामी तुलसीदास
८० राममक्ति म रसिक सम्प्रदाय	डा० भगवती प्रसाद सिंह
८१ राममक्ति साहित्य म मधुर उपासना	श्री भुवनेश्वर नाथ मिश्र माधव
८२ राम रस रग	श्री रसरगमणि
ख रामानन्द-सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव	डा० बदरीनारायण श्रीवास्तव
८३ रास पचाध्यायी	श्री नन्ददास
८४ रीतिकालीन काव्य म प्रम व्यजना	डा बच्चन सिंह
८५ रीतिकाव्य की भूमिका	डा नगेन्द्र
८६ लीला विंशति तथा नित्य विहार पदावली	श्री रूप रसिक देव (प्रकाशक माधुरीदास)
८७ विद्यापति	डा० शिवप्रसाद सिंह
८८ विलाप कुसुमाजलि	वृन्दावन दास
८९ वष्णव धम	श्री परशुराम चतुर्वेदी
९ ब्रज माधुरी सार	श्री वियोगी हरि
९१ शब्दसार	श्री बुल्ला साहब
९२ शव मत	श्री यदुवशी
९३ श्रीमद वष्णव सिद्धान्त रत्न सग्रह	हकीम श्यामलाल वृन्दावन
९४ श्री राधा का क्रम विकास	डा शशिभूषण दास गुप्त
९५ श्री हरिलीला	श्री ब्रह्म गोपाल (प्रका० बाबा कृष्णदास)
९६ श्री हरिव्यास यशामृत	श्री रूप रसिक दव (प्रकाशक रामचन्द्रदास)
९७ सहजोबाई की बानी	वेलवेडियर प्रस प्रयाग
९८ साहित्य रत्नावली	किशोरी शरण अलि
९९ सिद्धान्त रत्नाकर	निम्बार्क शोध मण्डल
१ ० सिद्ध साहित्य	डा० धमवीर भारती
१०१ सीताराम नखशिख वणन	प्रेमसखी
१०२ सुन्दर ग्रथावली	पुरोहित हरनारायण शर्मा

१०३	सेवक-वाणी	सेवक जी
१०४	सूफीमत और हिन्दी साहित्य	डा० विमल कुमार जैन
१०५	सूफीमत साधना और साहित्य	रामपूजन तिवारी
१०६	सूर और उनका साहित्य	डा० हरवंशलाल शर्मा
१०७	सूर की भाषा	डॉ० सत्येन्द्र
१०८	सूर निर्णय	द्वारिकादास पारिख प्रभुदयाल मीतल
१०९	सूरपूर्व ब्रजभाषा-काव्य	डा० शिवप्रसाद सिंह
११०	सूरसागर	सूरदास
१११	सूर साहित्य	डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
११२	सूर-सौरभ	डॉ० मुन्शीराम शर्मा सोम
११३	सोमनाथ रत्नावली	सोमनाथ
११४	सन्त काव्य	परशुराम चतुर्वेदी
११५	स्फुट वाणी	हित हरिवंश
११६	स्वामी हरिदास अभिनन्दन ग्रन्थ	सं० छबीलवल्लभ गोस्वामी
११७	हित चौरासी	हितहरिवंश
११८	हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन	डॉ० हिरण्मय
११९	हिन्दी और बंगाली के वैष्णव कवि (१६वीं शताब्दी)	डॉ० रत्नकुमारी
१२०	हिन्दी काव्य में अन्योक्ति	डॉ० संसारचन्द्र
१२१	हिन्दी काव्य में शृंगार परम्परा और महाकवि बिहारी	डॉ० गणपति चन्द्र गुप्त
१२२	हिन्दी-साहित्य [द्वितीय भाग]	डॉ० धीरेन्द्र वर्मा (सम्पादक)
१२३		डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी
१२४	हिन्दी-साहित्य का बृहत् इतिहास (षष्ठ भाग)	डॉ० नगेन्द्र
१२५	हिन्दी-साहित्य का बृहत् इतिहास (प्र० भाग)	डॉ० राजबली पाण्डेय
१२६	हिन्दी-साहित्य की भूमिका	डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी

१२७ हिन्दी साहित्य कोश — डॉ० धारेन्द्र वर्मा (सम्पादक)
१२८ हिन्दी साहित्य का इतिहास — आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
१२९ हृदय सर्वस्व — घना आनन्द (स० एव प्रकाशक नृसिंहदत्त मिश्र)

अप्रकाशित हिन्दी ग्रन्थ

१ अनन्य अली की वाणी (बाबा तुलसीदास बाबा वनादास गा... न्य नाम जा स कुछ सामग्री प्राप्त)
२ अष्टाचार्यों की वाणी (डा० शरण बिहारी गोस्वामी के सग्रह स) बिहारी अलि की वाणी
४ बिहारीदास की वाणी (बाबा कृष्णदास के सग्रह स)
५ गुनाब्लाल कृत अष्टक (गो० हित रूपलाल)
६ गौतमीय तन्त्र (डा० श० वि० गो० के सग्रह स)
७ निम्बार्क सम्प्रदाय और उसके हिन्दी कृष्ण भक्त कवि (डा० नारायण दत्त शर्मा)
८ पीताम्बर देव की वानी (डा० श० वि० गो० के सग्रह स)
९ रस कदम्ब चूडामणि ग्रन्थ रसिकदास (बाबा कृष्णदास के सग्रह स)
१ रसिकदास का अष्टक (गो० रूपलाल के सग्रह स)
११ रसिक विलास साधुचरण दास (बाबा कृष्णदास के सग्रह स)
१२ रस रत्नाकर हितरूपलाल (गो० ललिता चरण के सग्रह स)
१३ वृन्दावन शतक भगवत् मुदित (डा० श० वि० गो०)
१४ वृहदुत्सव मणिमाल रूपरसिकदेव (व्रजवल्लभशरण वेदान्ताचार्य के सग्रह से)
१५ स्वामी हरिदास जी का सम्प्रदाय और उसका वाणी साहित्य — डा० गोपालदत्त शर्मा
१६ सौन्दर्यलता — रसिकदास (बाबा कृष्णदास के सौजन्य स)
१७ हिन्दी कृष्ण भक्ति-काव्य म सखी भाव — शरणबिहारी गोस्वामी
१८ श्री कृष्णदास जी भावुक के कतिपय पद गोस्वामी ललिताचरण जी से प्राप्त हुए।
१९ इनके अतिरिक्त कुछ फुटकर पद कुछ पुस्तकालयों के सग्रहों से भी प्राप्त हुए।
२ भक्तवर नागरीदास—इनके काव्य विकास से सबधित प्रभावों और प्रतिक्रियाओं का एक अध्ययन।

—डा० फय्याज अली खाँ

२ अंग्रेजी ग्रन्थ

१ एलिगरी आफ लव	सी० एस० लविस
२ आन रिलिजन मार्क्स एण्ड एंगेल्स	मॉस्को पब्लिकेशन
३ ऑब्सक्योर रिलिजस कल्ट्स	डा० शशिभूषणदास गुप्त
४ आस्पेक्ट्स आफ भक्ति	के० सी० वरदाचारी (१९५६)
५ इण्डियन साधूज	जी० एस० घुर्ये
६ ए काम्प्रीहेन्सिव हिस्ट्री आफ इण्डिया भाग २	सम्पादक—के० ए० एन० शास्त्री
७ ए जनरल इन्ट्रोडक्शन टु साइकोएनालिसिस	फ्रायड
८ एनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलिजन एंड एथिक्स भाग १२	
९ ऐन आउटलाइन आफ रिलिजस लिटरेचर आफ इण्डिया—	—जे० एन० फर्कुहर
१० ईस्थेटिक एक्सपीरियन्स इन रिलिजन	गडिस मैक ग्रेगर
११ ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी	एस० एन० दासगुप्त (१९५८)
१२ ग्लिम्प्सेज आफ मिडीवल इण्डियन कल्चर	यूसुफ हुसैन
१३ भक्ति मूवमेण्ट	एस० टी० बनर्जी
१४ डवलपमेंट आफ हिन्दू आइकनोग्राफी	जे० एन० बनर्जी
१५ दि हिस्टोरियन्स कुरान	एम० पिकथाल
१६ दि हिबरनियन मिस्टिसिज्म	एफ० डब्ल्यू० डविस
१७ दि पोस्ट चैतन्य सहजिया कल्ट ऑफ बंगाल	मणीन्द्र मोहन बोस कलकत्ता युनि० (१९३०)
१८ दि माइंड एंड हार्ट ऑफ लव—	एम० सी० डार्सी (फेबर एण्ड फेबर लन्दन)
१९ दि मिस्टिक्स ऑफ इस्लाम आर० ए० निकल्सन	
२० दि वराइटीज ऑफ रिलिजस एक्सपीरियन्स	विलियम जेम्स

२१ दि साइकॉलाजी आफ रिलिजस मिस्टीसिज़म	जे० एच० ल्यूबा
२२ पाथवेज़ टु गाड इन हिन्दी लिटरेचर	प्रा० डी० रानडे
२३ फ्रान्स एण्ड सासायटी	डेनिस डि रूजमा (फबर एण्ड फबर लन्दन)
२४ फाउंडेशन ऑफ करेक्टर	ए० एफ० सण्ड
२५ बैंगाली लिटरेचर	जे० सी० घोष (आक्सफोर्ड लन्दन)
२६ भक्ति-कल्ट इन एन्शिएण्ट इंडिया	बी० के० गोस्वामी
२७ मिस्टीसिज़म इन महाराष्ट्र	आर० डी० रानाडे
२८ मटिरियल्स फॉर दि स्टडी आफ दि अर्ली हिस्ट्री आफ दि वैष्णव सेक्ट	हेमचंद्र रायचौधरी
२९ रिलिजस कान्सेप्शनस	जे० बी० प्रट
३० एसेज़ ग्रान दि रिलिजस सेक्ट्स आफ हिंदूज़	एच० एच० विल्सन
३१ लिटररी हिस्ट्री ग्राफ दि परस	आर० ए० निकल्सन
३२ वैष्णव फथ एंड मूवमेंट	एस० के० डे०
३३ वैष्णविज़्म शैविज़्म एण्ड माइनर रिलिजस सिस्टम्स	डा० आर० जी० भंडारकर
३४ स्टडीज़ इन परशियन लिटरेचर	हादी हसन
३५ सूफीज़्म	ए० जे० आरबेरी
३६ हिंदूइज़्म एंड बुद्धिज़्म	चार्ल्स इलियट
३७ हिन्दूइज़्म थ्रू दि एजेज़	डी० एस० शर्मा

३ संस्कृत ग्रन्थ

१ अणुभाष्य	वल्लभाचार्य
२ अन्तःकरणप्रबोध	
३ अलंकार-कौस्तुभ	कवि कर्णपूर
४ अहिर्बुध्न्यसंहिता	ऋग्वेद
५ आचार्य-स्तव माला	अमोलक राम, शास्त्री

६ उ ्वल-नीलमणि	रूप गोस्वामी
७ कृष्ण कर्णामृत	लीलाशुक
८ काव्यप्रकाश	आचार्य मम्मट (डा० सत्यव्रत सिंह का अनुवाद)
९ गीत गोविन्द	जयदेव
१० तत्त्वार्थ-दीप निबंध	श्रीवल्लभाचार्य
११ दशरूपक	धनञ्जय (डा० गोविन्द त्रिगुणायत का अनुवाद साहित्य निकेतन कानपुर)
१२ दशश्लोकी	निम्बार्काचार्य
१३ नारद भक्ति-सूत्र	गीता प्रेस गोरखपुर
१४ पद्म-पुराण	
१५ पद्यावली	सम्पादक रूप गोस्वामी (वृन्दावन)
१६ प्रमेय रत्नावली	श्री बलदेव विद्याभूषण संस्कृत साहित्य परिषद् कलकत्ता। सन् १९२७
१७ ब्रह्मसंहिता	गौडीयमठ मद्रास
१८ भक्ति द्वविध्य निरूपणम	गोस्वामी हरिराय
१९ भगवद् भक्ति-रसायन	मधुसूदन सरस्वती (प्र० साह ग व विद्यालय वाराणसी सन् १९५०)
२० हरिभक्ति रसामृत सिन्धु	रूप गोस्वामी
२१ भक्ति रस-तरंगिणी	नारायण भट्ट
२२ रस-गंगाधर	पण्डितराज जगन्नाथ
२३ लघु भागवतामृत	रूप गोस्वामी
२४ विवेकचूडामणि	शंकराचार्य
२५ विष्णुपुराण	
२६ बृहदारण्यकोपनिषद्	
२७ वैष्णवमताब्जभास्कर	रामानन्द
२८ शिवपुराण	
२९ शुद्धान्त मार्तण्ड	गोस्वामी गिरधर जी
३० श्री देवीभागवत्	
३१ श्री राधा सिद्धान्तम्	महात्मा वंशी अलि
३२ श्री स्तोत्र रत्न	यमुनाचार्य
३३ षट्सन्दर्भ	जीवगोस्वामी (प्रकाशक श्यामलाल गोस्वामी कलकत्ता)

३४	षोडश ग्रन्थ	वल्लभाचार्य (भट्ट रमानाथ शर्मा तथा कल्याण सतनामी प्रेस)
३५	साहित्य-दर्पण	श्री विश्वनाथ कविराज
३६	सुबोधिनी भाष्य	श्री वल्लभाचार्य
३७	सुन्दर मणि सन्दर्भ	श्री मधुराचार्य
३८	हनुमत्संहिता	
३९	हरिराय वाग्मुक्तावली	प्रकाशक पुष्टिमार्गीय पुस्तकालय नडियाद
४०	श्री राम-तत्त्व प्रकाश	श्री मधुराचार्य
४१	विशिष्टाद्वैतकोश	सं० गो० टी० तातांचार्य
४२	रामनवरत्न सार संग्रह	श्री रामचरणदास

पत्र पत्रिकाएँ

१ आलोचना
२ कल्पना
३ कल्याण
४ नागरी प्रचारिणी पत्रिका
५ भारतीय साहित्य
६ भंडारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट जर्नल
७ ब्रज भारती
८ वल्लभीय सुधा पत्रिका
९ श्री सर्वेश्वर
१० सम्मेलन पत्रिका
११ हिन्दी अनुशीलन एवं अन्य खोज रिपोर्टस तथा विवरण इत्यादि।

o o